५

पंचसंग्रह

बधविधि-प्ररूपणा अधिकार

श्री चन्द्रर्षिमहत्तर प्रणीत

पंचसंग्रह

[बधविधि-प्ररूपणा अधिकार]

(मूल, शब्दार्थ, विवेचन युक्त)

हिन्दी व्याख्याकार

श्रमणसूर्य प्रवर्तक मरुधरकेसरी

श्री मिश्रीमल जी महाराज

सम्प्रेरक

मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि

सम्पादक

देवकुमार जैन

प्रकाशक

आचार्यश्री रघुनाथ जैन शोध सस्थान, जोधपुर

प्रकाशकीय

जैनदर्शन का मर्म समझना हो तो 'कर्मसिद्धान्त' को समझना अत्यावश्यक है। कर्मसिद्धान्त का सर्वांगीण तथा प्रामाणिक विवेचन 'कर्मग्रन्थ' (छह भाग) मे बहुत ही विशद रूप से हुआ है, जिनका प्रकाशन करने का गौरव हमारी समिति को प्राप्त हुआ। कर्मग्रन्थ के प्रकाशन से कर्मसाहित्य के जिज्ञासुओ को बहुत लाभ हुआ तथा अनेक क्षेत्रो से आज उनकी माग बराबर आ रही है।

कर्मग्रन्थ की भाँति ही 'पचसग्रह' ग्रन्थ भी जैन कर्मसाहित्य मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमे भी विस्तारपूर्वक कर्मसिद्धान्त के समस्त अगो का विवेचन है।

पूज्य गुरुदेव श्री मरुधरकेसरी मिश्रीमल जी महाराज जैनदर्शन के प्रौढ विद्वान और सुन्दर विवेचनकार थे। उनकी प्रतिभा अद्भुत थी, ज्ञान की तीव्र रुचि अनुकरणीय थी। समाज मे ज्ञान के प्रचार-प्रसार मे अत्यधिक रुचि रखते थे। यह गुरुदेवश्री के विद्यानुराग का प्रत्यक्ष उदाहरण है कि इतनी वृद्ध अवस्था मे भी पचसग्रह जैसे जटिल और विशाल ग्रन्थ की व्याख्या, विवेचन एव प्रकाशन का अद्भुत साहसिक निर्णय उन्होने किया और इस कार्य को सम्पन्न करने की समस्त व्यवस्था भी करवाई।

जैनदर्शन एव कर्मसिद्धान्त के विशिष्ट अभ्यासी श्री देवकुमार जी जैन ने गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन मे इस ग्रन्थ का सम्पादन कर प्रस्तुत किया है। इसके प्रकाशन हेतु गुरुदेवश्री ने प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को जिम्मेदारी सौपी और वि० स० २०३९ के आश्विन मास मे इसका प्रकाशन-मुद्रण प्रारम्भ कर दिया

प्रकाशकीय

जैनदर्शन का मर्म समझना हो तो 'कर्मसिद्धान्त' को समझना अत्यावश्यक है। कर्मसिद्धान्त का सर्वांगीण तथा प्रामाणिक विवेचन 'कर्मग्रन्थ' (छह भाग) मे बहुत ही विशद रूप से हुआ है, जिनका प्रकाशन करने का गौरव हमारी समिति को प्राप्त हुआ। कर्मग्रन्थ के प्रकाशन से कर्मसाहित्य के जिज्ञासुओ को बहुत लाभ हुआ तथा अनेक क्षेत्रो से आज उनकी माग बराबर आ रही है।

कर्मग्रन्थ की भाँति ही 'पचसग्रह' ग्रन्थ भी जैन कर्मसाहित्य मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमे भी विस्तारपूर्वक कर्म-सिद्धान्त के समस्त अगो का विवेचन है।

पूज्य गुरुदेव श्री मरुधरकेसरी मिश्रीमल जी महाराज जैनदर्शन के प्रौढ विद्वान और सुन्दर विवेचनकार थे। उनकी प्रतिभा अद्भुत थी, ज्ञान की तीव्र रुचि अनुकरणीय थी। समाज मे ज्ञान के प्रचार-प्रसार मे अत्यधिक रुचि रखते थे। यह गुरुदेवश्री के विद्यानुराग का प्रत्यक्ष उदाहरण है कि इतनी वृद्ध अवस्था मे भी पचसग्रह जैसे जटिल और विशाल ग्रन्थ की व्याख्या, विवेचन एव प्रकाशन का अद्भुत साहसिक निर्णय उन्होने किया और इस कार्य को सम्पन्न करने की समस्त व्यवस्था भी करवाई।

जैनदशन एव कर्मसिद्धान्त के विशिष्ट अभ्यासी श्री देवकुमार जी जैन ने गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन मे इस ग्रन्थ का सम्पादन कर प्रस्तुत किया है। इसके प्रकाशन हेतु गुरुदेवश्री ने प्रसिद्ध साहित्य-कार श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को जिम्मेदारी सापी और वि० स० २०३९ के आश्विन मास मे इसका प्रकाशन-मुद्रण प्रारम्भ कर दिया

आमुख

जैनदर्शन के सम्पूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा स्वतन्त्र शक्ति है। अपने सुख-दु ख का निर्माता भी वही है और उसका फल-भोग करने वाला भी वही है। आत्मा स्वयं मे अमूर्त है, परम विशुद्ध है, किन्तु वह शरीर के साथ मूर्तिमान् वनकर अशुद्ध दशा मे ससार मे परिभ्रमण कर रहा है। स्वय परम आनन्दस्वरूप होने पर भी सुख-दु ख के चक्र मे पिस रहा है। अजर-अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रवाह मे वह रहा है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्तिसम्पन्न है, वही दीन-हीन, दु खी, दरिद्र के रूप मे ससार मे यातना और कष्ट भी भोग रहा है। इसका कारण क्या है ?

जैनदर्शन इस कारण की विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को ससार मे भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है—कम्म च जाई मरणस्स मूल। भगवान श्री महावीर का यह कथन अक्षरश सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटनाचक्रो मे प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनो ने इस विश्ववैचित्र्य एव सुख-दु ख का कारण जहाँ ईश्वर को माना है, वहाँ जैनदर्शन ने समस्त सुख-दु ख एव विश्ववैचित्र्य का कारण मूलतः जीव एव उसका मुख्य सहायक कर्म माना है। कर्म स्वतन्त्र रूप से कोई शक्ति नही है, वह स्वय मे पुद्गल है, जड है। किन्तु राग-द्वेष-वशवर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इतने वलवान् और शक्तिसम्पन्न वन जाते है कि कर्ता को भी अपने वन्धन मे वाव लेते है। मालिक को भी नौकर की तरह नचाते है। यह कर्म की वडी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत के समस्त परिवर्तनो का

यह मुख्य बीज कर्म क्या है ? इसका स्वरूप क्या है ? इसके विविध परिणाम कैसे होते है ? यह बडा ही गम्भीर विषय है। जैनदर्शन मे कर्म का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। कर्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अत्यन्त गहन विवेचन जैन आगमो मे और उत्तर-वर्ती ग्रन्थो मे प्राप्त होता है। वह प्राकृत एव सस्कृत भाषा मे होने के कारण विद्वद्भोग्य तो है, पर साधारण जिज्ञासु के लिए दुर्बोधहै । थोकडो मे कर्मसिद्धान्त के विविध स्वरूप का वर्णन प्राचीन आचार्यो ने गूँथा है, कण्ठस्थ करने पर साधारण तत्त्व-जिज्ञासु के लिए वह अच्छा ज्ञानदायक सिद्ध होता है।

कर्मसिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थो मे कर्मग्रन्थ और पचसग्रह इन दोनो ग्रन्थो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमे जैनदर्शन-सम्मत समस्त कर्मवाद, गुणस्थान, मार्गणा, जीव, अजीव के भेद-प्रभेद आदि समस्त जैनदर्शन का विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है। ग्रन्थ जटिल प्राकृत भाषा मे है और इनकी सस्कृत मे अनेक टीकाएँ भी प्रसिद्ध हैं। गुजराती मे भी इसका विवेचन काफी प्रसिद्ध है। हिन्दी भाषा मे कर्मग्रन्थ के छह भागो का विवेचन कुछ वर्ष पूर्व ही परम श्रद्धेय गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन मे प्रकाशित हो चुका है, सर्वत्र उनका स्वागत हुआ। पूज्य गुरुदेव श्री के मार्गदर्शन मे पचसग्रह (दस भाग) का विवेचन भी हिन्दी भाषा मे तैयार हो गया और प्रकाशन भी प्रारम्भ हो गया, किन्तु उनके समक्ष एक भी भाग नही आ सका, यह कमी मेरे मन को खटकती रही, किन्तु निरुपाय ! अब गुरुदेवश्री की भावना के अनुसार ग्रन्थ पाठको के समक्ष प्रस्तुत है, आशा है इसमे सभी लाभान्वित होगे।

—सुकन मुनि

श्रीमद्देवेन्द्रसूरि विरचित कर्मग्रन्थो का सम्पादन करने के सन्दर्भ मे जैन कर्मसाहित्य के विभिन्न ग्रन्थो के अवलोकन करने का प्रसग आया। इन ग्रन्थो मे श्रीमदाचार्य चन्द्रर्षि महत्तरकृत 'पचसग्रह' प्रमुख है।

कर्मग्रन्थो के सम्पादन के समय यह विचार आया कि पचसग्रह को भी सर्वजन सुलभ, पठनीय बनाया जाये। अन्य कार्यो मे लगे रहने से तत्काल तो कार्य प्रारम्भ नही किया जा सका। परन्तु विचार तो था ही और पाली (मारवाड) मे विरजित पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरी, श्रमणसूर्य श्री मिश्रीमल जी म सा की सेवा मे उपस्थित हुआ एव निवेदन किया—

भन्ते! कर्मग्रन्थो का प्रकाशन तो हो चुका है, अब इसी क्रम मे पचसग्रह को भी प्रकाशित कराया जाये।

गुरुदेव ने फरमाया—विचार प्रशस्त है और चाहता भी हूँ कि ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित हो, मानसिक उत्साह होते हुए भी शारीरिक स्थिति साथ नही दे पाती है। तब मैने कहा—आप आदेश दीजिये। कार्य करना ही है तो आपके आशीर्वाद मे सम्पन्न होगा ही, आपश्री की प्रेरणा एव मार्गदर्शन से कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

'तथास्तु' के मागलिक के साथ ग्रन्थ की गुरुता और गम्भीरता को सुगम बनाने हेतु अपेक्षित मानसिक श्रम को नियोजित करके कार्य प्रारम्भ कर दिया। 'शनै कथा' की गति से करते-करते आधे मे अधिक गन्थ गुरुदेव के बगडी सज्जनपुर चातुर्मास तक तैयार करके सेवा मे उपस्थित हुआ। गुरुदेवश्री ने प्रमोदभाव व्यक्त कर फरमाया—चरैवेति-चरैवेति।

इसी बीच शिवशर्मसूरि विरचित 'कम्मपयडी' (कर्मप्रकृति) ग्रन्थ के सम्पादन का अवसर मिला। इसका लाभ यह हुआ कि वहुत से जटिल माने जाने वाले स्थलो का समाधान सुगमता मे होता गया।

श्रमणसंघ के भीष्म-पितामह

श्रमणसूर्य स्व० गुरुदेव श्री मिश्रीमल जी महाराज

स्थानकवासी जैन परम्परा के ५०० वर्षो के इतिहास मे कुछ ही ऐसे गिने-चुने महापुरुष हुए है जिनका विराट् व्यक्तित्व अनन्त असीम नभोमण्डल की भाँति व्यापक और सीमातीत रहा हो। जिनके उपकारो से न सिर्फ स्थानकवासी जैन, न सिर्फ श्वेताम्वर जैन, न सिर्फ जैन किन्तु जैन-अजैन, बालक-वृद्ध नारी-पुरुष, श्रमण-श्रमणी सभी उपकृत हुए है और सब उस महान् विराट व्यक्तित्व की शीतल छाया से लाभान्वित भी हुए है। ऐसे ही एक आकाशीय व्यक्तित्व का नाम है—श्रमण-सूर्य प्रवर्तक मरुधरकेशरी श्री मिश्रीमल जी महाराज ?

पता नही वे पूर्वजन्म की क्या अखूट पुण्याई लेकर आये थे कि बाल-सूर्य की भांति निरन्तर तेज-प्रताप प्रभाव यश और सफलता की तेजस्विता, प्रभास्वरता से बढते ही गये, किन्तु उनके जीवन की कुछ विलक्षणता यही है कि सूर्य मध्याह्न के बाद क्षीण होने लगता है, किन्तु यह श्रमणसूर्य जीवन के मध्याह्नोत्तर काल मे अधिक से अधिक दीप्त होता रहा, ज्यो-ज्यो यौवन की नदी बुढापे के सागर की ओर बडती गई त्यो त्यो उसका प्रवाह तेज होता रहा, उसकी धारा विशाल और विशालतम होती गई सीमाएँ व्यापक बनती गई, प्रभाव-प्रवाह सौ-सौ धाराएँ बनकर गाँव-नगर-वन-उपवन सभी को तृप्त-परितृप्त करता गया। यह सूर्य डूबने की अन्तिम घडी, अन्तिम क्षण तक तेज दीप्त रहा, प्रभाव मे प्रचण्ड रहा और उसकी किरणो का विस्तार अनन्त असीम गगन के दिक्कोणो को छूता रहा।

जैसे लड्डू का प्रत्येक दाना मीठा होता है, अगूर का प्रत्येक अश मधुर होता है, इसी प्रकार गुरुदेव श्री मिश्रीमल जी महाराज का

पडी। इस बीच गुरुदेवश्री मानमलजी म का वि सं १९७५, माघ वदी ७ को जोधपुर मे स्वर्गवास हो गया। वि स १९७५ अक्षय तृतीया को पूज्य स्वामी श्री बुधमलजी महाराज के कर-कमलो से आपने दीक्षा-रत्न प्राप्त किया।

आपकी वुद्धि वडी विचक्षण थी। प्रतिभा और स्मरणशक्ति अद्भुत थी। छोटी उम्र मे ही आगम, थोकडे, सस्कृत, प्राकृत, गणित, ज्योतिप, काव्य, छन्द, अलकार, व्याकरण आदि विविध विषयो का आधिकारिक ज्ञान प्राप्त कर लिया। प्रवचनशैली की ओजस्विता और प्रभावकता देखकर लोग आपश्री के प्रति आकृष्ट होते और यो सहज ही आपका वर्चस्व, तेजस्व बढता गया।

वि स १९८५ पौप वदि प्रतिपदा को गुरुदेव श्री बुधमलजी म का स्वर्गवास हो गया। अव तो पूज्य रघुनाथजी महाराज की सप्रदाय का समस्त दायित्व आपश्री के कधो पर आ गिरा। किन्तु आपश्री तो सर्वथा सुयोग्य थे। गुरु से प्राप्त सप्रदाय-परम्परा को सदा विकासोन्मुख और प्रभावनापूर्ण ही वनाते रहे। इस दृष्टि मे स्थानागसूत्र-वर्णित चार शिष्यो (पुत्रो) मे आपको अभिजात (श्रेष्ठतम) शिष्य ही कहा जायेगा, जो प्राप्त ऋद्धि-वैभव को दिन दूना रात चौगुना बढाता रहता है।

वि स १९९३, लोकाशाह जयन्ती के अवसर पर आपश्री को मरुधरकेसरी पद से विभूपित किया गया। वास्तव मे ही आपकी निर्भीकता और क्रान्तिकारी सिह गर्जनाएँ इस पद की शोभा के अनुरूप ही थी।

स्थानकवासी जैन समाज की एकता और सगठन के लिए आपश्री के भगीरथ प्रयास श्रमणसघ के इतिहास मे सदा अमर रहेगे। समय-समय पर टूटती कडिया जोडना, सघ पर आये सकटो का दूरदर्शिता के साथ निवारण करना, सत-सतियो की आन्तरिक व्यवस्था को सुधारना, भीतर मे उठती मतभेद की कटुता को दूर करना—यह आपश्री की ही क्षमता का नमूना है कि बृहत् श्रमणसघ का निर्माण हुआ, बिखरे घटक एक हो गये।

प्रवचन, जैन उपन्यास आदि की आपश्री की पुस्तके भी अत्यधिक लोकप्रिय हुई है। लगभग ६-७ हजार पृष्ठ से अधिक परिमाण मे आप श्री का साहित्य आका जाता है।

शिक्षा क्षेत्र मे आपश्री की दूरर्दशिता जैन समाज के लिए वरदान-स्वरूप सिद्ध हुई है। जिस प्रकार महामना मालवीय जी ने भारतीय शिक्षा क्षेत्र मे एक नई क्राति—नया दिशादर्शन देकर कुछ अमर स्थापनाएँ की है, स्थानकवासी जैन समाज के शिक्षा क्षेत्र मे आपको भी स्थानकवासी जगत का 'मालवीय' कह सकते हैं। लोकाशाह गुरुकुल (सादडी), राणावास की शिक्षा सस्थाएँ, जयतारण आदि के छात्रावास तथा अनेक स्थानो पर स्थापित पुस्तकालय, वाचनालय, प्रकाशन सस्थाएँ शिक्षा और साहित्य-सेवा के क्षेत्र मे आपश्री की अमर कीर्ति गाथा गा रही है।

लोक-सेवा के क्षेत्र मे भी मरुधरकेसरी जी महाराज भामाशाह और खेमा देदराणी की शुभ परम्पराओ को जीवित रखे हुए थे। फर्क यही है कि वे स्वय धनपति थे, अपने धन को दान मे देकर उन्होने राष्ट्र एव समाज-सेवा की, किन्तु आप एक अकिंचन श्रमण थे, अत आपश्री ने धनपतियो को प्रेरणा, कर्तव्य-बोध और मार्गदर्शन देकर मरुधरा के गाव-गाव, नगर-नगर मे सेवाभावी सस्थाओ का, सेवात्मक प्रवृत्तियो का व्यापक जाल बिछा दिया।

आपश्री की उदारता की गाथा भी सैकडो व्यक्तियो के मुख से सुनी जा सकती है। किन्ही भी सत, सतियो को किसी वस्तु की, उपकरण आदि की आवश्यकता होती तो आपश्री निस्सकोच, बिना किसी भेदभाव के उनको सहयोग प्रदान करते और अनुकूल साधन-सामग्री की व्यवस्था कराते। साथ ही जहाँ भी पधारते वहाँ कोई रुग्ण, असहाय, अपाहिज, जरूरतमन्द गृहस्थ भी (भले ही वह किसी वर्ण, समाज का हो) आपश्री के चरणो मे पहुच जाता तो आपश्री उसकी दयनीयता से द्रवित हो जाते और तत्काल समाज के समर्थ व्यक्तियो द्वारा उनकी उपयुक्त व्यवस्था करा देते। इसी कारण गाव-गाव मे

सौ० रुक्माबाई पुखराजजी मुणोत

श्रीमान पुखराजजी मुणोत

श्रीमान् पुखराजजी ज्ञानचन्दजी मुणोत, ताम्बरम् (मद्रास)

ससार मे उसी मनुष्य का जन्म सफल माना जाता है जो जीवन मे त्याग, सेवा, सयम, दान, परोपकार आदि सुकृत करके जीवन को सार्थक बनाता है। श्रीमान पुखराजजी मुणोत भी इसी प्रकार के उदारहृदय, धर्मप्रेमी, गुरुभक्त और दानवीर है जिन्होने जीवन को त्याग एव दान दोनो धाराओ मे पवित्र बनाया है।

आपका जन्म वि० स० १९७८ कार्तिक वदी ५, रणसीगाव (पीपाड जोधपुर) निवासी फूलचन्दजी मुणोत के घर, धर्मशीला श्रीमती कूकी बाई के उदर से हुआ। आपके दो अन्य बन्धु व तीन बहने भी है।

भाई—स्व० श्री मिश्रीलाल जी मुणोत
श्री मोहनराज जी मुणोत

बहने—श्रीमती दाखूबाई, धर्मपत्नी सायबचन्द जी गाधी, नागोर
श्रीमती नोजीबाई, धर्मपत्नी रावतमल जी गुन्देचा, हरियाणा
श्रीमती सुगनीबाई, धर्मपत्नी गगाराम जी लूणिया, शेरगढ

आप बारह वर्ष की आयु मे ही मद्रास व्यवसाय हेतु पधार गये और सेठ श्री चन्दनमल जी सखलेचा (तिण्डीवणम्) के पास काम-काज सीखा।

आपका पाणिग्रहण श्रीमान मूलचन्द जी लूणिया (शेरगढ निवासी) की सुपुत्री धर्मशीला, सौभाग्यशीला श्रीमती रुकमाबाई के साथ सम्पन्न हुआ। आप दोनो की ही धर्म के प्रति विशेष रुचि, दान, अतिथि-सत्कार व गुरु भक्ति मे विशेष लगन रही है।

ई० सन् १९५० मे आपने ताम्बरम् मे स्वतन्त्र व्यवसाय प्रारम्भ किया। प्रामाणिकता के साथ परिश्रम करना और सबके साथ सद्व्यवहार रखना आपकी विशेषता है। करीब २० वर्षो से आप नियमित

प्राक्कथन

यह वधविधि प्ररूपणा नामक पाँचवाँ अधिकार है। यहाँ तक ग्रन्थ के प्रतिपाद्य मे से अर्थ अश का विवेचन पूर्ण होता है। जिससे यहाँ तक के भाग को पचसग्रह का पूर्वार्ध कह सकते है। इसका पूर्व अधिकारो के साथ यह सम्बन्ध है कि जो जीव कर्म के बन्धक है, वे जिन हेतुओ से अपने योग्य कर्मो का वध करते हैं, उसकी विधि क्या है? वे बधहेतुओ की अल्पाधिकता के द्वारा किस रूप मे वध करते हैं? इसका उत्तर प्रस्तुत अधिकार मे दिया है।

यद्यपि अधिकार के नाम से तो ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ मात्र वध की विधि का, वध के स्वरूप का वर्णन किया गया होगा और ऐसी धारणा बनना स्वाभाविक भी है। 'वधविधि' की शाब्दिक व्युत्पत्ति से यही अर्थ निकलता है। लेकिन ग्रन्थकार आचार्य ने व्यापक दृष्टिकोण का आधार लेकर वध के साथ-साथ उदय, उदीरणा और सत्ता विधि का भी विवेचन किया है। इनका भी विवेचन क्यो किया है? इसके कारण को ग्रन्थकार आचार्य ने निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है—

वधत्तुदओ उदए उदीरणा तदवसेसयं सत ।
तम्हा वधविहाणे भन्तते इइ भणितव्व ॥

अर्थात् वद्ध कर्म का उदय होता है। उदय होने पर उदीरणा होती है और शेष की सत्ता होती है। इस प्रकार परस्पर सम्बन्ध होने से वधविधि के साथ उदयादिक के स्वरूप का भी वर्णन किया गया है।

विषय प्रवेश के सन्दर्भ मे तो अधिकार के प्रतिपाद्य की सक्षेप मे रूपरेखा दी जायगी। जिसका क्षेत्र सीमित है। उसमे अन्य सम्बन्धित

३—योगोपयोगमार्गणा अधिकार की गाथा ११ मे वताया है कि विभगज्ञान मे औदारिकमिश्र काययोग नही होता है, जवकि गाथा १२ मे कहा ह कि विभगज्ञान मे औदारिकमिश्र काययोग होता है।

४—आचार्य मलयगिरि सूरि ने अपनी व्याख्या मे चक्षुदर्शन मार्गणा मे वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र का निषेध किया है लेकिन चतुर्थ कर्मग्रन्थ मे उसका निषेध नही किया है।

५—जीवस्थानो मे योग निरूपण के प्रसग मे तो मनोयोग सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त को और वचनयोग पर्याप्त द्वीन्द्रिय आदि पॉच जीवस्थानो मे तथा काययोग सर्व जीवस्थानो मे वतलाया है। जवकि मार्गणास्थानो मे जीवस्थानो को वतलाने के प्रसंग मे मनोयोग मे सज्ञी पर्याप्त-अपर्याप्त यह दो, वचनयोग मे पर्याप्त-अपर्याप्त विकलेन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय यह आठ एव काययोग मे एकेन्द्रिय के मात्र चार जीवस्थान वताये है। जवकि चतुर्थ कर्मग्रन्थ मे वचनयोग मे पर्याप्त द्वीन्द्रियादि मात्र पाँच जीवस्थान बताये हैं।

६—योगोपयोगमार्गणा अधिकार गाथा ६ मे जीवस्थानो मे योगो का निर्देश करने के प्रसग मे पर्याप्त विकलेन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय मे काययोग और वचनयोग, सज्ञी पर्याप्त मे सभी योग और शेप जीवो मे काययोग वताया है। लेकिन योगमार्गणा मे जीवभेदो को वताने के प्रसग मे काययोग मे चार, वचनयोग मे आठ और मनोयोग मे दो जीवस्थान बतलाते है। जबकि जीवस्थानो मे योगो को अथवा योगो मे जीवस्थानो को वतलाना एक जैसा है।

७—भगवती आदि आगमो मे अवधिदर्शन मे एक मे वारह, कर्मग्रन्थादि मे चार से वारह और यहाँ (योगोपयोगमार्गणा अधिकार मे) गाथा २० मे तीन से वारह तथा गाथा ३० की टोका मे एक मे वारह गुणस्थान वताये है।

८—विभगज्ञान मे सज्ञी-पर्याप्त एक और चतुर्थ कर्मग्रन्थ मे सज्ञी पर्याप्त-अपर्याप्त इस प्रकार दो जीवभेद वताये है।

१६—कर्मग्रन्थादिक के मतानुसार उपशम और क्षपक श्रेणि इस प्रकार दोनो श्रेणिया एक ही भव मे की जा सकती है, लेकिन सिद्धात के मत से एक भव मे दोनो मे से एक ही श्रेणि की जा सकती है।

१७—दर्शन के चक्षु आदि केवल पर्यन्त चार भेद प्रसिद्ध है और इनको मानने मे सभी की एकरूपता है, लेकिन किन्ही-किन्ही आचार्यो ने मनपर्याय दर्शन के रूप मे एक पृथक्-पृथक् दर्शन और भी माना है।

१८—सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान मे पन्द्रह योग मानना युक्त है, अथवा अपर्याप्त अवस्थाभावी औदारिकमिश्र वैक्रियमिश्र और कार्मण के सिवाय शेष बारह योग माने जाये ? बजाय अपेक्षा दृष्टि के यथार्थ निर्णय अपेक्षित है।

१९—दिगम्बर कर्म साहित्य मे सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवस्थान मे पन्द्रह योग के बजाय चौदह योग मानने का मत भी मिलता है। क्या वह समीचीन है ?

२०—कार्मग्रन्थिक मतानुसार आदि के ग्यारह जीवस्थानो मे मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुदर्शन मे तीन उपयोग होते है। सिद्धान्त के अनुसार अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय इन चार जीवस्थानो मे अचक्षुदर्शन, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान ये पाच उपयोग होते है।

२१—दिगम्बर कर्म साहित्य मे कुमति, कुश्रुत, मति श्रुत-अवधि-ज्ञान, अचक्षु और अवधिदर्शन ये सात उपयोग सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त को बताये है। लेकिन एक मत कुमति, कुश्रुत के अतिरिक्त शेष पाँच उपयोग मानने का भी है।

२२—केवली मे केवलज्ञान-दर्शन उपयोगद्वय सहभावी माने जाये या क्रमभावी ? इसका निर्णय अपेक्षित है। जिससे सिद्धान्त और कर्म साहित्य के वर्णन मे एकरूपता हो।

२९—मिथ्यात्व और सासादन इन दो गुणस्थानो मे कार्मग्रन्थिक मतानुसार अज्ञानत्रिक और चक्षु-अचक्षु दर्शन, कुल पाँच उपयोग होते है। जबकि सिद्धान्त मे अवधिदर्शन सहित छह उपयोग माने है। दिगम्बर साहित्य का मत कार्मग्रन्थिक मत जैसा है।

३०—कार्मग्रन्थिको ने मनुष्यगति मे पर्याप्त-अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय रूप दो जीवस्थान माने है, और सिद्धान्त मे उक्त दो के साथ अपर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय जीवस्थान भी बताया है।

३१—दिगम्बर साहित्य मे मनोयोग मे एक सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान माना है और श्वेताम्बर साहित्य मे अपर्याप्त-पर्याप्त सज्ञी इन दो जीवस्थानो के होने का सकेत किया है।

३२—सिद्धान्त मे असज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त इन दो मे मात्र नपु सकवेद माना है और कार्मग्रन्थिक मतानुसार इनमे पुरुषवेद और स्त्रीवेद भी है।

३३—कार्मग्रन्थिको ने अज्ञानत्रिक मार्गणाओ मे आदि के तीन गुणस्थान माने है। लेकिन सिद्धान्त के मतानुसार प्रथम, द्वितीय ये दो गुणस्थान है। दिगम्बर परम्परा मे भी अज्ञानत्रिक मे आदि के दो गुणस्थान होने का मत स्वीकार किया है।

३४—सिद्धान्त मे अवधिदर्शन मे पहले से लेकर बारहवे तक बारह गुणस्थान माने है। लेकिन कतिपय कार्मग्रन्थिक आचार्य चौथे से बारहवे तक नौ गुणस्थान और कुछ तीसरे से बारहवे तक दस गुणस्थान मानते है। दिगम्बर परम्परा मे भी इन दोनो मतो का उल्लेख है।

३५—श्वेताम्बर साहित्य मे सुखपूर्वक जागना हो जाये उसे निद्रा कहा है, जबकि दिगम्बर परम्परा ने निद्रा का अर्थ किया है कि जीवगमन करते हुए भी खडा रह जाये, बैठ जाये, गिर जाये। इसी प्रकार प्रचला के लक्षण मे भी भिन्नता है। श्वेताम्बर साहित्य मे प्रचला का लक्षण बताया है कि जिस निद्रा मे बैठे-बैठे या खडे-खडे नीद आये

२९—मिथ्यात्व और सासादन इन दो गुणस्थानो मे कार्मग्रन्थिक मतानुसार अज्ञानत्रिक और चक्षु-अचक्षु दर्शन, कुल पाँच उपयोग होते है। जबकि सिद्धान्त मे अवधिदर्शन सहित छह उपयोग माने है। दिगम्बर साहित्य का मत कार्मग्रन्थिक मत जैसा है।

३०—कार्मग्रन्थिको ने मनुष्यगति मे पर्याप्त-अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय रूप दो जीवस्थान माने है, और सिद्धान्त मे उक्त दो के साथ अपर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय जीवस्थान भी बताया है।

३१—दिगम्बर साहित्य मे मनोयोग मे एक सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान माना है और श्वेताम्बर साहित्य मे अपर्याप्त-पर्याप्त सज्ञी इन दो जीवस्थानो के होने का सकेत किया है।

३२—सिद्धान्त मे असज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त इन दो मे मात्र नपु सकवेद माना है और कार्मग्रन्थिक मतानुसार इनमे पुरुषवेद और स्त्रीवेद भी है।

३३—कार्मग्रन्थिको ने अज्ञानत्रिक मार्गणाओ मे आदि के तीन गुणस्थान माने है। लेकिन सिद्धान्त के मतानुसार प्रथम, द्वितीय ये दो गुणस्थान है। दिगम्बर परम्परा मे भी अज्ञानत्रिक मे आदि के दो गुणस्थान होने का मत स्वीकार किया है।

३४—सिद्धान्त मे अवधिदर्शन मे पहले से लेकर बारहवे तक बारह गुणस्थान माने है। लेकिन कतिपय कार्मग्रन्थिक आचार्य चौथे से बारहवे तक नौ गुणस्थान और कुछ तीसरे से बारहवे तक दस गुणस्थान मानते है। दिगम्बर परम्परा मे भी इन दोनो मतो का उल्लेख है।

३५—श्वेताम्बर साहित्य मे सुखपूर्वक जागना हो जाये उसे निद्रा कहा है, जबकि दिगम्बर परम्परा ने निद्रा का अर्थ किया है कि जीव-गमन करते हुए भी खडा रह जाये, बैठ जाये, गिर जाये। इसी प्रकार प्रचला के लक्षण मे भी भिन्नता है। श्वेताम्बर साहित्य मे प्रचला का लक्षण बताया है कि जिस निद्रा मे बैठे-बैठे या खडे-खडे नीद आये

प्रतिभा का घात करे, यह पराघात का लक्षण श्वेताम्बर परम्परा मान्य है, जबकि दिगम्बर परम्परा में 'जिस कर्म के उदय से दूसरे के घात करने वाले अवयव होते है,' उसे पराघात नामकर्म कहा है।

४१—जिस कर्म के उदय से मस्तक, हड्डियाँ, दाँत आदि शरीरावयव स्थिर हो, वह स्थिरनाम और इसके विपरीत जिस कर्म के उदय से जिह्वा आदि शरीरावयवो मे अस्थिरता हो वह अस्थिरनाम है। जिस कर्म के उदय मे नाभि से ऊपर के अवयव शुभ और नाभि से नीचे के अवयव अशुभ माने जाये वह अशुभ नामकर्म है। यह श्वेताम्बर साहित्य मे माना है। लेकिन दिगम्बर साहित्य मे उक्त चारो के लक्षण इस प्रकार माने है—जिस कर्म के उदय से शरीर के धातु उपधातु यथास्थान स्थिर रहे यह स्थिरनाम और धातु-उपधातु स्थिर न रह सके वह अस्थिर नाम है। जिस कर्म के उदय से शरीर के अवयव सुन्दर हो वह शुभ तथा सुन्दर न हो, वह अशुभ नामकर्म है।

४२—श्वेताम्बर साहित्य मे 'जिस कर्म के उदय मे मनुष्य की प्रवृत्ति, वाणी को लोक प्रमाण माने वह आदेय नाम और इसके विपरीत अनादेय नामकर्म का लक्षण माना है। लेकिन दिगम्बर परम्परा मे प्रभायुक्त शरीर के होने को आदेय कर्म का और शरीर मे प्रभा न होने को अनादेय कर्म का लक्षण कहा है।

४३—दिगम्बर साहित्य मे श्वेताम्बर साहित्य मान्य बधननामकर्म के पन्द्रह भेद न मानकर पाँच भेद माने है और शरीरनाम के पाँचो शरीर के सयोगी पन्द्रह भेद माने है। जबकि श्वेताम्बर साहित्य मे शरीरनाम के पाँच भेद स्वीकार किये है।

४४—श्वेताम्बर कर्म साहित्य मे सज्वलन लोभ रहित पन्द्रह कषाय, मिथ्यात्व, भय, जुगुप्सा, हास्य, रति, मनुष्यानुपूर्वी, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, आतप, पुरुषवेद इन छब्बीस प्रकृतियो को स्वस्वव्यवच्छिद्यमानबधोदया माना है। लेकिन दिगम्बर परम्परा मे इनके

सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती जीव बताया है। लेकिन कर्मग्रन्थो की टीका मे चौथे से आठवे गुणस्थान तक के उत्कृष्ट योग मे वर्तमान जीवो को बताया है। दिगम्बर साहित्य का भी यही अभिमत है। इसी प्रकार यहाँ (पचसग्रह मे) असातावेदनीय का उत्कृष्ट प्रदेशबधक मिथ्यादृष्टि जीव बताया है, परन्तु सम्यक्त्वी जीव भी बाधता है, अत वह भी उत्कृष्टप्रदेशबध का स्वामी हो सकता है। पचम कर्मग्रन्थ एव दिगम्बर साहित्य का यही मत है।

६०—पचसग्रह मे वज्रऋषभनाराचसहनन का उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी मनुष्यगतियोग्य उनतीस प्रकृतियो का बधक बताया है। लेकिन पचम कर्मग्रन्थ मे तिर्यचगति योग्य उनतीस प्रकृतियो के बधक को बताया है।

इनके अतिरिक्त अन्य मतभिन्नताये भी यत्र-तत्र कर्म साहित्य मे विद्यमान है। जिनका पूर्वापर सम्बन्ध के साथ विस्तृत प्रस्तुतीकरण एक स्वतत्र विषय है और प्राक्कथन के रूप मे वह सब लिखा जाना प्रासगिक भी नही है। अत यथावकाश स्वतत्र लेख के रूप मे लिखने की इच्छा है। यहा जो कतिपय सामान्य मतभिन्नताओ का विहगावलोकन मात्र किया है, वह इसलिये कि जिज्ञासु जन विचार करे। ऊहापोह एव तर्क प्रक्रिया प्रारभ हो।

अब सक्षेप मे अधिकार के विषय की रूपरेखा का सकेत करते है।

विषय परिचय

मुख्य रूप मे इस अधिकार के विचारणीय विषय तीन है—बध, उदय और सत्ता की विधि, स्वरूप, प्रकार का विचार करना और उदय के साथ ही उदीरणा विधि का भी सक्षेप मे उल्लेख कर दिया है।

बधविधि प्ररूपणा को प्रारम्भ करते हुए पहले गुणस्थानो मे मूलकर्मों की बध, उदय और सत्ता विधि का विचार किया है।

अनन्तर सादि-आदि वध-प्रकारो का भावाभावत्व, अजघन्य और अनुत्कृष्ट मे अतर आदि को स्पष्ट करके मूल एव उत्तरप्रकृतियो की साद्यादि प्ररूपणा करके स्वामित्व का वर्णन किया है और इसके साथ ही प्रकृतिवध का बिवेचन पूर्ण हुआ है।

इसके वाद स्थिति, निषेक, अवाधाकडक, उत्कृष्ट जघन्य स्थिति-वध, स्थितिस्थान, सक्लेश और विशुद्धि स्थान, अध्यवसाय स्थान प्रमाण, साद्यादि, स्वामित्व और शुभाशुभत्व इन ग्यारह विभागो द्वारा स्थितिवध का विस्तार से विवेचन किया है। जो गाथा ३१ से प्रारम्भ होकर गाथा ६४ मे पूर्ण हुआ है।

इसी प्रकार फिर अनुभागवध का सादि-अनादि, स्वामित्व और अल्पवहुत्व इन तीन विभागो द्वारा अनुभाग बध का वर्णन किया है। यह सव वर्णन ६५ से ७६ तक कुल वारह गाथाओ मे है।

उक्त तीनो बधो का वर्णन करने के वाद प्रदेशबध का विचार प्रारम्भ किया है। इसके भाग-विभाग, सादि-अनादि और स्वामित्व प्ररूपणा यह तीन विभाग है। प्रत्येक विभाग मे अपने अधिकृत विषय का सर्वांगीण विचार किया है। इसी प्रसग मे प्रकृतियो के निरन्तर बधकाल का वर्णन करके बधविधि की प्ररूपणा समाप्त हुई। इसके पश्चात् प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से उदयविधि का वर्णन किया है। इसी तरह सत्ताविधि का भी विचार किया है।

यह समस्त वर्णन १८५ गाथाओ मे किया गया है। पाठकगण स्वय अधिकार का अध्ययन करके कर्म सिद्धान्त को हृदयगम करे, यह आकाक्षा है।

खजाची मौहल्ला
वीकानेर, ३३४००१

—देवकुमार जैन

विपयानुक्रमणिका

विषयानुक्रमणिका

परिशिष्ट १—७४

श्रीमदाचार्य चन्द्रर्षिमहत्तर-विरचित

पंचसंग्रह

(मूल, शब्दार्थ तथा विवेचन युक्त)

बंधविधि-प्ररूपणा अधिकार

५. बधविधि-प्ररूपणा अधिकार

बधहेतु नामक चतुर्थ अधिकार की प्ररूपणा करने के पश्चात् अब क्रम-प्राप्त बधविधि नामक पाचवे अधिकार को प्रारम्भ करते है। इस अधिकार मे बध, उदय, उदीरणा और सत्ता का स्वरूप कहा जायेगा।

कदाचित् यह कहा जाये कि '**बंधस्य विधिः, बधविधि**' बध की विधि, स्वरूप, प्रकार वह बधविधि, ऐसी व्युत्पत्ति होने से यहाॅ केवल बध के स्वरूप का ही प्रतिपादन करना चाहिये, लेकिन उदय, उदीरणा और सत्ता का स्वरूप कहना योग्य नही, तो फिर यहाँ बध, उदय, उदीरणा और सत्ता इन चारो के स्वरूप कथन की प्रतिज्ञा क्यो की है ?

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते है—

> बद्धस्सुदओ उदए उदीरणा तदवसेसय संत।
> तम्हा बधविहाणे भन्नते इइ भणियव्वं ॥१॥

शब्दार्थ—**बद्धस्सुदओ**—बद्ध का उदय होता है, **उदए**—उदय होने पर, **उदीरणा**—उदीरणा, **तदवसेसय**—शेष की, **सत**—सत्ता, **तम्हा**—इसलिए, **बधविहाणे**—बधविधान, **भन्नते**—कहने पर भी, **इइ**—इस कारण, **भणियव्व**—कहना चाहिये।

गाथार्थ—बद्ध कर्म का उदय होता है और उदय होने पर उदीरणा होती है तथा शेष की सत्ता होती है। इस कारण परस्पर सम्बन्ध होने से बधविधि कहने पर भी उन उदयादिक का भी स्वरूप कहना चाहिये।

विशेषार्थ—ग्रन्थकार आचार्य ने गाथा मे बधविधि के साथ-साथ

अथवा बधविधि के प्रसग मे उदय, उदीरणा और सत्ता के विवेचन करने के कारण को स्पष्ट किया है।

'वद्धस्सुदओ' अर्थात् बधे हुए कर्म का अपना-अपना अवाधाकाल पूर्ण समाप्त होने के बाद उदय होता है और 'उदए उदीरणा' अर्थात् उदय होने पर प्राय[1] उदीरणा अवश्य होती है। किन्तु जिस कर्म को अभी तक उदय, उदीरणा के द्वारा भोगकर नष्ट नही किया, उस शेष रहे कर्म की सत्ता होती है। इस प्रकार चारो का परस्पर सम्बन्ध होने से बध के साथ-साथ उदयादिक का स्वरूप कहना भी आवश्यक होने से इस अधिकार मे अनुक्रम से चारो के स्वरूप का विचार किया जायेगा।

अब क्रम-निर्देशानुसार सर्वप्रथम गुणस्थानो मे मूलकर्मों की बध-विधि का कथन करते है।

गुणस्थानो मे मूलकर्म बधविधि

जा अपमत्तो सत्तट्ठबधगा सुहुमछण्हमेगस्स।
उवसतखीणजोगी सत्तण्हं नियट्टिमीसअनियट्टी ॥२॥

शब्दार्थ—**जा**—पर्यन्त तक, **अपमत्तो**—अप्रमत्तगुणस्थान, **सत्तट्ठबधगा**—सात या आठ कर्म के वधक, **सुहुम**—सूक्ष्मसपरायगुणस्थानवर्ती, **छण्ह**—छह, **एगस्स**—एक के, **उवसतखीणजोगी**—उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगि केवली गुणस्थानवर्ती, **सत्तण्ह**—सात के, **नियट्टि**—निवृत्ति (अपूर्वकरण), **मीस**—मिश्र, **अनियट्टी**—अनिवृत्तिबादरगुणस्थानवर्ती।

गाथार्थ—अप्रमत्तगुणस्थान तक जीव सात अथवा आठ कर्मो के वधक हैं। सूक्ष्मसपरायगुणस्थानवर्ती छह कर्म के, उपशान्त

---

१ यहाँ 'प्राय' शब्द रखने का कारण यह है कि उदीरणा के बिना भी उदय होता है, जैसे कि मतिज्ञानावरणादि इकतालीस प्रकृतियाँ। उदय के लिए उदीरणा की अपेक्षा नही होती है। किन्तु उदीरणा उदयसापेक्ष है।

मोह, क्षीणमोह सयोगिकेवलि गुणस्थानवर्ती जीव एक कर्म और निवृत्ति, मिश्र और अनिवृत्तिबादर गुणस्थानवर्ती जीव सात कर्म के बधक है।

विशेषार्थ—गाथा मे गुणस्थानो की अपेक्षा मूलकर्मप्रकृतियो के बधक जीवो का कथन किया है कि किस गुणस्थान तक के जीवो को कितने कितने मूल कर्मो का बध होता है विशेषता के साथ जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मूलकर्मप्रकृतियो के आठप्रकृतिक, सातप्रकृतिक, छहप्रकृतिक और एकप्रकृतिक, इस प्रकार कुल चार बधस्थान होते है। इनमे से आठ-प्रकृतिक बधस्थान मे ज्ञानावरण से लेकर अन्तराय पर्यन्त आठ मूल-प्रकृतियो का, सातप्रकृतिक बधस्थान मे आयु कर्म के बिना सात का, छहप्रकृतिक बधस्थान मे आयु और मोहनीय कर्म के बिना छह का तथा एकप्रकृतिक बधस्थान मे मात्र वेदनीय कर्म का ग्रहण होता है।

उक्त कथन का तात्पर्य यह हुआ कि आयुबध के सभव गुणस्थानो तक आठो कर्मों का भी और उन गुणस्थानो मे जब आयु का बध नही होगा तब सात का बध होता है। इसका कारण यह है कि आयु कर्म का सदैव-निरतर बध नही होकर निर्धारित काल मे होता है। इसी-लिये आयुबध के सम्भव गुणस्थानो मे विकल्प से आठ अथवा सात कर्मों के बध होने का निर्देश किया है। लेकिन उसके बाद के शेष आयु-अबधक गुणस्थानो मे सात कर्मो का और इन सात कर्मो मे से भी जब मोहनीय कर्म के बध का विच्छेद हो जाता है तब आयु और मोहनीय इन दो कर्मो से शेष रहे ज्ञानावरणादि छह कर्मो का बध होता है। इन छह कर्मो मे से भी वेदनीय के सिवाय शेष पाच कर्मो के बध का विच्छेद हो जाने पर सिर्फ वेदनीय-प्रत्ययिक एकप्रकृतिक बधस्थान प्राप्त होता है। इसीलिये मूलकर्मप्रकृतियो के चार बध-स्थान सम्भव है—

१ आठप्रकृतिक, २ सातप्रकृतिक, ३ छहप्रकृतिक, ४ एक-प्रकृतिक।

गुणस्थानो की अपेक्षा इनके बधको का विवरण इस प्रकार है कि—'जा अपमत्तो सत्तट्ठबधगा' अर्थात् पहले मिथ्यादृष्टिगुणस्थान से लेकर सातवे अप्रमत्तासयतगुणस्थान पर्यन्त सात गुणस्थानो मे सात अथवा आठ प्रकृतिक बधस्थान प्राप्त होता है। किन्तु इनमे तीसरे मिश्र गुणस्थान को ग्रहण नही करना चाहिये। जिसका ग्रन्थकार आचार्य ने गाथा मे पृथक से निर्देश किया है।

तात्पर्य यह है कि मिश्रगुणस्थान को छोडकर मिथ्यादृष्टिगुण-स्थान से लेकर अप्रमत्तसयतगुणस्थान तक के सभी जीव समय-समय सात या आठ कर्मो का बध करते है। जब आयु का बध करते है तब अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त आठ का और उससे शेष रहे समयो मे सात कर्मो का बध करते है।

"सुहुम छण्ह"—अर्थात् सूक्ष्मसपराय नामक दसवे गुणस्थानवर्ती जीव मोहनीय और आयु के बिना समय-समय छह कर्म का बध करते है। क्योकि इस गुणस्थानवर्ती जीव अति विशुद्ध परिणाम वाले होने से आयु का बध करते ही नही है और बादर कषायोदय रूप बध का कारण नही होने से मोहनीय का भी बध नही करते है। इसीलिये सूक्ष्म-सपरायगुणस्थानवर्ती जीव छहप्रकृतिक बधस्थान के स्वामी है।

उपशान्तमोह, क्षीणमोह, और सयोगिकेवलि नामक ग्यारहवे, बारहवे और तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव योग निमित्तक मात्र एक सातावेदनीय का ही बध करते है। इसलिये वे एकप्रकृतिक बधस्थान के स्वामी है—"एगस्स उवसतखीणजोगी।" क्योकि कषाय का उदय नही होने से वे शेष किसी भी कर्म को नही बाँधते हैं।

'सत्तण्ह नियट्टिमीसअनियट्टी' अर्थात् आठवे अपूर्वकरण गुणस्थान-वर्ती, तीसरे मिश्रगुणस्थान वाले और नौवे अनिवृत्तिबादरसपराय-

गुणस्थान वाले जीव आयु के बिना प्रति समय सात-सात कर्मों को बाधते हैं। क्योंकि आठवें और नौवें गुणस्थान मे अति विशुद्ध परिणाम होने से और मिश्रगुणस्थान मे जीवस्वभाव से ही आयु का बध नही होता है। इस कारण ये तीन गुणस्थानवर्ती जीव सात कर्मों के बधक होते है।[1]

इस प्रकार से गुणस्थानो की अपेक्षा मूलकर्मों की बध-विधि का निरूपण जानना चाहिये । अब गुणस्थानो मे उदय और सत्ता विधि का कथन करते हैं ।

गुणस्थानो में उदय और सत्ता विधि

जा सुहुमसपराओ उइन्न सताइं ताव सव्वाइं ।
सत्तट्ठुवसते खीणे सत्त सेसेसु चत्तारि ॥३॥

शब्दार्थ—जा—तक, सुहुमसपराओ—सूक्ष्मसपराय, उइन्न—उदयगत, सताइ—होते है, ताव—तब तक, सव्वाइ—सभी, सत्तट्ठ—सात और आठ, उवसते—उपशातमोह मे, खीणे—क्षीणमोह मे, सत्त—सात, सेसेसु—शेष गुणस्थानो मे, चत्तारि—चार ।

गाथार्थ—सूक्ष्मसपरायगुणस्थान तक सभी कर्म उदयगत और सत्तागत होते है। उपशान्तमोहगुणस्थान मे सात कर्म का उदय और आठ कर्मों की सत्ता, क्षीणमोह मे सात का उदय और सात की सत्ता और शेष गुणस्थानो मे चार कर्मों का उदय और चार कर्मों की सत्ता होती है।

विशेषार्थ—गाथा मे मूलकर्मों के उदयस्थानो एव सत्तास्थानो

---

१ दिगम्बर कर्मग्रन्थो मे भी इसी प्रकार माना गया है—

(क) छसु सगविहमट्ठविह कम्म बंधति तिसु य सत्तविह ।
छव्विहमेक्कट्ठाणे तिसुएक्कमबधगो एक्को ॥
—गो कर्मकाड, गा ४५२

(ख) दि० पचसग्रह, शतक अधिकार, गाथा २१९-२२०

को बतलाते हुए गुणस्थानो की अपेक्षा उनके स्वामियो का भी निर्देश किया है।

मूल प्रकृतियो की अपेक्षा उदयस्थान तीन है—१ आठप्रकृतिक, २ सातप्रकृतिक और ३ चारप्रकृतिक। आठप्रकृतिक उदयस्थान मे सब ज्ञानावरणादिक मूल प्रकृतियो का, सातप्रकृतिक उदयस्थान मे मोहनीय कर्म के बिना शेष सात का और चारप्रकृतिक उदयस्थान मे चार अघाति कर्मो का ग्रहण होता है।

इसी प्रकार मूल प्रकृतियो के सत्तास्थान भी तीन है—१ आठ-प्रकृतिक, २ सातप्रकृतिक और ३ चारप्रकृतिक। आठप्रकृतिक सत्वस्थान मे सब मूल प्रकृतियो की, सात प्रकृतिक सत्वस्थान मे मोह-नीय के बिना सात की और चारप्रकृतिक सत्वस्थान मे चार अघाति कर्मो की सत्ता पाई जाती है।

मूल प्रकृतियो के उक्त तीन-तीन उदयस्थान और सत्तास्थान होने से यह आशय फलित होता है कि मोहनीय का उदय रहते आठो कर्मो का मोहनीय के बिना शेष तीन घाति कर्मो का उदय रहते सात का तथा चार अघाति कर्मो का उदय रहते चार का उदय स्थान होता है। इसी प्रकार सत्त्वस्थानो मे भी मोहनीय के रहते आठो की, ज्ञानावरण-दर्शनावरण-अन्तराय के रहते मोहनीय के बिना सात की तथा चार अघाति कर्मो के रहते चार अघाति कर्मो की सत्ता पाई जाती है।

इन पूर्वोक्त उदयस्थानो और सत्तास्थानो का गुणस्थानो की अपेक्षा स्वामित्व इस प्रकार है—

पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर दसवे सूक्ष्मसपरायगुण-स्थान तक अर्थात् आदि के दस गुणस्थानो तक आठो कर्मो का उदय और आठो कर्मों की सत्ता है—"जा सुहुमसपराओ उइन्न सताइ ताव सव्वाइ।" इसका कारण यह है कि इन सभी गुणस्थानो मे मोहनीय कर्म का उदय और सत्ता होती है।

'सत्तट्ठुवसंते' अर्थात् उपशान्तमोह नामक ग्यारहवे गुणस्थान मे उदय सात कर्मों का होता है। क्योकि इस गुणस्थान मे मोहनीय कर्म के सर्वथा उपशमित होने से उदय नही होता है किन्तु सत्ता आठो कर्मों की होती है। इसका कारण यह है कि उपशमित होते हुए भी वह सत्ता मे तो विद्यमान है तथा बारहवे क्षीणमोहगुणस्थान मे सात कर्म का उदय और सात कर्म की सत्ता होती है—"खीणे सत्त"। क्योकि इस गुणस्थान मे मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय होने से वह उदय और सत्ता दोनो मे ही नही होता है।

इस प्रकार से आदि के बारह गुणस्थानो के उदय और सत्व का विचार करने के पश्चात् अब शेष रहे अन्तिम दो गुणस्थानो—सयोगिकेवलि और अयोगिकेवलि गुणस्थानो के उदय एव सत्त्व का निर्देश करते है—'सेसेसु चत्तारि' अर्थात् घाति कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने से सयोगि और अयोगिकेवलि गुणस्थानो मे शेष रहे चार अघाति कर्मों का ही उदय और सत्व पाया जाता है।[1]

इस प्रकार से गुणस्थानो मे बध, उदय और सत्वविधि का कथन जानना चाहिये। यद्यपि क्रम-प्राप्त उदीरणाविधि के वर्णन का प्रसग है, लेकिन उसका विस्तार से विवेचन किया जाना सम्भव होने से

---

१ दिगम्बर कर्मग्रन्थो मे भी इसी प्रकार का निर्देश किया गया है—

अट्ठुदओ सुहुमोत्ति य मोहेण विणा हु सतखीणेसु।
घादिदराण चउक्कस्सुदओकेवलि णियमा ॥

—दि० पचसग्रह, शतक अधिकार, गा० २२१

—गो० कर्मकाण्ड, गा० ४५४

मतोत्ति अट्ठ सत्ता खीणे सत्तेव होति सत्ताणि।
जोगिम्मि अजोगिम्मि य चत्तारि हवति सत्ताणि ॥

—गो० कर्मकाण्ड, गा० ४५७

आदि भाग के प्रारम्भ मे जब आयु का बंध करे तब अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त आठ कर्म बांधते है और शेष काल मे निरन्तर सात कर्म बाँधते है तथा इन्ही तेरह भेदो के सभी जीवो के उदय और सत्ता मे आठ कर्म होते है—उदय सत्तट्ठगा उ सव्वे वि।

अब उक्त तेरह जीवभेदो से शेप रहे और पृथक् निर्दिष्ट पर्याप्त सज्ञी जीवभेद के बंधस्थान आदि का निर्देश करते है—

'पज्जत्त सन्निमि' अर्थात् पर्याप्त सज्ञी जीवभेद मे सात, आठ, छह और एक, इस प्रकार गुणस्थानो के भेद से बंध के चार विकल्प होते है। इसका आशय यह हुआ कि पर्याप्त सज्ञी किसी समय सात का, किसी समय आठ का, किसी समय छह का और किसी समय एक कर्म का बंध करता है और चार भग-विकल्प होने का कारण यह है कि इस जीवभेद मे चौदह गुणस्थान पाये जाते है। अत प्रथम मिथ्या-दृष्टिगुणस्थान से लेकर अप्रमत्तसयतगुणस्थान पर्यन्त सज्ञी पचेन्द्रिय आयुबंध के काल मे आठ कर्म का और शेष काल मे सात कर्म का बंध करते हैं तथा मिश्र, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिबादर यानी तीसरे, आठवे और नौवे गुणस्थानवर्ती जीव आयु के बिना सात कर्म बाधते है। दसवे सूक्ष्मसपरायगुणस्थान मे आयु और मोहनीय के बिना छह और उपशान्तमोह से लेकर सयोगिकेवलि पर्यन्त तीन गुणस्थानो के सभी जीव एक सातावेदनीय का ही बंध करते है। इसीलिए गाथा मे पर्याप्त सज्ञी के लिए "सत्तट्ठछेगबंधगभगा"—सात, आठ, छह और एक ये चार बंध-विकल्पो का निर्देश किया है तथा अयोगिकेवलि भगवान बंधहेतु का अभाव होने से एक भी कर्म का बंध नही करते हैं।

गाथा गत 'सत्तट्ठगा' के बाद ग्रहण किया गया 'उ—तु' शब्द अधिक अर्थ का सूचक होने से यह अर्थ समझना चाहिये कि पर्याप्त सज्ञी मे आठप्रकृतिक, सातप्रकृतिक और चारप्रकृतिक ये तीन उदय-विकल्प तथा आठ, सात और चार प्रकृतिक ये तीनो सत्ता के विकल्प होते हैं। पर्याप्त सज्ञी जीवभेद मे ये उदय और सत्ता के विकल्प कैसे

उसकी विधि का आगे वर्णन कर रहे है। अतएव अभी उसको गौण करके पहले जीवस्थानो मे बध, उदय और सत्ता को घटित करते है।

जीवस्थानो मे बध, उदय और सत्ताविधि

बधति सत्त अट्ठ व उइन्न सत्तट्ठगा उ सव्वे वि ।
सत्तट्ठछेगबंधगभगा   पज्जत्तासन्निमि ॥४॥

शब्दार्थ—बधति—बाधते है, **सत्त अट्ठ**—सात, आठ, **व**—अथवा, **उइन्न**—उदय, **सत्त**—सत्ता मे, **अट्ठगा**—आठ, **उ**—और, **सव्वे वि**—सभी, **सत्तट्ठछेग**—सात, आठ, छह और एक, **बधगभगा**—बध के भग, **पज्जत्तसन्निमि**—पर्याप्त सज्ञी जीवस्थान मे ।

गाथार्थ—सभी जीव सात अथवा आठ कर्मों को बाधते है तथा उदय और सत्ता मे आठो कर्म होते है। मात्र पर्याप्त सज्ञी जीवस्थान मे सात, आठ, छह और एक इस प्रकार बध के चार भग होते है।

विशेषार्थ—जीवस्थानो के चौदह भेद और उनके नामो का उल्लेख पूर्व मे किया जा चुका है। यहाँ उन्ही जीवभेदो मे बध, उदय और सत्ता विधि का विचार किया है।

बधविधि का विचार प्रारम्भ करते हुए आचार्य ने बताया है कि 'बधति सत्त अट्ठ व' अर्थात् अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय से लेकर पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय पर्यन्त चौदह जीवभेद प्रति समय सात अथवा आठ कर्मो का बध करते है। यह कथन सामान्य से समझना चाहिये। क्योकि ग्रन्थकार आचार्य ने इसी गाथा मे पर्याप्त सज्ञी जीवभेद का पृथक् से निर्देश किया है। अत तात्पर्य यह हुआ कि पर्याप्त सज्ञी के सिवाय शेष अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रियादि तेरह भेद वाले सभी जीव प्रति समय सात अथवा आठ कर्मो का बध करते है। जिसका आशय यह है कि अपनी-अपनी आयु के दो भाग बीतने के बाद तीसरे

आदि भाग के प्रारम्भ मे जब आयु का बध करे तब अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त आठ कर्म बाधते है और शेष काल मे निरन्तर सात कर्म बाँधते है तथा इन्ही तेरह भेदो के सभी जीवो के उदय और सत्ता मे आठ कर्म होते है—उइन्न सत्तट्ठगा उ सव्वे वि।

अब उक्त तेरह जीवभेदो से शेष रहे और पृथक् निर्दिष्ट पर्याप्त सज्ञी जीवभेद के बधस्थान आदि का निर्देश करते है—

'पज्जत्त सन्निमि' अर्थात् पर्याप्त सज्ञी जीवभेद मे सात, आठ, छह और एक, इस प्रकार गुणस्थानो के भेद से बध के चार विकल्प होते है। इसका आशय यह हुआ कि पर्याप्त सज्ञी किसी समय सात का, किसी समय आठ का, किसी समय छह का और किसी समय एक कर्म का बध करता है और चार भग-विकल्प होने का कारण यह है कि इस जीवभेद मे चौदह गुणस्थान पाये जाते है। अत प्रथम मिथ्या-दृष्टिगुणस्थान से लेकर अप्रमत्तसयतगुणस्थान पर्यन्त सज्ञी पचेन्द्रिय आयुबध के काल मे आठ कर्म का और शेष काल मे सात कर्म का बध करते है तथा मिश्र, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिबादर यानी तीसरे, आठवे और नौवे गुणस्थानवर्ती जीव आयु के बिना सात कर्म बाधते है। दसवे सूक्ष्मसपरायगुणस्थान मे आयु और मोहनीय के बिना छह और उपशान्तमोह से लेकर सयोगिकेवलि पर्यन्त तीन गुणस्थानो के सभी जीव एक सातावेदनीय का ही बध करते है। इसीलिए गाथा मे पर्याप्त सज्ञी के लिए "सत्तट्ठछेगवधगभगा'—सात, आठ, छह और एक ये चार बध-विकल्पो का निर्देश किया है तथा अयोगिकेवलि भगवान बधहेतु का अभाव होने से एक भी कम का बध नही करते है।

गाथा गत सत्तट्ठगा' के बाद ग्रहण किया गया 'उ—तु' शब्द अधिक अर्थ का सूचक होने से यह अर्थ समझना चाहिये कि पर्याप्त सज्ञी मे आठप्रकृतिक, सातप्रकृतिक और चारप्रकृतिक ये तीन उदय-विकल्प तथा आठ, सात और चार प्रकृतिक ये तीनो सत्ता के विकल्प होते है। पर्याप्त सज्ञी जीवभेद मे ये उदय और सत्ता के विकल्प कैसे

सम्भव हैं ? तो इसका निर्देश तीसरी गाथा मे गुणस्थान सम्बन्धी उदय और सत्ता विधि को बताने के प्रसग मे पहले किया जा चुका है, तदनुसार यहाँ घटित कर लेना चाहिये ।

अब पूर्व मे गौण की गई उदीरणा विधि की प्ररूपणा करते है ।

गुणस्थानो मे मूलकर्म उदीरणा विधि

> जाव पमत्तो अट्ठण्हुदीरगो वेयआउवज्जाण ।
> सुहुमो मोहेण य जा खीणो तप्परओ नामगोयाण ।।५।।

शब्दार्थ—**जाव**—पर्यन्त, तक **पमत्तो**—प्रमत्तसयत, **अट्ठण्हुदीरगो**—आठ कर्म के उदीरक, **वेयआउवज्जाण**—वेदनीय और आयु को छोडकर, **सुहुमो**—सूक्ष्मसपराय, **मोहेण**—मोहनीय के, **य**—और, **जा**—तक, **खीणो**—क्षीणमोह, **तप्परओ**—और उसके बाद, **नामगोयाण**—नाम और गोत्र के ।

गाथार्थ—मिथ्यादृष्टि से लेकर प्रमत्तसयत पर्यन्त सभी जीव आठो कर्म के और अप्रमत्त से लेकर सूक्ष्मसपराय तक के सभी जीव वेदनीय और आयु के बिना छह कर्म के तथा मोहनीय के बिना पाच कर्म के क्षीणमोह पर्यन्त के उदीरक होते है और उसके बाद के सयोगिकेवलिगुणस्थानवर्ती जीव नाम और गोत्र इन दो कर्मो के उदीरक है ।

विशेषार्थ—गाथा मे गुणस्थानो के क्रम से आठ मूल कर्मो का उदीरणा-स्वामित्व बतलाया है और इसका प्रारम्भ करते हुए निर्देश किया है—

'जाव पमत्तो अट्ठण्हुदीरगो' अर्थात् मिथ्यादृष्टिगुणस्थान से प्रमत्त-सयतगुणस्थान पर्यन्त के सभी जीव आठो कर्म के उदीरक होते हैं । यानी पहले से लेकर छठे गुणस्थान तक के सभी जीवो को प्रति समय आठो कर्मो की उदीरणा होती है । किन्तु जब अपनी-अपनी आयु का भोग करते-करते एक आवलिका प्रमाण आयु शेष रहे तब आयु की

उदीरणा नही होती है, अत उस समय वे सात कर्म के उदीरक होते है। इसका कारण यह है कि उदयावलिका से ऊपर की स्थिति मे से दलिको को खीचकर उदयावलिका के साथ भोगने योग्य करने को उदीरणा कहते है, किन्तु यहाँ तो मात्र एक आवलिका ही शेप है और ऊपर की सब स्थिति भोगी जा चुकी है, इस कारण ऊपर से खीचने योग्य दलिक नही होने से उस एक आवलिका काल आयु के विना शेप सात कर्मो के उदीरक होते है। लेकिन तीसरा मिश्रगुणस्थान इसका अपवाद है। उसके विषय मे इतनी विशेषता जानना चाहिये कि—

सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान मे वर्तमान सभी जीव सर्वदा आठो कर्मो के उदीरक होते है। क्योकि आयु की अन्तिम एक आवलिका शेप रहने पर मिश्रगुणस्थान ही असम्भव है। इसका कारण यह है कि अन्तर्मुहूर्त आयु शेप रहने पर मिश्रगुणस्थानवर्ती सभी जीव तथास्वभाव से उस गुणस्थान को छोडकर चौथे अथवा पहले गुणस्थान मे चले जाते है, उनके तीसरा गुणस्थान रहता ही नही है।

सातवे अप्रमत्तसयतगुणस्थान से लेकर दसवे सूक्ष्मसपरायगुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानो के सभी जीव वेदनीय और आयु के विना शेप छह कर्म के उदीरक होते है। अप्रमत्तदशा के परिणामो के कारण इन गुणस्थानो मे वेदनीय और आयु की उदीरणा होती नही है—'वेयआउवज्जाण सुहुमो।' इसीलिए इन दो कर्मो की उदीरणा का यहाँ निपेध किया है। लेकिन इतना विशेप समझना चाहिये कि—

यदि क्षपकश्रेणिगत सूक्ष्मसपरायगुणस्थान मे मोहनीय कर्म का क्षय करते-करते सत्ता मे एक आवलिका शेप रहे तब उस अन्तिम आवलिका मे मोहनीय के विना पाँच कर्मो की उदीरणा होती है और उपशम श्रेणि मे तो मोह की सत्ता अधिक होने से चरम समय पर्यन्त उदीरणा होती है। उक्त कथन का साराश यह हुआ कि सूक्ष्मसपरायगुणस्थान मे जो छह कर्म की उदीरणा बताई है, वह उपशम श्रेणि की

दृष्टि से समझना चाहिए। किन्तु क्षपकश्रेणि की अपेक्षा मोहनीय की अन्तिम आवलिका शेष रहने पर मोहनीय की उदीरणा नही होती है, शेष पाँच कर्मो की उदीरणा होती है। इसीलिए सूक्ष्मसपरायगुणस्थान की चरम आवलिका से लेकर क्षीणमोहगुणस्थान पर्यन्त मोहनीय, वेदनीय और आयु के बिना शेष पाँच कर्मो की उदीरणा होती है। मात्र क्षीणमोहगुणस्थान की चरम आवलिका मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय की स्थिति सत्ता मे एक आवलिका ही शेष रहती है, अत उनकी उदीरणा नही होती है, किन्तु नाम और गोत्र इन दो कर्मो की ही उदीरणा होती है। क्योकि यह नियम है कि किसी भी कर्म की सत्ता मे एक आवलिका शेष रहने पर ऊपर की स्थिति मे से दलिको को खीचा जा सके वैसे दलिक शेष नही रहने से उनकी उदीरणा नही होती है।

क्षीणमोहगुणस्थान की चरम आवलिका से लेकर सयोगिकेवलि गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त मात्र नाम और गोत्र इन दो कर्मो की ही उदीरणा होती है—'तप्परओ नामगोयाण।'

चौदहवे अयोगिकेवलिगुणस्थान मे उदीरणा नही होती है। इसका कारण यह है कि योग होने पर उदीरणा होती है। किन्तु अयोगिकेवलिगुणस्थान मे सूक्ष्म अथवा बादर योग नही होने से किसी भी कर्म की उदीरणा सम्भव नही है।[1] जैसा कि कहा है—

---

१ दिगम्बर कार्मग्रन्थिक आचार्यों का भी यही अभिमत है—

(क) घादीण छदुमट्ठा उदीरगा रागिणो हि मोहस्स।
तदियाऊण पमत्ता जोगता होति दोण्ह पि॥
मिस्सूणपमत्तन्ते आउस्सद्धाहुसुहुम खीणाणा।
आवलिसिट्ठे कमसो सग पण दो चेवुदीरणा होति॥

—गो० कर्मकाण्ड, गा० ४५५, ४५६

(ख) दि० पचसग्रह, शतक अधिकार, गाथा २२३-२४-२५-२६

वट्टतो उ अजोगी न किञ्चि कम्म उदीरेइ ।[1]

अर्थात् अयोगि आत्मा किसी भी कर्म को उदीरित नही करती है ।

इस प्रकार से गुणस्थानो मे मूल कर्मो की उदीरणा विधि जानना चाहिये और इसके साथ ही गुणस्थानो मे मूल कर्म प्रकृतियो की बध, उदय, सत्ता और उदीरणा विधि का विवेचन पूर्ण होता है । सरलता से बोध करने के लिए जिसका प्रारूप इस प्रकार है—

क्रम	गुणस्थान नाम	बध प्रकृतियाँ	उदय प्रकृतियाँ	सत्ता प्रकृतियाँ	उदीरणा प्रकृतियाँ
१	मिथ्यात्व	७/८	८	८	८/७
२	सासादन	७/८	८	८	८/७
३	मिश्र	७	८	८	७
४	अविरतसम्यग्दृष्टि	७/८	८	८	८/७
५	देशविरत	७/८	८	८	८/७
६	प्रमत्तसयत	७/८	८	८	८/७
७	अप्रमत्तसयत	७/८	८	८	६
८	निवृत्ति (अपूर्वकरण)	७	८	८	६

२ दि० पचसग्रह शतक अधिकार, गाथा २२६ मे भी इसी प्रकार का उल्लेख है । तुलना कीजिये—वट्टतो दु अजोगी ण किंचि कम्म उदीरेइ ।

क्रम	गुणस्थान नाम	बध प्रकृतियाँ	उदय प्रकृतियाँ	सत्ता प्रकृतियाँ	उदीरणा प्रकृतियाँ
९	अनिवृत्तिबादर	७	८	८	६
१०	सूक्ष्मसपराय	६	८	८	६/५
११	उपशातमोह	१	७	८	५
१२	क्षीणमोह	१	७	७	५/२
१३	सयोगिकेवली	१	४	४	२
१४	अयोगिकेवली	×	४	४	०

उदय और उदीरणा के उक्त कथन के प्रसग मे शकाकार अपनी शका प्रस्तुत करता है कि—

ऐसा सिद्धान्त है कि उदय होने पर उदीरणा होती है। अत जहाँ तक उदय हो वहाँ तक उदीरणा होती है अथवा उदय होने पर भी उदीरणा न हो, ऐसा भी सम्भव है? तो अब इसका समाधान करते है।

उदय, उदीरणा विषयक अपवाद

जावुदओ ताव उदीरणा वि वेयणीय आउवज्जाण।
अद्धावलिया सेसे उदए उ उदीरणा नत्थि ॥६॥

शब्दार्थ—जावुदओ—जब तक उदय हो, ताव—तब तक, उदीरणा—उदीरणा, वि—भी, वेयणीय आउवज्जाण—वेदनीय और आयु के बिना, अद्धावलिया—एक समयावलिका, सेसे—शेष रहने पर, उदए—उदय, उ—किन्तु, उदीरणा—उदीरणा, नत्थि—नही होती है।

गाथार्थ –वेदनीय और आयु के बिना शेष छह कर्मो का जहाँ तक उदय होता है, वहाँ तक उनकी उदीरणा भी होती है तथा किसी भी कर्म की सत्ता मे एक समयावलिका शेष रहे तब उदीरणा नही होती है, केवल उदय ही होता है।

विशेषार्थ—गाथा मे उदीरणाविषयक अपवाद का निर्देश किया है कि—

वेदनीय और आयु के बिना शेष छह कर्मो का जहाँ तक उदय होता है, वहाँ तक उनकी उदीरणा होती है—'जावुदयो ताव उदीरणा वि।' वेदनीय और आयु कर्म का प्रमत्तगुणस्थान पर्यन्त उदय होता है वहाँ तक उनकी उदीरणा प्रवर्तमान होती है और प्रमत्तगुणस्थान से आगे वेदनीय और आयु कर्म की उदीरणा रुक जाने पर देशोन पूर्व कोटि पर्यन्त[1] केवल उदय ही होता है तथा सभी कर्मो की अद्धावलिका[2] (एक समयावलिका) शेष रहने पर उदय प्रवर्तमान होता है किन्तु उदीरणा नही होती है। अर्थात् एक आवलिका जितने काल मे भोगने योग्य दलिक जब सत्ता मे शेष रहे तब उदय प्रवर्तमान होने पर भी उदीरणा नही होती है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय, मोहनीय और आयुकर्म का अपनी-अपनी पर्यन्तावलिका मे उदय होता है, किन्तु उदीरणा नही होती है। क्योकि उदीरणा का लक्षण यह है—उदय-समय से आरम्भ

---

१ यहा देशोनपूर्व कोटिकाल सयोगिकेवलिगुणस्थान के काल की अपेक्षा जानना चाहिए।

२ **अद्धावलिका**—आवलिका यानी पक्ति श्रेणी। श्रेणी प्राय प्रत्येक पदार्थ की हो सकती है। परन्तु यहा काल की पक्ति लेना है। जिससे अद्धा शब्द को ग्रहण किया है। अत अद्धा काल की आवलिका श्रेणी को अद्धावलिका अर्थात् प्रतिनियत सख्या वाली आवलिका के समय प्रमाण जो समय रचना हो, उसे अद्धावलिका कहते है।

करके एक आवलिका जितने काल मे भोगी जाये ऐसी निषेक रचना को उदयावलिका कहते है और उस उदयावलिका से ऊपर के स्थिति-स्थानो मे रहे हुए दलिको को कषाययुक्त या कषाय बिना के योग सज्ञक वीर्यविशेष द्वारा खीचकर उदयावलिका मे विद्यमान दलिको के साथ भोगने योग्य करने को उदीरणा कहते है।[1] इसलिये सत्ता मे ही जब किसी कर्म की एक आवलिका शेष रहे, तब उस आवलिका के ऊपर अन्य कोई भी स्थितिस्थान नही है जिनमे से दलिक खीचकर उदया-वलिका मे प्रवेश कराया जाये, इसलिये उस समय उदय होता है, परन्तु उदीरणा नही होती है।

गाथागत 'उ—तु' शब्द अधिक अर्थ का सूचक होने से यह जानना चाहिये कि नाम और गोत्र कर्म का अयोगिकेवलि अवस्था मे उदय होता है, किन्तु योग का अभाव होने से वहा उदीरणा नही होती है। यद्यपि नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म की पर्यन्तावलिका चौदहवे गुण-स्थान मे शेष रहती है परन्तु वहा योग का अभाव होने से उदीरणा होती ही नही है। इनमे से नाम और गोत्र कर्म की उदीरणा तेरहवे गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त और वेदनीय की उदीरणा छठे प्रमत्त-सयतगुणस्थान पर्यन्त होती है। आयु कर्म की पर्यन्तावलिका उपशम श्रेणि मे तीसरे गुणस्थान को छोडकर ग्यारहवे गुणस्थान तक मे शेष रह सकती है। इसका कारण यह है कि तीसरे को छोडकर ग्यारह गुणस्थान तक मे मरण होना सभव है और क्षपकश्रेणि मे चौदहवे गुणस्थान मे ही शेष रहती है, किन्तु उसकी उदीरणा छठे गुणस्थान तक ही होती है। आगे के गुणस्थानो मे अधिक आयु सत्ता मे हो भी किन्तु उदीरणा नही होती है इसका कारण पूर्व मे बतलाया जा चुका है।

---

१ उदयावलिकातो बहिर्वर्तिनीना स्थितीना दलिक कषायै सहितेनासहितेन वा योग सज्ञिकेन वीर्यविशेषेण समाकृष्योदयावलिकाया प्रवेशनमुदीरणा।

—पचसग्रह मलय० टीका पृ १६३

इस प्रकार से मूल कर्मों की उदीरणाविधिविषयक अपवाद जानना चाहिये। अब उत्तरप्रकृतियो की उदीरणाविधि का कथन प्रारम्भ करते हुए यह बतलाते है कि किस प्रकृति की किस गुणस्थान तक उदीरणा होती है।

उत्तरप्रकृतियो की गुणस्थानो मे उदीरणाविधि

सायासायाऊण जाव पमत्तो अजोगि सेसुदओ।
जा जोगि उईरिज्जइ सेसुदया सोदयं जाव ॥७॥

शब्दार्थ—**सायासायाऊण**—साता, असाता और (मनुष्य) आयु, **जाव**—पर्यन्त, **पमत्तो**—प्रमत्त गुणस्थान, **अजोगि**—अयोगिकेवलगिुणस्थान, **सेसुदओ**—शेष उदयप्राप्त, **जा**—पर्यन्त, **जोगि**—सयोगि, **उईरिज्जइ**—उदीरणा करते है, **सेसुदया**—शेष उदयप्राप्त, **सोवय**—अपने उदय, **जाव**—पर्यन्त।

गाथार्थ—साता, असाता वेदनीय और (मनुष्य) आयु की उदीरणा प्रमत्तसयतगुणस्थान पर्यन्त होती है। इनसे शेष रही अयोगिकेवलिगुणस्थान मे उदय-प्राप्त प्रकृतियो की उदीरणा सयोगिकेवलिगुणस्थान पर्यन्त होती है और इनसे भी शेष उदय-प्राप्त प्रकृतियो की उदीरणा अपने उदय पर्यन्त होती है।

विशेषार्थ—कर्मविचारणा के प्रसग मे सामान्य से उदययोग्य उत्तारप्रकृतियो की सख्या एक सौ बाईस कही गई है और उदीरणा योग्य प्रकृतियो की सख्या भी इतनी ही है। उनमे से किस गुणस्थान तक किस प्रकृति की उदीरणा होती है, यह विचार इस गाथा मे किया गया है--

'सायासायाऊण जाव पमत्तो' अर्थात् वेदनीय कर्म की सातावेदनीय, असातावेदनीय इन दो उत्तरप्रकृतियो तथा मनुष्यायु इन तीन प्रकृतियो की उदीरणा छठे प्रमत्तसयतगुणस्थान तक होती है किन्तु अप्रमत्त आदि आगे के गुणस्थानो मे नही होती है। इसका कारण यह है कि इन तीन प्रकृतियो की उदीरणा मे प्रमत्त दशा के परिणाम हेतु है और

प्रमाद का उदय—प्रमत्त दशा छठे गुणस्थान तक ही पाई जाती है, इसलिये वहा तक ही उदीरणा हो सकती है। आगे के गुणस्थानो मे प्रमाद का अभाव—अप्रमत्त दशा होने से उदीरणा नही होती है।

साता, असाता वेदनीय और मनुष्यायु के बिना जो प्रकृतिया अयोगिकेवलिगुणस्थान मे उदययोग्य है, उनकी उदीरणा सयोगिकेवलिगुणस्थान पर्यन्त होती है। अर्थात् साता, असाता वेदनीय और मनुष्यायु के बिना शेष रही त्रस, बादर, पर्याप्त, मनुष्य गति, पचेन्द्रिय जाति, तीर्थकर नाम, सौभाग्य, आदेय, यश'-कीर्ति और उच्च गोत्र इन दस प्रकृतियो का अयोगिकेवलिगुणस्थान मे उदय है, परन्तु उदीरणा सयोगिकेवलिगुणस्थान के चरम समयपर्यन्त होती है। अयोगिकेवलिगुणस्थान मे योग का अभाव होने से अयोगि भगवान किसी भी कर्मप्रकृति की उदीरणा नही करते है। तथा—

पूर्वोक्त तेरह प्रकृतियो से शेष रही प्रकृतियो की उदीरणा उन-उन प्रकृतियो का जिस-जिस गुणस्थान तक उदय हो वहाँ तक होती है। लेकिन इतना ध्यान रखना चाहिये कि मात्र चरमावलिका मे उदीरणा नही होती है, यानी किसी भी कर्मप्रकृति की जब भोगते-भोगते सत्ता मे एक आवलिका स्थिति ही शेष रहे तब उदीरणा नही होती है।

उक्त सामान्य नियम और अपवाद का सकेत करने के बाद अब इसका निर्देश करते है कि किस गुणस्थान पयन्त किन-किन प्रकृतियो की उदीरणा होती है।

१ मिथ्यात्वमोहनीय, आतप, सूक्ष्म, साधारण और अपर्याप्त नाम इन पाच प्रकृतियो की उदीरणा मिथ्यादृष्टिगुणस्थान पर्यन्त होती है। क्योंकि मिथ्यात्व मोहनीय का उदय पहले गुणस्थान मे ही होता है और आतप आदि प्रकृतियो के उदय वाले जीवो के पहला ही गुणस्थान होता है।

२ अनन्तानुबधिकपायचतुष्क, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय,

चतुरिन्द्रिय तथा स्थावर नामकर्म इन नौ प्रकृतियो की उदीरणा सासादनगुणस्थान पर्यन्त होती है। क्योकि अनन्तानुबंधी का उदय दूसरे गुणस्थान तक ही है और शेष एकेन्द्रिय जाति नाम कर्मादि प्रकृतियो के उदय वाले जीवो मे करण-अपर्याप्त अवस्था मे ही दूसरा गुणस्थान होता है, और उसके सिवाय सदैव पहला गुणस्थान है। इसलिए उन प्रकृतियो का उदय दूसरे गुणस्थान तक होने से उनकी उदीरणा भी दूसरे गुणस्थान तक होती है।

३ मिश्रमोहनीय कर्म का उदय तीसरे गुणस्थान मे ही होने से, उसकी उदीरणा भी जब तक तीसरा गुणस्थान रहे तब तक होती है।

४ अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क, देवायु, नरकायु, तिर्यंचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, देवद्विक, नरकद्विक, वैक्रियद्विक, दुर्भग, अनादेय और अयश कीर्ति इन सत्रह प्रकृतियो की उदीरणा अविरत सम्यक्दृष्टिगुणस्थान तक ही होती है। इसका कारण यह है कि अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क का उदय चौथे गुणस्थान तक ही होता है, उसके बाद के गुणस्थानो मे उनकी क्षयोपशम रूपस्थिति हो जाने से उदय नही होता है तथा देवत्रिक, नरकत्रिक और वैक्रियद्विक[1] का उदय देव और नारको के आदि के चार गुणस्थान होने से इन चार गुणस्थानो तक ही उदीरणा होती है। किसी भी आनुपूर्वी नामकर्म का उदय विग्रहगति मे होता है और वहाँ पहला, दूसरा और चौथा ये तीन गुणस्थान होते है, अन्य कोई गुणस्थान नही होते हैं। इसलिए मनुष्य और तिर्यंचानुपूर्वी नामकर्म का उदय भी तीसरे के सिवाय चतुर्थ गुणस्थान तक होता है तथा दौर्भाग्य, अनादेय और अयश कीर्ति नामकर्म का उदय देशविरत आदि गुणसम्पन्न जीवो के गुणनिमित्त से

---

१ यहाँ भवधारणीय वैक्रियशरीर की विवक्षा होने से वैक्रियद्विक मे चार गुणस्थान कहे हैं, अन्यथा लब्धिजन्य वैक्रिय शरीर का उदय तो सात गुणस्थानो तक सम्भव है।

ही नही होता है। इसलिए इन अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क आदि सत्रह प्रकृतियो की उदीरणा भी चौथे गुणस्थान तक ही होती है।

५ प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क, तिर्यंचगति, तिर्यंचायु, उद्योत-नामकर्म और नीचगोत्र, इन आठ प्रकृतियो की उदीरणा देशविरत गुणस्थान तक ही होती है। क्योकि प्रत्याख्यानावरणकषाय का उदय पाचवे गुणस्थान तक होता है किन्तु आगे के गुणस्थानो मे उनकी क्षयोपशम रूप स्थिति हो जाने से उदय होता नही है तथा तिर्यंचो मे आदि के पाच गुणस्थान सम्भव होने से तिर्यंचगति और तिर्यंचायु का उदय भी पाचवे गुणस्थान तक ही होता है। उद्योत नामकर्म[1] तिर्यंच-गति का सहचारी होने से उसका उदय तथा नीचगोत्र का उदय भी तिर्यंचाश्रित होने से वह भी पाचवे गुणस्थान तक होता है। इसलिए इन आठ प्रकृतियो की उदीरणा भी पाचवे गुणस्थान तक ही होती है।

६ स्त्यानर्द्धित्रिक और आहारकद्विक, इन पाच प्रकृतियो की उदीरणा छठे प्रमत्तसयतगुणस्थान पर्यन्त होती है। इसका कारण यह है कि स्त्यानर्द्धि, निद्रा-निद्रा और प्रचला-प्रचला ये तीन निद्राये स्थूल प्रमाद रूप होने से अप्रमत्तसयत आदि गुणस्थानो मे उनका उदय नही हो सकता है। इसलिए प्रमत्तसयतगुणस्थान पर्यन्त उनका उदय होता है तथा आहारकशरीर और आहारक-अगोपाग इन दो प्रकृतियो का उदय प्रमत्तसयतगुणस्थान मे आहारकशरीर करने वाले चौदह पूर्वधर के होता है।[2] इसलिए इन पाच प्रकृतियो की उदीरणा प्रमत्तसंयत

---

१ यद्यपि लब्धिजन्य वैक्रिय और आहारक शरीर मे भी उद्योत का उदय होता है, परन्तु वह मनुष्यगति सहचारी नही है। अत उसकी विवक्षा नही की है।

२ यदि आहारकशरीर को करके उद्योत नामकर्म के बिना उनतीस और उद्योतनाम सहित तीस के उदय मे वर्तमान कोई सयमी अप्रमत्तगुणस्थान मे जाये तो वहाँ आहारकद्विक का उदय सम्भव है, परन्तु अल्पकाल होने से उनकी विवक्षा नही की है। अत प्रमत्तगुणस्थान मे ही उनका उदय ग्रहण किया है।

गुणस्थान तक ही होती है तथा साता, असातावेदनीय और मनुष्यायु का प्रमत्तसंयत गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान के चरमसमय पर्यन्त केवल उदय ही होता है, उदीरणा नहीं होती है, यह पहले कहा जा चुका है।

७ सम्यक्त्वमोहनीय, अर्धनाराच, कीलिका और सेवार्त संहनन इन चार प्रकृतियों की उदीरणा अप्रमत्तसंयतगुणस्थान पर्यन्त ही होती है। क्योंकि आगे के गुणस्थानों में चारित्रमोहनीय के उपशमक या क्षपक जीव ही होते हैं और उनको क्षायिक अथवा औपशमिक सम्यक्त्व होता है, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व नहीं होता है। सम्यक्त्वमोहनीय का उदय क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी को चौथे से सातवें तक चार गुणस्थानों में होता है। इसलिए उसकी उदीरणा भी वहाँ तक ही होती है और अन्तिम तीन संहननों के द्वारा कोई भी जीव श्रेणी आरम्भ नहीं कर सकता है एवं सातवें गुणस्थान तक जा सकता है। जिससे उनका उदय भी सातवें गुणस्थान तक होता है, इसलिए उदीरणा भी सातवें गुणस्थान तक होती है।

८ हास्यषट्क की उदीरणा आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान तक होती है, किन्तु आगे के गुणस्थानों में अत्यन्त विशुद्ध परिणाम होने से उदय नहीं होता है, इसलिए उदीरणा भी नहीं होती है।

९ वेदत्रिक, संज्वलन क्रोध, मान और माया इन छह प्रकृतियों की उदीरणा नौवें अनिवृत्तिकरणगुणस्थान पर्यन्त होती है। यहाँ उनका सर्वथा क्षय अथवा उपशम सम्भव होने से ऊपर के गुणस्थानों में उनकी उदीरणा नहीं होती है।

१० संज्वलन लोभ की उदीरणा दसवें सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान पर्यन्त होती है। इसमें भी उपशमश्रेणिगत सूक्ष्मसंपराय के चरम समय पर्यन्त और क्षपकश्रेणिगत चरमावलिका को छोड़कर शेषकाल में होती है।

११ ऋषभनाराच और नाराचसहनन की उदीरणा उपशान्तमोह गुणस्थान तक होती है। इसका कारण यह है कि ये दो सहनन वाले उपशमश्रेणि को माडकर इस गुणस्थान तक ही आ सकते हैं।

१२ दर्शनावरणचतुष्क—चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शनावरण, ज्ञानावरणपचक और अन्तरायपचक इन चौदह प्रकृतियो का उदय और उदीरणा क्षीणमोहगुणस्थान पर्यन्त होती है। मात्र चरमावलिका मे उदीरणा नही होती है।[1]

१३—औदारिक शरीर, औदारिक अगोपाग, तैजस्, कार्मण, सस्थानषट्क, वज्रऋषभनाराच सहनन, वर्ण, गध, रस, स्पर्श, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति, पराघात, उपघात, अगुरुलघु, उच्छ्वास, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुस्वर और निर्माण इन उनतीस प्रकृतियो की सयोगिकेवलिगुणस्थान के चरम समय पर्यन्त उदय और उदीरणा होती है।

---

१ कर्मस्तवकार क्षीणमोह के द्विचरम समय पर्यन्त निद्रा और पचला का उदय मानते है। इसीलिये उनके मत से क्षीणमोह के द्विचरम समय पर्यन्त निद्राद्विक का उदय और उदीरणा चरमावलिका छोडकर समझना चाहिये। पचसग्रहकार ने भी स्वोपज्ञ टीका मे इसी मत को स्वीकार किया है—

दर्शनषट्क ज्ञानान्तरायाणा क्षीणकषाय यावदुदय उदीरणा च।

दिगम्बर कर्मग्रन्थकारो ने भी क्षीणमोहगुणस्थान मे सोलह प्रकृतियो की उदीरणा मानी है। उनमे निद्रा और प्रचला की द्विचरम समय मे और चरम समय मे ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणचतुष्क एव अन्तराय पचक इन चौदह प्रकृतियो की बतलाई है।

पचसग्रह के टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने उपशातमोहगुणस्थान तक निद्रा और प्रचला की उदीरणा बतलाई है—

ततस्तन्मतेन निद्राप्रचलयोरपि क्षीणमोहगुणस्थानक द्विचरम समय यावदुदया वेदितव्य स्वमतेनोपशातमोहगुणस्थानक यावत्।

त्रस, वादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यश कीर्ति, मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, तीर्थंकर नाम और उच्चगोत्र इन दस प्रकृतियो की उदीरणा तेरहवे गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त होती है और उदय अयोगि गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त होता है।

१४—अयोगिकेवलिगुणस्थान मे योग का अभाव होने से किसी भी कर्म की उदीरणा नही होती है।[1]

इस प्रकार से गुणस्थानो मे उत्तरप्रकृतियो की उदीरणाविधि जानना चाहिये। लेकिन जिन कर्मप्रकृतियो का उदय होने पर भी उदीरणा भजना से होती है, अब उनका निर्देश करते है।

भजनीय उदीरणा-योग्य प्रकृतिया

निद्दाउयदवईणं समिच्छपुरिसाण एगचत्ताण ।
एयाणं चिय भज्जा उदीरणा उदए नन्नासि ॥८॥

शब्दार्थ—**निद्दा**—निद्रापचक, **उदयवईण**—उदयवती सज्ञावाली, **समिच्छपुरिसाण**—मिथ्यात्वमोहनीय और पुरुषवेद सहित, **एगचत्ताण**—इकतालीस,

---

१ दिगम्बर साहित्य मे गुणस्थानो मे उदीरणायोग्य प्रकृतियो की सख्या इस प्रकार वतलाई है—

(क) पण णव इगिसत्तरस अट्ठट्ठ य चउरछक्क छच्चेव ।
इगि दुय सोलगुदाल उदीरणा होति जोगता ॥

मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सयोगिकेवलिगुणस्थान पर्यन्त क्रम से पाच, नो, एक, सत्रह, आठ, आठ, चार, छह, छह, एक, दो, सोलह और उनतालीस प्रकृतियो की उदीरणा होती है। —पचसग्रह कर्मस्तव गा० ४८

(ख) गो० कर्मकाड गा २८१

एयाण— इनकी, चिय—ही, भज्जा—भजनीय, उदीरणा—उदीरणा, उदए—उदय, नन्नासि—और दूसरी प्रकृतियो की नही।

गाथार्थ—निद्रापचक, मिथ्यात्वमोहनीय और पुरुषवेद सहित उदयवती सज्ञा वाली चौतीस इस तरह इकतालीस प्रकृतियो का उदय होने पर भी उदीरणा भजनीय जानना चाहिये। इनके सिवाय अन्य प्रकृतियो का जहा तक उदय हो वही तक उदीरणा होती है।

विशेषार्थ—गाथा मे भजनीय उदीरणा वाली प्रकृतियो का नाम निर्देश किया है। भजनीय उदीरणा का यह आशय है कि उदीरणा के बिना भी अमुक समय तक सिर्फ उदय ही होता है, उदीरणा नही होती है। ऐसी भजनीय उदीरणा वाली प्रकृतियो के नाम इस प्रकार हैं—

पाच निद्रायें तथा जिनका पूर्व मे उदयवती सज्ञा के रूप मे उल्लेख किया जा चुका है ऐसी ज्ञानावरणपचक, अन्तरायपचक, दर्शनावरणचतुष्क, साता-असातावेदनीय, स्त्रीवेद, नपु सकवेद, सम्यक्त्वमोहनीय, सज्वलन लोभ, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यश कीर्ति, मनुष्यगति, पचेन्द्रिय जाति, तीर्थंकर नाम, उच्च गोत्र, चार आयु, ये चौतीस प्रकृतिया तथा मिथ्यात्वमोहनीय, और पुरुषवेद इन इकतालीस प्रकृतियो का उदय होने पर भी उदीरणा भजनीय होती है।[1] जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पाच निद्राओ का शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद से लेकर जब तक इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण न हो, तब तक केवल उदय ही होता है, उदीरणा नही होती है। शेषकाल मे उदय और उदीरणा दोनो साथ ही होती है।

चारो आयु का अपने भव की अतिम आवलिका शेष रहे तब केवल उदय ही होता है, उदीरणा नही होती है।

---

१ कर्मप्रकृति उदयाधिकार गा० १, २, ३

ज्ञानवरणपचक, अतरायपचक और दर्शनावरणचतुष्क की क्षय होते-होते जब सत्ता मे एक आवलिका शेष रहती है तब बारहवे गुण-स्थान की अतिम आवलिका मे केवल उदय ही होता है, उदीरणा नही होती है।

क्षपक श्रेणी मे सूक्ष्मसपरायगुणस्थान मे सज्वलन लोभ की एक आवलिका के शेष रहने पर उदीरणा नही होती है, केवल उदय ही होता है।

क्षायिक सम्यक्त्व उपार्जन करते समय जब चरम आवलिका शेष रहे तब सम्यक्त्वमोहनीय की उदारणा नही होती है, किन्तु उदय ही रहता है।

उपशम सम्यक्त्व उपार्जित करते समय अनिवृत्तिकरण की प्रथम स्थिति की एक आवलिका के शेष रहने पर मिथ्यात्वमोहनीय का केवल उदय होता है, उदीरणा नही होती है।

त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यश कीर्ति, मनुष्य गति, पचेन्द्रिय जाति, तीर्थंकर नाम और उच्च गोत्र इन दस प्रकृतियो की अयोगि अवस्था मे योग के अभाव मे उदीरणा नही होती है, मात्र उदय ही होता है।

साता-असातावेदनीय की अप्रमत्तगुणस्थान से तथाविध अध्यव-साय के अभाव मे उदीरणा नही होती, केवल उदय सम्भव है।

स्त्रीवेद के उदय मे क्षपकश्रेणि आरम्भ करने वाले के स्त्रीवेद की, नपु सकवेद के उदय मे आरम्भ करने वाले के नपु सकवेद की और पुरुषवेद के उदय मे आरभ करने वाले के पुरुषवेद की अपनी-अपनी प्रथम स्थिति की जब एक आवलिका शेष रहती है तब उदीरणा नही होती है, केवल उदय सभव है।

इसी कारण उपर्युक्त इकतालीस प्रकृतियो का उदय होने पर भी उदीरणा भजनीय समझना चाहिये तथा इनसे शेष रही इक्यासी प्रकृ-

तियो का उदय होने पर भी उदीरणा भजनीय नही है।[1] इसका आशय यह हुआ कि शेष इक्यासी प्रकृतियो का जहा तक उदय हो वहा तक उदीरणा भी होती है किन्तु किसी भी समय उदीरणा से विहीन केवल उदय नही होता है, दोनो का क्रम साथ चलता है और साथ ही रुकता है।

इस प्रकार विस्तार से उदीरणा विधि समझना चाहिए। अब बध, उदय, सत्ता और उदीरणा विधियो का निर्देश करने के वाद बध का विस्तार से विवेचन करने के लिए पहले बध के प्रकारो को बतलाते हैं।

बंध के प्रकार

होइ अणाइअणन्तो अणाइसतो य साइसन्तो य।
बधो अभव्व भव्वोवसन्तजीवेसु इइ तिविहो ॥६॥

शब्दार्थ—होइ—होता है **अणाइअणन्तो**—अनादि-अनन्त, **अणाइसन्तो**—अनादि-सान्त, **य**–और, **साइसन्तो**—सादि-सान्त, **य**—तथा, **बधो**—बध, **अभव्व**—अभव्य, **भव्वोवसन्त**—भव्य, उपशान्तमोह, **जीवेसु**—जीवो मे **इइ**—इस तरह, **तिविहो**—तीन प्रकार।

गाथार्थ—अभव्य, भव्य और उपशातमोहगुणस्थान से पतित हुए जीवो मे अनुक्रम से अनादि-अनन्त, अनादि-सात और सादि-सान्त बध होता है। इस तरह बध के तीन प्रकार हैं।

---

१ दिगम्बर कर्म साहित्य का भी इकतालीस प्रकृतियो की भजनीय उदीरणा के सम्बन्ध मे यही मतव्य है। अन्तर इतना है कि यहा उदय-योग्य १२२ की अपेक्षा उदय एव भजनीय उदीरणा के योग्य इकतालीस प्रकृतियो का उल्लेख किया है, जव कि दिगम्बर साहित्य मे समस्त एक सौ अडतालीस प्रकृतियो को लेकर उदीरणा, अनुदीरणा, उदीरणाविच्छेद का विचार किया है, किन्तु इकतालीस प्रकृतियो के नाम समान हैं। विस्तार से इसका विवरण परिशिष्ट मे देखिये।

विशेषार्थ गाथा मे वध के प्रकारो—भेदो का निर्देश करते हुए उनके अधिकारी जीवो को वतलाया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पूर्व मे ध्रुववध, उदय तथा अध्रुववध, उदय की अपेक्षा जो प्रकृतियो का वर्गीकरण किया गया है, उस चर्चा मे यह जानने की सहज ही उत्सुकता हो जाती है कि कर्मवध की कितनी दशाएँ होती हैं ? इसी उत्सुकता का निराकरण इस गाथा मे किया गया है।

बंध के मूल मे दो प्रकार है—अनादि-अनन्त और प्रतिपक्षी सादि-सात। अव यदि इनके सायोगिक भग वनाये जाये तो चार भग-विकल्प होगे—१ अनादि-अनन्त, २ अनादि-सान्त, ३—सादि-अनन्त और ४ सादि-सान्त। जिस वध की परम्परा अनादि काल से निरन्तर विना किसी रुकावट के चली आ रही हो और मध्य मे न कभी विच्छिन्न हुई और न कभी आगे होगी, ऐसी वध परम्परा को अनादि-अनन्त कहते है। जिस वध की परम्परा अनादि काल से अप्रतिहत प्रवाह रूप मे चली आ रही हो, किंतु आगे व्युच्छिन्न हो जायेगी, वह अनादि-सात है। जिस वध की परम्परा की आदि होकर अनन्त काल तक चलती रहे, उसे सादि-अनन्त कहते है और जिस वध की परम्परा आदि सहित होकर कालान्तर मे नष्ट हो जाने वाली हो, उसे सादि-सात समझना चाहिए।

इन चार भगो के होने पर भी सादि-अनन्त भग किसी भी वध या उदय प्रकृति मे घटित नही होता है। क्योकि जो वध या उदय सादि हो वह कभी अनन्त नहीं हो सकता है। इसीलिए ग्रन्थकार आचार्य ने यहाँ वध के तीन प्रकारो को ग्रहण किया है—१ अनादि-अनन्त, २ अनादि-सान्त और ३ सादि-सान्त।

इन तीनो प्रकारो मे अभव्य जीवो के सापरायिक—ससार के कारण-भूत कर्म का वध अनादि-अनन्त है। क्योकि उनको भूतकाल मे सर्वदा वध होता चला आ रहा है, जिससे अनादि है और भविष्य मे किसी

भी काल मे बध का नाश होने वाला नही है, सर्वदा बध होता ही रहेगा, इसलिए अनन्त है। इस प्रकार अभव्य जीवो मे अनादि-अनन्त बध-प्रकार जानना चाहिए।

भव्य जीवो मे अनादि-सात प्रकार होता है। क्योकि भूतकाल में सदैव बध होते आने से अनादि है और भविष्यकाल मे मोक्ष जाने पर बध का विच्छेद होगा इसलिए सात है। इसीलिए भव्य जीवो मे अनादि-सात भग प्राप्त होता है।

उपशातमोहगुणस्थान से पतित हुए जीव मे सादि-सात प्रकार प्राप्त होता है। क्योकि उपशातमोहगुणस्थान मे बध का अभाव होने और वहाँ मे पतन होने पर पुन बध प्रारम्भ हो जाने से सादि है। अर्थात् उपशातमोहगुणस्थान मे सापरायिक कर्म का बध नही होता है, किन्तु वहाँ से पतित होने की दशा मे जव दसवे आदि अधोवर्ती गुणस्थानो मे जीव आता है तब पुन बध प्रारम्भ हो जाता है, जिससे सादि है और भविष्य काल मे अधिक से अधिक देशोनअर्धपुद्गल-परावर्त काल मे उसको मोक्ष मे जाने पर बध का नाश होगा, जिससे वह सात है। इसीलिए उपशातमोहगुणस्थानवर्ती जीव मे सादि-सात प्रकार बताया है।

इस प्रकार बध के तीन प्रकार होते हैं। अब इन्ही बधप्रकारो के उत्तरभेद बतलाते हैं।

बधप्रकारो के उत्तरभेद

> पयडीठिईपएसाणुभागभेया चउव्विहेक्केक्को।
> उक्कोसाणुक्कोस जहन्न अजहन्नया तेसि ॥१०॥
> तेवि हु साइ-अणाई-धुव-अधुवभेयओ पुणो चउहा।
> ते दुविहा पुण नेया मूलुत्तरपयइभेएण ॥११॥

शब्दार्थ—पयडीठिईपएसाणुभागभेया—प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनु-

भाग के भेद से, **चउव्विह**—चार प्रकार का, **एक्केक्को**—एक-एक, **उक्कोसाणुक्कोसजहन्नअजहण्या**—उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य के भेद से, **तेंसि**—उनके ।

तेवि—वे भी, **हु**—अवश्य ही, **साइअणाईधुवअधुवभेयओ**—सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव के भेद से, **पुणो**—पुन , **चउहा**—चार प्रकार के, **ते**—वे, **दुविहा**—दो प्रकार के, **पुण**—पुन , **नेया**—जानना चाहिये, **मूलुत्तरपयइभेएण**—मूल और उत्तर प्रकृति के भेद से ।

गाथार्थ—पूर्वोक्त अनादि-अनन्त आदि एक-एक बध के प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाग के रूप से चार-चार भेद होते है और वे प्रकृति बध आदि प्रत्येक के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य ऐसे चार-चार भेद है तथा वे उत्कृष्ट आदि प्रत्येक भेद भी पुन सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव—इस तरह चार-चार प्रकार के है और वे प्रत्येक मूल एव उत्तर प्रकृति के भेद से दो-दो भेद वाले है ।

विशेषार्थ—पूर्व की गाथा मे जो अनादि-अनन्त आदि बध के भेद बतलाये है, उनके और प्रकारो तथा उन प्रकारो के भी अवान्तर प्रकारो का इन दो गाथाओ मे निर्देश किया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पूर्वोक्त अनादि-अनन्त आदि बध के प्रत्येक भेद प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाग के भेद से चार-चार प्रकार के है। यानी पूर्वोक्त वध के तीन भेद प्रकृतिबध, स्थितिबध, प्रदेशबध और अनुभागबध इन चारो मे घटित होते है। जैसे कि—प्रकृतिबध अभव्य के अनादि-अनन्त, भव्य के अनादि-सात तथा यहाँ सापरायिकबध की विवक्षा होने से और उपशान्तमोहगुणस्थान मे सापरायिकबध नही होने से किन्तु वहाँ से पतित होने पर पुन प्रकृतिबध होने से सादि-सात, इस तरह जैसे पूर्व मे सामान्य बध के प्रसग मे घटित किये है उसी प्रकार यहाँ प्रकृतिबध मे भी घटित करे। इसी प्रकार स्थितिबध आदि के लिए भी समझ लेना चाहिये।

अब यदि इन अनादि-अनन्त आदि भेदो की अपेक्षा रखे बिना सामान्य से प्रकृतिबध आदि प्रत्येक के भेदो का विचार किया जाये तो वे उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य इस तरह चार-चार प्रकार के है। तात्पर्य यह है कि प्रकृतिबध, स्थितिबध आदि प्रत्येक उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य इस तरह चार-चार भेद वाले है। इन उत्कृष्ट आदि चारो प्रकारो के लक्षण इस प्रकार हैं—

अधिकतम बध होने को उत्कृष्टबध कहते है। अर्थात् जिससे अधिक स्थिति वाला बध हो ही नही सकता है, वह उत्कृष्टबध है। समयादि न्यून होते होते जघन्य तक का जो बध है वह अनुत्कृष्ट बध है। अर्थात् एक समय कम उत्कृष्ट स्थितिबध से लेकर जघन्य स्थिति-बध तक के सभी बध अनुत्कृष्ट बध हैं, यानी उत्कृष्टबध के सिवाय अन्य सभी बध अनुत्कृष्टबध कहे जाते है। सबसे कम स्थिति वाला बध जघन्यबध है और एक समय अधिक जघन्यबंध से लेकर उत्कृष्ट बध पर्यन्त सभी बध अजघन्यबध कहे जाते है।

प्रश्न—सामान्य से किसी भी वस्तु के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, यह तीन-तीन भेद होते है और यहाँ जो जघन्य-अजघन्य और उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट इस तरह दो-दो को जोडकर चार भेद कहे है। उनमे जघन्य प्रकृतिबधादि का जघन्य मे और मध्यम तथा उत्कृष्ट का अजघन्य मे समावेश होता है। इस तरह जघन्य से लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त प्रकृति-बधादि के सभी विकल्पो का इन दो भेदो मे समावेश हो जाता है। इसी प्रकार से उत्कृष्ट प्रकृतिबधादि का उत्कृष्ट मे और मध्यम तथा जघन्य का अनुत्कृष्ट मे समावेश हो जाने मे उत्कृष्ट से जघन्य पर्यन्त के कुल प्रकृतिबधादि के भेदो का भी उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट इन दो भेदो मे सग्रह हो जाता है। अत जब प्रकृतिबधादि के सभी भेदो का जघन्य, अजघन्य मे अथवा उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट इस तरह दो भेदो मे सग्रह हो जाता है तब फिर चार भेद क्यो ग्रहण किये है ? कोई भी दो ले लेना चाहिए था।

उत्तर—चार भेद ग्रहण करने का कारण यह है कि किसी समय अनुत्कृष्ट पर सादि आदि चार भंग घटित होते है तो किसी समय अजघन्य पर। किसी समय अनुत्कृष्ट पर तो कभी अजघन्य पर दो भग घटित होते है। इस प्रकार भगो की घटना भिन्न-भिन्न रीति से होने के कारण चार भेद लिये है। जिसका विशेष स्पष्टीकरण मूल और उत्तर प्रकृतियो मे घटित करते समय किया जायेगा। तथा—

'ते वि हु' अर्थात् वे उत्कृष्ट आदि प्रत्येक भेद भी यथासभव[1]

---

१ ये उत्कृष्ट आदि सभी भेद सादि आदि चार विकल्पो मे घटित नही होते हैं, इसीलिये यहा यथासभव पद दिया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जिन प्रकृतियो का उत्कृष्ट रसबधादि ऊपर के गुणस्थानो मे होता है, उनके अनुत्कृष्ट भेद पर सादि आदि चार भग घटित होते हैं। क्योकि ऊपर के गुणस्थानो मे नही गये हुए, नही जाने वाले और जाकर पतित हुए जीव होते है। इसी प्रकार जिन प्रकृतियो का जघन्य रसबधादि ऊपर के गुणस्थानो मे होता हो, उनके जघन्य भग मे सादि आदि चार भग घटित होते है। किन्तु जिन प्रकृतियो का उत्कृष्ट रसबधादि पहले गुणस्थान मे होता हो, उनके अनुत्कृष्ट विकल्प पर सादि और सात ये दो भग घटित होते है क्योकि मिथ्यात्वगुणस्थान मे एक के बाद दूसरा इस क्रम से उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट दोनो भग सभव हैं। इसी प्रकार जिन प्रकृतियो का जघन्य रसबधादि पहले गुणस्थान मे होता हो उनके अजघन्य भग पर सादि और सात ये दो भग घटित होते है। जघन्य और उत्कृष्ट अमुक समय ही होने से उन पर तो सादि और सात ये दो ही भग घट सकते हैं अन्य नही।

सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस प्रकार चार भेद वाले होते हैं।[1] इन सादि आदि के लक्षण इस प्रकार हैं—

जो आदि सहित हो अर्थात् जिसका प्रारम्भ हो, छूटकर जिसका पुन बध हो, उसे सादि और जो प्रारम्भ रहित हो अर्थात् शुरुआत न हो, अनादि काल से जिसके बध का अभाव न हो, उसे अनादि कहते हैं। जो अन्त सहित बध हो उसे सात—अध्रुव और जिसका निरन्तर बध हुआ करे, उसे अनन्त—ध्रुव बध कहते है।

ये सादि आदि बध मूल और उत्तर प्रकृतियो के भेद से दो-दो प्रकार के है—'ते दुविहा पुण नेया मूलुत्तरभेएण'।

यहाँ बधादि भेदो का सक्षेप मे कथन किया है। विस्तार से यथा-स्थान आगे विचार किया जा रहा है। अब मूल और उत्तर प्रकृतियो मे बध के अन्य सम्भव चार भेदो को बतलाते है।

बध के अन्य चार भेद

भूओगारप्पयरग अव्वत्त अवट्ठिओ य विन्नेया।
मूलुत्तरपगइबधणासिया ते इमे सुणसु ॥१२॥

शब्दार्थ—भूओगारप्पयरग—भूयस्कार, अल्पतर, **अव्वत्त**—अवक्तव्य, **अवट्ठिओ**—अवस्थित, **य**—और, **विन्नेया**—जानना चाहिए **मूलुत्तरपगइबधणासिया**—मूल और उत्तर प्रकृतियो के बधाश्रित, **ते इमे**—उनको, **सुणसु**—सुनो।

---

१ गो कर्मकाड मे भी इसी प्रकार बध के भेदो को बतलाया है—

पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेस बधोत्ति चदुविहो बधो।
उक्कस्समणुक्कस्स जहण्णमजहण्णगनि पुध ॥
सादि अणादी धुव अद्धुवो व बधो दु जेट्ठमादीसु।
णाणेग जीव पडि ओघारे से जहा जोग ॥

—गो कर्मकाण्ड, गा ८९, ९०

गाथार्थ—मूल और उत्तर प्रकृतियो के बधाश्रित भूयस्कार, अल्पतर, अवक्तव्य और अवस्थित ये चार भग जानना चाहिए जिनका वर्णन आगे किया जायेगा उसे सुनो।

विशेषार्थ—गाथा मे कर्मप्रकृतियो मे सम्भव बध के अन्य चार प्रकारो—भेदो के नाम वतलाये है कि—

मूलप्रकृतिबध और उत्तरप्रकृतिबध इन दोनो के आश्रित रहे हुए यानी इन दोनो मे घटित होने वाले अन्य भी चार भेद है। जिनके नाम है—१ भूयस्कार, २ अल्पतर, ३ अवक्तव्य और ४ अवस्थित। इनके लक्षण क्रमश इस प्रकार है—

१ **भूयस्कार**—कम प्रकृतियो को बाँधकर दूसरे समय मे उससे अधिक प्रकृतियो के बध करने को भूयस्कार बध कहते है। यानी पहले जो बध हुआ, उससे एकादि प्रकृति का अधिक बध करना, जैसे कि सात का बध करके आठ का बध करना। यह बध भूयस्कार कह-लाता है।[1]

२ **अल्पतर**—प्रथम समय मे अधिक कर्मो का बध करके दूसरे समय मे कम कर्मो के बध करने को अल्पतर बध कहते है। अल्पतर बध भूयस्कार बध से बिल्कुल उलटा है। जैसे कि आठ कर्म बाधकर सात का बध करना अल्पतर कहलाता है।[2]

---

१ दिगम्बर साहित्य मे भूयस्कार के स्थान पर भुजगार और भुजाकार शब्द का प्रयोग देखने मे आता है, लेकिन लक्षण मे कोई अन्तर नही है—

अप्पवधिय कम्म वहुय वधेइ होइ भूययारो।

—दि० पचसग्रह, शतक अधिकार, गा० २३४।

२ भूयस्कार और अल्पतर इन दोनो बधो का काल एक समय है। क्योकि जिस समय बढे या घटे, उसी समय वह बध भूयस्कार या अल्पतर कह-लाता है।

३ **अवस्थित**—पहले समय मे जितने कर्मो का बध किया, दूसरे समय मे भी उतने ही कर्मो के बध करने को अवस्थित बध कहते हैं। अर्थात् पहले और बाद के समय मे एक जैसा बध रहे वह अवस्थित बध कहलाता है और कदाच बढे या घटे तो वह बध भूयस्कार या अल्पतर सज्ञा के योग्य हो जाता है।

४ **अवक्तव्य**—एक भी कर्म न बाँधकर पुन कर्म बध करने को अवक्तव्य बध कहते है। अर्थात् सर्वथा अबधक होकर पुन बध का प्रारम्भ हो तब वह बध अवक्तव्य कहलाता है। अवक्तव्य यानी नही कहने योग्य, ऐसा बध जो भूयस्कार, अल्पतर अथवा अवस्थित शब्द द्वारा कहने योग्य न हो, उस बध को अवक्तव्य कहते है। अबधक होकर नया बध प्रारम्भ करे, तो वही बध भूयस्कार आदि शब्द द्वारा कहने योग्य न होने से अवक्तव्य कहलाता है। इसका काल एक समय का है। इसका कारण यह है कि बाद के समय मे बढे या घटे तो वह बध भूयस्कार, अल्पतर सज्ञा के योग्य हो जाता है। तथा जितनी प्रकृतियाँ पूर्व के समय मे बाँधी थी, उतनी ही बाद के समय मे बाँधी हो तो वह बध अवस्थित कहा जाने लगता है। क्योकि बध सख्या मे वृद्धि हानि नही हुई, उतनी ही सख्या है।

इस प्रकार बध के अन्य चार भेदो का स्वरूप जानना चाहिए।[1] वे मूल और उत्तर प्रकृतियो मे जिस रीति से घटित होते है, उसका विचार यथाक्रम से आगे किया जायगा। लेकिन इन बधप्रकारो को घटित करने के लिए कर्मो के बधस्थानो को जान लेना आवश्यक होने से अब पहले मूल कर्मो के बधस्थानो को बतलाते है।

---

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य मे भी इसी प्रकार बध के चार भेद और उनके लक्षण बतलाये हैं।

मूलकर्मप्रकृतियो के बंधस्थान

> इगछाइ मूलियाणं बधट्ठाणा हवति चत्तारि ।
> अबधगो न बंधइ इइ अव्वत्तो अओ नत्थि ॥१३॥

शब्दार्थ—इगछाइ—एक और छह आदि, मूलियाण—मूल कर्मों के, बधट्ठाणा—बधस्थान, हवति—होते है, चत्तारि—चार, अबधगो—अबधक, न—नही, बधई—बांधता है, इइ—यहाँ, अव्वत्तो—अवक्तव्य, अओ—इसलिए, नत्थि—नही होता है ।

गाथार्थ—मूल कर्मो के एक और छह आदि तीन इस प्रकार कुल चार बधस्थान होते है । सभी कर्मो का अबधक होकर पुन उनका बध नही करता है, इसलिए यहाँ अवक्तव्य बध घटित नही होता है ।

विशेषार्थ—गाथा मे मूलकर्मो—ज्ञानावरणादि के बधस्थानो का निर्देश करके यह स्पष्ट किया है कि उनमे कौन सा बधप्रकार घटित हो सकता ।

'इगछाइ मूलियाण' अर्थात् मूलकर्मो के एक और छह आदि तीन कुल चार बधस्थान है । यानि एकप्रकृतिक, छहप्रकृतिक, सातप्रकृतिक और आठ प्रकृतिक, इस प्रकार कुल चार बधस्थान मूलकर्मप्रकृतियो के होते है । वे चारो बधस्थान गुणस्थानापेक्षा इस प्रकार समझना चाहिये—

जब एक सातावेदनीय रूप कर्मप्रकृति का बध हो तब एकप्रकृतिक बधस्थान होता है और वह उपशातमोह आदि गुणस्थानो मे जानना चाहिये । आयु और मोहनीय कर्म के बिना छह कर्म प्रकृतियो का बध होने पर छह का बधस्थान है और वह दसवे सूक्ष्मसपरायगुणस्थान मे होता है । सात कर्मो का बध होने पर सातप्रकृतिक बधस्थान होता

है और वह मिश्र, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिबादर इन तीन गुणस्थानो मे जानना चाहिये। क्योकि इन तीन गुणस्थानो मे आयु का बध नही होता है तथा शेष मिथ्यादृष्टि से लेकर मिश्र गुणस्थान वर्जित अप्रमत्त सयत तक के गुणस्थान वालो के आयु के बध काल मे आठ का और शेष काल मे सात का बधस्थान जानना चाहिये।[1]

गुणस्थानापेक्षा बधस्थानो के क्रमोल्लेख करने का यह आशय है कि उस-उस गुणस्थानवर्ती जीव उस बधस्थान के स्वामी है।

मूल कर्मो के इन चार बधस्थानो मे तीन भूयस्कार, तीन अल्पतर और चार अवस्थित बधप्रकार होते है किन्तु अवक्तव्य बधप्रकार नही होता है।[2] जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

---

१ गो कर्मकाड मे भी इसी प्रकार से चार बधस्थानो के स्वामी का निर्देश किया है—

> छसु सगविहमट्ठविह कम्म बधति तिसुयसत्तविह।
> छव्विहमेकट्ठाणे तिसु एक्कमबधगो एक्को ॥४५२॥

मिश्रगुणस्थान के बिना अप्रमत्त पर्यन्त छह गुणस्थानो मे जीव आयु के बिना सात प्रकार के अथवा आयु सहित आठ प्रकार के कर्म बाँधते हैं। मिश्र, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन गुणस्थानो मे आयु के बिना सात प्रकार के ही कर्म बध रूप होते हैं। सूक्ष्मसपरायगुणस्थान मे आयु, मोह के बिना छह प्रकार के कर्मो का बध होता है, और उपशातमोह आदि तीन गुणस्थानो मे एक वेदनीय कर्म का ही बध होता है और अयोगि गुणस्थान बध रहित हैं, उसमे किसी भी कर्म प्रकृति का बध नही होता है।

२ दिगम्बर साहित्य मे भी मूल प्रकृतियो के बधस्थान और उनमे भूयस्कार आदि बध इसी प्रकार बतलाये हैं। देखो—गो कर्मकाड गा ४५३

उपशातमोहगुणस्थान मे एक सातावेदनीय का बध करके जब कोई जीव वहा से गिर कर दसवे सूक्ष्मसपरायगुणस्थान मे आता है और वहा छह कर्मो का बध करता है, तब छह प्रकृति रूप पहला भूयस्कारबध है। जिस समय छह का बध करे उस समय तो भूयस्कार बध और शेष काल मे जब तक वही का वही बध हो तब तक अवस्थित बध होता है।

वही जीव दसवे सूक्ष्मसपरायगुणस्थान से भी च्युत होकर जब नीचे नौवे अनिवृत्तिबादरसपरायगुणस्थान मे मोहनीय कर्म सहित सात प्रकृतियो को बाधता है, तब पहले समय मे दूसरा भूयस्कारबध और शेष काल मे जब तक उतना ही बध करे, तब तक अवस्थितबध होता है। यह दूसरा भूयस्कारबध है।

वही जीव सात कर्मो को बाध कर प्रमत्तसयत आदि गुणस्थानो मे आयुकर्म सहित आठ कर्मो को बाधे तब पहले समय मे तीसरा भूयस्कारबध और शेष काल मे अवस्थितबध होता है। यह तीसरा भूयस्कारबध है।

इस प्रकार एक से छह, छह से सात और सात से आठ का बध होने के कारण भूयस्कारबध तीन होते है।

इस प्रकार से तीन भूयस्कारबध जानना चाहिए अब अल्पतरबध का निर्देश करते है—

भूयस्कारबध की तरह अल्पतरबध भी तीन होते है। वे इस प्रकार है—१ आठ कर्मप्रकृतियो को बाध कर सात का बध, २ सात को बाधकर छह का बध और ३ छह को बाधकर एक का बध होना।

आठ कर्मप्रकृतियो को बाधकर सात कर्मप्रकृतियो को बाधते समय पहला अल्पतरबध और शेष काल मे अवस्थितबध होता है।

जब सात कर्म को बाध कर सूक्ष्मसपरायगुणस्थान मे छह कर्म प्रकृतियो को बाधे तब पहले समय मे अत्पतरबध और शेष काल मे अवस्थितबध होता है, यह दूसरा अल्पतरवध है ।

छह को बाधकर उपशातमोहगुणस्थान अथवा क्षीणमोहगुण-स्थान मे एक प्रकृति का बध करने पर पहले समय मे अल्पतरबध और शेष काल मे अवस्थितबध होता है । यह तीसरा अल्पतर-बध है ।

इस प्रकार मूलकर्मप्रकृतियो मे तीन अल्पतरबध जानना चाहिये । यहा पर आठ का बध करके छह तथा एक का बध रूप और सात का बध करके एक का बधरूप अल्पतर बध नही हो सकता है । क्योकि अप्रमत्त और अनिवृत्तिबादर गुणस्थान से जीव एकदम ग्यारहवे गुण-स्थान मे और न अप्रमत्त से एकदम दसवे गुणस्थान मे ही जा सकता है । इसीलिये अल्पतर बध तीन ही हो सकते है ।

मूल कर्मप्रकृतियो मे अवस्थितबध चार होते है । क्योकि बध-स्थान चार है और वे चारो बधस्थान अमुक काल तक निरतर बधते है । उनका काल इस प्रकार है—आठ के अवस्थितबध का काल आयु के अन्तर्मुहूर्त काल तक ही वधने से अन्तर्मुहूर्त है । सात कर्म के बध का काल अन्तर्मुहूर्तन्यून पूर्वकोटि का तीसरा भाग अधिक छह मास न्यून तेतीस सागरोपम प्रमाण है । जिसका आशय यह है कि कोई पूर्वकोटि की आयु वाला दो भाग जाने के बाद तीसरे भाग के प्रारभ मे नारक या देव की तेतीस सागरोपम प्रमाण आयु वाधे । आयु का वधकाल अन्तर्मुहूर्त है, जिससे आयु का वध करने के पश्चात् अन्त-र्मुहूर्त न्यून पूर्वकोटि के तीसरे भाग तक सात कर्म का वध होता है । देव या नारक भव मे छह मास शेप रहे, तव परभव की आयु का वध करता है । छह मास शेप रहे, तव तक आयु के विना सात कर्म ही वाधता है जिससे पूर्वोक्त वधकाल कम होता है । छह के बध का

काल अन्तर्मुहूर्त है। क्योकि सूक्ष्मसपरायगुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त है और छह का वध सूक्ष्मसपराय गुणस्थान मे ही होता है। एक के वध का काल देशोन पूर्वकोटि है। क्योकि सयोगिकेवलि गुणस्थान का काल उतना है।

अब अवक्तव्यवध का विचार प्रारम्भ करते है कि मूल कर्मो मे अवक्तव्यवध सम्भव नही है। इसका कारण यह है कि समस्त मूल कर्मप्रकृतियो का अवधक होकर कोई पुन कर्मो का वध नही करता है। सभी मूल प्रकृतियो का अवधक अयोगिकेवली गुणस्थान मे होता है और वहाँ से पतन नही होने से अवक्तव्य बध घटित नही होता है।

इस प्रकार वध मे भूयस्कार आदि वधो को जानना चाहिये। अब वध की तरह उदय, उदीरणा और सत्ता स्थानो मे भी भूयस्कार आदि का कथन करते है।

उदय आदि में भूयस्कार आदि निरूपण

भूओगारप्पयरगअव्वत्ता अवट्ठिया जहा बंधे।
उदओदीरणसतेसु वावि जहसभवं नेया ॥१४॥

शब्दार्थ—भूओगारप्पयरग—भूयस्कार, अल्पतर, अव्वत्त—अवक्तव्य, अवट्ठिया—अवस्थित, जहा—जिस प्रकार से, बधे—वध मे, उदओदीरण-सतेसु—उदय, उदीरणा, सत्ता मे, वावि—भी, जहसभव—यथासभव, नेया—जानना चाहिए।

गाथार्थ—जिस प्रकार से बध मे भूयस्कार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य बतलाये है, उसी प्रकार से उदय, उदीरणा और सत्ता मे भी यथासभव जानना चाहिये।

विशेषार्थ—गाथा मे बध की तरह उदयादि मे भूयस्कार आदि प्रकारो को घटित करने का निर्देश किया है। जिसका अनुक्रम से उदयादि की अपेक्षा विस्तार से स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उदय—मूल कर्मप्रकृतियो के तीन उदयस्थान है—१ आठप्रकृ-

तिक २ सात प्रकृतिक और २ चार प्रकृतिक। इनमे से आठो कर्म का उदय पहले मिथ्यात्वगुणस्थान से लेकर दसवे सूक्ष्मसपराय गुणस्थान पर्यन्त दस गुणस्थानो मे होता है। मोहनीय के बिना सात कर्मो का उदय ग्यारहवे और बारहवे उपशातमोह, क्षीणमोह गुणस्थान मे तथा चार घाति कर्मो के बिना तेरहवे और चौदहवें गुणस्थान मे चार अघाति कर्मो का उदय होता है।[1] यहाँ एक भूयस्कार होता है। क्योकि उपशातमोहगुणस्थान मे सात का वेदक होकर वहाँ से पतित होने पर पुन आठ का वेदक होता है। चार का वेदक होकर सात का या आठ कर्म का वेदक नही होता है। क्योकि चार का वेदक सयोगि केवलि अवस्था मे होता है, किन्तु वहाँ से प्रतिपात होता नही जिससे यहाँ एक ही भूयस्कार घटित होता है।

अल्पतर दो होते हैं। वे इस प्रकार जानना चाहिए कि आठ के उदयस्थान से ग्यारहवे अथवा बारहवे गुणस्थान मे जाने पर सात का उदयस्थान प्राप्त होता है और सात के उदयस्थान से जब तेरहवे गुण-स्थान मे जाता है तब चार का उदयस्थान होता है। इस प्रकार दो अल्पतर घटित होते हैं।

अवस्थित तीन है। क्योकि तीनो उदयस्थान अमुक काल तक अवस्थित होते हैं। इनमे से आठ का उदयस्थान अभव्य को अनादि-अनन्त है, भव्य को अनादि-सात और ग्यारहवे गुणस्थान से पतित को देशोन अर्धपुद्गलपरावर्तन पर्यन्त होता है। सात का उदय अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त और चार का उदय देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त होता है।

---

१ दिगम्बर साहित्य मे भी इसी प्रकार तीन उदयस्थान और उनके स्वामी बतलाये हैं—

(क) अट्ठुदओ सुहुमोत्ति य मोहेण विणा हु सनखीणेसु।
घादिदाराण चउक्कस्सुदओ केवली दुगे णियमा॥
—गो० कर्मकाण्ड, गाथा ४५४

(ख) दि० पचसग्रह शतक अधिकार, गा० २२१

मूल कर्मो के उदयस्थानो मे अवक्तव्योदय घटित नही होता है। इसका कारण यह है कि समस्त कर्मो का अवेदक होकर पुन किसी भी कर्म का वेदक नही होता है। समस्त कर्म का अवेदक जीव सिद्धावस्था मे होता है और वहा से पुन. ससार मे आगमन नही है कि जिसमे पुन कर्म का वेदन किया जाये। इसीलिए मूल कर्मो मे अवक्तव्योदय घटित नही होता है।

उदीरणा—अब उदीरणास्थानो मे भूयस्कार आदि का विचार करते है।

उदीरणास्थान पाँच है—१ आठप्रकृतिक २ सातप्रकृतिक ३. छहप्रकृतिक ४ पाँचप्रकृतिक ५ दोप्रकृतिक। इनमे से जब तक आयु की पर्यन्तावलिका शेष न रही हो, वहाँ तक पहले से छठे गुणस्थान पर्यन्त आठ कर्मों की उदीरणा होती है। अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहे तब जीव तीसरे गुणस्थान से पहले या चौथे गुणस्थान मे चले जाने से वहाँ आठ कर्मो की ही उदीरणा होती है। सातवे से दसवे गुणस्थान पर्यन्त वेदनीय और आयु के विना छह कर्मो की उदीरणा होती है और मोहनीय के विना ग्यारहवे, बारहवे गुणस्थानो मे पाँच कर्मो की उदीरणा होती है और तेरहवे गुणस्थान मे नाम एव गोत्र इन दो कर्मो की उदीरणा होती है।[1]

इन पाँच उदीरणास्थानो मे तीन भूयस्कार होते है। वे इस प्रकार समझना चाहिए कि—उपशान्तमोहगुणस्थान मे पाच कर्म का उदीरक होकर जीव वहाँ से पतित हो सूक्ष्मसपरायगुणस्थान मे आता है तब छह कर्म की उदीरणा होती है, यह पहला भूयस्कार है। वहाँ से पतित होकर प्रमत्तसयत आदि गुणस्थानो मे आयु की आवलिका शेष

---

१ दिगम्बर साहित्य मे भी इसी प्रकार पाँच उदीरणास्थान बतलाये है। देखो—गो० कर्मकाण्ड, गा० ४५५, ४५६ और दि० पचसग्रह, शतक अधिकार, गाथा २१७, २२२-२२६

रहने पर सात का उदीरक होता है, यह दूसरा भूयस्कार है। तत्पश्चात् परभव मे आठ का उदीरक हो, यह तीसरा भूयस्कार है। दो-प्रकृतिक स्थान के उदीरक क्षीणमोह और सयोगिकेवलि गुणस्थान है। किन्तु इन दोनो मे से पतन नही है। इसलिए उसकी अपेक्षा भूयस्कार घटित नही होता है। इसी कारण उदीरणास्थानो मे तीन ही भूयस्कार प्राप्त होते हैं।

उदीरणास्थानो मे अल्पतर चार होते हैं। वे इस प्रकार समझना चाहिये कि आठ का उदीरक सात के, सात का उदीरक छह के, छह का उदीरक पाँच के और पाँच का उदीरक दो के उदीरणास्थान मे जाता है। इसलिए अल्पतर चार ही सम्भव हैं। तथा—

अवस्थित पाँचो सम्भव हैं। क्योकि उदीरणास्थान पाँच है। उनमे से तेतीस सागरोपम की आयु वाला देव या नारक अपनी आयु की शेष एक आवलिका न रहे, वहाँ तक आठ कर्म का उदीरक होता है। इसलिए आठ कर्म की उदीरणा का उत्कृष्ट काल आवलिकान्यून तेतीस सागरोपम प्रमाण है। आयु की जब एक आवलिका शेष रहे तब उस आवलिका मे सात कर्म की उदीरणा होती है। जिससे सात कर्म की उदीरणा का काल अन्तर्मुहूर्त है। क्षपकश्रेणि मे दसवे गुणस्थान की पर्यन्तावलिका मे और ग्यारहवे गुणस्थान मे मोहनीय के बिना पाँच कर्म की उदीरणा होती है। अत पाँच की उदीरणा अन्तर्मुहूर्त मात्र होती है तथा सयोगिकेवलिगुणस्थान का देशोन पूर्वकोटि काल होने मे एव वहाँ दो कर्म की उदीरणा होने से दो की उदीरणा का काल देशोन पूर्वकोटि है। इसलिए उदीरणास्थान पाँच होने से अवस्थित भी पाँच होते है।

यहाँ भी अव्यक्तव्य नही घटता है। क्योकि मूलकर्म का सर्वथा अनुदीरक होकर पुन उदीरक नही होता है। सर्व कर्मों के अनुदीरक अयोगिकेवलि भगवान होते है और वहाँ से प्रतिपात होता नही है, जिससे अवक्तव्य भी नही होता है।

सत्तास्थानो मे भी अवक्तव्य घटित नही होता है। क्योकि सर्वथा समस्त कर्मों की सत्ता का नाश होने के पश्चात् पुन उनकी सत्ता होती ही नही है। इसी कारण सत्तास्थानो मे अवक्तव्य प्रकार नही माना जाता है।

इस प्रकार मूलकर्मों के बध, उदय, उदीरणा और सत्ता स्थानो मे भूयस्कार आदि का विधान जानना चाहिये।

अब इन्ही भूयस्कार आदि को अनुक्रम से उत्तरप्रकृतियो के बंध आदि स्थानो मे बतलाते हैं। परन्तु उत्तरप्रकृतियो के बधादि स्थानो को जाने बिना उनके भूयस्कार आदि का विवेचन किया जाना सभव नही है। अत विवेचन की सरलता के लिये प्रत्येक कर्म की उत्तर-प्रकृतियो के बधादि स्थानो का कथन करते हैं और उसके बाद उनमे भूयस्कार आदि विकल्पो का निर्देश करेंगे।

कर्मों की बध, उदय, उदीरणा और सत्ता इन चार अवस्थाओ मे बध का क्रम पहला होने से अब प्रत्येक कर्म की उत्तरप्रकृतियो के बध-स्थानो का निर्देश करते है।

उत्तरप्रकृतियो के बधस्थान और उनमे भूयस्कार आदि

वधट्ठाणा तिदसट्ठ दंसणावरणमोहनामाणं।
सेसाणेगमवट्ठियबधो सव्वत्थ ठाणासमो ॥१५॥

शब्दार्थ—वधट्ठाणा—वधस्थान, तिदसट्ठ—तीन, दस और आठ, दस-णावरणमोहनामाण—दर्शनावरण, मोहनीय, नाम के, सेसाणेग—शेप का एक-एक, अवट्ठियवधो—अवस्थित वध, सव्वत्थ—सर्वत्र, ठाणसमो—वधस्थानो के समान।

गाथार्थ—दर्शनावरण, मोहनीय और नाम कर्म के अनुक्रम से तीन, दस और आठ वधस्थान होते है और शेप कर्मों का एक-एक वधस्थान है तथा अवस्थितवध सर्वत्र वधस्थानो के समान (वरा-वर) होता है।

विशेषार्थ—गाथा मे आठ मूल कर्मों की उत्तरप्रकृतियो की अपेक्षा बधस्थानो की सख्या बतलायी है कि—

दर्शनावरण के बधस्थान तीन, मोहनीय के बधस्थान दस और नामकर्म के बधस्थान आठ है तथा इन तीन कर्मो से शेष रहे ज्ञानावरण, अन्तराय, वेदनीय, आयु और गोत्र, इन पाच कर्मो मे प्रत्येक का एक-एक बधस्थान होता है।[1] तथा जिस कर्म के जितने बधस्थान होते है, उस कर्म के उतने अवस्थितबध होते है। इसीलिये गाथा मे सकेत किया है कि अवस्थितबध सब कर्मो मे बधस्थान के समान होता है। जिसका सविशद स्पष्टीकरण इस प्रकार है।

दर्शनावरण—इसके तीन बधस्थान है—नौप्रकृतिक, छहप्रकृतिक और चारप्रकृतिक। उनमे से दर्शनावरण कर्म की सभी प्रकृतियो का समूह नौप्रकृतिक बधस्थान है। स्त्यानर्द्धित्रिक—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि—से रहित छहप्रकृतिक और इसमे से निद्राद्विक—निद्रा, प्रचला से रहित चार प्रकृतिक, इस प्रकार तीन बधस्थान होते है।[2] जिनको इस प्रकार समझना चाहिये कि सासादनगुणस्थान

---

१ (क) गो कर्मकाड मे भी इसी प्रकार से उत्तरप्रकृतियो के बधस्थानो का निर्देश किया है—

> तिण्णिदसअट्ठठाणाणि दसणावरण मोहणामाण।
> एत्थेव य भुजगारा सेसेसेय हवे ठाण ॥४५८॥

दर्शनावरण, मोह और नाम कर्म के क्रमश तीन, दस और आठ बधस्थान होते हैं और इन्ही मे भुजाकार आदि बध होते हैं। शेष कर्मों मे केवल एक-एक ही बधस्थान होता है।

(ख) दि पचसग्रह, शतक अधिकार, गाथा २४२

२ गो० कर्मकाण्ड मे भी दर्शनावरण के बधस्थानो और उनके स्वामियो को इसी प्रकार बतलाया है—

तक तो सभी प्रकृतियो का बध होता है। जिससे सासादनगुणस्थान तक नौप्रकृतिक बधस्थान पाया जाता है। उसके बाद सासादनगुण-स्थान के अन्त मे स्त्यानर्द्धित्रिक के बध की समाप्ति हो जाती है, अत आगे सम्यक्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान से अपूर्वकरणगुणस्थान के प्रथम भाग तक छहप्रकृतिक बधस्थान होता है और प्रथम भाग के अन्त मे निद्रा और प्रचला के बध का निरोध हो जाता है अत अपूर्वकरण गुण-स्थान के दूसरे भाग से लेकर दसवे गुणस्थान तक शेष चार ही प्रकृतियो का बध होता है। इसी कारण दर्शनावरण कर्म के नौ, छह और चार प्रकृतिक ये तीन बधस्थान होते है।

मोहनीय कर्म—इसके दस बधस्थान है—बाईस, इक्कीस, सत्रह, तेरह, नौ, पाच, चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक। इनमे से बाईस का बधस्थान मिथ्यादृष्टि, इक्कीस का बधस्थान सासादन, सत्रह का मिश्र और अविरतसम्यग्दृष्टि, तेरह का देशविरत, नौ का प्रमत्त, अप्रमत्त और अपूर्वकरण गुणस्थान मे जानना चाहिये एव पाच से

णव छक्क चदुक्क च य विदियावरणस्स बधठाणाणि।
भुजगारप्पदराणि य अवट्ठिदाणिवि य जाणाहि ॥४५९॥
णव सासणोत्ति बधो छच्चेव अपुव्वपढमभागोत्ति।
चत्तारि होति तत्तो सुहुमकसायस्स चरिमोत्ति ॥४६०॥

अर्थात्—दूसरे दर्शनावरण कर्म के नौ प्रकृति, छह प्रकृति और चार प्रकृति रूप, इस तरह तीन बधस्थान है तथा इनके भुजाकार, अल्पतर और अवस्थित बध ये तीन बध होते हैं। अपि शब्द से अवक्तव्यबध भी होता है।

दर्शनावरण का नौप्रकृतिरूप बध सासादनगुणस्थान पर्यन्त, उसके बाद ऊपर अपूर्वकरण गुणस्थान के पहले भाग तक छह प्रकृतियो का और उनके बाद सूक्ष्मसपरायगुणस्थान के अन्त समय तक चार प्रकृतियो का बध होता है।

एक तक के पाच बधस्थान अनिवृत्ति-बादरसपरायगुणस्थान मे होते है।[1]

मोहनीयकर्मप्रकृतियो के दस बधस्थान होने का सविगत विवरण इस प्रकार जानना चाहिये—

यद्यपि मोहनीयकर्म की उत्तरप्रकृतिया अट्ठाईस है। लेकिन उनमे से सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वमोहनीय का तो बध ही नही होता है तथा तीन वेदो मे से एक समय मे एक ही वेद का, हास्य-रति और शोक-अरति, इन दो युगलो मे से भी एक समय मे एक युगल का बध होता है। अत छह प्रकृतियो को कम कर देने पर शेष बाईस प्रकृतिया ही एक समय मे बध को प्राप्त होती है। जिनके नाम है—मिथ्यात्व, अनन्तानुबधिचतुष्क आदि सोलह कषाय, वेदत्रिक मे से कोई एक वेद, युगलद्विक मे से कोई एक युगल, भय और जुगुप्सा। इस बाईसप्रकृतिक बधस्थान का बध केवल पहले मिथ्यात्वगुणस्थान मे होता है। दूसरे गुणस्थान मे मिथ्यात्व के सिवाय शेष इक्कीस प्रकृतियो[2] का, तीसरे और चौथे गुणस्थान मे अनन्तानुबधिचतुष्क के सिवाय शेप सत्रह प्रकृतियो[3] का, पाचवे गुणस्थान मे अप्रत्याख्याना-

---

१ गो कर्मकाण्ड मे मोहनीयकर्म के बधस्थानो और उनके स्वामियो का निर्देश इसी प्रकार है—

बावीसमेक्कवीस सत्तारस तेरसेव णव पच।
चदुतियदुग च एक्क बधट्ठाणाणि मोहस्स ॥४६३॥
बावीसमेक्कवीस सत्तर सत्तार तेर तिसु णवय।
थूले पण चदुतियदुगमेक्क मोहस्स ठाणाणि ॥४६४॥

२ यद्यपि यहाँ नपु सकवेद का बध नही होता है तो भी उसकी पूर्ति स्त्री या पुरुप वेद के बध से हो जाती है। इसीलिए यहाँ मिथ्यात्व को कम किया है।

३ इन दोनो गुणस्थानो मे स्त्रीवेद का बध नही होता है। पुरुपवेद का बध होने से यहाँ वेद को ग्रहण किया है। आगे पुरुपवेद की अपेक्षा नौवे गुणस्थान के प्रथम भाग तक वेद का ग्रहण समझना चाहिये।

वरणचतुष्क का बध न होने के कारण शेष तेरह प्रकृतियो का ही बध होता है। छठे, सातवे और आठवे गुणस्थान मे प्रत्याख्यानावरणचतुष्क का बध न होने से शेष नौ प्रकृतियो का बध होता है। आठवे गुणस्थान के अन्त मे हास्य, रति, भय, जुगुप्सा का बधविच्छेद हो जाने से नौवे गुणस्थान के प्रथम भाग मे पाच ही प्रकृतियो का, दूसरे भाग मे वेद के बध का अभाव हो जाने से चार का, तीसरे भाग मे सज्वलन क्रोध के बध का अभाव हो जाने के कारण तीन का, चौथे भाग मे सज्वलन मान का बध न होने से दो प्रकृतियो का और पाचवे भाग मे सज्वलन माया का भी बध न होने मे केवल एक सज्वलन लोभ का ही बध होता है और उसके आगे दसवे सूक्ष्मसपरायगुणस्थान मे बध की कारणभूत बादरकषाय का अभाव होने से उस एक प्रकृति का भी बध नही होता है। इस प्रकार मोहनीय कर्म के बाईसप्रकृतिक आदि एक-प्रकृतिक पर्यन्त दस बधस्थान जानना चाहिये।

नामकर्म—इसके आठ बधस्थान है—तेईस, पच्चीस, छब्बीस, अट्ठाईस, उनतीस, तीस, इकतीस और एक प्रकृतिक[1]। ये बधस्थान नाना जीवो के आश्रय मे अनेक प्रकार के है, जिनका स्वय ग्रन्थकार आगे सप्ततिकासग्रह मे विस्तार से विवेचन करने वाले है। किन्तु प्रकृत मे आवश्यक होने मे सक्षेप मे उनका यहाँ निर्देश करते है।

नामकर्म की कुल प्रकृतिया १०३/९३ है और सामान्य से बध योग्य प्रकृतिया सडसठ (६७) मानी गई है। किन्तु उनमे से एक समय मे एक जीव के तेईस, पच्चीस आदि प्रकृतिया ही बध को प्राप्त होती

---

१ दिगम्बर साहित्य मे भी नामकर्म के इसी प्रकार आठ बधस्थान माने हैं—

तेवीस पणवीस छव्वीस अट्ठवीसमुगतीस।
तीसेक्कतीसमेव एक्को बधो दुसेढिम्हि ॥

—गो कर्मकाण्ड, गा ५२१

को घटाकर स्थावर, पर्याप्त, तिर्यंचगति, एकेन्द्रियजाति, उच्छ्‌वास, पराघात और उद्योत-आतप मे से किसी एक को मिलाने पर एकेन्द्रिय पर्याप्तप्रायोग्य छब्बीस का स्थान होता है।

नौ ध्रुवबधिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर-अस्थिर मे से एक, शुभ-अशुभ मे से एक, सुभग, आदेय, यश कीर्ति और अयश - कीर्ति मे से एक, देवगति, पचेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, प्रथम सस्थान, देवानुपूर्वी, वैक्रिय-अगोपाग, सुस्वर, प्रशस्तविहायोगति, उच्छ्‌वास और पराघात इन प्रकृतिरूप देवगति-प्रायोग्य अट्ठाईस का बधस्थान होता है तथा नौ ध्रुवबधिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयश कीर्ति, नरकगति, पचेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, हुण्डकसस्थान, नरकानुपूर्वी, वैक्रिय-अगोपाग, दु स्वर, अप्रशस्तविहायोगति, उच्छ्‌वास और पराघात इन प्रकृतिरूप नरक-गतिप्रायोग्य अट्ठाईस का बधस्थान होता है।

नौ ध्रुवबधिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर या अस्थिर, शुभ या अशुभ, दुर्भग, अनादेय, यश कीर्ति या अयश कीर्ति, तिर्यंचगति, द्वीन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, हुण्डकसस्थान, तिर्यंचानुपूर्वी, सेवार्त-सहनन, औदारिक-अगोपाग, दु स्वर, अप्रशस्तविहायोगति, उच्छ्‌वास, पराघात इन प्रकृतिरूप द्वीन्द्रिय पर्याप्तप्रायोग्य उनतीस का बधस्थान होता है। इसमे द्वीन्द्रिय के स्थान पर त्रीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रिय के स्थान पर चतुरिन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रिय के स्थान पर पचेन्द्रियजाति के मिलाने मे क्रमश त्रीन्द्रिय पर्याप्त, चतुरिन्द्रिय पर्याप्त, पचेन्द्रिय पर्याप्त प्रायोग्य उनतीसप्रकृतिक स्थान होता है। परन्तु पचेन्द्रिय पर्याप्त प्रायोग्य उनतीसप्रकृतिक स्थान की इतनी विशेपता है कि सुभग और दुर्भग, आदेय और अनादेय, सुस्वर और दु स्वर, प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति, इन युगलो मे से एक-एक प्रकृति बधती है तथा छह सस्थानो और छह सहननो मे मे किसी भी एक सस्थान और

एक सहनन का वध होता है। इसमे से तिर्यंचगति और तिर्यंचानुपूर्वी को घटाकर मनुष्यगति और मनुष्यानुपूर्वी के मिलाने से पर्याप्त मनुष्य-योग्य उनतीस का ववस्थान होता है।

नौ ध्रुववविनी, त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर या अस्थिर, शुभ या अशुभ, सुभग, आदेय, यश कीर्ति या अयश कीर्ति, देवगति, पचेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, प्रथम सस्थान, देवानुपूर्वी, वैक्रिय-अगोपाग, सुस्वर, प्रशस्तविहायोगति, उच्छ्वास, पराघात, तीर्थंकर, इन प्रकृतिरूप देवगति और तीर्थंकर सहित उनतीस का वधस्थान होता है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय पर्याप्तयुत उनतीस के चार ववस्थानो मे उद्योत प्रकृति को मिलाने से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय पर्याप्तयुत तीस के चार वधस्थान होते है। पर्याप्त मनुष्य योग्य उनतीस के ववस्थान मे तीर्थंकर प्रकृति को मिलाने से मनुष्यगति सहित तीस का ववस्थान होता है। देवगति सहित उनतीस के ववस्थान मे से तीर्थंकर प्रकृति को कम कर आहारकद्विक को मिलाने से देवगतियुत तीस का ववस्थान हाता है।

देवगति तीर्थंकर सहित उनतीस के वधस्थान मे आहारकद्विक के मिलाने से देवगतियोग्य इकतीस का वधस्थान होता है।

एकप्रकृतिक ववस्थान मे केवल एक यश कीर्ति का ही वव होता है।

इस प्रकार नामकर्म के आठ वधस्थानो का विवरण जानना चाहिये।[1]

---

१ दि कर्मसाहित्य मे भी चारो गतियो मे सभव नामकर्म के वधस्थानो का वर्णन किया है। देखिये दि पचसग्रह शतक अधिकार गाथा २६१ से ३०४।

ज्ञानावरण की पाच प्रकृतियो का समूह रूप तथा अन्तरायकर्म की पाच प्रकृतियो का समूह रूप एक-एक बधस्थान जानना चाहिये। वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म की एक समय मे एक प्रकृति का बध होता है। इसलिये इन तीनो कर्मो का अपना-अपना एक प्रकृतिरूप एक-एक बधस्थान होता है। इसलिये इनमे भूयस्कार, अल्पतर बध सभव नही है।

अब दर्शनावरण, मोहनीय और नाम कर्म के बधस्थानो मे भूयस्कार आदि बधप्रकारो को घटित करते हैं। उनमे से सरल और सुबोध होने से पहले अवस्थितबध को बतलाते हैं कि जिस कर्म की उत्तरप्रकृतियो के जितने बधस्थान है, उतने ही अवस्थितबध की सख्या समझना चाहिये। जिसका आशय यह हुआ कि दर्शनावरण के तीन बधस्थानो के तीन अवस्थितबध, मोहनीय के दस बधस्थान के दस अवस्थितबध, नामकर्म के आठ बधस्थान के आठ अवस्थितबध तथा ज्ञानावरण, अन्तराय, वेदनीय, आयु और गोत्र इनका एक-एक अवस्थितबध होता है। इसके लिये स्वय ग्र थकार आचार्य ने निर्देश कर दिया है कि—'अवट्ठियबधो सव्वत्थ ठाणसमो' अर्थात् अवस्थितबध बधस्थानो की सख्या के बराबर जानना चाहिये।

इस प्रकार से उत्तरप्रकृतियो के बधस्थानो और उनमे अवस्थितबध को बतलाने के बाद अब उन बधस्थानो मे भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्य बधो का विवेचन करते है।

उत्तरप्रकृतियो के बधस्थानो मे भूयस्कार आदि बधत्रय

भूओगारा दोनवछयप्पतरा दुगट्ठसत्तकमा।
मिच्छाओ सासणत्तं न एक्कतीसेक्कगुरु जम्हा ॥१६॥
चउ छ दुइए नामंमि एग गुणतीस तीस अव्वत्ता।
इग सत्तारस य मोहे एक्केक्को तइयवज्जाण ॥१७॥

शब्दार्थ—**भूओगारा**—भूयस्कार, **दोनवछप्पतरा**—दो, नौ और छह, अल्पतर, **दुगट्ठसत्त**—दो, आठ और सात, **कमा**—क्रम से **मिच्छाओ**—मिथ्यात्व से, **सासणत्त**—सासादनत्व, मामादनभाव, **न**—नही, **एक्कतीसेक्क**—इकतीस से एक, **गुरु**—गुरु, बडा (अधिक), **जम्हा**—इसलिये।

चउ—चार, **छ**—छह, **दुइए**—दूसरे (दर्शनावरण) कर्म मे, **नाममि**—नामकर्म मे, **एग गुणतीस तीस**—एक, उनतीस और तीस, **अव्वत्ता**—अवक्तव्य, **इग सत्तरस्स**—एक और सत्रह **य**—और **मोहे** मोहनीयकर्म मे, **एक्केक्को**—एक एक, **तइयवज्जाण**—तीसरे वेदनीयकर्म को छोडकर।

गाथार्थ—दर्शनावरण, मोहनीय और नामकर्म के भूयस्कार अनुक्रम मे दो, नौ और छह है, अल्पतर दो, आठ और सात है। मिथ्यात्व से सासादनभाव प्राप्त नही होने से मोहनीय के आठ ही अल्पतर है और इकतीस के बध से एक का बध गुरु नही, जिससे नामकर्म के छह भूयस्कार होते है।

दूसरे दर्शनावरणकर्म मे चार और छह ये दो अवक्तव्यबध है। नामकर्म मे एक, उनतीस और तीस के बधरूप तीन और मोहनीयकर्म मे एक एव सत्रह के बधरूप दो अवक्तव्यबध है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओ मे मूल कर्मो की उत्तरप्रकृतियो के बधस्थानो मे सभव भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्य बधो को बतलाया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

दर्शनावरण—इसमे दो भूयस्कार, दो अल्पतर और दो अवक्तव्य बध होते है। जो इस प्रकार जानना चाहिये कि अपूर्वकरणगुणस्थान के द्वितीय भाग मे लेकर दसवे गुणस्थान तक किसी एक गुणस्थान मे चार प्रकृतियो का बध करके जब कोई जीव अपूर्वकरणगुणस्थान के द्वितीय भाग मे नीचे (मिश्रगुणस्थान पर्यन्त) आकर छह प्रकृतियो का बध करता है तो पहला भूयस्कार होता है। यहाँ से

भी गिरकर जब नौ प्रकृतियो का वध करता है, तब दूसरा भूयस्कार होता है।[1] इस प्रकार दो भूयस्कारवध जानना चाहिये।

भूयस्कारबध से विपरीत अल्पतरबध है। अत नीचे के गुणस्थानो मे नौ प्रकृतियो का बध करके जब कोई जीव तीसरे आदि गुणस्थानो मे छह प्रकृतियो का बध करता है तो पहला अल्पतरवध होता है और जब छह का बध करके चार का बध करता है तो दूसरा अल्पतर-बध होता है। इस प्रकार दो अल्पतरबध जानना चाहिये।

दर्शनावरण कर्म के चारप्रकृतिक और छहप्रकृतिक ये दो अव-क्तव्यबध होते है—चउ छ दुइए। वे इस प्रकार कि दर्शनावरणकर्म की सभी प्रकृतियो का बधविच्छेद उपशातमोहादि गुणस्थानो मे होता है, अन्यत्र नही। उपशातमोहगुणस्थान से दो प्रकार से प्रतिपात होता है—१ अद्धाक्षय से और २ भवक्षय से। अद्धाक्षय यानी उपशातमोह-गुणस्थान का काल पूर्ण होने पर पतन होना और भवक्षय यानी मरण होने पर पतन होना। जो जीव उपशातमोहगुणस्थान का काल पूर्ण करके गिरता है, वह जिस क्रम से चढा था उसी क्रम से पडता है। अर्थात् ग्यारहवे से दसवा, नौवा, आठवा आदि गुणस्थानो का स्पर्श करता हुआ गिरता है और जो जीव ग्यारहवें गुणस्थान मे मरण को प्राप्त करता है वह देवायु के पहले समय मे अविरतसम्यग्दृष्टि देव होता है। यानी मनुष्यायु के चरम समय पर्यन्त ग्यारहवा गुणस्थान होता है और देवायु के पहले समय मे ही चौथा गुणस्थान प्राप्त होता है, मध्य के गुणस्थानो का स्पर्श नही करता है। अत जब उपशातमोहगुणस्थान का काल पूर्ण करके गिरते हुए दसवे गुणस्थान मे प्रवेश करता है तब पहले समय मे दर्शनावरण की चार प्रकृतियो का बध करता है तो वह चारप्रकृतिक बधरूप पहला अवक्तव्यबध है तथा जब उपशात-

---

१ यह पहले और दूसरे—मिथ्यात्व और सासादन गुणस्थान मे संभव है।

मोहगुणस्थान से भवक्षय होने से गिरते हुए अनुत्तर देवो मे उत्पन्न होता है तव पहले समय मे चौथे गुणस्थान मे दर्शनावरण की छह प्रकृतियो का वध करने से छह का बधरूप दूसरा अवक्तव्यबध होता है। जिसमे दर्शनावरणकर्म मे दो अवक्तव्यबध होते है।

इस प्रकार दर्शनावरणकर्म मे दो भूयस्कार, दो अल्पतर और दो अवक्तव्य वध होते हैं तथा बधस्थान तीन होने से अवस्थितबध तीन जानना चाहिये।

मोहनीयकर्म—इसके दस बधस्थानो मे नौ भूयस्कार, आठ अल्पतर और दो अवक्तव्य बध होते है। जिनका विवरण इस प्रकार है—

एक को बाध कर दो का बध करने पर पहला भूयस्कारबध होता है। इसी प्रकार दो को वाध कर तीन का बध करने पर दूसरा भूयस्कार, तीन को वाध कर चार का बंध करने पर तीसरा, चार को बाध कर पाच का वध करने पर चौथा, पाच का बध करके नौ का बध करने पर पाचवा, नौ का वध करके तेरह का बध करने पर छठा, तेरह का बध करके सत्रह का बध करने पर सातवा, सत्रह का बध करके इक्कीस का बध करने पर आठवा और इक्कीस का बध करके बाईस का बध करने पर नौवा भूयस्कारवध होता है।

इस प्रकार मोहनीयकर्म के वधस्थानो मे नौ भूयस्कारबध जानना चाहिये। अल्पतरबध आठ होते है, जो इस प्रकार है—

बाईस का वध करके सत्रह का वध करने पर पहला अल्पतरबध होता है। इसी प्रकार सत्रह का बध करके तेरह का बध करने पर दूसरा, तेरह का बध करके नौ का बध करने पर तीसरा, नौ का बध करके पाच का बध करने पर चौथा, पाच का बध करके चार का वध करने पर पाचवा, चार का वध करके तीन का बध करने पर छठा, तीन का बध करके दो का बध करने पर

अत बाईस का बंध करके इक्कीस का बंधरूप अल्पतरबंध संभव न होने से अल्पतरबंध आठ ही होते है।

मोहनीयकर्म मे एक और सत्रह प्रकृतिक बंधरूप दो अवक्तव्यबंध होते हैं—इग सत्तरस य मोहे। जो इस प्रकार समझना चाहिये कि ग्यारहवें उपशांतमोहगुणस्थान मे मोहनीयकर्म का बंध न करके जब कोई जीव उपशान्तमोहगुणस्थान से उसका काल पूर्ण करके क्रमश. च्युत होकर नौवे गुणस्थान मे आकर संज्वलन लोभ रूप एक प्रकृति का बंध करता है तब एकप्रकृतिक बंधरूप अवक्तव्यबंध होता है। यदि ग्यारहवें गुणस्थान मे भवक्षय हो जाने के कारण मरण करके कोई जीव देवो मे जन्म लेता है तब पहले ही समय मे अविरतसम्यग्दृष्टि होता है और वहाँ अविरतसम्यग्दृष्टि निमित्तक सत्रह प्रकृतियो का बंध होने से सत्रहप्रकृतिक बंधरूप दूसरा अवक्तव्यबंध होता है।[1] अत मोहनीयकर्म मे दो अवक्तव्यबंध तथा दस बंधस्थान होने से दस अवस्थितबंध जानना चाहिये।

इस प्रकार मोहनीयकर्म के दस बंधस्थानो के नौ भूयस्कार, आठ अल्पतर, दो अवक्तव्य और दस अवस्थित बंध होते है।

नामकर्म— इसके आठ बंधस्थानो[2] मे छह भूयस्कार, सात अल्पतर और तीन अवक्तव्य बंध होते हैं। जिनका विवरण इस प्रकार है—

---

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य मे भी मोहनीयकर्म के दो अवक्तव्यबंध माने हैं—

उवरदबंधो हेट्ठा एक्क सत्तरस सुरेसु अवत्तव्वा।

—दि पंचसंग्रह, शतक अधिकार गाथा २५५

२ नामकर्म के प्रत्येक बंधस्थान का काल प्राय अन्तर्मुहूर्त है और प्राय कहने का कारण है कि युगलिया तीन पल्योपम पर्यन्त देवगति-योग्य

तेईस का बध करके पच्चीस का बध करना, पच्चीस का बध करके छब्बीस का बध करना, छब्बीस का बध करके अट्ठाईस का बध करना, अट्ठाईस का बध करके उनतीस का बध करना, उनतीस का बध करके तीस का बध करना, आहारकद्विक सहित तीस का बध करके इकतीस का बध करना, इस प्रकार नाम कर्म के छह भूयस्कारबध होते है। अब अल्पतरबध बतलाते है।

आहारकद्विक और तीर्थंकर नामकर्म सहित देवप्रायोग्य इकतीस प्रकृतियो को बाध कर मरण होने पर देव मे जाकर तीर्थंकर नामकर्म सहित मनुष्यगतिप्रायोग्य तीस प्रकृतियो को बाधने पर पहला अल्पतर, देव मे से च्युत होकर मनुष्यगति मे आकर तीर्थंकर नामकर्म सहित देवगतिप्रायोग्य उनतीस प्रकृतियो को बाधने पर दूसरा अल्पतर, क्षपकश्रेणि या उपशमश्रेणि मे आरोहण करते समय अपूर्वकरणगुणस्थान मे देवगतियोग्य अट्ठाईस आदि चार बधस्थानो से एकप्रकृतिक बधस्थान का बध करने पर तीसरा अल्पतर, मनुष्यगति या तिर्यंचगति प्रायोग्य उनतीस प्रकृतियो को बाध कर देव या नरकगति प्रायोग्य अट्ठाईस का बध करने पर चौथा अल्पतर, अट्ठाईस के बध से एकेन्द्रियप्रायोग्य छब्बीस का बध करने पर पाचवा अल्पतर तथा छब्बीस के बध से पच्चीस का और पच्चीस से तेईस का बध करने पर छठा और सातवा अल्पतर होता है। इस प्रकार नामकर्म के बधस्थानो के सात अल्पतरबध होते हैं।

नामकर्म के आठ बधस्थानो मे सात अल्पतरबध की तरह भूय-

अट्ठाईस प्रकृतियो का बध करता है । इसी प्रकार अनुत्तरवासी देव मनुष्यगतियोग्य उनतीस या तीस का बध तेतीस सागरोपम पर्यन्त करता है। सप्तम पृथ्वी का नारक तिर्यंचयोग्य उनतीस या उद्योत सहित तीस का बध तेतीस सागरोपम पर्यन्त करता है। शेष बधस्थानो का काल अन्तर्मुहूर्त है।

स्कार सात न होकर छह होने का कारण यह है कि इकतीसप्रकृतिक बधस्थान से उतर कर आठवे गुणस्थान के सातवे भाग मे जो एक-प्रकृतिक बध होता है, वह इकतीस की अपेक्षा बडा नही है—न एक-तीसेक्क गुरु जम्हा। इसीलिये नामकर्म के भूयस्कारबध छह ही होते है।

प्रश्न—उपशमश्रेणि से गिरते हुए यश कीर्ति रूप एकप्रकृतिक बध कर आठवे गुणस्थान के छठे भाग मे जीव इकतीस के बधस्थान मे भी जाता है और वह इकतीस का बध एक प्रकृति की अपेक्षा से भूयस्कार है। अत सात भूयस्कार मानना युक्तियुक्त ही है। जैसा कि शतक-चूर्णि मे बताया है—

'एक्काओ वि एक्कतीस जाइत्ति भूयोगारा सत्त।' अर्थात् एक के बध से भी इकतीस के बध मे जाया जाता है, इसलिये भूयस्कार सात है।

उत्तर—यह मतव्य अयोग्य है। इसका कारण यह है कि अट्ठाईस आदि बध की अपेक्षा से इकतीस का बधरूप भूयस्कार पहले ही ग्रहण कर लिया गया है। एक के बध से इकतीस के बध मे जाये अथवा अट्ठाईस आदि प्रकृति के बध से इकतीस के बध मे जाये, किन्तु इन दोनो मे इकतीस के बधरूप भूयस्कार का तो एक ही रूप है। अवधि के भेद से भिन्न भूयस्कार की विवक्षा नही होती है। यदि अवधि के भेद से भिन्न भिन्न भूयस्कार की विवक्षा की जाये तो उक्त सख्या से भी अधिक भूयस्कार हो सकते है। वे इस प्रकार कि किसी समय अट्ठाईस के बध से, किसी समय उनतीस के बध से, किसी समय तीस के बध से, किसी समय एक प्रकृति के बंध से इकतीस के बध मे जाता है तथा किसी समय तेईस के बध से अट्ठाईस के बध मे, किसी समय पच्चीस आदि के बध से अट्ठाईस के बध मे जाता है। इस प्रकार यदि अवधि के भेद से भिन्न-भिन्न भूयस्कारो की विवक्षा की जाये तो सात से

बहुत अधिक भूयस्कार हो सकेंगे। परन्तु यह इष्ट नही है। अत अवधि के भेद से भूयस्कार का भेद नही है। इसीलिये छह भूयस्कार सभव है।

साराश यह है कि नौवे गुणस्थान मे एक यश कीर्ति का बध करके जब कोई जीव वहाँ से च्युत होकर आठवे गुणस्थान मे तीस अथवा इकतीस का बध करता है तो वह पृथक् भूयस्कार नही गिना जाता है। क्योंकि उसमे भी तीस अथवा इकतीस का ही बध करता है और यही बध पाचवे और छठे भूयस्कारबधो मे भी होता है, जिससे उसे पृथक् नही गिना जाता है। इसी कारण छह भूयस्कार माने गये है।[1]

---

१ दिगम्बर साहित्य मे मोहनीय और नामकर्म के भूयस्कार आदि बधो के वर्णन मे अन्तर है।

गो कर्मकाण्ड गा ४६८ से ४७४ तक और दि पचसग्रह शतक अधि गा २४६ से २५५ तक मोहनीयकर्म के भूयस्कार आदि बधो का वर्णन किया है। उसमे २० भूयस्कार, ११ अल्पतर, ३३ अवस्थित और २ अवक्तव्य बध बतलाये है।

इसी प्रकार गो कर्मकाण्ड गा ५६५ से ५८२ तक तथा दि पचसग्रह शतक अधिकार गा २५६ से २६० तक नामकर्म के भूयस्कार आदि बधो का वर्णन किया है। जिसमे २२ भूयस्कार, २१ अल्पतर, ४६ अवस्थित और ३ अवक्तव्य बध बतलाये है।

यहाँ और कर्मकाण्ड आदि के विवेचन मे अन्तर पडने का कारण यह है कि यहाँ भूयस्कार आदि बधो का विवेचन केवल गुणस्थानो से उतरने और चढने की अपेक्षा से किया है। किन्तु कर्मकाण्ड आदि मे उक्त दृष्टि के साथ-साथ इस बात का ध्यान रखा गया है कि ऊपर चढते समय जीव किस-किस गुणस्थान से किस-किस गुणस्थान मे जा सकता है और उतरते समय किस गुणस्थान से किस-किस गुणस्थान मे आ सकता है तथा जितने

अब नामकर्म के अवक्तव्यबंध बतलाते हैं—'नामम्मि एग गुणतीस तीस अव्वत्ता' अर्थात् नामकर्म मे एक, उनतीस और तीस प्रकृति के बंधरूप तीन अवक्तव्यबंध होते हैं। वे इस प्रकार समझना चाहिए—

जब उपशान्तमोहगुणस्थान का काल पूर्ण कर च्युत होने पर दसवे गुणस्थान मे आकर पहले समय मे एक यश कीर्ति का बंध करता है तब एकप्रकृतिक बंधरूप पहला अवक्तव्यबंध होता है तथा भवक्षय होने पर च्युत होकर देवरूप से उत्पन्न होता है तब वहाँ पहले समय मे मनुष्यगतिप्रायोग्य उनतीस प्रकृतियो का बंध करने पर उनतीस प्रकृति रूप दूसरा अवक्तव्यबंध और कोई जीव तीर्थंकर प्रकृति का निकाचित बंधकर उपशमश्रेणि पर आरूढ होकर ग्यारहवे गुणस्थान मे मरण को प्राप्त हो देव रूप से उत्पन्न होता है तब वहाँ पहले समय मे तीर्थंकर नामकर्म सहित मनुष्यगतिप्रायोग्य तीस प्रकृतियो का बंध करने से तीसप्रकृतिक बंधरूप तीसरा अवक्तव्यबंध होता है। इसीलिए नामकर्म के बंधस्थानो मे तीन अवक्तव्यबंध माने गये है[1] तथा नाम कर्म के बंधस्थान आठ होने से अवस्थितबंध आठ जानना चाहिये।

इस प्रकार से दर्शनावरण, मोहनीय और नाम कर्म की उत्तरप्रकृतियो के बंधस्थानो के भूयस्कार, अल्पतर, अवक्तव्य और अवस्थित बंधो का विचार करने के बाद अब शेष रहे वेदनीय आदि पाच कर्मो की उत्तरप्रकृतियो के बंधो को बतलाते है। इन कर्मों के भूयस्कार

प्रकृतिक स्थान को बाधकर जितने प्रकृतिक स्थानो का बंध सभव है और उन स्थानो के जितने भग हो सकते है उन सब की अपेक्षा से भूयस्कार आदि को बतलाया है। इसके सिवाय मरने की अपेक्षा से भी भूयस्कार आदि गिनाये हैं।

सक्षिप्त साराश परिशिष्ट मे देखिये।

१ उवरदबंधो हेट्ठा एक्क देवेसु तीसमुगुनीसा।

—दि. पचसग्रह, शतक अधिकार गा २६०

और अल्पतर बध तो होते नही है और अब रहे अवस्थित एव अवक्तव्य बध, सो उनमे भी इनका एक-एक बधस्थान होने से एक-एक अवस्थितबध जानना चाहिए किन्तु अवक्तव्यबध इस प्रकार हैं—

'एक्केक्को तइयवज्जाण'—अर्थात् तीसरे वेदनीयकर्म को छोडकर शेष ज्ञानावरण, अन्तराय, आयु और गोत्र इन चार कर्मों मे एक-एक अवक्तव्यबध होता है। उनमे से ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म मे उपशान्तमोहगुणस्थान से अद्धाक्षय या भवक्षय से गिरकर पाच-पाच प्रकृतियो का बध करने पर पहले समय मे पाच पाच प्रकृतिक बध रूप एक-एक अवक्तव्यबध होता है तथा उपशान्तमोहगुणस्थान से अद्धाक्षय या भवक्षय से गिरने पर उच्चगोत्र का बध करने पर पहले समय मे उच्चगोत्र का बध रूप गोत्रकर्म मे एक अवक्तव्य बध होता है। आयु के बध के प्रारम्भ मे चार आयु मे से किसी भी एक आयु का बध करने पर पहले समय मे उस एक आयु का बध रूप अवक्तव्यबध होता है। लेकिन वेदनीयकर्म मे अवक्तव्यबध सर्वथा घटित नही होता है। क्योकि वेदनीयकर्म का बधविच्छेद होने के बाद पुन. बध होता नही है। वेदनीय कर्म का बध-विच्छेद अयोगि-अवस्था मे होता है और वहाँ से प्रतिपात होता नही कि जिससे पुन बध का प्रारम्भ सम्भव हो। इस प्रकार सर्वथा बंध का विच्छेद होने के बाद बध का प्रारम्भ नही होने से वेदनीयकर्म मे अवक्तव्य सम्भव नही होने से उसका निषेध किया है। वेदनीयकर्म मे तो मात्र अवस्थितबंध ही घटित होता है।

इन ज्ञानावरण आदि कर्मो के अवस्थितबध मे से ज्ञानावरण, अन्तराय और गोत्र कर्म का मूल कर्म-आश्रित अवस्थितबध अभव्य की अपेक्षा अनादि-अनन्त, और भव्य की उपेक्षा अनादि-सात एव सादि-सात है। वेदनीयकर्म का भी अवस्थितबध इसी प्रकार अभव्य की अपेक्षा अनादि-अनन्त और भव्य की अपेक्षा अनादि-सात है और आयुकर्म का अवस्थितबध मात्र अन्तर्मुहूर्त ही है।

बंधस्थानों में भूयस्कार आदि जानना चाहिए। अब सामान्यतः सभी उत्तरप्रकृतियों के बंधस्थानों में भूयस्कार आदि का निर्देश करने के लिए पहले उनके बंधस्थानों का निरूपण करते हैं।

समस्त उत्तरप्रकृतियों के बंधस्थान

> इगसयरेगुत्तर जा दुवीस छव्वीस तह तिपन्नाइ ।
> जा चोवत्तरि बावट्ठिरहिय बंधाओ गुणतीसं ॥१८॥

शब्दार्थ—इगसयरेगुत्तर—एक, सत्रह और एक-एक अधिक, जा—पर्यन्त, तक, दुवीस—बाईस, छव्वीस—छव्वीस, तह—तथा, तिपन्नाइ—त्रेपन आदि जा—तक, चोवत्तरि—चौहत्तर, बावट्ठिरहिय—बासठ से रहित, बंधाओ—बंध के, गुणतीस—उनतीस।

गाथार्थ—एक, सत्रह और उससे एक-एक अधिक करते हुए बाईस तक के पांच तथा छव्वीस और त्रेपन से एक-एक अधिक करते हुए और बासठ को छोड़कर चौहत्तर तक के इक्कीस, इस प्रकार सभी प्रकृतियों के उनतीस बंधस्थान होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में सामान्य से सभी कर्मों की उत्तरप्रकृतियों के बंधस्थान बतलाये हैं कि वे उनतीस होते हैं। उन उनतीस बंधस्थानों में समाविष्ट प्रकृतियों की संख्या इस प्रकार है—

एक, सत्रह और उसके बाद एक-एक अधिक करते हुए बाईस तक पांच अर्थात् अठारह, उन्नीस, बीस इक्कीस, बाईस तथा छव्वीस और उसके बाद त्रेपन से प्रारम्भ कर एक-एक अधिक बढ़ाते हुए और बीच में बासठ का स्थान छोड़कर[1] चौहत्तर तक इक्कीस बंधस्थान

---

1 किसी भी प्रकार से किसी भी प्रकृति के कम-बढ़ न होने से बासठप्रकृतिक बंधस्थान सर्वथा सम्भव नहीं होने से उसमें भूयस्कार आदि बंधों का विचार नहीं किया जाता है।

अर्थात् त्रेपन, चौपन, पचपन, छप्पन, सत्तावन, अट्ठावन, उनसठ, साठ, इकसठ, त्रेसठ, चौसठ, पैंसठ, छियासठ, सडसठ, अडसठ, उनहत्तर, सत्तर, इकहत्तर, बहत्तर, तिहत्तर और चौहत्तर। इस प्रकार कुल मिलाकर १+१+५+१+२१=२९) उनतीस बधस्थान सभी कर्मों की उत्तरप्रकृतियो के जानना चाहिए। अकानुसार वे इस प्रकार हैं—१, १७, १८, १९ २०, २१, २२, २६, ५३, ५४, ५५ ५६, ५७, ५८, ५९, ६०, ६१, ६३, ६४, ६५ ६६, ६७, ६८, ६९ ७०, ७१, ७२, ७३, ७४, कुल २९।

अब इन बधस्थानो मे भूयस्कार आदि घटित करते है।

भूयस्कारबंध—इन उनतीस बधस्थानो मे अट्ठाईस भूयस्कार होते है। वे इस प्रकार जानना चाहिये—

१—एक प्रकृतिक बधस्थान उपशान्तमोहादि गुणस्थान मे होता है। जब उपशान्तमोहगुणस्थान से च्युत होकर सूक्ष्मसपरायगुणस्थान मे आता है तब ज्ञानावरणपचक, अन्तरायपचक, दर्शनावरणचतुष्क, यश कीर्ति और उच्चगोत्र इन सोलह प्रकृतियो को अधिक बाधने पर सत्रह कर्मप्रकृतिक बधरूप पहला भूयस्कार होता है।

२—सूक्ष्मसपरायगुणस्थान से च्युत होकर अनिवृत्तिबादरगुण-स्थान मे प्रवेश करने पर प्रारम्भ मे सज्वलन लोभ का अधिक बन्ध होने मे अठारहप्रकृतिक बधरूप दूसरा भूयस्कार होता है।

३—उसके बाद उसी गुणस्थान मे सज्वलन माया का भी बध होने से उन्नीसप्रकृतिक बधरूप तीसरा भूयस्कार जानना चाहिए।

४—तत्पश्चात् उसी गुणस्थान मे सज्वलन मान का अधिक बध होने से बीसप्रकृतिक बधरूप चौथा भूयस्कार है।

५—तदनन्तर उसी गुणस्थान मे सज्वलन क्रोध का अधिक बध होने से इक्कीसप्रकृतिक बधरूप पाचवा भूयस्कार है।

६—वहाँ से च्युत होने पर उसी गुणस्थान मे पुरुषवेद का अधिक बध होने पर बाईसप्रकृतिक बधरूप छठा भूयस्कार होता है।

७—तत्पश्चात् अनुक्रम से अपूर्वकरणगुणस्थान मे प्रवेश करने पर भय, जुगुप्सा, हास्य और रति इन चार प्रकृतियो को अधिक बाधने पर छब्बीसप्रकृतिक बधरूप सातवा भूयस्कार होता है।

८—इसी गुणस्थान मे पूर्व से उतरकर नामकर्म की देवगति-प्रायोग्य अट्ठाईस प्रकृतियो को बाधने पर परन्तु पूर्वोक्त छब्बीस प्रकृतियो मे यश कीर्ति का समावेश होने से उस एक को कम करके शेष सत्ताईस प्रकृतियो को मिलाने से त्रेपनप्रकृतिक बधरूप आठवा भूयस्कार होता है।

९—तीर्थकरनामकर्म सहित देवगति-प्रायोग्य उनतीस प्रकृतियो को बाधने पर चौपनप्रकृतिक बधरूप नौवा भूयस्कार होता है।

१०—आहारकद्विक सहित देवगति-प्रायोग्य तीस प्रकृतियो को बाधने पर पचपनप्रकृतिक बधरूप दसवा भूयस्कार होता है।

११—आहारकद्विक और तीर्थंकरनाम सहित इकतीस प्रकृतियो को बाधने पर छप्पनप्रकृतिक बधरूप ग्यारहवा भूयस्कार होता है।

१२—तत्पश्चात् नीचे उतरने पर इसी गुणस्थान मे नामकर्म की तीस प्रकृतियो के साथ निद्राद्विक को बाधने पर सत्तावनप्रकृतिक बधरूप बारहवा भूयस्कार होता है।

१३—नामकर्म की इकतीस प्रकृतियो के साथ निद्राद्विक को बाधने पर अट्ठावनप्रकृतिक बधरूप तेरहवा भूयस्कार होता है।

१४—तत्पश्चात् अप्रमत्तसयतगुणस्थान मे प्राप्त हुई देवायु के साथ पूर्वोक्त अट्ठावन प्रकृतियो को बाधने पर उनसठप्रकृतिक बधरूप चौदहवा भूयस्कार जानना चाहिये। ये उनसठ प्रकृतिया इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणषट्क, एक वेदनीय, नौ मोहनीय, एक आयु, एक गोत्र, अतरायपचक और नामकर्म की इकतीस प्रकृतिया।

१५—वहाँ से देशविरतगुणस्थान मे आकर नामकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियो को बाधने के साथ प्रत्याख्यानावरणचतुष्क अधिक बाधने पर साठप्रकृतिक बधरूप पन्द्रहवा भूयस्कार होता है।

१६—तीर्थंकरनाम सहित नामकर्म की उनतीस प्रकृतियो को बाधने पर इकसठप्रकृतिक बधरूप सोलहवा भूयस्कार होता है। वे इकसठ प्रकृतिया इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणषट्क, एक वेदनीय, मोहनीय तेरह, आयु एक, गोत्र एक, अन्तरायपचक और नामकर्म की उनतीस प्रकृतिया।

१७—वहाँ से अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान मे आकर नामकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियो को बाधने और आयु का बध न करने एव अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क अधिक बाधने पर त्रेसठ प्रकृतियो का बधरूप सत्रहवा भूयस्कार होता है। यहाँ पूर्वोक्त इकसठ मे से आयु और तीर्थ-करनाम को कम करके अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क को जोडने से त्रेसठ प्रकृतिया होती हैं। जो इस प्रकार जानना चाहिये—ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणषट्क, एक वेदनीय, सत्रह मोहनीय, एक गोत्र, अतरायपचक और नामकर्म की अट्ठाईस प्रकृतिया।

१८—उसी अविरतसम्यग्दृष्टि के नामकर्म की उनतीस प्रकृतियो को बाधने पर चौंसठप्रकृतिक बधरूप अठारहवा भूयस्कार होता है।

१९—उसी अविरतसम्यग्दृष्टि के देवगति मे मनुष्यगति-प्रायोग्य नामकर्म की तीस प्रकृतियो के बध होने पर पैंसठप्रकृतिक बधरूप उन्नीसवा भूयस्कार होता है।

२०—उसी जीव के आयु का बध करने पर छियासठप्रकृतिक बधरूप बीसवा भूयस्कार जानना चाहिये। वे छियासठ प्रकृतिया इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणषट्क, एक वेदनीय, सत्रह मोहनीय, एक आयु, एक गोत्र, अतरायपचक और नामकर्म की तीस प्रकृतिया।

२१—उस चौथे अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान से च्युत होकर मिथ्यात्व मे गये हुए को नामकर्म की तेईस प्रकृतियो और आयु का भी बध करने एव मिथ्यात्वमोहनीय, अनन्तानुबधीचतुष्क तथा स्त्यानर्द्धित्रिक अधिक बाधने पर सडसठप्रकृतिक बधरूप इक्कीसवा भूयस्कार होता है।

२२—इसी मिथ्यादृष्टि के नामकर्म की पच्चीस प्रकृतियो का बध करने और आयु का बध नही करने से अडसठप्रकृतिक बधरूप बाई-सवा भूयस्कार होता है।

२३—उसी पच्चीस के बधक के आयु का बध करने पर उनहत्तर-प्रकृतिक बधरूप तेईसवा भूयस्कार होता है।

२४—मिथ्यादृष्टि के नामकर्म की छब्बीस प्रकृतियो का बध होने पर सत्तरप्रकृतिक बधरूप चौबीसवा भूयस्कार होता है।

२५—नामकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियो का बध करने और आयु का बध नही करने पर इकहत्तरप्रकृतिक बधरूप पच्चीसवा भूयस्कार होता है।

२६—उसी के आयु का बध करने पर बहत्तरप्रकृतिक बधरूप छब्बीसवा भूयस्कार होता है।

२७—नामकर्म की उनतीस प्रकृतियो का बध करने पर तिहत्तर-प्रकृतिक बधरूप सत्ताईसवा भूयस्कार होता है।

२८—उसी मिथ्यादृष्टि के नामकर्म की तिर्यचगति-प्रयोग्य तीस प्रकृतियो का बध होने पर चौहत्तरप्रकृतिक बधरूप अट्ठाईसवा भूयस्कार जानना चाहिये। चौहत्तर प्रकृतिया इस प्रकार है—

ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणनवक, एक वेदनीय, मोहनीय बाईस, आयु एक, गोत्र एक, अतरायपचक और नामकर्म की तीस प्रकृतिया। अधिक से अधिक एक समय मे एक जीव के चौहत्तर प्रकृतियो का बध होता है।

पूर्वोक्त भूयस्कारो मे से कितने ही भूयस्कार अन्यान्य बधस्थानो की अपेक्षा से अनेक बार होते है, परन्तु उनका एक बार ग्रहण हो जाने और अवधि के भेद मे भूयस्कार के भेदो की विवक्षा नही होने से उनको यहाँ गिना नही है। परन्तु इतना ध्यान मे रखना चाहिये कि एक भूयस्कार अनेक प्रकार से भी होता है। किन्तु मूल मे भूयस्कार तो अट्ठाईस ही होते हैं।

इस प्रकार सामान्यापेक्षा सभी कर्मो की उत्तरप्रकृतियो के बध-स्थानो के भूयस्कारबध जानना चाहिये। अब इन्ही बधस्थानो मे अल्पतरबध का विचार करते है।

अल्पतरबध—जिस क्रम से प्रकृतियो की वृद्धि करके भूयस्कार-बध का निर्देश किया, उसी क्रम से पश्चानुपूर्वी के क्रम से प्रकृतियो को कम करने पर अल्पतरबध होते है। अतएव उनतीस बधस्थानो मे अट्ठाईस अल्पतरबध जानना चाहिए। क्रमानुसार जो इस प्रकार है—

१-२—ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणनवक, एक वेदनीय, बाईस मोह-नीय, एक आयु, तीस नामकर्म, एक गोत्र और अन्तरायपचक, इन चौहत्तर प्रकृतियो का बध करके उनमे से आयु या उद्योत प्रकृति को कम करके बाधने पर तिहत्तरप्रकृतिक पहला और दोनो को न बाधने पर बहत्तरप्रकृतिक दूसरा अल्पतरबध होता है।

३—नामकर्म की अट्ठाईस और शेष छह कर्म की तेतालीस कुल इकहत्तर प्रकृतियो को बाधने पर तीसरा अल्पतर होता है।

४—एकेन्द्रिय-योग्य नामकर्म की छब्बीस, आयु और शेष छह कर्मो की तेतालीस इस प्रकार सत्तर प्रकृतियो को बाधने पर चौथा अल्पतर होता है।

५–पूर्वोक्त सत्तर प्रकृतियो मे से आयु रहित उनहत्तर प्रकृतियो को बाधने पर पाचवा अल्पतर होता है।

६—एकेन्द्रियादि योग्य पच्चीस और शेष छह कर्म की तेतालीस इस प्रकार अडसठ प्रकृतियो को बाधने पर छठा अल्पतर होता है।

७—आयु के साथ-साथ सात कर्म की चवालीस और एकेन्द्रिय-योग्य नामकर्म की तेईस प्रकृतिया इस प्रकार सडसठ प्रकृतिया बाधने पर सातवा अल्पतर होता है।

८—पूर्वोक्त मे से आयु के बिना छियासठ प्रकृतियो को बाधने पर आठवा अल्पतर जानना चाहिए। वे छियासठ प्रकृतिया इस प्रकार है—

ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणनवक, एक वेदनीय, बाईस मोहनीय, तेईस नामकर्म, एक गोत्र और अन्तरायपचक।

९—चौथे अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान मे ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणषट्क, एक वेदनीय, सत्रह मोहनीय, एक आयु, एक गोत्र, अन्तरायपचक और नामकर्म की देवगति-योग्य तीर्थंकरनाम सहित उनतीस, इस प्रकार पैसठ प्रकृतियो को बाधने पर नौवा अल्पतर होता है।

१०-११—पूर्वोक्त मे मे तीर्थकरनाम और आयु इन दोनो मे से एक कम करके चौसठ और दोनो कम करके त्रेसठ प्रकृतियो को बाधने पर चौसठप्रकृतिक और त्रेसठप्रकृतिक दसवा और ग्यारहवा अल्पतर होता है।

१२—पाचवे गुणस्थान मे ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणषट्क, एक वेदनीय, तेरह मोहनीय, एक आयु, एक गोत्र, अन्तरायपचक और नामकर्म की उनतीस, इस प्रकार इकसठ प्रकृतियो को बाधने पर बारहवा अल्पतर होता है।

१३-१४—पूर्वोक्त मे मे तीर्थंकर और आयु मे से एक-एक कम

करने पर साठ का और दोनो को कम करने पर उनसठ का वधरूप तेरहवा और चौदहवा अल्पतर होता है।

१५-१८—सातवे गुणस्थान मे ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणषट्क, एक वेदनीय, नौ मोहनीय, एक आयु, अन्तरायपचक और तीर्थंकर-नाम एव आहारकद्विक सहित नामकर्म की इकतीस प्रकृतिया, इस प्रकार अट्ठावन प्रकृतियो का बध होने पर पन्द्रहवा और तीर्थंकरनाम के बध बिना सत्तावन प्रकृतियो का बध करने पर सोलहवा, तीर्थंकरनाम का बध और आहारकद्विक को नही बाधकर छप्पन प्रकृतियो का बध होने पर सत्रहवा तथा तीनो के बिना पचपन का बध होने पर अठारहवा अल्पतर जानना चाहिये।

१९-२०—आठवे गुणस्थान मे ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणचतुष्क, एक वेदनीय, नौ मोहनीय, एक गोत्र, अन्तरायपचक और नामकर्म की तीर्थंकरनाम के साथ देवगति-प्रायोग्य उनतीस इस प्रकार चौपन प्रकृतियो का बध होने पर उन्नीसवा एव तीर्थंकरनाम के बिना त्रेपन प्रकृतियो का बध होने पर बीसवा अल्पतर होता है।

२१—आठवे गुणस्थान के सातवे भाग मे ज्ञानावरणपचक, दर्शना-वरणचतुष्क, एक वेदनीय, नौ मोहनीय, एक गोत्र, अन्तरायपचक और नामकर्म की यश कीर्ति रूप एक, इस प्रकार छब्बीस प्रकृतियो का बध होने पर इक्कीसवा अल्पतर होता है।

२२-२८—नौवे गुणस्थान मे ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणचतुष्क, एक वेदनीय, पाच मोहनीय, एक नाम, एक गोत्र और अन्तरायपचक इस प्रकार बाईस प्रकृतियो का बध होने पर बाईसवा अल्पतर, पुरुष-वेद विना इक्कीस का बध होने पर तेईसवा अल्पतर, सज्वलन क्रोध बिना बीस का बध होने पर चौबीसवा अल्पतर, मान के बिना उन्नीस प्रकृतियो का बध होने पर पच्चीसवा अल्पतर, माया के विना अठारह प्रकृतियो का बध होने पर छब्बीसवा अल्पतर, लोभ के विना दसवे

गुणस्थान मे सत्रह प्रकृतियो का बध होने पर सत्ताईसवा अल्पतर एव ग्यारहवे गुणस्थान मे एक सातावेदनीय का बध होने से अट्ठाईसवा अल्पतर होता है।

इस प्रकार सामान्य से सभी कर्मो की उत्तरप्रकृतियो के बधस्थानो मे अट्ठाईस अल्पतरबध जानना चाहिये।

अवस्थित और अवक्तव्य बंध—'बधस्थानो के समान सर्वत्र अवस्थित बध होते है' इस नियम के अनुसार अवस्थितबध उनतीस है तथा यहाँ अवक्तव्यबध घटित नही होता है। इसका कारण यह है कि समस्त उत्तरप्रकृतियो का अबाध अयोगिकेवलिगुणस्थान मे होता है, किन्तु वहाँ से प्रतिपात नही होने से अवक्तव्यबध घटित नही होता है।

इस प्रकार से ज्ञानावरणादि कर्मो की अपनी-अपनी उत्तरप्रकृतियो के और सामान्य मे सभी उत्तरप्रकृतियो के बधस्थानो मे भूयस्कार आदि बध जानना चाहिये। अब उदयस्थानो मे भूयस्कार आदि के विचार का अवसर प्राप्त है। यह विचार दो प्रकारो से किया जायेगा। पहला ज्ञानावरणादि एक-एक कर्म की उत्तरप्रकृतियो के उदयस्थानो की अपेक्षा से और दूसरा सामान्य से सभी प्रकृतियो के उदयस्थानो की अपेक्षा। उनमे से पहले एक-एक ज्ञानावरणादि कर्मो की उत्तरप्रकृतियो के उदयस्थानो का विचार करते है।

ज्ञानावरणादि की उत्तरप्रकृतियो के उदयस्थान

ज्ञानावरण, वेदनीय, आयु, गोत्र और अन्तराय इन पाचो कर्मो मे एक-एक उदयस्थान होता है। जो इस प्रकार समझना चाहिये—

ज्ञानावरण और अन्तराय इन दोनो कर्मो की पाचो उत्तरप्रकृतियो का प्रति समय उदय होने से पाच-पाच प्रकृतियो का समूह रूप एक-एक उदयस्थान है तथा वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म की एक-एक प्रकृति ही उदयप्राप्त होने से उनका एक-एक उदयस्थान जानना

चाहिये। क्योकि इनकी उत्तरप्रकृतिया परस्पर परावर्तमान होने से एक साथ दो, तीन उदय को प्राप्त नही होती है, किन्तु एक समय मे किसी एक का ही उदय होता है।

दर्शनावरण—दर्शनावरणकर्म के दो उदयस्थान है—चारप्रकृतिक और पाचप्रकृतिक। यदि चार हो तो चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शनावरण ये चार प्रकृतिया और यदि पाच हो तो पाच निद्राओ मे से किसी एक निद्रा को मिलाने पर पाच प्रकृतिया उदय मे होती है। परन्तु निद्राएँ अध्रुवोदया है और परस्पर विरुद्ध होने से किसी समय निद्रा का उदय नही भी होता है और जब हो तब पाच मे से किसी एक का उदय होता है। जिससे दर्शनावरणकर्म के यही दो उदयस्थान सम्भव है।[1]

दर्शनावरणकर्म के इन दो उदयस्थानो मे से चार मे पाच के उदय मे जाने पर एक भूयस्कार और पाच से चार के उदय मे जाने पर एक अल्पतर होता है। अवस्थितोदय दो है क्योकि दोनो उदय-

---

१ गो कर्मकाण्ड गा० ४६१ मे दर्शनावरणकर्म के उदयस्थानो और उनके स्वामियो को विशेषता के साथ स्पष्ट करते हुए इस प्रकार बतलाया है—

> खीणोत्ति चारि उदया पचसु णिद्दासु दोसु णिद्दासु।
> एक्के उदय पत्ते खीणदुचरिमोत्ति पचुदया॥ ४६१॥

अर्थात् दर्शनावरण की चक्षुदर्शनावरणादि चार प्रकृतियो का उदय रूप स्थान जागृतावस्थान वाले क्षीणकषायगुणस्थान पर्यन्त होता है और निद्रावान जीव के प्रमत्तगुणस्थान पर्यन्त पाच निद्राओ मे से एक का उदय होने पर पाच प्रकृति रूप स्थान तथा क्षीणकपाय के अन्त के समीप के समय तक निद्रा और प्रचला इन दो निद्राओ मे से एक का उदय होने पर दर्शनावरण का पाच प्रकृति रूप उदयस्थान जानना चाहिए।

स्थान अमुक काल तक उदय मे प्रवर्तमान रहते है। अवक्तव्योदय सर्वथा घटित नही होता है। क्योंकि दर्शनावरणकर्म की सभी प्रकृतियो का उदयविच्छेद क्षीणमोहगुणस्थान मे होता है, किन्तु वहाँ से पतन नही होने के कारण पुन उसकी किसी भी प्रकृति का उदय नही होता है।

मोहनीय—मोहनीयकर्म के नौ उदयस्थान है—एकप्रकृतिक, दोप्रकृतिक, चारप्रकृतिक, पाचप्रकृतिक, छहप्रकृतिक, सातप्रकृतिक, आठप्रकृतिक, नौप्रकृतिक और दसप्रकृतिक।[1] इन सभी उदयस्थानो का आगे सप्ततिकाप्रकरण मे विस्तार से विचार किया जा रहा है। लेकिन प्रासगिक होने के कारण एव सरलता से समझने ने लिये सक्षेप मे यहाँ उनका निर्देश करते है—

जहाँ केवल चार सज्वलन कषायो मे से किसी एक प्रकृति का उदय रहता है, वहाँ एकप्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसमे तीन वेदो मे से किसी एक को मिलाने पर दोप्रकृतिक, इसमे हास्य-रतियुगल अथवा अरति शोकयुगल मे से किसी एक युगल को मिलाने पर चारप्रकृतिक, इसमे भयप्रकृति को मिला देने पर पाचप्रकृतिक, इसमे जुगुप्सा प्रकृति को मिला देने पर छहप्रकृतिक, इसमे प्रत्याख्यानावरणकषाय की किसी एक प्रकृति को मिला देने पर सातप्रकृतिक, इसमे अप्रत्याख्यानावरणकषाय की एक प्रकृति को मिला देने पर आठप्रकृतिक, इसमे अनन्तानुबधिकषायचतुष्क मे से किसी एक प्रकृति को मिला देने पर नौप्रकृतिक और इसमे मिथ्यात्व को मिला देने पर दसप्रकृतिक उदयस्थान होता है।

यह कथन सामान्य से किया गया है। इसलिये इन उदयस्थानो मे सभव विकल्पो को न बताकर सूचनामात्र की है। अब इन उदय-

---

१ दिगम्बर परम्परा मे भी इसी प्रकार मोहनीयकर्म के नौ उदयस्थान बतलाये हैं। गो कर्मकाण्ड गा ४७५।

स्थानो मे भूयस्कर आदि प्रकारो का निर्देश करते है कि इन नौ स्थानो मे आठ भूयस्कार, आठ अल्पतर, नौ अवस्थित तथा पाच अवक्तव्योदय होते हैं। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मोहनीय के नौ उदयस्थानो मे एक के उदयस्थान से उत्तरोत्तर क्रमश दो आदि के उदयस्थान मे जाने पर आठ भूयस्कार होते हैं तथा इसी प्रकार दस आदि उदयस्थान से नौ आदि के उदयस्थानो मे क्रमश नीचे-नीचे आने पर आठ अल्पतर समझ लेना चाहिये तथा उदयस्थानो के नौ होने से अवस्थितोदय नौ हैं। क्योकि प्रत्येक उदय-स्थान अमुक काल तक उदय मे हो सकता है।

अवक्तव्योदय पाच है—एक, छह, सात, आठ और नौ प्रकृतिक। इनमे से उपशातमोहगुणस्थान से अद्धाक्षय से च्युत होकर सूक्ष्मसप-रायगुणस्थान मे प्रवेश करने पर प्रथम समय मे सज्वलन लोभ का उदय होता है, तब पहले समय मे सज्वलन लोभरूप एकप्रकृतिक अवक्तव्योदय होता है। जब उपशातमोहगुणस्थान से भवक्षय होने के कारण च्युत होकर अविरतसम्यग्दृष्टि देव होता है, तब पहले समय मे यदि वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो और भय, जुगुप्सा का उदय न हो तो उस पहले समय मे अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्व-लन क्रोधादि मे से किन्ही भी क्रोधादि तीन, पुरुषवेद और हास्य-रति युगल[1] ये छह प्रकृतिया उदय मे आती है। इस प्रकार छह प्रकृति का उदय रूप दूसरा अवक्तव्योदय होता है। यदि वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि न हो तो पहले समय मे सम्यक्त्वमोहनीय का वेदन करता है।[2]

---

१ देवगति मे भव के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त हास्य-रति का ही उदय होता है। इसीलिये यहाँ हास्य-रति ये दो प्रकृतिया ग्रहण की हैं।

२ किन्ही-किन्ही आचार्यो का मत है कि ग्यारहवें गुणस्थान से जो भवक्षय से गिरता है वह अनुत्तर विमान मे उत्पन्न होता है और भव के प्रथम समय

जिससे सम्यक्त्वमोहनीय सहित सात प्रकृत्यात्मक तीसरा अवक्तव्योदय होता है। अथवा यदि क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो और भय या जुगुप्सा इन दो मे से किसी भी एक का अनुभव करे तो भी सात प्रकृति का उदय रूप तीसरा अवक्तव्योदय होता है तथा जब क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टि भय या जुगुप्सा इन दो मे से किसी भी एक का अनुभव करे तब अथवा क्षायिकसम्यग्दृष्टि भय और जुगुप्सा इन दोनो का युगपत् अनुभव करे तब आठप्रकृतिक उदयरूप चौथा अवक्तव्योदय होता है। क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टि भय और जुगुप्सा इन दोनो का एक साथ अनुभव करता हो तब नौप्रकृतिक उदयरूप पाचवा अवक्तव्योदय होता है।

इस प्रकार मोहनीयकर्म के पाच अवक्तव्योदय जानना चाहिये और इसके साथ ही मोहनीयकर्म के उदयस्थान एव उनमे भूयस्कार आदि उदयो का कथन पूर्ण होता है।

नामकर्म—अब नामकर्म के उदयस्थान और उनमे भूयस्कार आदि उदयो का विवेचन करते है।

नामकर्म के बारह उदयस्थान इस प्रकार है—१—वीसप्रकृतिक २—इक्कीसप्रकृतिक ३—चौबीसप्रकृतिक ४—पच्चीसप्रकृतिक ५—छब्बीसप्रकृतिक ६—सत्ताईसप्रकृतिक ७—अट्ठाईसप्रकृतिक

मे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है। पूर्वभव की उपशमश्रेणि का सम्यक्त्व यहाँ नही लाता है। इसलिये लिखा है कि जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि न हो तो वह पहले समय मे सम्यक्त्वमोहनीय का वेदन करता है तथा एक ऐसा भी मत है कि उपशमश्रेणि का उपशमसम्यक्त्व लेकर अनुत्तर विमान मे उत्पन्न होता है, उसके अनुसार उदयस्थान और अवक्तव्योदय क्षायिक सम्यग्दृष्टि की तरह घटित होता है।

८—उनतीसप्रकृतिक ६—तीसप्रकृतिक १० इकतीसप्रकृतिक ११—नौप्रकृतिक और १२—आठप्रकृतिक ।[1] जो इस प्रकार हैं—

१—नामकर्म की बारह ध्रुवोदया प्रकृतियो मे मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय और यशःकीर्ति इन आठ प्रकृतियो को मिलाने से बीसप्रकृतिक उदयस्थान बनता है। यह उदयस्थान समुद्घातगत अतीर्थकेवलि के कार्मणकाययोग के समय होता है।

नामकर्म के इक्कीसप्रकृतिक आदि उदयस्थान अनेक जीवो की अपेक्षा अनेक प्रकार से बनते है। जो इस प्रकार जानना चाहिये।

२—(क) नामकर्म की बारह ध्रुवोदया प्रकृतियो के साथ तिर्यंचगतिद्विक, स्थावर, एकेन्द्रियजाति, बादर-सूक्ष्म मे से एक, पर्याप्त-अपर्याप्त मे से एक, दुर्भग, अनादेय तथा यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति मे से कोई एक, इन नौ प्रकृतियो को मिलाने पर इक्कीसप्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह उदयस्थान भव के अन्तरालगति मे विद्यमान एकेन्द्रिय जीव के होता है।

(ख) ध्रुवोदया बारह प्रकृतियो के साथ तिर्यंचगतिद्विक, द्वीन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त-अपर्याप्त मे से कोई एक, दुर्भग, अनादेय तथा यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति मे से कोई एक, इन नौ प्रकृतियो के मिलाने पर इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह उदयस्थान भव के अपान्तराल मे विद्यमान द्वीन्द्रिय जीव के प्राप्त होता है।

इसी प्रकार त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवो का भी इक्कीसप्रकृतिक उदयस्थान जानना चाहिये किन्तु द्वीन्द्रियजाति के स्थान पर

---

१ गो कर्मकाण्ड गाथा ५६२ मे भी नामकर्म के इसी प्रकार से बारह उदयस्थान बताये हैं—

> वीस इगचउवीस तत्तो इगितीसओत्ति एयधिय।
> उदयट्ठाणा एव णव अट्ठ य होंति णामस्स ॥

त्रीन्द्रिय जीवो के लिये त्रीन्द्रियजाति का और चतुरिन्द्रिय जीवो के लिये चतुरिन्द्रियजाति का उल्लेख करना चाहिये।

(ग) ध्रुवोदया बारह प्रकृतियो के साथ तिर्यंचगतिद्विक, पचेन्द्रिय-जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त-अपर्याप्त मे से एक, सुभग-दुर्भग मे से एक, आदेय-अनादेय मे मे एक, यश कीर्ति-अयश कीर्ति मे से एक, इन नौ प्रकृतियो को मिलाने पर इक्कीसप्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह उदयस्थान भव के अपान्तरालगति मे विद्यमान तिर्यंचपचेन्द्रिय के होता है।

(घ) तिर्यंचपचेन्द्रिय के समान सामान्य मनुष्य का इक्कीसप्रकृतिक उदयस्थान जानना चाहिये। किन्तु मनुष्य के लिए तिर्यंचगतिद्विक के स्थान मे मनुष्यगतिद्विक का उदय कहना चाहिये। शेष प्रकृतियो के नाम पूर्ववत् है।

(ङ) पूर्व मे बताये गये अतीर्थंकेवली के बीसप्रकृतिक उदयस्थान मे तीर्थंकर प्रकृति को मिला देने पर इक्कीसप्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(च) नामकर्म की ध्रुवोदया बारह प्रकृतियो के साथ देवगतिद्विक, पचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग-दुर्भग मे से एक, आदेय-अनादेय मे से एक, यश कीर्ति-अयश कीर्ति मे से एक, इन नौ प्रकृतियो को मिलाने पर देवगति-प्रायोग्य इक्कीसप्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(छ) नामकर्म की ध्रुवोदया बारह प्रकृतियो के साथ नरकगति-द्विक, पचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, दुर्भग, अनादेय और अयश-कीर्ति इन नौ प्रकृतियो को मिलाने पर नरकगति-प्रायोग्य इक्कीस-प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

३—पूर्वोक्त एकेन्द्रिय-प्रायोग्य इक्कीसप्रकृतिक उदयस्थान मे से तिर्यंचगत्यानुपूर्वी को कम करके औदारिकशरीर, हुण्डसस्थान, उप-घात और प्रत्येक-साधारण मे से कोई एक, इन चार प्रकृतियो को

मिला देने पर चौबीसप्रकृतिक उदयस्थान होता है । यह स्थान शरीरस्थ एकेन्द्रिय जीव के जानना चाहिये ।

वायुकायिक जीव भी एकेन्द्रिय है । उनके वैक्रियशरीर को करते समय औदारिकशरीर के स्थान मे वैक्रियशरीर होता है । अत उनके औदारिकशरीर के स्थान पर वैक्रियशरीर के साथ भी चौबीसप्रकृतिक उदयस्थान जानना चाहिये तथा उनके मात्र बादर, पर्याप्त, प्रत्येक और अयश कीर्ति ये प्रकृतिया ही कहना चाहिये । क्योकि तेज और वायुकायिक जीवो के साधारण और यश कीर्ति का उदय नही होता है ।

४—(क) शरीरस्थ एकेन्द्रिय जीव के चौबीसप्रकृतिक उदयस्थान मे शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त हो जाने के बाद पराघात प्रकृति को मिला देने पर पच्चीसप्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(ख) पूव मे कहे गये तिर्यचपचेन्द्रिय के इक्कीसप्रकृतिक उदयस्थान मे वैक्रियशरीर को करने वाले तिर्यचपचेन्द्रियो की अपेक्षा वैक्रियशरीर, वैक्रिय-अगोपाग, समचतुरस्रसस्थान, उपघात और प्रत्येक इन पाच प्रकृतियो को मिलाने और तिर्यचगत्यानुपूर्वी को कम करने पर पच्चीसप्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(ग) नामकर्म की बारह ध्रुवोदया प्रकृतियो के साथ मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, वैक्रियद्विक, समचतुरस्रसस्थान, उपघात, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, सुभग-दुर्भग मे मे एक, आदेय-अनादेय मे से एक, यश कीर्ति-अयश कीर्ति मे से एक इन तेरह प्रकृतियो को मिलाने से वैक्रियशरीर को करने वाले मनुष्यो की अपेक्षा पच्चीसप्रकृतिक उदयस्थान होता है ।[1]

---

१ गो कर्मकाण्ड मे वैक्रियशरीर और वैक्रिय-अगोपाग का उदय देव, नारको के ही बताया है, मनुष्य-तिर्यंचो के नही । इसलिये वहाँ वैक्रियशरीर की अपेक्षा मनुष्यो, वायुकायिक और पचेन्द्रियतिर्यंचो मे उदयस्थानो का निर्देश नही किया है ।

(घ) पूर्व मे कही गई मनुष्यगति मे उदययोग्य इक्कीस प्रकृतियो के साथ आहारकद्विक, समचतुरस्रसस्थान, उपघात और प्रत्येक इन पाच प्रकृतियो को मिलाने और मनुष्यगत्यानुपूर्वी को कम करने पर आहारक सयतो की अपेक्षा पच्चीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(ङ) पूर्व मे देवो मे कहे गये इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थान मे से देवगत्यानुपूर्वी को कम करके वैक्रियद्विक, उपघात, प्रत्येक और समचतुरस्रसस्थान इन पाच प्रकृतियो को मिलाने पर शरीरस्थ देव की अपेक्षा पच्चीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(च) शरीरस्थ नारक की अपेक्षा पूर्वोक्त इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थानो मे से नरकगत्यानुपूर्वी को कम करके वैक्रियशरीरद्विक, हुण्डसस्थान, उपघात और प्रत्येक इन पाच प्रकृतियो को मिलाने पर पच्चीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

५—(क) एकेन्द्रियप्रायोग्य पूर्वोक्त पच्चीस प्रकृतिक उदयस्थान मे प्राणापानपर्याप्ति मे पर्याप्त हुए जीव की अपेक्षा उच्छ्‌वासनाम को मिलाने पर छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। अथवा शरीर-पर्याप्ति गे पर्याप्त हुए जीव के उच्छ्‌वास का उदय न होकर आतप और उद्योत मे से किसी एक का उदय होता है तब उसके भी छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान प्राप्त होता है तथा वादर वायुकायिक के वैक्रिय-शरीर को करते समय उच्छ्‌वासपर्याप्ति से पर्याप्त होने पर पच्चीस प्रकृतियो मे उच्छ्‌वास के मिलाने पर छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(ख) द्वीन्द्रियप्रायोग्य इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थान मे औदारिक-द्विक, हुण्डसस्थान, सेवार्तसहनन, उपघात और प्रत्येक इन छह प्रकृतियो को मिलाने एव तिर्यंचगत्यानुपूर्वी को कम करने पर शरीरस्थ द्वीन्द्रिय जीव की अपेक्षा छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसी प्रकार शरीरस्थ त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव की अपेक्षा भी छब्बीस

प्रकृतिक उदयस्थान जानना चाहिये। किन्तु द्वीन्द्रियजाति के स्थान पर त्रीन्द्रिय के लिये त्रीन्द्रियजाति और चतुरिन्द्रिय के लिये चतुरिन्द्रिय-जाति कहना चाहिए।

(ग) तिर्यचपचेन्द्रियप्रायोग्य इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थान मे से तिर्यचगत्यानुपूर्वी को कम करके औदारिकद्विक, छह सस्थानो मे से कोई एक सस्थान, छह सहननो मे से कोई एक सहनन, उपघात और प्रत्येक इन छह प्रकृतियो को मिलाने से शरीरस्थ तिर्यचपचेन्द्रिय योग्य छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(घ) पूर्वोक्त तिर्यचपचेन्द्रियप्रायोग्य छब्बीस प्रकृतिक उदय-स्थान की तरह सामान्य मनुष्य का छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान समझना चाहिये। यहाँ मनुष्यगत्यानुपूर्वी को कम करके औदारिकद्विक आदि छह प्रकृतिया मिलाना चाहिये।

(ङ) पूर्व मे कहे गये अतीर्थ केवली के बीस प्रकृतिक उदयस्थान मे भी औदारिकशरीर, औदारिकअगोपाग, छह सस्थानो मे से कोई एक सस्थान, वज्रऋषभनाराचसहनन, उपघात और प्रत्येक इन छह प्रकृतियो को मिलाने से भी मनुष्यप्रायोग्य छब्बीस प्रकृतिक उदय-स्थान होता है। यह स्थान अतीर्थकर केवली के औदारिकमिश्रकाय-योग के समय होता है।

६—(क) एकेन्द्रियप्रायोग्य छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान मे प्राणा-पानपर्याप्ति से पर्याप्त जीव के आतप और उद्योत मे मे किसी एक प्रकृति को मिलाने से सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(ख) वैक्रियशरीर को करने वाले तिर्यंच पचेन्द्रिय जीवो के पच्चीस प्रकृतिक उदयस्थान मे शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीवो के पराघात और प्रशस्त विहायोगति के मिलाने से सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(ग) वैक्रियशरीर करने वाले मनुष्यो के पच्चीस प्रकृतिक उदयस्थान मे शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीवो के पराघात और प्रशस्त-विहायोगति के मिलाने से मनुष्यो की अपेक्षा सत्ताईस प्रकृतिक उदय स्थान जानना चाहिये।

(घ) आहारक सयत के पच्चीस प्रकृतिक उदयस्थान मे शरीर-पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के पराघात और प्रशस्त विहायोगति इन दो प्रकृतियो के मिलाने से आहारक मनुष्यो की अपेक्षा सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(ङ) अतीर्थंकर केवली के छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान मे तीर्थंकर प्रकृति को मिलाने से भी सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान जानना चाहिये।

(च) देवो के पच्चीस प्रकृतिक उदयस्थान मे शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के पराघात और प्रशस्त विहायोगति के मिलाने से देवो की अपेक्षा सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(छ) नारको के पच्चीस प्रकृतिक उदयस्थान मे शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के पराघात और अप्रशस्त विहायोगति के मिलाने से नारको की अपेक्षा सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

७—(क) शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त हुए द्वीन्द्रिय जीवो के पूर्वोक्त छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान मे अप्रशस्त विहायोगति और पराघात इन दो प्रकृतियो को मिलाने से द्वीन्द्रियप्रायोग्य अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसी प्रकार त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवो का भी अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान जानना चाहिये। किन्तु वहाँ त्रीन्द्रिय-जाति, चतुरिन्द्रियजाति कहना चाहिये।

(ख) तिर्यंच पचेन्द्रियो के छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान मे शरीर-पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीवो की अपेक्षा पराघात और प्रशस्त और

अप्रशस्त विहायोगति मे से कोई एक को मिलाने पर अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(ग) वैक्रियशरीर को करने वाले तिर्यंच पचेन्द्रिय जीवो के सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान मे प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीवो के उच्छ्वास को मिला देने पर अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। अथवा शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के यदि उद्योत का उदय हो तो भी अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(घ) तिर्यंच पचेन्द्रिय के अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान की तरह सामान्य मनुष्य का भी अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान जानना चाहिये। किन्तु तिर्यंचगतिद्विक के स्थान पर मनुष्यगतिद्विक कहना चाहिये।

(ङ) वैक्रियशरीर को करने वाले मनुष्य के सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान मे प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के उच्छ्वास मिलाने पर अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। अथवा उत्तर वैक्रियशरीर को करने वाले सयतो के शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त होने पर पूर्वोक्त सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान मे उद्योत को मिलाने से अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान होता।

(च) आहारक सयतो के सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान मे प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के उच्छ्वास को मिलाने से अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। अथवा शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त जीव के पूर्वोक्त सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान मे उद्योत को मिलाने पर अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(छ) अतीर्थंकर केवली के उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान मे से उच्छ्वास का निरोध होने पर उसे कम करने से अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(ज) देवो के सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान मे प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीवो के उच्छ्वास को मिला देने पर अट्ठाईस प्रकृतिक

उदयस्थान होता है । अथवा शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीवो के पूर्वोक्त सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान मे उद्योत को मिलाने पर अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(झ) नरकगतिप्रायोग्य सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान मे प्राणापान-पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के उच्छ्वास को मिला देने पर अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

८—(क) द्वीन्द्रिय जीवो के अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान मे श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति से पर्याप्त होने पर उच्छ्वास प्रकृति को मिलाने पर उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। अथवा शरीर-पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के उद्योत का उदय होने पर उच्छ्वास के बिना उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसी प्रकार त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवो का भी उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान जानना चाहिये। किन्तु वहाँ त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवो के लिए क्रमशः त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति कहना चाहिये।

(ख) तिर्यंच पचेन्द्रिय के अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान मे प्राणा-पानपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव की अपेक्षा उच्छ्वास को मिला देने पर उनतीस प्रकृतियो का उदयस्थान होता है। अथवा शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के उच्छ्वास का उदय न होने से उसके स्थान पर उद्योत को मिला देने पर उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(ग) वैक्रियशरीर को करने वाले तिर्यंच पचेन्द्रियो के भाषा-पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव की उच्छ्वास सहित अट्ठाईस प्रकृतियो मे सुस्वर को मिलाने पर अथवा प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के उच्छ्वास सहित अट्ठाईस प्रकृतियो मे उद्योत को मिलाने से उन-तीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(घ) तिर्यंच पचेन्द्रिय के उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान की तरह सामान्य मनुष्य का भी उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान समझना चाहिये।

परन्तु तिर्यचगतिद्विक के स्थान पर मनुष्यगतिद्विक कहना चाहिये। यहाँ उद्योत का उदय नही होता है ।

(ङ) वैक्रियशरीर करने वाले मनुष्य के भाषापर्याप्ति मे पर्याप्त होने पर उच्छ्वास सहित अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान मे सुस्वर को मिलाने पर उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है । अथवा सयतो के स्वर के स्थान पर उद्योत को मिलाने से उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(च) भाषापर्याप्ति से पर्याप्त हुए आहारक सयत जीव के उच्छ्-वास सहित अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान मे सुस्वर के मिलाने से अथवा प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के स्वर के स्थान पर उद्योत को मिलाने से उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(छ) अतीर्थंकर केवली के तीर्थंकर नाम का उदय नही होता है। अत तीस प्रकृतिक उदयस्थान मे से तीर्थंकर नाम को कम करने पर उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है तथा तीर्थंकर केवली जब उच्छ्वास का निरोध करते है तब उच्छ्वास का उदय नही रहता, जिससे उनके तीस प्रकृतिक उदयस्थान मे से उच्छ्वास को कम करने पर उनके उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(ज) भाषापर्याप्ति से पर्याप्त हुए देवो के उच्छ्वास सहित अट्ठा-ईस प्रकृतिक उदयस्थान मे सुस्वर को मिलाने से उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है । अथवा प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्त हुए के उच्छ्वास सहित अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान मे उद्योत को मिलाने मे उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

(झ) भाषापर्याप्ति से पर्याप्त हुए नारक के अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान मे दु स्वर को मिला देने पर उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है ।

६—(क) भाषापर्याप्ति से पर्याप्त हुए द्वीन्द्रिय जीव के उच्छ्वास सहित उनतीस प्रकृतियों में सुस्वर या दु स्वर को मिलाने से तीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। अथवा प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्त हुए के स्वर का उदय न होकर यदि उद्योत का उदय हो गया हो तो भी तीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसी प्रकार त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के लिए भी जानना चाहिये।

(ख) तिर्यंच पचेन्द्रिय जीव के उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान मे भाषापर्याप्ति से पर्याप्त हुए के सुस्वर या दु स्वर के मिलाने से तीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। अथवा प्राणापानपर्याप्ति मे पर्याप्त के उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान मे उद्योत को मिला देने पर तीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(ग) वैक्रियशरीर करने वाले तिर्यंच पचेन्द्रिय के सुस्वर सहित उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान मे उद्योत को मिलाने पर तीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(घ) सामान्य मनुष्यो के भी पचेन्द्रिय तिर्यंच के समान तीस प्रकृतिक उदयस्थान जानना चाहिये। परन्तु यहाँ उद्योत रहित कहना चाहिये। क्योंकि वैक्रिय और आहारक सयतो के सिवाय सामान्य मनुष्य के उद्योत का उदय नही होता है तथा तिर्यंचगतिद्विक के स्थान पर मनुष्यगतिद्विक कहना चाहिये।

(ङ) वैक्रिय शरीर को करने वाले मनुष्यो के सुस्वर सहित उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान मे सयतो के उद्योत का उदय होने मे उसको मिलाने पर तीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(च) आहारक सयतो मे भाषापर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के स्वर सहित उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान मे उद्योत को मिलाने पर तीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।[1]

---

[1] दिगम्बर पचसग्रह सप्ततिका अधिकार गा १७० मे आहारक शरीर के उदय वाले विशेष मनुष्यो के २५, २७, २८ और २९ प्रकृतिक ये चार

(छ) अतीर्थंकर केवली के छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान मे पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्त अथवा अप्रशस्त विहायोगति मे से एक, सुस्वर-दु स्वर मे से एक इस प्रकार चार प्रकृतियो को मिलाने से तीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह अतीर्थंकर सयोगिकेवली के औदारिककाय-योग के समय होता है तथा जब तीर्थंकर केवली वाग्योग का निरोध करते है तब उनके स्वर का उदय नही होता है, अत उनके इकतीस प्रकृतिक उदयस्थान मे से एक प्रकृति कम कर देने पर तीर्थंकर केवली के तीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(ज) भाषापर्याप्ति से पर्याप्त हुए देव के सुस्वर सहित उनतीस प्रकृतिक उदयस्थान मे उद्योत के मिलाने पर तीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

१०—(क) द्वीन्द्रिय जीवो के स्वर सहित तीस प्रकृतिक उदयस्थान मे उद्योत को मिलाने पर इकतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवो के लिए भी इसी प्रकार जानना चाहिये। किन्तु त्रीन्द्रियजाति और चतुरिन्द्रियजाति का उल्लेख करना चाहिये।

उदयस्थान बतलाये हैं। इसका कारण गो कर्मकाण्ड गा २६७ से ज्ञात होता है कि पाचवें गुणस्थान तक के जीवो के ही उद्योत प्रकृति का उदय होता है तथा उसी की गाथा २८९ से यह भी ज्ञात होता है कि उद्योत का उदय तिर्यंचगति मे ही होता है। इसी से आहारक सयतो के २५, २७, २८ और २९ प्रकृतिक ये चार उदयस्थान बतलाये हैं। इनमे से २५ और २७ प्रकृतिक उदयस्थान तो यहाँ बतलाये गये अनुसार जानना चाहिये और २८ प्रकृतिक उदयस्थान उच्छ्वासप्रकृति के उदय से और २९ प्रकृतिक उदयस्थान सुस्वरप्रकृति के उदय से होता है।

एमेवट्ठावीस आणापज्जत्तयस्स उस्सास ॥
एमेऊणत्तीस भासापज्जत्तयस्स सुस्सरय ॥

—दि पचसग्रह सप्ततिका अधिकार गा १७४, १७५

(ख) तिर्यंच पंचेन्द्रियों के स्वर सहित तीस प्रकृतिक उदयस्थान में उद्योत को मिलाने पर इकत्तीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

(ग) अतीर्थंकर केवली के तीस प्रकृतिक उदयस्थान में तीर्थंकर-नाम को मिलाने पर केवली भगवान के इकत्तीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह स्थान तीर्थंकर सयोगिकेवली के औदारिककाययोग के समय होता है।

११—तीर्थंकर केवली के मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति और तीर्थंकरनाम यह नौ प्रकृतिक उदयस्थान है। जो अयोगिकेवलीगुणस्थान में प्राप्त होता है।

१२—पूर्वोक्त नौ प्रकृतिक उदयस्थान में से तीर्थंकरनाम को कम कर देने पर आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह अतीर्थंकर केवली के अयोगिकेवलीगुणस्थान में प्राप्त होता है।

इस प्रकार नामकर्म के बारह उदयस्थान विभिन्न जीवों की अपेक्षा अनेक प्रकार से बनते हैं।[1] अब इन बारह उदयस्थानों में भूयस्कार आदि उदयों का विचार करते हैं।

भूयस्कारोदय—नामकर्म के बारह उदयस्थानों में आठ भूयस्कार होते हैं। क्योंकि बीस के उदयस्थान से इक्कीस के उदयस्थान में, आठ

---

1 नामकर्म के उपर्युक्त २०, २१ आदि प्रकृतिक बारह उदयस्थानों के स्वामियों का गो० कर्मकांड गाथा ५९३ से ५९८ तक सामान्य और विशेष से कथन किया है। जिसका संक्षिप्त सारांश इस प्रकार है—

२१ के स्थान के चारों गति के जीव स्वामी हैं, २४ के एकेन्द्रिय, २५ के विशेष मनुष्य, देव, नारक, एकेन्द्रिय, २६ के एकेन्द्रिय आदि पंचेन्द्रिय तक सामान्य जीव, २७ के विशेष मनुष्य, देव, नारक, एकेन्द्रिय, २८ और २९ के सामान्य मनुष्य, पंचेन्द्रिय, तिर्यंचेन्द्रिय, विशेष मनुष्य, देव और नारक, ३० के पंचेन्द्रिय, तिर्यंचेन्द्रिय तथा ९ और ८ के स्थान के अयोगिकेवली स्वामी हैं।

—→

के उदयस्थान से नौ के उदयस्थान मे एव नौ के उदयस्थान से बीस के उदयस्थान मे कोई नही जाता है। क्योकि बीस और आठ का उदयस्थान सामान्य केवली के और नौ का उदयस्थान तीर्थंकर केवली के होता है। सामान्य केवली के उदयस्थान से तीर्थकर केवली के उदयस्थान मे अथवा तीर्थंकर केवली के उदयस्थान मे सामान्य केवली के उदयस्थान मे कोई भी जीव जाने वाला न होने से उनके भूयस्कार नही होते हैं। किन्तु इक्कीस के उदयस्थान से प्रारम्भ कर यथायोग्य रीति से ससार मे अथवा समुद्घात मे चौबीस आदि उदयस्थान मे जाते है। अतएव आठ भूयस्कार होते है।

भिन्न भिन्न जीवो की अपेक्षा स्वामित्व इस प्रकार है—

एकेन्द्रिय के उदययोग्य २१ आदि पाच स्थान, मनुष्य के उदययोग्य २१, २६ और २८ आदि तीन स्थान, इस तरह पाच स्थान हैं। सकलेन्द्रिय (पचेन्द्रिय), विकलेन्द्रिय तिर्यंचो के उदययोग्य २१, २६ और २८ आदि तीन स्थान और भाषापर्याप्ति मे ३१ का स्थान, इस प्रकार छह स्थान हैं। देव, नारक, आहारक और केवलसहित विशेष मनुष्य के २१, २५ तथा २७ आदि तीन, इस प्रकार पाच स्थान, समुद्घातकेवली के मनुष्य की तरह २१ मे से २० का ही स्थान होता है, क्योकि आनुपूर्वी कम हो जाती है तथा तीर्थंकर समुद्घात केवली के तीर्थंकर प्रकृति बढने से २१ का स्थान होता है, इस प्रकार केवली के २० और २१ के दो स्थान उदय-योग्य हैं और विग्रहगति के कार्मण मे २१ का ही स्थान होता है, मिश्र-शरीरकाल मे २४ आदि चार स्थान, शरीरपर्याप्तिकाल मे २५ आदि के पाच स्थान, श्वासोच्छ्वासपर्याप्तिकाल मे २६ आदि के पाच स्थान, भाषा-पर्याप्तिकाल मे २६ आदि तीन स्थान उदययोग्य हैं और अयोगि मे तीर्थं-कर के ६ का और सामान्य केवली के ८ का ये दो स्थान उदययोग्य हैं।

दिगम्बर पचसग्रह सप्ततिका अधिकार गाथा ६७ से २०७ तक विस्तार से चौदह मार्गणाओ की अपेक्षा नामकर्म के उदयस्थानो के स्वामियो का वर्णन किया है।

अल्पतरोदय— नामकर्म के बारह उदयस्थानो मे नौ अल्पतरोदय है। इसका कारण यह है कि कोई भी जीव नौ के उदयस्थान से आठ के उदयस्थान मे एव इक्कीस के उदयस्थान से बीस के उदयस्थान मे नही जाता है। क्योकि नौ और इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थान तीर्थंकर के होता है, वे सामान्य केवली के उदयस्थान मे जाते नही, इसलिए ये दो अल्पतरोदय घटित नही होते है[1] तथा कोई भी जीव पच्चीस के उदयस्थान से चौबीस के उदयस्थान मे नही जाता है। क्योकि ससारी जीव अपर्याप्त अवस्था मे चौबीस के उदय से पच्चीस के उदयस्थान मे प्रवेश करता है, परन्तु पच्चीस के उदयस्थान से चौबीस के उदय-स्थान मे नही आता है। जिससे अल्पतरोदय नौ होते है।

अब यह विचार करते है कि ये अल्पतरोदय तीर्थंकर और सामान्य केवली के समुद्घात और अयोगि दशा प्राप्त होने पर किस तरह होते है।

स्वभावस्थ सामान्यकेवली के मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सौभाग्य, यश कीर्ति, आदेय, अगुरुलघु, निर्माण, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, वज्रऋषभनाराच-सहनन, उपघात, प्रत्येक, औदारिकद्विक, छह सस्थान मे से कोई एक सस्थान, पराघात, उच्छ्वास, अन्यतर विहायोगति, सुस्वर-दुस्वर मे से एक, इन तीस प्रकृतियो का और तीर्थंकरकेवली के तीर्थंकर-नाम सहित इकतीस प्रकृतियो का उदय होता है। जब ये समुद्घात मे प्रवृत्त होते है तब समुद्घात करते सामान्यकेवली के दूसरे समय मे औदारिकमिश्रकाययोग मे वर्तमान रहते पराघात, उच्छ्वास, अन्यतर

---

१ उक्त कथन का यह भाव हुआ कि आठ प्रकृतिक और बीस प्रकृतिक रूप दो अल्पतरोदय घटित नही होते हैं। परन्तु यही आगे ये दोनो अल्पतर घटित किये हैं। अतएव इस परस्पर विरुद्धकथन को विद्वज्जन स्पष्ट करने की कृपा करें।

विहायोगति और सुस्वर-दु स्वर मे से कोई एक इस तरह चार प्रकृतियो के उदय का निरोध होने पर छब्बीस का उदय होता है और तीर्थंकर के पराघात, उच्छ्‌वास, प्रशस्तविहायोगति और सुस्वर का निरोध होने पर सत्ताईस का उदय होता है। इस प्रकार तीस और इकतीस के उदय से छब्बीस और सत्ताईस के उदय मे जाने पर छब्बीस का उदयरूप और सत्ताईस का उदयरूप ये दो अल्पतर होते है तथा समुद्‌घात मे प्रविष्ट अतीर्थंकरकेवली के तीसरे समय मे कार्मणकाय-योग मे रहते उदयप्राप्त सस्थान, वज्रऋषभनाराचसहनन, औदा-रिकद्विक, उपघात और प्रत्येक इन छह प्रकृतियो का रोध होने पर बीस का उदय होता है और तीर्थंकरकेवली के उस समय उक्त छह प्रकृतियो के उदय का रोध होने पर इक्कीस का उदय होता है। इस प्रकार छब्बीस और सत्ताईस के उदय से बीस और इक्कीस के उदय मे जाने पर बीस और इक्कीस के उदय रूप दो अल्पतर होते हैं। इस प्रकार समुद्‌घात अवस्था मे चार अल्पतर होते हैं। तथा—

अयोगिपने को प्राप्त करने पर तीर्थंकरकेवली को योग के रोध-काल मे पूर्वोक्त इकतीस प्रकृतियो मे से स्वर का उदय रुकने पर तीस का और उसके बाद उच्छ्‌वास का उदय रुकने पर उनतीस का उदय होता है तथा सामान्यकेवली के पूर्वोक्त तीस प्रकृतियो मे से स्वर के उदय का रोध होने पर उनतीस का और उच्छ्‌वास के उदय का रोध हो तब अट्ठाईस का उदय होता है। इस प्रकार तीर्थंकर की अपेक्षा तीस और उनतीस के उदयरूप दो अल्पतर और सामान्यकेवली की अपेक्षा उनतीस और अट्ठाईस प्रकृतियो के उदयरूप दो अल्पतर, इस प्रकार चार अल्पतर होते है। किन्तु उनतीस का उदयरूप अल्पतर दोनो मे आता है, इसलिए अवधि के कारण भिन्न अल्पतर की विवक्षा नही होने मे उसे एक गिनकर तीन ही अल्पतर होते है।

अट्ठाईस के उदय वाले अतीर्थंकर केवली के अयोगिदशा की प्राप्ति के प्रथम समय मे पराघात, विहायोगति, प्रत्येक, उपघात, अन्यतम

उदयप्राप्त संस्थान, वज्रऋषभनाराच-सहनन, औदारिकद्विक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, अगुरुलघु, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क और निर्माण इन बीस प्रकृतियो का उदयविच्छेद होने पर आठ का उदय होता है और उनतीस प्रकृति के उदय वाले तीर्थंकर केवली के उक्त बीस प्रकृतियो का उदयविच्छेद होने पर नौ का उदय होता है। इस प्रकार अट्ठाईस और उनतीस के उदय से आठ और नौ के उदय मे जाने पर आठ और नौ प्रकृतिक उदय रूप दो अल्पतर होते हैं।

इस प्रकार तीर्थंकर अतीर्थंकर केवली की अपेक्षा समुद्घात और अयोगिपने को प्राप्त करने पर होने वाले नौ अल्पतरोदय जानना चाहिये तथा ससारी जीवो के इकतीस आदि उदयस्थानो से प्रारम्भ कर इक्कीस तक के कितने ही अल्पतर उदयस्थानो मे सक्रमण होता है, जैसे कि इन्द्रियपर्याप्ति के पूर्ण होने के पश्चात् चौबीस या छब्बीस मे से किसी भी उदयस्थान मे रहते मरण होने पर इक्कीस के उदयस्थान मे जाने पर इक्कीस का उदय रूप अल्पतर होता है तथा उद्योतसहित तीस के उदय मे वर्तमान उत्तरवैक्रियशरीरी देव वैक्रियशरीर का सहरण करने के बाद उनतीस के उदय मे जाता है, उस समय उनतीस का अल्पतर होता है।

इस प्रकार ससारी जीवो के कितने ही अल्पतर सम्भव है। परन्तु जिस सख्या वाले अल्पतर उनको होते है, उन अल्पतरो का पूर्वोक्त अल्पतरो मे समावेश हो जाता है। अत एक अल्पतर अनेक प्रकार से होता है यह समझना चाहिये, परन्तु अवधि के भेद से कारण अल्पतरो के भेदो की गणना नही किये जाने से नौ से अधिक अल्पतरोदय नही होते है।[1]

---

१ विज्ञजन स्पष्ट करने की कृपा करें—

यह ठीक है कि इकतीस प्रकृति के उदय से अधिक नामकर्म की प्रकृतियो का उदयस्थान न होने से इकतीस प्रकृति का उदय रूप अल्पतर

अवस्थितोदय—यह पूर्व मे बतलाया जा चुका है कि अवस्थितोदय उदयस्थान के तुल्य जानना चाहिये। अत नामकर्म के जितने उदयस्थान है उतने ही अवस्थितोदय है। यानि नामकर्म के उदयस्थान बारह होने से बारह ही अवस्थितोदय होते हैं।

अवक्तव्योदय—यह सर्वथा असभव है। क्योकि नामकर्म की सभी उत्तरप्रकृतियो का उदयविच्छेद होने के पश्चात् पुन उदय होता नही है और सभी उत्तरप्रकृतियो का उदयविच्छेद अयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय मे होता है और वहाँ से प्रतिपात नही होने से पुन उदय सभव नही। इसलिये अवक्तव्योदय घटित नही होता है।

इस प्रकार से ज्ञानावरण आदि प्रत्येक कर्म की उत्तरप्रकृतियो के उदयस्थानो मे भूयस्कार आदि प्रकारो को जानना चाहिये। अब सामान्यत सभी उत्तरप्रकृतियो के उदयस्थानो मे भूयस्कार आदि का निरूपण करने के लिये उनके उदयस्थानो को बतलाते है।

नही होता है। इसीलिए इकतीस तथा पच्चीस और चौबीस के उदय बिना नौ उदयस्थान के नौ अल्पतरोदय बताये, वे केवली की अपेक्षा तो बराबर हैं, परन्तु लब्धिसपन्न मनुष्य या तिर्यंच वैक्रियशरीर बनाते हैं तब तीस के उदयस्थान मे पच्चीस के उदयस्थान मे और लब्धिसपन्न छब्बीस के उदय मे वर्तमान वायुकायिक जीव वैक्रिय शरीर बनायें तब छब्बीस के उदयस्थान से चौबीस के उदयस्थान मे जाते हैं। अथवा यथासभव इकतीस से छब्बीस तक के उदयस्थान से पचेन्द्रिय तिर्यंच आदि काल कर के ऋजुश्रेणि द्वारा देव, नारक मे उत्पन्न हो तब पच्चीस के और एकेन्द्रिय मे उत्पन्न हो तब चौबीस के उदयस्थानो मे जाते हैं। जिससे पच्चीस और चौबीस प्रकृति के उदय रूप दोनो अल्पतर ससारी जीवो मे घट सकते हैं। जिससे नौ की बजाय ग्यारह अल्पतरोदय मानना चाहिए। किन्तु मलयगिरिसूरि ने नौ अल्पतरोदय बताये हैं।

स्वोपज्ञवृत्ति से भी कारण ज्ञात नही होता है।

समस्त उत्तरप्रकृतियों के उदयस्थान, भूयस्कार आदि

एक्कार बार तिचउक्कवीस गुणतीसओ य चउतीसा ।
चउआला गुणसट्ठी उदयट्ठाणाइं छव्वीस ॥१६॥

शब्दार्थ—एक्कार—ग्यारह, बार—बारह, तिचउक्कवीस—तीन, चार अधिक वीस अर्थात् तेईस, चौबीस, गुणतीसओ—उनतीस से, य—और चउतीसा—चौतीस, चउआला—चवालीस से, गुणसट्ठी—उनसठ, उदयट्ठणाइ—उदयस्थान, छव्वीस—छब्बीस ।

गाथार्थ—ग्यारह, बारह, तेईस, चौबीस, उनतीस से चौतीस और चवालीस से उनसठ प्रकृति पर्यन्त छब्बीस उदयस्थान होते है ।

विशेषार्थ—गाथा मे सामान्य से सभी कर्मों की उत्तरप्रकृतियो के उदयस्थान बतलाये है । यद्यपि सभी कर्मों की उदययोग्य एक सौ बाईस प्रकृतिया है । लेकिन प्रत्येक जीव को एक समय मे उस जीव की योग्यताविशेष के कारण वे सभी प्रकृतिया उदय मे नही आती है, किन्तु उनके उदय मे अन्तर होता है । इसीलिये एक समय मे एक जीव के जितनी प्रकृतियो का उदय सभव है, उस अपेक्षा से ये उदयस्थान माने गये है । इस दृष्टि मे सामान्यत सभी उत्तरप्रकृतियो के छब्बीस उदयस्थान होते है । जो इस प्रकार है—

ग्यारह, बारह, तेईस, चौबीस तथा उनतीस से लेकर चौतीस अर्थात् उनतीस, तीस, इकतीस, बत्तीस, तेतीस, चौतीस और पैंतीस मे तेतालीस तक के उदयस्थान सभव नही है । अत चवालीस से लेकर उनसठ तक यानि चवालीस, पैंतालीस, छियालीस, सैंतालीस, अड़तालीस, उनचास, पचास, इक्यावन, बावन, त्रेपन, चौपन, पचपन, छप्पन, सत्तावन, अट्ठावन, उनसठ प्रकृतिक, इस प्रकार कुल छब्बीस उदयस्थान होते है । इन उदयस्थानो का विवरण क्रमश· इस प्रकार है—

मनुष्यगति, मनुष्यायु, पचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यश कीर्ति, अन्यतर वेदनीय और उच्चगोत्र, इन ग्यारह

प्रकृतियो का उदय सामान्य केवली भगवान को अयोगि अवस्था मे और इसी अवस्था (अयोगि अवस्था) मे तीर्थंकर भगवान को तीर्थंकर-नामकर्म सहित बारह का उदय होता है।

यही अतीर्थंकर और तीर्थंकर केवली के दोनो उदयस्थान अनुक्रम से अगुरुलघु, निर्माण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्पण, वर्णचतुष्क, इन बारह ध्रुवोदया प्रकृतियो को मिलाने से क्रमश तेईस और चौबीस प्रकृतिक उदयस्थान होते है। ये दोनो उदयस्थान अनुक्रम से समुद्घात अवस्था मे कार्मणकाययोग मे वर्तमान सामान्य केवली और तीर्थंकर केवली के होते हैं।

इन चार उदयस्थानो मे एक भी भूयस्कार घटित नही होता है। क्योकि कोई भी जीव अयोगि अवस्था से सयोगि अवस्था मे आता नही है एव सामान्य केवली तीर्थंकरनाम के उदय को प्राप्त नही करता है। इसी कारण इनमे भूयस्कारोदय घटित नही होता है।

पूर्वोक्त तेईस और चौबीस प्रकृतिक उदयस्थान के साथ प्रत्येक, उपघात, औदारिकद्विक, छह सस्थान मे से कोई एक सस्थान और प्रथम सहनन इन छह प्रकृतियो को जोडने पर उनतीस और तीस प्रकृतिक ये दो उदयस्थान होते हैं। यह दो उदयस्थान अनुक्रम से औदारिक-मिश्रयोग मे वर्तमान सामान्य केवली और तीर्थंकर केवली के होते है और औदारिककाययोग मे वर्तमान तथा स्वभावस्थ उन दोनो के पराघात, विहायोगति, उच्छ्वास और स्वर के उदय के साथ अनुक्रम से तेतीस और चौतीस का उदय होता है तथा योग का रोध करने पर जव स्वर का रोध होता है, तव स्वर का उदय न रहने से उस समय पूर्वोक्त तेतीस और चौतीस मे से एक प्रकृति के कम होने पर वत्तीस और तेतीस का उदय होता है। तदनन्तर श्वासोच्छ्वास का रोध होने पर श्वासोच्छ्वास का उदय रुकता है, तव इकतीस और वत्तीस का उदय होता है। इस प्रकार छह उदयस्थान जानना चाहिए और पूर्व मे

बताये गये चार उदयस्थानो को इन छह के साथ मिलाने पर कुल दस उदयस्थान होते है। ये उदयस्थान केवली भगवान के होते है।

यद्यपि केवली भगवान के कुल मिलाकर दस उदयस्थान होते है परन्तु ग्यारह, बारह, तेईस, चौबीस प्रकृतिक इन चार उदयस्थानो मे भूयस्कार नही होते है। जिसका कारण सहित उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। शेष छह उदयस्थानो मे अर्थात् उनतीस से लेकर चौतीस प्रकृतिक उदयस्थानो मे छह भूयस्कारोदय होते है और वे सामान्य केवली और तीर्थंकर केवली की अपेक्षा जानना चाहिये।

इन केवलीप्रायोग्य दस उदयस्थानो मे नौ अल्पतरोदय जानना चाहिये और वे चौतीस प्रकृतिक उदयस्थान को छोडकर शेष सभी मे समझना चाहिये।[1]

विग्रहगति मे वर्तमान क्षायिक सम्यक्त्वी अविरत सम्यग्दृष्टि के चवालीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। उन चवालीस प्रकृतियो के नाम इस प्रकार है—

---

१ योग के रोधकाल मे इकतीस और बत्तीस के उदय मे वर्तमान सामान्य केवली और तीर्थंकर केवली अयोगि अवस्था को प्राप्त करते है, तब उनके ग्यारह और बारह का उदय होता है तथा जब समुद्घात करते है तब इन दोनो के दूसरे समय मे औदारिकमिश्रयोग मे रहते स्वर आदि प्रकृतियो का उदय कम किया जाता है तब तीस और उनतीस का उदय होता है और कार्मणयोग मे रहते प्रत्येक आदि छह प्रकृतियो का उदय कम होता है तब चौबीस और तेईस का उदय होता है और तेतीस और चौतीस के उदय वाले स्वर का रोध करते हैं तब उनको बत्तीस और तेतीस का उदय होता है और उच्छ्वास का रोध होने पर इकतीस और बत्तीस का उदय होता है। इस प्रकार ११, १२, ३०, २९, २४, २३, ३३, ३२ और ३१ प्रकृतिक ये नौ अल्पतरोदय होते है।

ज्ञानावरणपचक, अन्तरायपचक, दर्शनावरणचतुष्क, अनन्तानुबधी रहित अप्रत्याख्यानावरणादि क्रोधादि तीन कषाय, तीन वेद मे से एक वेद, युगलद्विक मे से अन्यतर एक युगल, ये मोहनीय की छह प्रकृतिया, इस प्रकार घातिकर्मो की कुल बीस प्रकृतियो के साथ चार गतियो मे से कोई एक गति, चार आनुपूर्वियो मे से गति के अनुसार एक आनुपूर्वी, पचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग-दुर्भग मे से से कोई एक, आदेय-अनादेय मे से कोई एक, यश कीर्ति-अयश कीर्ति मे से कोई एक, निर्माण, अगुरुलघु, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क इस प्रकार नामकर्म की इक्कीस, चार आयु मे से एक आयु, दो वेदनीय मे से एक वेदनीय, दो गोत्र मे से एक गोत्र कुल मिलाकर अघातिकर्मो की चौबीस प्रकृतियो को मिलाने पर चवालीस प्रकृतिया होती है। इन चवालीस प्रकृतियो का उदय विग्रहगति मे वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के होता है।

पूर्वोक्त चवालीस प्रकृतियो मे सम्यक्त्वमोहनीय, भय और जुगुप्सा मे किसी एक प्रकृति को मिलाने पर पैतालीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

पूर्वोक्त चवालीस प्रकृतियो मे सम्यक्त्वमोहनीय-भय अथवा सम्यक्त्वमोहनीय-जुगुप्सा अथवा भय-जुगुप्सा इन दो-दो प्रकृतियो को मिलाने पर छियालीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इस प्रकार छियालीस प्रकृतिक उदयस्थान के तीन विकल्प है और चवालीस प्रकृतियो मे सम्यक्त्वमोहनीय, भय और जुगुप्सा इन तीनो के युगपत् मिलाने से सैतालीस प्रकृतिक उदयस्थान है।

भवस्थ क्षायिक सम्यग्दृष्टि देव अथवा नारक के पूर्व मे कही गई चवालीस प्रकृतियो मे से आनुपूर्वी को कम करके वैक्रियद्विक, प्रत्येक, उपघात और समचतुरस्रसस्थान इन पाच प्रकृतियो को जोडने पर अडतालीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इन अडतालीस प्रकृतियो के नाम इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणचतुष्क, मोहनीय की छह प्रकृति (जिनके नाम चवालीस प्रकृतिक उदयस्थान मे कहे है), अन्तरायपचक तथा विग्रहगति मे जो नामकर्म की इक्कीस प्रकृतिया बतलाई है उनमे से आनुपूर्वी को कम करके पूर्वोक्त वैक्रियद्विक आदि पाच सहित पच्चीस, गोत्र एक, वेदनीय एक, आयु एक, इस प्रकार अडतालीस प्रकृतियो का उदय भवस्थ क्षायिक सम्यग्दृष्टि देव या नारक को होता है।[1]

पूर्वोक्त अडतालीस प्रकृतियो मे भय, जुगुप्सा[2] और सम्यक्त्वमोहनीय[3] इन तीन मे से किसी एक को मिलाने पर उनचास प्रकृतिक उदयस्थान होता है तथा अडतालीस प्रकृतियो मे भय-सम्यक्त्वमोहनीय, जुगुप्सा-सम्यक्त्वमोहनीय अथवा भय-जुगुप्सा इस प्रकार कोई भी दो-दो प्रकृतियो के मिलाने पर पचास प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इस प्रकार पचास प्रकृतिक उदयस्थान के तीन विकल्प होते है तथा अडतालीस प्रकृतियो मे भय, जुगुप्सा और सम्यक्त्वमोहनीय को युगपत् मिलाने पर इक्यावन प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

अथवा पूर्व मे देव और नारक योग्य जो अडतालीस प्रकृतिया बत-

---

१ नारको मे हुण्डसस्थान आदि अशुभ प्रकृतियो का ही उदय समझना चाहिए।

२ भय और जुगुप्सा का उदय प्रत्येक को नही भी होता है, परन्तु कभी दोनो मे मे एक का, कभी दोनो का उदय होता है और किसी समय दोनो मे से एक का भी उदय नही होता है। इसीलिए अदल-बदल कर मिलाने का सकेत किया है।

३ सम्यक्त्वमोहनीय का उदय क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी के ही होता है। इस लिये जहाँ भी सम्यक्त्वमोहनीय के उदय का उल्लेख हो वहाँ यह समझना चाहिए कि उस उदयस्थान वाला क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी है।

लाई है, उनमे शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त क्षायिक सम्यग्दृष्टि देव अथवा नारक के पराघात और अन्यतर विहायोगति के मिलाने पर पचास प्रकृतिक उदयस्थान होता है। उसमे सम्यक्त्वमोहनीय, भय और जुगुप्सा इन तीन मे से किसी एक प्रकृति को मिलाने पर इक्यावन प्रकृतिक और सम्यक्त्वमोहनीय और भय, अथवा सम्यक्त्वमोहनीय और जुगुप्सा, अथवा भय और जुगुप्सा कोई दो प्रकृतियो को मिलाने पर बावन प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इस प्रकार बावन प्रकृतिक उदयस्थान के तीन विकल्प है तथा तीनो को युगपत् मिलाने पर त्रेपन प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

अब मनुष्यो, तिर्यंचो की अपेक्षा उनचास आदि प्रकृतिक उदयस्थानो को बतलाते हैं—

पूर्व मे जो चवालीस प्रकृतिया बतलाई हैं, उनमे से आनुपूर्वी को कम करके औदारिकद्विक, प्रत्येक, उपघात, समचतुरस्रसस्थान और वज्रऋषभनाराचसहनन इन छह प्रकृतियो को मिलाने पर उनचास प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह स्थान भवस्थ क्षायिक सम्यग्दृष्टि तिर्यंच अथवा मनुष्य को होता है। इनमे सम्यक्त्वमोहनीय, भय और जुगुप्सा इन तीनो मे से कोई एक प्रकृति को मिलाने पर पचास प्रकृतिक उदयस्थान होता है तथा सम्यक्त्वमोहनीय और भय, अथवा सम्यक्त्व मोहनीय और जुगुप्सा अथवा भय और जुगुप्सा इन तीन विकल्पो मे से कोई दो प्रकृतियो को मिलाने पर इक्यावन प्रकृतिक उदयस्थान होता है। सम्यक्त्वमोहनीय, भय और जुगुप्सा को युगपत् मिलाने पर बावन प्रकृतिक उदयस्थान होता है और इस बावन प्रकृतिक उदयस्थान मे निद्रा को मिलाने पर त्रेपन प्रकृतिक उदयस्थान जानना चाहिये। अथवा—

शरीरस्थ क्षायिक सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्य को पूर्व मे जो उनचास प्रकृतिया कही हैं, उनमे शरीरपर्याप्ति मे पर्याप्त होने के पश्चात् पराघात और प्रशस्त विहायोगति को मिलाने पर इक्यावन

प्रकृतिक उदयस्थान होता है। तत्पश्चात् उसमे सम्यक्त्वमोहनीय, भय जुगुप्सा और निद्रा इन चार प्रकृतियो मे से कोई भी एक प्रकृति को मिलाने पर बावन प्रकृतिक, कोई भी दो मिलाने पर त्रेपन प्रकृतिक, कोई भी तीन प्रकृतियो को मिलाने पर चौपन प्रकृतिक और चारो प्रकृतियो को युगपत् मिलाने पर पचपन प्रकृतिक उदयस्थान होता है। अथवा—

क्षायिक सम्यग्दृष्टि तिर्यंच, मनुष्य के अनन्तरोक्त इक्यावन प्रकृतियो मे प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्त होने के बाद श्वासोच्छ्वास को मिलाने पर बावन प्रकृतिक उदयस्थान होता है। उसमे सम्यक्त्वमोहनीय, भय, जुगुप्सा और निद्रा मे से किसी एक प्रकृति को मिलाने पर त्रेपन प्रकृतिक, कोई दो मिलाने पर चौपन प्रकृतिक, कोई तीन मिलाने पर पचपन प्रकृतिक और चारो को युगपत् मिलाने पर छप्पन प्रकृतिक उदयस्थान होता है। अथवा—

श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति से पर्याप्त हुए मनुष्य, तिर्यंच के जो बावन प्रकृतिक उदयस्थान कहा है, उसमे भाषापर्याप्ति से पर्याप्त होने के अनन्तर स्वर को मिलाने पर त्रेपन प्रकृतिक उदयस्थान होता है। उसमे सम्यक्त्वमोहनीय, भय, जुगुप्सा और निद्रा इन चार मे से किसी एक प्रकृति को मिलाने पर चौपन प्रकृतिक, कोई भी दो मिलाने पर पचपन प्रकृतिक, कोई भी तीन मिलाने पर छप्पन प्रकृतिक और चारो को मिलाने पर सत्तावन प्रकृतिक उदयस्थान होता है और तिर्यंचाश्रयी उद्योत नाम को मिलाने पर अट्ठावन प्रकृतिक उदयस्थान होता है। उन अट्ठावन प्रकृतियो के नाम इस प्रकार है—

ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क और एक निद्रा, मोहनीय की अप्रत्याख्यानावरणादि कोई भी क्रोधादि तीन कषाय, एक युगल, एक वेद, सम्यक्त्वमोहनीय भय और जुगुप्सा को मिलाकर कुल नौ प्रकृतिया, अतरायपचक, गोत्र एक, वेदनीय एक, आयु एक और नामकर्म की विग्रहगति मे प्राप्त आनुपूर्वी से रहित बीस और औदारिकद्विक,

प्रत्येक, उपघात, एक सहनन, एक सस्थान, पराघात, विहायोगति, उच्छ्‌वास, स्वर और उद्योत कुल इकतीस प्रकृतियो को मिलाने से अट्‌ठावन प्रकृतिया होती है।

अविरत सम्यग्दृष्टि के ये सभी उदयस्थान निद्रा, भय, जुगुप्सा और उद्योत के अध्रुवोदया होने से उनको कम-बढ करने पर अल्पतर और भूयस्कर दोनो रूप से सभव है।

मिथ्यादृष्टि के छियालीस से लेकर उनसठ तक के उदयस्थान होते हैं। उनका भिन्न-भिन्न गति मे रहे हुए मिथ्यादृष्टि जीवो की अपेक्षा आगे सप्ततिकासग्रह मे विस्तार से विवेचन किया जा रहा है। जिनका पूर्वापर भाव का विचार करके निद्रा, भय, जुगुसा और उद्योत इन प्रकृतियो को घटा-बढाकर स्वय समझ लेना चाहिए। परन्तु किये जाने वाले कथन को सुगमता से जानने के लिये यहाँ उनका सामान्य से निर्देश करते है—

सामान्य से मिथ्यादृष्टि के विग्रहगति मे ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणचतुष्क, वेदनीय एक, मोहनीय की अनन्तानुबन्धी क्रोधादि मे से क्रोधादि चार, एक युगल, एक वेद और मिथ्यात्व ये आठ, आयु एक, गोत्र एक, अतरायपंचक इस प्रकार सात कर्म की पच्चीस और नाम-कर्म की इक्कीस इस तरह कुल मिलाकर कम से कम छियालीस प्रकृतियो का उदय होता है। उनमे भय, जुगुप्सा और निद्रा मे से कोई एक मिलाने पर सैतालीस, दो मिलाने पर अडतालीस और तीनो को युगपत् मिलाने पर उनचास प्रकृतिक उदयस्थान होता है। तथा—

भवस्थ एकेन्द्रिय को पूर्वोक्त सात कर्म की पच्चीस और नामकर्म की इक्कीस प्रकृतियो मे से आनुपूर्वी को कम करके प्रत्येक, औदारिक-शरीर, उपघात और हुडकसस्थान इन चार को मिलाने पर चौवीस, कुल मिलाकर उनचास का उदय होता है। उनमे भय, जुगुप्सा और

उच्छ्वासपर्याप्ति से पर्याप्त उन्ही के पूर्वोक्त त्रेपन के उदय मे श्वासोच्छ्वास के मिलाने पर चौपन का उदय होता है। उनमे भय, जुगुप्सा और निद्रा मे से एक-एक को मिलाने पर पचपन, दो-दो को मिलाने पर छप्पन और तीनो को मिलाने पर सत्तावन प्रकृतियो का उदयस्थान होता है। तथा—

भाषापर्याप्ति से पर्याप्त के पूर्वोक्त चौपन मे स्वर का उदय बढाने पर पचपन का उदय होता है। उनमे भय, जुगुप्सा और निद्रा मे से एक-एक को मिलाने पर छप्पन, दो-दो को मिलाने पर सत्तावन और तीनो को मिलाने पर अट्ठावन प्रकृतियो का उदयस्थान होता है। तथा—

पूर्वोक्त पचपन प्रकृतियो मे तिर्यचाश्रयी उद्योत का उदय बढाने पर छप्पन का उदयस्थान होता है। उनमे भय, जुगुप्सा और निद्रा मे से एक-एक को मिलाने पर सत्तावन, दो-दो को मिलाने पर अट्ठावन और तीनो को मिलाने पर उनसठ प्रकृतियो का उदयस्थान होता है।

इस प्रकार तिर्यंचो मे एक समय मे एक जीव के अधिक से अधिक उनसठ प्रकृतियो का उदय होता है। जिनमे ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणपचक, वेदनीय एक, मोहनीय दस, आयु एक, गोत्र एक, अन्तरायपचक और नामकर्म की इकतीस प्रकृतिया होती है।

देवादि भिन्न-भिन्न जीवो की अपेक्षा उदयस्थानो का विचार करने पर एक एक उदयस्थान अनेक प्रकार से होता है। यहाँ उदयस्थानो की दिशा मात्र बतलाई है, इसलिए भिन्न-भिन्न जीवो की अपेक्षा उदयस्थानो का विचार स्वयमेव कर लेना चाहिये।

प्रश्न—मिथ्यादृष्टि के मोहनीय की सात प्रकृतियो का उदय होने पर भी विग्रहगति मे नामकर्म की इक्कीस प्रकृतियो के उदय मे वर्तमान जीव के पंतालीस प्रकृतियो का उदयस्थान क्यो सम्भव नही और छियालीस का क्यो कहा है ?

उत्तर—छियालीस का उदयस्थान इसलिए कहा है—मिथ्यादृष्टि के सात का उदय अनन्तानुबधी का उदय न हो तब मात्र एक आवलिका तक पर्याप्त-अवस्था मे होता है और नामकर्म की इक्कीस प्रकृतियो का उदय तो विग्रहगति मे होता है। कोई भी मिथ्यादृष्टि अनन्तानुबधी के बिना मरण को प्राप्त करता नही जिससे विग्रहगति मे अनन्तानुबंधी के उदय से रहित कोई भी जीव होता नही है। जिससे विग्रहगति मे छियालीस आदि प्रकृतियो का ही उदयस्थान होता है तथा उस मिथ्यादृष्टि के अन्तिम उनसठ प्रकृतियो का उदयस्थान मोहनीय की दस प्रकृतिया उदय मे हो तब होता है। वे उनसठ प्रकृतिया इस प्रकार है—

अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन क्रोधादि मे से कोई भी क्रोधादि चार, तीन वेद मे से एक वेद, युगलद्विक मे से एक युगल, भय, जुगुप्सा और मिथ्यात्व ये मोहनीय की दस प्रकृतिया, तिर्यंचगति, पचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग-दुर्भग मे से एक, आदेय-अनादेय मे से एक, यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति मे से एक, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण, औदारिकद्विक, कोई एक सहनन, कोई एक सस्थान, प्रत्येक, उपघात, पराघात, कोई एक विहायोगति, दो स्वर मे से कोई एक स्वर, उच्छ्वास और उद्योत इस प्रकार नामकर्म की इकतीस प्रकृतिया, ज्ञानावरणपचक, अन्तरायपचक, चक्षुदर्शनावरण आदि दर्शनावरणचतुष्क, पाच निद्राओ मे से कोई एक निद्रा, एक वेदनीय, एक आयु और एक गोत्र, इस प्रकार अधिक से अधिक उनसठ प्रकृतिया उदय मे होती है।

इन उदयस्थानो मे सासादन, मिश्र और देशविरत सम्बन्धी कितने ही उदयस्थान भिन्न-भिन्न रीति से भी सम्भव है। जिनका आगे सप्ततिकासग्रह मे विस्तार से विचार किया जा रहा है। यहाँ तो प्रासगिक होने से उक्त सख्या वाले उदयस्थानो की सम्भावना मात्र बतलाई है।

इन उदयस्थानो मे अवक्तव्योदय घटित नही होता है। क्योकि सभी प्रकृतियो का उदयविच्छेद होने के बाद पुन उनका उदय सम्भव नही है और अवस्थितोदय जितने उदयस्थान हो उतने ही होते है, ऐसा नियम होने से अवस्थितोदय छब्बीस है।

प्रश्न—विग्रहगति और समुद्घात अवस्था मे जो उदयस्थान होते है, उनमे अवस्थितोदय कैसे सम्भव है ? उनका समय अत्यल्प है ?

उत्तर—विग्रहगति और समुद्घात अवस्था मे जो उदयस्थान होते हैं, तो उस स्थिति मे भी दो, तीन समय अवस्थान होता है। इसीलिए उनमे भी अवस्थितोदय माना जाता है। जिस समय अल्पाधिकता हो, उस समय भूयस्कार या अल्पतरोदय होता है और उसके बाद के समय मे यदि वही का वही उदय रहे तो वह अवस्थितोदय कहलाता है। समुद्घात या विग्रहगति के उदयस्थान यदि एक ही समय के रहते हो तो उपर्युक्त शका योग्य हो सकती थी। परन्तु वे उदयस्थान तो दो या तीन समय रह सकते है। जिससे अवस्थितोदय छब्बीस सम्भव है।

इन छब्बीस उदयस्थानो मे भूयस्कारोदय इक्कीस और अल्पतरोदय चौवीस होते है। जिनका कारण सहित स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

भूयप्पयरा इगिचउवीस जन्नेइ केवली छउम।
अजओ य केवलित्त तित्थयरियरा व अन्नोन्न ॥२०॥

शब्दार्थ—भूयप्पयरा—भूयस्कार और अल्पतर, इगिचउवीस—इक्कीस और चौवीस, जन्नेइ—क्योकि प्राप्त नही करते हैं, केवली—केवली भगवान, छउम—छद्मस्थ उदयस्थानो को, अजओ—अविरात, य—और, केवलित्त—केवलीपने को, तित्थयरियरा—तीर्थंकर और इतर-सामान्य केवली, व—और, अन्नोन्न—परस्पर एक दूसरे के उदयस्थानो को।

गाथार्थ—पूर्वोक्त छब्वीस उदयस्थानो मे भूयस्कार और अल्पतर अनुक्रम से इक्कीस और चौवीस होते है। क्योकि केवली छद्मस्थ

के तथा अविरति केवली के उदयस्थानो को तथा इसी प्रकार तीर्थंकर सामान्य केवली के और सामान्य केवली तीर्थंकर के उदयस्थानो को प्राप्त नही करते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा मे पूर्वोक्त छब्बीस उदयस्थानो मे इक्कीस भूयस्कारोदय और चौबीस अल्पतरोदय मानने के कारण को स्पष्ट किया है—

केवली भगवान छद्मस्थ के उदयस्थानो को प्राप्त नही करते है—'जन्नेइ केवली छउम' और अविरतसम्यग्दृष्टि केवलज्ञानी के उदयस्थान मे जाते नही 'अजओ य केवलित्त ।' यदि अविरति केवलित्व प्राप्त करते तो चवालीस प्रकृतिक उदयस्थान भूयस्कार रूप मे हो सकता था और वैसा होने पर उनकी सख्या वढ सकती थी, परन्तु वैसा नही होने से भूयस्कारो की सख्या मे वृद्धि नही होती है । इसके साथ दूसरा कारण यह है—

अतीर्थंकर तीर्थंकर के उदयस्थानो को और अयोगिकेवली सयोगिकेवली के उदयस्थानो को प्राप्त नही करते हैं—'जन्नेइ तित्थयरियरा व अन्नोन ।' जिससे ग्यारह, बारह, तेईस, चौबीस और चवालीसप्रकृतिक ये पाच उदयस्थान भूयस्कारोदय रूप से सभव नही है ।[1]

---

१ उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि ग्यारह, बारह, तेईस, चौबीस और चवालीस के बिना शेष इक्कीस भूयस्कारोदय होते हैं । कारण यह है कि तीर्थंकर और सामान्य केवली के क्रमश अयोगिगुणस्थान मे मनुष्यगति आदि बारह और ग्यारह का और सयोगिगुणस्थान मे केवलिसमुद्घात मे कार्मणकाययोग मे वर्तमान तीर्थंकर केवली और सामान्य केवली आत्मा के अनुक्रम से ध्रुवोदया बारह प्रकृतियो युक्त चौबीस और तेईस प्रकृतियो का उदय होता है तथा चवालीस का उदयस्थान अविरत क्षायिक सम्यग्दृष्टि के विग्रहगति मे घटित होता है । ये पाचो उदयस्थान प्रकृतियो की हानि से ही प्राप्त होते हैं किन्तु वृद्धि से नही, जिससे ये पाचो उदयस्थान भूयस्कार रूप मे सम्भव नही हैं ।

परन्तु शेष इक्कीस उदयस्थान भूयस्कारोदय रूप सभव है। इसीलिये इक्कीस भूयस्कारोदय माने जाते है। वे इक्कीस भूयस्कारोदय इस प्रकार जानना चाहिए—

छब्बीस उदयस्थानो मे केवली के उदयस्थान सम्बन्धी छह तथा अविरत के चवालीस से अट्ठावन तक के पन्द्रह उदयस्थानो मे जिस क्रम से उदय मे प्रकृतियो की वृद्धि पूर्व मे बतलाई है, उस क्रम से वृद्धि करने पर अट्ठावन तक चौदह और अन्तिम उनसठ प्रकृतिक उदयस्थान अर्थात् पैतालीस प्रकृतिक से लेकर उनसठ प्रकृतिकपर्यन्त पन्द्रह, इस तरह कुल मिलाकर (६+१५=२१) इक्कीस भूयस्कारोदय होते है।

इस प्रकार से इक्कीस भूयस्कारोदय होने के कारण को स्पष्ट करने के बाद अब चौबीस अल्पतरोदय होने के कारण को स्पष्ट करते हैं—

'जन्नेइ अजओ य केवलित्त' अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि केवली भगवान के उदयस्थानो को प्राप्त नही करते है। इस कारण केवलीप्रायोग्य चौतीस प्रकृतिक उदयस्थान अविरत और मिथ्यादृष्टि मे घटित नही होने से चौतीस का उदय रूप स्थान अल्पतरोदय नही होता है तथा उनसठ के उदयस्थान से यदि कोई और दूसरा अधिक सख्या वाला उदयस्थान होता तो उसमे इस उनसठ प्रकृतिक उदयस्थान के सक्रात होने पर वह अल्पतरोदय माना जा सकता था, किन्तु उसमे अधिक सख्या वाला कोई उदयस्थान नही है। जिससे वह भी अल्पतर नही होता है। इस प्रकार चौतीस और उनसठ प्रकृतिक ये दो उदयस्थान अल्पतर रूप न होने से शेष चौबीस ही अल्पतरोदय होते है।

प्रश्न—चौतीस का उदयस्थान स्वभावस्थ तीर्थंकर केवली के होता है। इसलिए जब तीर्थंकर होने वाला जीव केवली अवस्था को प्राप्त करता है और वह चवालीस आदि किसी भी उदयस्थान से चौतीस के

उदय मे जाये तब चौतीस का उदयरूप अल्पतर सम्भव है तो फिर चौतीस के अल्पतर का निषेध क्यो किया है ?

उत्तर—चौतीस प्रकृतिक उदयस्थान को अल्पतरोदय रूप न होने का निषेध इसलिए किया कि सभी जीव केवली-अवस्था गुणस्थान के क्रम से प्राप्त करते है, किन्तु कोई भी जीव चौथे पाचवे से सीधा तेरहवे गुणस्थान मे नही जा सकता है। अर्थात् छठे, सातवे से आठवे, नौवे और दसवे गुणस्थान को क्रम से प्राप्त करके और उसके बाद बारहवे गुणस्थान का स्पर्श करके ही तेरहवे गुणस्थान—केवली-अवस्था को प्राप्त करता है। बारहवे क्षीणमोहगुणस्थान मे तेतीस प्रकृति का उदय रूप एक ही उदयस्थान होता है, किन्तु अन्य कोई उदयस्थान नही होता है।[1] उन तेतीस प्रकृतियो के नाम इस प्रकार है—

(मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यश.कीर्ति, तैजस, कार्मण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, निर्माण, औदारिकद्विक, प्रत्येक, उपघात, अन्यतर विहायोगति, पराघात, सुस्वर-दु स्वर मे से कोई एक, उच्छ्वास, छह सस्थान मे से कोई एक सस्थान, वज्रऋषभनाराचसहनन, साता-असाता मे से कोई एक वेदनीय, मनुष्यायु और उच्चगोत्र।

---

१ इस कथन का स्पष्टीकरण अपेक्षित है क्योकि चार अघाति कर्मो की ही तेतीस प्रकृतिया होती हैं। उनमे ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणचतुष्क और अन्तरायपचक इन चौदह प्रकृतियो को मिलाने से बारहवें गुणस्थान मे सैंतालीस का उदयस्थान होता है। क्योकि वहाँ तीन घातिकर्मो का भी उदय है। जिससे उस सैंतालीस के उदयस्थान से घातिकर्म क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त कर चौतीस के उदय मे जाने पर चौतीस का अल्पतर भी सम्भवित हो सकता है तो फिर उसका निषेध क्यो किया ? यानि बारहवे गुणस्थान मे तेतीस का उदयस्थान ही क्यो कहा और चौतीस का अल्पतर क्यो नही बताया ?

अब जब केवलज्ञान उत्पन्न हो और सयोगिकेवलीगुणस्थान को प्राप्त करे तब तीर्थंकर होने वाला तीर्थंकरनामकर्म का उदय होने से चौतीस का उदयस्थान प्राप्त करता है। जिससे चौतीस का उदयस्थान भूयस्कार रूप ही घट सकता है, किन्तु चौतीस से आगे पैतीस प्रकृतिक उदयस्थान नही होने से वह अल्पतर रूप मे घटित नही होता है। इसीलिए चौंतीस के अल्पतर का निषेध किया है)

इस प्रकार उनसठ और चौतीस प्रकृतिक उदयस्थान अल्पतर रूप न होने से चौबीस अल्पतरोदय माने जाते हैं। जिनका सक्षेप मे विवरण इस प्रकार है—

छब्बीस उदयस्थानो मे केवली सम्बन्धी नौ उदयस्थानो और अविरत के उनसठ से चवालीस प्रकृतिक तक के सोलह उदयस्थानो मे पश्चानुपूर्वी के क्रम से प्रकृतियो को कम करने पर पन्द्रह अल्पतर होते हैं। जैसे कि अट्ठावन प्रकृति के उदय मे से निद्रा, भय और जुगुप्सा मे से किसी एक प्रकृति को कम करने पर सत्तावन का, कोई भी दो कम करने पर छप्पन का और तीनो को कम करने पर पचपन का उदयस्थान होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये।

यहाँ बताये गये अल्पतर और पूर्व मे बताये गये भूयस्कार उदयो मे से प्रत्येक अनेक प्रकार से हो सकते है, परन्तु अवधि मर्यादा के कारण उन भूयस्कारादि के भेदो की गणना न किये जाने से उनकी उतनी ही सख्या होती है और चवालीस का उदय विग्रहगति मे वर्तमान क्षायिक सम्यक्त्वी के होता है और उसमे भय आदि को मिलाने पर अन्तिम सैतालीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है तथा अडतालीस का उदय भवस्थ के होता है। जिससे अडतालीस के उदय से सैतालीस के उदय मे नही जाया जाता है। अत उसकी अपेक्षा तो यह प्रतीत होता कि अल्पतर घटित नही हो किन्तु छियालीस के उदय वाले मिथ्यादृष्टि के भय, जुगुप्सा बढाने पर अडतालीस का उदयस्थान होता है और

उसमे से भय या जुगुप्सा किसी एक को कम करने पर सैंतालीस का अल्पतर सम्भव है।

इस प्रकार सभी उत्तरप्रकृतियों के सामान्य से उदयस्थान और उनमे भूयस्कार आदि को जानना चाहिये।

अब क्रमश ज्ञानावरण आदि प्रत्येक कर्म की उत्तरप्रकृतियो के और सामान्य से सभी प्रकृतियो के सत्तास्थानो का निर्देश करके उनमे भूयस्कार आदि का वर्णन करेंगे। उनमे से पहले प्रत्येक कर्म की उत्तर-प्रकृतियो के सत्तास्थानो व उनमे भूयस्कार आदि का कथन करते है।

प्रत्येक कर्म की उत्तरप्रकृतियो के सत्तास्थान, भूयस्कार आदि

ज्ञानावरण, अन्तराय—इन दोनो कर्मों का पाच पाच प्रकृतिरूप एक ही सत्तास्थान है। इन दोनो कर्मों की पाच-पाच प्रकृतिया होने और *उनकी सत्ता ध्रुव होने के अन्य कोई दूसरा अल्पाधिक प्रकृति वाला* सत्तास्थान नही होता है। इसलिए इन दोनो मे भूयस्कारत्व या अल्प-तरत्व सम्भव नही है तथा इन दोनो कर्मों की समस्त प्रकृतियो की सता का व्यवच्छेद होने पर पुन उनकी सत्ता संभव नही होने से अवक्तव्यसत्ता भी घटित नही होती है। अवस्थितसत्ता अवश्य सम्भव है। जिसमे अभव्य के अनादि-अनन्त और भव्य के अनादि-सान्त यह दो भग सम्भव है।

वेदनीय—के दो और एक प्रकृतिरूप दो सत्तास्थान है। उनमे से अयोगिकेवलीगुणस्थान के द्विचरम समय पर्यन्त दो प्रकृतिरूप और अन्तिम समय मे एक प्रकृतिरूप सत्तास्थान होता है। यहाँ एक प्रकृति के सत्तास्थान से दो प्रकृति के सत्तास्थान मे नही जाने के कारण भूय-स्कार तो घटित नही होता है, किन्तु दो प्रकृतिक सत्तास्थान से एक प्रकृतिक स्थान मे जाना शक्य होने से एक अल्पतर सम्भव है। दो प्रकृति रूप सत्ता अभव्य के अनादि-अनन्त और भव्य के अनादि-सान्त, इस प्रकार दो प्रकृत्यात्मक एक अवस्थितसत्कर्म सम्भव है। किन्तु एक

प्रकृत्यात्मक एक सत्तास्थान मात्र एक समय मात्र ही रहने के कारण अवस्थितरूप से घटित नही होता है तथा इस कर्म की सम्पूर्ण सत्ता का नाश होने के पश्चात् पुन उसकी सत्ता नही होने से अवक्तव्यसत्कर्म सम्भव नही है।

गोत्रकर्म—इसके दो सत्तास्थान होते है—दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक। जब तक गोत्रकर्म की दोनो प्रकृतियो की सत्ता हो तब तक तो दो प्रकृतिक सत्तास्थान और तेजस्कायिक, वायुकायिक के भव मे जाकर उच्चगोत्र की उद्वलना कर देने पर नीचगोत्र रूप एक प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। अथवा अयोगिकेवलीगुणस्थान के द्विचरम समय मे नीचगोत्र का क्षय होने से चरम समय मे उच्चगोत्र की सत्ता रूप एक प्रकृतिक सत्तास्थान होता है।

यदि कोई नीचगोत्र की सत्ता वाला जीव पृथ्वीकाय आदि मे आकर उच्चगोत्र का बध करे तब दो प्रकृति की सत्ता रूप एक भूयस्कार होता है तथा अल्पतर भी जब उच्चगोत्र की उद्वलना करे तब नीचगोत्र की सत्ता रूप अथवा नीचगोत्र का क्षय करे तब उच्चगोत्र की सत्ता रूप एक ही होता है। अवस्थितसत्कर्म दो है। इसका कारण यह है उच्च और नीच इन दोनो प्रकृतियो की और उच्चगोत्र की उद्वलना करने के बाद केवल नीचगोत्र की सत्ता चिरकाल पर्यन्त सम्भव है तथा अवक्तव्यसत्कर्म उच्चगोत्र की सत्ता नष्ट होने के अनन्तर पुन वह सत्ता मे आती है, जिससे उस एक प्रकृति की अपेक्षा घटित होता है, किन्तु गोत्रकर्म की अपेक्षा घटित नही होता है। क्योकि गोत्रकर्म की सत्ता का नाश होने के अनन्तर पुन उसकी सत्ता प्राप्त नही होती है।

आयुकर्म—अब आयुकर्म के सत्तास्थानो और उनमे भूयस्कार आदि सत्कर्म का निर्देश करते है। उसके दो सत्कर्मस्थान है—दो प्रकृतिक, एक प्रकृतिक। जब तक परभव की आयु का बध न हो, तब तक भुज्यमान एक आयु की सत्ता होती है और परभव की आयु का

बध होने पर दो की सत्ता होती है। यहाँ दो प्रकृतिक सत्ता रूप एक भूयस्कार होता है और वह भी तब जानना चाहिये जब परभव की आयु का बध हो। एक प्रकृतिक रूप एक अल्पतरसत्कर्म होता है और वह भी तब जब अनुभूयमान भव की आयु की सत्ता का नाश होने के बाद जिस समय परभव की आयु का उदय होता है। अवस्थितसत्कर्म-स्थान दोनो है। इसका कारण यह है कि दोनो सत्तास्थान अमुक काल पर्यन्त होते है। किन्तु अवक्तव्यसत्कर्म नही होता है। क्योकि आयु-कर्म की सत्ता का नाश होने के पश्चात् पुन उसका सत्व प्राप्त नही होता है।

दर्शनावरण—इसके तीन सत्तास्थान है—नौ प्रकृतिक, छह प्रकृतिक और चार प्रकृतिक। इनमे से क्षपकश्रेणि की अपेक्षा अनिवृत्तिबादर-सम्परायगुणस्थान के सख्यात भाग पर्यन्त और उपशमश्रेणि की अपेक्षा उपशान्तमोहगुणस्थान पर्यन्त नौ प्रकृतियो की सत्ता होती है। क्षपकश्रेणि मे अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थान के सख्याता भागो के बाद से आरम्भ कर क्षीणमोह गुणस्थान के द्विचरम समय पर्यन्त छह प्रकृतियो की और चरम समय मे चार प्रकृतियो की सत्ता होती है।

दर्शनावरण के इन प्रकृतिस्थानो मे भूयस्कार एक भी घटित नही होता है। क्योकि क्षपकश्रेणि मे छह और चार की सत्ता होने के पश्चात् पतन नही होता है। अल्पतर दो है—१ छह प्रकृतिक और २ चार प्रकृतिक। नौ से छह की और छह से चार की सत्ता मे जाने से ये दो अल्पतर घटित होते है। अवस्थितसत्कर्म दो है—१ नौ प्रकृतिक और २ छह प्रकृतिक। इनमे से नौ की सत्ता अभव्य के अनादि-अनन्त और भव्य के अनादि-सान्त है और छह की सत्ता अन्तर्मुहूर्त मात्र ही होती है तथा चार प्रकृतिक सत्तास्थान एक समय मात्र ही होने से वह अवस्थित रूप नही होता है तथा समस्त प्रकृतियो का विच्छेद होने के

पश्चात् पुन सत्ता सम्भव न होने से अवक्तव्यसत्कर्म भी घटित नही होता है।

मोहनीयकर्म—मोहनीय के पन्द्रह सत्तास्थान होते हैं—१ अट्ठाईस प्रकृतिक, २ सत्ताईस प्रकृतिक, ३ छब्बीस प्रकृतिक, ४ चौबीस प्रकृतिक ५ तेईस प्रकृतिक, ६ बाईस प्रकृतिक, ७ इक्कीस प्रकृतिक, ८ तेरह प्रकृतिक, ९ बारह प्रकृतिक, १० ग्यारह प्रकृतिक, ११ पाच प्रकृतिक, १२ चार प्रकृतिक, १३ तीन प्रकृतिक, १४ दो प्रकृतिक और १५ एक प्रकृतिक।[1]

जिनका विवरण इस प्रकार है—जब सभी प्रकृतियो की सत्ता हो तब अट्ठाईस प्रकृतिक स्थान होता है। उसमे से सम्यक्त्वमोहनीय की उद्वलना करने पर सत्ताईस प्रकृतिक और मिश्रमोहनीय की उद्वलना करने अथवा अनादि मिथ्यादृष्टि के छब्बीस प्रकृतिक तथा अट्ठाईस मे से अनन्तानुबधिकषायचतुष्क का क्षय होने पर[2] चौबीस प्रकृतिक, मिथ्यात्व का क्षय होने पर तेईस प्रकृतिक, मिश्रमोहनीय का क्षय होने पर बाईस प्रकृतिक और सम्यक्त्वमोहनीय का क्षय होने पर इक्कीस प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। तत्पश्चात् क्षपकश्रेणि मे आठ कषाय का क्षय होने पर इक्कीस प्रकृतियो मे से उनको कम करने पर तेरह प्रकृतिक, नपु सकवेद का क्षय होने पर बारह प्रकृतिक, स्त्रीवेद का क्षय होने पर ग्यारह प्रकृतिक, छह नोकषायो का क्षय होने पर पाच प्रकृतिक, पुरुषवेद का क्षय होने पर चार प्रकृतिक, सज्वलन क्रोध का क्षय होने पर तीन प्रकृतिक, सज्वलन मान का क्षय होने पर दो प्रकृतिक और सज्वलन माया का क्षय होने पर एक प्रकृतिक सत्तास्थान होता है।

---

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य मे भी इसी प्रकार मोहनीयकर्म के पन्द्रह सत्तास्थानो का निर्देश किया है। देखिए पचसग्रह सप्ततिका अधिकार *गाथा* ३३।

२ दिगम्बर कर्मसाहित्य मे अनन्तानुबन्धिचतुष्क का क्षय अथवा विसयोजन होने पर मोहनीयकर्म का चौबीस प्रकृतिक *सत्वस्थान होना बताया है*।

इन पन्द्रह स्थानो मे अवस्थितसत्कर्म पन्द्रह है। इसका कारण यह है कि समस्त सत्तास्थानो मे कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त अवस्थान—स्थिरता सभव है और अल्पतर चौदह होते है। जिन्हे अट्ठाईस के सत्कर्मस्थान को छोडकर शेष चौदह स्थान मे समझना चाहिये तथा अट्ठाईस का सत्तास्थान रूप भूयस्कारसत्कर्म एक ही है। क्योकि चौबीस के सत्तास्थान से अथवा छब्बीस के सत्तास्थान से अट्ठाईस के सत्तास्थान मे आया जाता है। शेष सत्तास्थान भूयस्कर रूप नही हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि अनन्तानुबधिकषाय, सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय के सिवाय शेष प्रकृतियो की सत्ता का नाश होने के पश्चात् पुन उनकी सत्ता प्राप्त नही होती है तथा मोहनीयकर्म की समस्त प्रकृतियो की सत्ता का नाश होने के बाद पुन उनकी सत्ता प्राप्त न होने से अवक्तव्यसत्कर्म घटित नही होता है।

नामकर्म—इसके बारह सत्तास्थान है—१ तेरानवै प्रकृतिक, २ बानवै प्रकृतिक, ३ नवासी प्रकृतिक, ४ अठासी प्रकृतिक, ५ छियासी प्रकृतिक, ६ अस्सी प्रकृतिक, ७ उन्यासी प्रकृतिक, ८ अठहत्तर प्रकृतिक, ९ छियहत्तर प्रकृतिक, १० पचहत्तर प्रकृतिक, ११ नौ प्रकृतिक और १२ आठ प्रकृतिक।[1] जिनका विवरण इस प्रकार है—

---

१ कर्मप्रकृति मे नामकर्म के बारह सत्त्वस्थान इस प्रकार हैं—१०३, १०२, ९६, ९५, ९३, ९०, ८९, ८४ ८३, ८२, ९ और ८ प्रकृतिक। इनमे अन्तर इतना ही है कि य स्थान बधननामकर्म के १५ भेद करके बताये हैं।

दिगम्बर कर्मसाहित्य मे नामकर्म के तेरह सत्त्वस्थान बतलाये हैं। देखिए गो कर्मकाड गाथा ६०९ और पचसग्रह सप्ततिका अधिकार गाथा २०८।

वे तेरह सत्त्वस्थान इस प्रकार है—९३, ९२, ९१, ९०, ८८, ८४, ८२, ८०, ७९, ७८, ७७, १० और ९ प्रकृतिक।

→

नामकर्म की समस्त प्रकृतिया तेरानवै है। जब ये प्रकृतिया सत्ता मे है तब तेरानवै प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। तीर्थंकरनामकर्म की सत्ता न हो तब बानवै प्रकृतिक, तीर्थंकर नामकम की सत्ता हो किन्तु आहारकद्विक—आहारकशरीर, आहारक अगोपाग—आहारकबधन और आहारकसघात इन चार प्रकृतियो की सत्ता न हो तब नवासी प्रकृतिक और तीर्थंकरनामकर्म की भी सत्ता न हो तब अठासी प्रकृतिक स्थान होता है। इन चार सत्तास्थानो की **प्रथम** यह सज्ञा है, यानी ये **प्रथम सत्तास्थानचतुष्क** कहलाते हैं।

उक्त चार सत्तास्थानो मे मे नामकर्म की तेरह प्रकृतियो का क्षय होने पर **द्वितीय सत्तास्थानचतुष्क** होता है। जो अस्सी, उन्यासी, छियत्तर और पचहत्तर प्रकृतियो की सख्या वाला है। यह **द्वितीय सत्तास्थान-चतुष्क** कहलाता है।

प्रथम सत्तास्थानचतुष्क सम्बन्धी अठासी प्रकृतिक सत्तास्थान मे से देवद्विक अथवा नरकद्विक की उद्वलना करने पर छियासी प्रकृतिक,

---

९३ प्रकृतिक सत्त्वस्थान मे नामकर्म की सब प्रकृतियो की सत्ता स्वीकार की है। तीर्थंकरनाम को कम कर देने पर ९२ प्रकृतिक और ९३ मे से आहारकद्विक को कम करने पर ८९ प्रकृतिक तथा तीर्थंकर, आहारकद्विक को कम करने पर ८८ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। ८८ प्रकृतिक स्थान से देवद्विक की उद्वलना होने पर ८६ प्रकृतिक, इसमे से नारकचतुष्क की उद्वलना होने पर ८० प्रकृतिक, इसमे से मनुष्यद्विक की उद्वलना होने पर ७८ प्रकृतिक सत्वस्थान होता है। क्षपक अनिवृत्ति-करण के ९३ प्रकृतियो मे से नरकद्विक आदि तेरह प्रकृतियो का क्षय होने पर ८० प्रकृतिक और ९२ मे से उक्त तेरह प्रकृतियो के कम करने पर ७९ प्रकृतिक और उक्त तेरह को ८९ मे से घटाने पर ७६ प्रकृतिक, ८८ मे से उक्त तेरह प्रकृतियो को घटाने पर ७५ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। तीर्थंकर अयोगिकेवली के १० प्रकृतिक और सामान्य केवली के ९ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है।

देवद्विक अथवा नरकद्विक की जिसने उद्वलना न की हो, किन्तु अब उसके साथ वैक्रियचतुष्क की भी उद्वलना करने पर अस्सी और उसमे से मनुष्यद्विक की उद्वलना करने पर अठहत्तर प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। प्राचीन ग्रन्थो मे इन तीन स्थानो की अध्रुव सज्ञा है तथा अयोगि अवस्था के चरम समय मे तीर्थंकर भगवान के नौ प्रकृतिक और सामान्य केवली के आठ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है।

यद्यपि अस्सी प्रकृतिक सत्तास्थान क्षपकश्रेणि मे तेरह प्रकृतियो का क्षय करने और अठासी मे से वैक्रिय-अष्टक का क्षय करने पर भी होता है। परन्तु दोनो मे सख्या समान होने से एक ही गिना है। इसलिये बारह सत्तास्थान है।

इन बारह सत्तास्थानो मे दस अवस्थितसत्कर्म है। क्योकि नौ प्रकृतिक और आठ प्रकृतिक सत्तास्थान एक समय मात्र के होने मे वे अवस्थित रूप नही है।

अल्पतरसत्कर्मस्थान दस है, जो इस प्रकार जानना चाहिये—प्रथम सत्तास्थानचतुष्क से द्वितीय सत्तास्थानचतुष्क मे जाने पर चार अल्पतर, दूसरे चतुष्क मे अयोगि के चरम समय मे नौ और आठ प्रकृतिक सत्तास्थान मे जाने पर दो अल्पतर, प्रथम सत्तास्थानचतुष्क मे के अठासी प्रकृतिक सत्तास्थान मे छियासी और अठहत्तर प्रकृतिक सत्तास्थान मे जाने पर दो अल्पतर तथा तेरानवै और बानवै के सत्तास्थान से आहारकचतुष्क की उद्वलना करने पर नवासी और अठासी प्रकृतिक सत्तास्थान मे जाने पर दो अल्पतरसत्कम होते है और ये चार, दो, दो और दो मिलकर कुल (४+२+२+२=१०) दस अल्पतर होते है।

अस्सी का अल्पतर नामकर्म की तेरह प्रकृतियो का क्षय करने पर भी होता है और वैक्रियाष्टक का क्षय करने पर भी होता है। किन्तु सख्यातुल्य होने से एक ही गिना है। क्योंकि अवधि-मर्यादा के कारण भेद नहीं गिना जाता है।

भूयस्कारसत्कर्मस्थान छह होते हैं। जो इस प्रकार जानना चाहिए कि अठहत्तर के स्थान से मनुष्यद्विक का वध करके अस्सी के सत्तास्थान मे जाने पर पहला भूयस्कार, वहाँ से नरकद्विक और वैक्रियचतुष्क अथवा देवद्विक और वैक्रियचतुष्क बाधकर छियासी प्रकृतियो के सत्तास्थान मे जाने पर दूसरा भूयस्कार, वहाँ से देवद्विक अथवा नरकद्विक बाधकर अठासी के सत्तास्थान मे जाने पर तीसरा भूयस्कार, तीर्थंकर नामकर्म का वध कर के नवासी के सत्तास्थान मे जाने पर चौथा भूयस्कार, तीर्थंकर के बध बिना आहारकचतुष्क का वध करके बानवै प्रकृतिक स्थान मे जाने पर पाचवा भूयस्कार और वहाँ से तीर्थंकरनाम का वध करके तेरानवै के सत्तास्थान मे जाने पर छठा भूयस्कार होता है। शेष सत्तास्थानो से अन्य अधिक सख्या वाले सत्तास्थानो मे जाना असभव होने से छह भूयस्कार ही होते है तथा नामकर्म की सभी उत्तर प्रकृतियो की सत्ता नष्ट होने के बाद पुन उनकी सत्ता सभव नही होने से अवक्तव्य-सत्तास्थान नही होता है।

इस प्रकार ज्ञानावरण आदि प्रत्येक कर्म की उत्तरप्रकृतियो के सत्ता-स्थान और उनमे भूयस्कार आदि का निर्देश जानना चाहिए। अब सभी उत्तर प्रकृतियो के सत्तास्थान एव उनमे भूयस्कार आदि का कथन करने के लिये सत्तास्थानो को बतलाते है।

सर्व उत्तर प्रकृतियो के सत्तास्थान, भूयस्कारादि

एक्कारबारसासी इगिचउपचाहिया य चउणउई।
एत्तो चोद्दसहिय सयं पणवीसाओ य छायाल ॥२१॥
बत्तीसं नत्थि सय एवं अडयाल सत ठाणाणि।
जोगि अघाइचउक्के भण खिविउ घाइसताणि ॥२२॥

शब्दार्थ—एक्कार—ग्यारह, बारसासी—बारह, अस्सी, इगिचउपचाहिया—एक, चार, पाच अधिक, य—और, चउणउई—चौरानवै, एत्तो—इसके बाद,

चोद्दसहिय—चौदह अधिक, **सय**—सौ, **पणवीसाओ**—पच्चीस, **य**—और, **छायाल**—छियालीस।

बत्तीस—बत्तीस, **नत्थि**—नही है, **सय**—सौ अर्थात् एक सौ बत्तीस का स्थान नही है, **एव**—इस प्रकार, **अडयाल**—अडतालीस, **सत**—सत्ता, **ठाणाणि**—स्थान, **जोगि**—सयोगिकेवली, **अघाइचउक्के**—अघातिकमचतुष्क के स्थानो मे **भण**—कहना चाहिये, **खिविउ**—प्रक्षेप करके, मिलाकर, **घाइसताणि**—घातिकर्म के सत्तास्थान।

गाथार्थ—ग्यारह, बारह, अस्सी तथा एक, चार और पाच अधिक अस्सी, चोरानवै और उसके बाद एक सौ चौदह पर्यन्त सभी, उसके बाद एक सौ पच्चीस से लेकर एक सौ छियालीस तक के सभी किन्तु बीच मे एक सौ बत्तीस को छोड देना चाहिये। इस प्रकार कुल अडतालीस सत्तास्थान होते है। सयोगिकेवली के अघातिकर्म के चार सत्तास्थानो मे घातिकर्म के सत्तास्थानो को मिलाकर उपर्युक्त सत्ता-स्थान कहना चाहिए।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओ मे ज्ञानावरण आदि आठो कर्म की समस्त उत्तर प्रकृतियो के सामान्य से सत्तास्थान बतलाये है और उनमे भूयस्कार आदि का विचार किया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सामान्य से सभी कर्मो की सत्ता योग्य एक सौ अडतालीस प्रकृ-तिया है। किन्तु प्रत्येक जीव को प्रत्येक समय उन सभी एक सौ अडतालीस प्रकृतियो की सत्ता नही होती है। परन्तु जीव की योग्यता के अनुसार प्रकृतिया पाई जाती है। इसी अपेक्षा सत्तास्थान अडता-लीस है और उनमे सकलित प्रकृतियो की सख्या इस प्रकार है—

१ ग्यारह, २ बारह, ३ अस्सी, ४ इक्यासी, ५ चौरासी, ६ पचासी, ७ चौरानवै, ८ पचानवै, ६ छियानवै, १० सत्तानवै, ११ अट्ठानवै, १२ निन्यानवै, १३ सौ, १४ एक सौ एक, १५ एक सौ दो, १६ एक सौ तीन, १७ एक सौ चार, १८ एक सौ पाच, १६ एक सौ छह, २० एक सौ

सात, २१ एक सौ आठ, २२ एक सौ नौ, २३ एक सौ दस, २४ एक सौ ग्यारह, २५ एक सौ बारह, २६ एक सौ तेरह, २७ एक सौ चौदह, २८ एक सौ पच्चीस, २९ एक सौ छब्बीस, ३० एक सौ सत्ताईस, ३१ एक सौ अट्ठाईस, ३२ एक सौ उनतीस, ३३ एक सौ तीस, ३४ एक सौ इकतीस, ३५ एक सौ तेतीस, ३६ एक सौ चौतीस, ३७ एक सौ पैंतीस, ३८ एक सौ छत्तीस, ३९ एक सौ सैंतीस, ४० एक सौ अडतीस, ४१ एक सौ उनतालीस, ४२ एक सौ चालीस, ४३ एक सौ इकतालीस, ४४ एक सौ बयालीस, ४५ एक सौ तेतालीस, ४६ एक सौ चवालीस, ४७ एक सौ पैंतालीस और ४८ एक सौ छियालीस। प्रत्येक के साथ प्रकृतिक शब्द जोड लेना चाहिये।

ये सत्तास्थान जिस प्रकार से बनते है, अब उसका विचार करते है—

सयोगिकेवली के अघाति प्रकृति सम्बन्धी अस्सी आदि जो चार सत्तास्थान है, उनमे घातिकर्म सम्बन्धी सत्तास्थानो को अनुक्रम से मिलाने पर ये अडतालीस सत्तास्थान होते है। इस सक्षिप्त कथन का विशेषता के साथ स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सामान्य केवली के अयोगिगुणस्थान के चरम समय मे तीर्थंकर-नाम रहित ग्यारह प्रकृतियो का और उसी समय तीर्थंकर केवली के तीर्थंकरनाम सहित बारह प्रकृतियो का सत्तास्थान होता है। उन बारह प्रकृतियो के नाम इस प्रकार है—मनुष्यायु, मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, त्रसनाम, बादरनाम, पर्याप्तनाम, सुभग, आदेय, यश कीर्ति, तीर्थंकर, अन्यतर वेदनीय और उच्चगोत्र।

सयोगिकेवली अवस्था मे अस्सी, इक्यासी, चौरासी और पचासी प्रकृतिक, इस प्रकार चार सत्तास्थान होते हैं। उनमे अस्सी प्रकृतियो के नाम इस प्रकार है—

देवद्विक, औदारिकचतुष्क, वैक्रियचतुष्क, तैजसशरीर, कार्मण-

शरीर, तैजसबधन, कार्मणबधन, तैजससघातन, कार्मणसघातन, सस्थानषट्क, सहननषट्क, वर्णादिबीस, अगुरुलघु, पराघात, उपघात, उच्छ्वास, विहायोगतिद्विक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दु स्वर, दुर्भग, अयश कीर्ति, अनादेय, निर्माण, प्रत्येक, अपर्याप्त, मनुष्यानुपूर्वी, नीचगोत्र और अन्यतर वेदनीय ये उनहत्तर प्रकृतिया है। इनमे पूर्वोक्त मनुष्यायु आदि बारह प्रकृतियो मे से तीर्थंकर रहित ग्यारह प्रकृतियो को मिलाने पर अस्सी प्रकृतिया होती है। यही अस्सी तीर्थंकरनाम सहित इक्यासी, आहारकचतुष्क सहित चौरासी तथा तीर्थंकर और आहारकचतुष्क को युगपत् मिलाने पर पचासी प्रकृतिया होती है।

इन चार सत्तास्थानो मे से अस्सी और चौरासी प्रकृतिक ये दो सत्तास्थान सामान्य केवली के और इक्यासी एव पचासी प्रकृतिक ये सत्तास्थान तीर्थंकर केवली के होते है। तीर्थंकर और अतीर्थंकर ये दोनो एक दूसरे के सत्तास्थानो मे नही जाने वाले होने से तथा तीर्थंकर आदि का बध नही होने से एक भी भूयस्कार नही होता है और अस्सी एव चौरासी के सत्तास्थानो से ग्यारह के सत्तास्थान मे जाने से तथा इक्यासी एव पचासी के सत्तास्थानो से बारह के सत्तास्थान मे जाने से ग्यारह और बारह प्रकृतियो के सत्तास्थान दो अल्पतरसत्कर्मस्थान होते है।

पूर्वोक्त अस्सी आदि चार सत्तास्थानो मे ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणचतुष्क और अन्तरायपचक, इन चौदह प्रकृतियो को मिलाने से चौरानवै, पचानवै, अट्ठानवै और निन्यानवै प्रकृतिक चार सत्तास्थान होते है। ये सत्तास्थान 'क्षीणमोहगुणस्थान के चरम समय मे नाना जीवो की अपेक्षा होते है।

इन्ही चौरानवै आदि चार सत्तास्थानो मे निद्रा और प्रचला का प्रक्षेप करने से छियानवै, सत्तानवै, सौ और एक सौ एक प्रकृतिक रूप चार सत्तास्थान होते है। ये चारो सत्तास्थान क्षीणमोहगुणस्थान के द्विचरमसमय पर्यन्त अनेक जीवो की अपेक्षा घटित होते है। किन्तु

यहाँ ऊपर के गुणस्थान से पतन नही होने के कारण एक भी भूयस्कार नही होता है तथा क्षीणमोहगुणस्थान के चरमसमयवर्ती चौरानवै और अट्ठानवै प्रकृतिक सत्तास्थान से अस्सी और चौरासी के सत्तास्थान मे जाने से और पचानवै तथा निन्यानवै के सत्तास्थान से इक्यासी और पचासी के सत्तास्थान मे जाने मे अस्सी, चौरासी एव इक्यासी, पचासी के सत्तारूप चार अल्पतर होते हैं। इसी प्रकार छियानवै एव सौ के सत्तास्थान से चौरानवै और अट्ठानवै के सत्तास्थान मे जाने से तथा सत्तानवै एव [एक सौ एक के सत्तास्थान से पचानवै और निन्यानवै के सत्तास्थान मे जाने से चौरानवै, अट्ठानवै, और पचानवै, निन्यानवै के सत्तारूप चार अल्पतरसत्कर्म होते है।

पूर्वोक्त छियानवै आदि चार सत्तास्थानो मे सज्वलन लोभ का प्रक्षेप करने पर सत्तानवै, अट्ठानवै, एक सौ एक और एक सौ दो प्रकृतिक रूप चार सत्तास्थान होते है। ये सत्तास्थान दसवे सूक्ष्म-सम्परायगुणस्थान मे होते है।

तत्पश्चात् इन्ही चार मे सज्वलन माया के मिलाने पर अट्ठानवै, निन्यानवै, एक सौ दो और एक सौ तीन प्रकृतिक ये चार सत्तास्थान होते है। ये सत्तास्थान अनिवृत्तिबादरसम्पराय नामक नौवै गुणस्थान के अन्त मे होते है।

तथा इसी गुणस्थान मे सज्वलन मान का प्रक्षेप करने पर निन्यानवै, सौ, एक सौ तीन और एक सौ चार प्रकृत्यात्मक चार सत्तास्थान होते है। तथा—

इन्ही चार सत्तास्थानो मे सज्वलन क्रोध का प्रक्षेप करने पर क्रमश सौ, एक सौ एक, एक सौ चार और एक सौ पाच प्रकृतिक रूप चार सत्तास्थान होते हैं। तथा—

इसी गुणस्थान मे पुरुषवेद का प्रक्षेप करने पर एक सौ एक, एक सौ दो, एक सौ पाच और एक सौ छह प्रकृतिक इस तरह चार सत्तास्थान होते है। तथा—

इसी गुणस्थान मे हास्यादिषट्क का प्रक्षेप करने पर एक सौ सात, एक सौ आठ, एक सौ ग्यारह और एक सौ बारह प्रकृतिक इस प्रकार चार सत्तास्थान होते हैं।

तत्पश्चात् स्त्रीवेद का प्रक्षेप करने पर एक सौ आठ, एक सौ नौ, एक सौ बारह और एक सौ तेरह प्रकृतिक इस तरह चार सत्तास्थान होते हैं।

तदनन्तर इसी गुणस्थान मे नपु सकवेद का प्रक्षेप करने पर एक सौ नौ, एक सौ दस, एक सौ तेरह और एक सौ चौदह प्रकृतिक ये चार सत्तास्थान होते हैं। तथा—

इन्हीं चार सत्तास्थानो मे इसी गुणस्थान मे नरकद्विकादि नामकर्म की तेरह प्रकृतियो[1] और स्त्यानर्द्धित्रिक, कुल सोलह प्रकृतियो का प्रक्षेप करने पर एक सौ पच्चीस, एक सौ छब्बीस, एक सौ उनतीस और एक सौ तीस प्रकृतिक ये चार सत्तास्थान होते हैं।

तत्पश्चात् इसी गुणस्थान मे अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क और प्रत्याख्यानावरणचतुष्क इन आठ कषायो का प्रक्षेप करने पर एक सौ तेतीस, एक सौ चौंतीस, एक सौ सैंतीस और एक सौ अडतीस प्रकृतिक ये चार सत्तास्थान होते हैं। ये सभी सत्तास्थान नौवें गुणस्थान मे होते है।

पूर्व के क्षीणमोहगुणस्थान सम्बन्धी छियानवै, सत्तानवै, सौ और एक सौ एकप्रकृति वाले चार सत्तास्थानो मे मोहनीय की बाईस, स्त्यानर्द्धित्रिक और नामत्रयोदशक प्रकृतियो का प्रक्षेप करने पर एक सौ

---

१ स्थावरद्विक, तिर्यंचद्विक, नरकद्विक, आतपद्विक, एकेन्द्रियादि जातिचतुष्क और साधारण नाम, ये तेरह प्रकृतियां नामत्रयोदश के रूप उल्लिखित की जाती हैं। यहां तथा आगे जहां भी नामत्रयोदश का संकेत किया जाये वहां नामकर्म की इन तेरह प्रकृतियो को ग्रहण करना चाहिए।

चौतीस, एक सौ पंतीस, एक सौ अडतीस और एक सौ उनतालीस प्रकृतिक चार सत्तास्थान होते हैं। इनमे नौवें गुणस्थान के अन्तिम चार सत्तास्थानो की मोहनीयकर्म की बारह कपाय और नव नोकषायो के साथ सम्यक्त्वमोहनीय अधिक ली है।

जिस क्रम से प्रकृतियो का क्षय किया जाता है, उससे विपरीत पश्चानुपूर्वी के क्रम से प्रकृतियो का प्रक्षेप करने पर उपर्युक्त सत्तास्थान होते है।

पूर्वोक्त क्षीणकषाय सम्बन्धी छियानवै आदि चार सत्तास्थानो मे मिश्रमोहनीय सहित मोहनीय की तेईस, नामत्रयोदश और स्त्यानर्द्धित्रिक का प्रक्षेप करने पर एक सौ पंतीस, एक सौ छत्तीस, एक सौ उनतालीस और एक सौ चालीस प्रकृत्यात्मक ये चार सत्तास्थान होते है। तथा—

उन छियानवै आदि चार स्थानो मे मिथ्यात्वमोहनीय के साथ मोहनीय की चौबीस, नामत्रयोदश और स्त्यानर्द्धित्रिक का प्रक्षेप करने पर एक सौ छत्तीस, एक सौ सैतीस, एक सौ चालीस और एक सौ इकतालीस प्रकृतिक ये चार सत्तास्थान होते है। तथा—

उन्ही छियानवै प्रकृतिक आदि चार सत्तास्थानो मे मोहनीय की छब्बीस, स्त्यानर्द्धित्रिक और नामत्रयोदश का प्रक्षेप करने पर एक सौ अडतीस, एक सौ उनतालीस, एक सौ बयालीस और एक सौ तेतालीस प्रकृतिक चार सत्तास्थान होते है। तथा—

उन्ही छियानवै प्रकृतिक आदि चार सत्तास्थानो मे मोहनीय की सत्ताईस, नामत्रयोदश और स्त्यानर्द्धित्रिक का प्रक्षेप करने पर एक सौ उनतालीस, एक सौ चालीस, एक सौ तेतालीस और एक सौ चवालीस प्रकृति वाले चार सत्तास्थान होते है। तथा—

उन्ही छियानवै आदि प्रकृतिक चार सत्तास्थानो मे मोहनीय की अट्ठाईस, स्त्यानर्द्धित्रिक और नामत्रयोदश का प्रक्षेप करने पर एक

सौ चालीस, एक सौ इकतालीस, एक चवालीस और एक सौ पैंतालीस प्रकृतिक चार सत्तास्थान होते हैं।

इस प्रकार मोहनीय की बाईस आदि प्रकृतियों के प्रक्षेप द्वारा होने वाले एक सौ चौंतीस आदि सत्तास्थानों से प्रारम्भ कर एक एक सौ पैंतालीस प्रकृतिक तक के सत्तास्थान अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयतगुणस्थान पर्यन्त होते हैं।[1]

ऊपर जो एक सौ पैंतालीस का सत्तास्थान कहा है, वही परभव की आयु का बंध होते समय एक सौ छियालीस प्रकृतिक सत्तास्थान होता है।

जब तेजस्कायिक और वायुकायिक भव में वर्तमान जीव के नामकर्म की अठहत्तर प्रकृति और नीचगोत्र की सत्ता हो तब ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, वेदनीयद्विक, मोहनीय की छब्बीस, अन्तरायपंचक, तिर्यंचायु, नामकर्म की अठहत्तर और नीचगोत्र, इस प्रकार एक सौ सत्ताईस प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। वही जब परभव संबन्धी तिर्यंचायु का बंध करे तब एक सौ अट्ठाईस प्रकृतिक सत्तास्थान होता

---

१ यहाँ जो भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा चौथे से सातवें गुणस्थान तक एक सौ चौंतीस से एक सौ पैंतालीस तक के सत्तास्थान बतलाते हैं, वे कर्मप्रकृति सत्ताधिकार गा० १३ और उसकी टीका में उल्लिखित अन्य आचार्यों के मत की अपेक्षा हैं। क्योंकि उनके मत में पहले दर्शनत्रिक का और उसके बाद अनन्तानुबंधिचतुष्क का क्षय करता है। इस मत के अनुसार विचार किया जाये तो मिथ्यात्व का क्षय होने के बाद मोहनीय की सत्ताईस प्रकृतियों की और मिश्र का क्षय होने के बाद छब्बीस प्रकृतियों की सत्ता चौथे से सातवें गुणस्थान तक सम्भव है। विद्वज्जन समाधान करने की कृपा करें।

है[1] तथा वनस्पतिकाय के जीवो मे स्थिति का क्षय होने से जव देवद्विक, नरकद्विक और वैक्रियचतुष्क इन आठो प्रकृतियो की सत्ता का नाश और नामकर्म की अस्सी प्रकृतियो की सत्ता हो तव वेदनीयद्विक, गोत्रद्विक, अनुभूयमान तिर्यंचायु, ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणनवक, मोहनीय छव्वीस और अन्तराय-पचक इस प्रकार एक सौ तीस प्रकृतिक सत्तास्थान होता है और परभव की आयु का वध करे तव एक सौ इकतीस प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। इस प्रकार सत्तास्थानो का विचार करने पर एक सौ वत्तीस का सत्तास्थान सभव नही होने से ग्रन्थकार आचार्य ने उसका निषेध किया है कि—'वत्तीस नत्थि सय'—अर्थात् एक सौ वत्तीस प्रकृतिक सत्तास्थान नही होता है।

यद्यपि सत्तानवै आदि प्रकृतिक सत्तास्थान उक्त प्रकार से अन्य-अन्य उनके योग्य प्रकृतियो का प्रक्षेप करने से दूसरी तरह से भी बन सकते है, लेकिन उनमे सख्या तुल्य होने से एक की ही विवक्षा की है। इस प्रकार एक ही सत्तास्थान भी दूसरी-दूसरी रीति से हो सकता है, किन्तु उससे सत्तास्थानो की सख्या मे वृद्धि नही होती है, अन्तर नही आता है। इसीलिए अडतालीस ही सत्तास्थान होते हैं, कम-बढ नही होते है।

इन सत्तास्थानो मे समस्त कर्मप्रकृतियो की सत्ता का विच्छेद होने के वाद पुन उनकी सत्ता प्राप्त नही होने से अवक्तव्यसत्कर्म घटित नही होता है तथा अवस्थितसत्कर्मस्थान चवलीस हैं। क्योकि ग्यारह

---

१ यहाँ प्रश्न होता है कि तेज और वायु काय मे वर्तमान एक सौ सत्ताईस की सत्ता वाले जीव को परभव सम्बन्धी तिर्यंचायु का बध होने पर एक सौ अट्ठाईस प्रकृतिक सत्तास्थान होता है, ऐसा कहा है। यद्यपि ये जीव तिर्यंचायु के सिवाय अन्य आयु का वध नही करते है, यह ठीक है, किन्तु एक सौ सत्ताईस मे पहले से ही तिर्यचायु की सत्ता होने पर भी पुन तिर्यचायु लेकर एक सौ अट्ठाईस की सत्ता कैसे की जा सकती है? विद्वज्जनो से समाधान की अपेक्षा है।

और बारह का सत्तास्थान अयोगिकेवली के चरम समय मे तथा चौरानवै और पचानवै का सत्तास्थान क्षीणमोहगुणस्थान के चरम समय मे होता है। जिसमे ये चार सत्तास्थान एक समय प्रमाण के ही होने मे अवस्थित रूप से सम्भव नही है। जिसमे चवालीस अवस्थित-सत्कर्मस्थान होते है।

अल्पतरसत्कर्मस्थान सैंतालीस है। जो पहले सयोगिकेवलीगुण-स्थान के सत्तास्थानो मे घातिकर्म की प्रकृतियो का क्रमश प्रक्षेप करते हुए एक सौ छियालीस तक के सत्तास्थान कहे गये है, उनमे से पश्चा-नुपूर्वी मे प्रकृतियो को कम करने पर सैंतालीस होते है।

भूयस्कार सत्रह है। ये भूयस्कार तेज और वायुकाय मे एक सौ सत्ताईस के सत्तास्थान मे आरम्भ कर आगे के सत्तास्थानो मे सभव है। क्योकि इसमे पहले के सत्तास्थान क्षपकश्रेणि मे होने मे और वहाँ से पतन न होने के कारण उनमे भूयस्कार सभव नही है तथा एक सौ तेतीस व एक सौ सत्ताईस के सत्तास्थान अल्पतर रूप मे प्राप्त होने से वे भी भूयस्कार रूप मे सभव नही होने से भूयस्कार सत्रह माने जाते है। साराश यह हुआ कि एक सौ अट्ठाईस से एक सौ इकतीस तक के चार और एक सौ चौतीस से एक सौ छियालीस तक के तेरह इस प्रकार सत्रह सत्तास्थान भूयस्कार रूप मे प्राप्त होते है। सक्षेप मे जिनका विवरण इस प्रकार है—

तेज और वायुकाय मे मनुष्यद्विक और उच्चगोत्र की उद्वलना करने के पश्चात् ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणनवक, वेदनीयद्विक, मोहनीय छब्बीस, आयु एक, गोत्र एक, अन्तरायपचक और नामकर्म की अठहत्तर इस प्रकार एक सौ सत्ताईस प्रकृतियो की सत्ता होती है और आयु का बध करने पर एक सौ अट्ठाईस का सत्तास्थान होता है। एक सौ सत्ताईस की सत्तावाले पृथ्वीकायिक आदि जीव मनुष्यद्विक का बध करें तब एक सौ उनतीस का उच्चगोत्र अथवा आयु का बध होने

पर एक सौ तीस का और दोनो का वध करने पर एक सौ इकतीस का सत्तास्थान होता है तथा आयु रहित एक सौ तीस की सत्तावाला पचेन्द्रिय वैक्रियषट्क का वध करे तव एक सौ छत्तीस का और आयु का वध करने पर एक सौ सैंतीस का सत्तास्थान होता है तथा एक सौ छत्तीस की सत्ता वाला देवद्विक अथवा नरकद्विक का वध करे तव एक सौ अडतीस का और वही आयु का वध करे तव एक सौ उनतालीस का सत्तास्थान होता है तथा आयुविहीन एक सौ अडतीस की सत्ता वाले के जब उपशमसम्यक्त्व प्राप्त हो तव सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय की सत्ता प्राप्त हो तब एक सौ चालीस का सत्तास्थान होता है और एक सौ चालीस की सत्ता वाला सम्यग्दृष्टि तीर्थकरनाम का वध करे तब एक सौ इकतालीस का तथा उसी एक सौ चालीस की सत्ता वाले सम्यक्त्वी के तीर्थंकर के बिना आहारकचतुष्क का बध हो तब एक सौ चवालीस का, तीर्थंकर और आहारकचतुष्क दोनो का बध होने पर एक सौ पैतालीस का और देवायु का बध होने पर एक सौ छियालीस का सत्तास्थान होता है। इस तरह १२८, १२९, १३०, १३१, १३६, १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४४, १४५, १४६ प्रकृतिक सत्तास्थान भूयस्कार रूप से प्राप्त होते है। तथा—

क्षायिक सम्यग्दृष्टि के ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणनवक, वेदनीयद्विक, मोहनीय इक्कीस, आयु एक, नाम अठासी, गोत्रद्विक और अन्तरायपचक, इस प्रकार एक सौ तेतीस प्रकृतियो की सत्ता होती है। उसमे तीर्थंकर का बध होने पर एक सौ चौतीस का, आयुबध मे एक सौ पैंतीस का, तीर्थंकर और आयु के बध बिना आहारकचतुष्क का बध होने पर एक सौ सैंतीस का, तीर्थंकर के बध मे एक सौ अडतीस का और आयु का बध होने पर एक सौ उनतालीस का सत्तास्थान होता है। इस प्रकार क्षायिक सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा पाच सत्तास्थान भूयस्कार रूप मे प्राप्त होते है। उनमे से आदि के दो लेना चाहिए, किन्तु शेष समान सख्या वाले होने से ग्रहण नही किये हैं। तथा—

अनन्तानुबधिविसयोजक क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के ज्ञानावरण-पचक, दर्शनावरणनवक, वेदनीयद्विक, मोहनीय चौवीस, आयु एक, नाम अठासी, गोत्रद्विक और अन्तरायपचक, इस प्रकार एक सौ छत्तीस प्रकृतियो का सत्तास्थान होता है। तीर्थकरनाम का बध होने पर एक सौ सैतीस का, आयु के बध मे एक सौ अडतीस का तथा एक सौ छत्तीस की सत्तावाले के आहारकचतुष्क का बध होने पर एक सौ चालीस का, तीर्थंकरनाम का बध होने पर एक सौ इकतालीस का और देवायु का बध होने पर एक सौ बयालीस का सत्तास्थान होता है। इस प्रकार यह १३७, १३८, १४०, १४१, १४२ प्रकृतिक पाच सत्तास्थान भूयस्कार रूप मे प्राप्त होते है। इनमे से अन्तिम सत्तास्थान भूयस्कार रूप मे ले। क्योकि कि शेष समसख्या वाले होने से ग्रहण नही किये है। इस प्रकार भूयस्कारो का विधान जानना चाहिये।[1]

---

१ आचार्य मलयगिरिसूरि ने अपनी टीका एव स्वोपज्ञवृत्ति मे सत्रह भूयस्कारो के उल्लेख मे एक सौ तेतालीस प्रकृतिक सत्तास्थान का भी ग्रहण किया है। लेकिन पूर्वोक्त प्रकार से विचार करने पर सोलह भूयस्कार सम्भव है। एक सौ तेतालीस प्रकृतिक भूयस्कार नही बनता है। क्योकि यदि आहारकचतुष्क की उद्वलना के पल्योपम का असख्यातवा भाग बडा हो और मिश्रमोहनीय की उद्वलना के पल्योपम का असख्यातवा भाग छोटा हो, जिससे मिश्रमोहनीय की उद्वलना होने के बाद भी आहारकचतुष्क की सत्ता रहती हो तो ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणनवक, वेदनीयद्विक, मोहनीय सत्ताईस, आयु एक, नाम बानवै गोत्रद्विक और अन्तरायपचक इस तरह एक सौ तेतालीस प्रकृतिक सत्तास्थान सम्भव है। किन्तु वह भूयस्कार रूप तो सम्भव नही होगा। क्योकि मोहनीय की अट्ठाईस प्रकृतियो के साथ एक सौ चवालीस प्रकृतियो की सत्ता वाला सम्यक्त्व-मोहनीय की उद्वलना करके एक सौ तेतालीस के सत्तास्थान मे जाता है, जिससे यह अल्पतर रूप मे घटित हो सकता है, भूयस्कार रूप मे नही। इसका कारण बहुश्रुत स्पष्ट करने की कृपा करें।

मूल एव उत्तर प्रकृतियो एव समस्त उत्तर प्रकृतियो के बधादि एव उनके भूयस्कारो आदि प्रकारो को बतलाने[1] के बाद अब सादि आदि भेदो का कथन करते है। सादि आदि के चार प्रकारो के नाम पूर्व मे बतलाये जा चुके है—सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव। जिसके लक्षण इस प्रकार है—जो बधादि आदि—आरम्भ, शुरूआत युक्त हो वे सादि, जिनकी, आदि न हो वे अनादि, भविष्य मे जो बधादि सदैव रहने वाले हो, जिनका कभी नाश नही होता है वे ध्रुव—अनन्त और कालातर मे जिनका विच्छेद होता है वे अध्रुव—सात कहलाते है। इन चार भेदो मे से जिसके साथ जिसका सद्भाव अवश्यभावी है, इसका निरूपण करते है।

सादि आदि बधप्रकारो का भावाभावत्व

साइ अधुवो नियमा जीवविसेसे अणाइ अधुवधुवो।
नियमा धुवो अणाई अधुवो अधुवो व साई ॥२३॥

शब्दार्थ—साइ—सादि, अधुवो—अध्रुव, नियमा—नियम से, जीवविसेसे—जीव विशेष मे, अणाई—अनादि, अधुवधुवो—अध्रुव ध्रुव, नियमा—नियम से, अवश्य, धुवो—ध्रुव, अणाई—अनादि, अधुवो—अध्रुव अधुवो—अध्रुव, वा—और, साई—सादि, वा—अथवा।

गाथार्थ—जो बधादि सादि हो वे नियम से अध्रुव होते है। किन्तु जीव विशेष की अपेक्षा अनादि बधादि भी अध्रुव और ध्रुव होते हैं। जो ध्रुव होते हैं वे अवश्य अनादि और जो अध्रुव है, वे अध्रुव रूप मे रहते है अथवा सादि भी होते है।

विशेषार्थ—गाथा मे परस्पर भावाभाव की अपेक्षा सादि आदि बध प्रकार के सद्भाव का निरूपण किया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

---

१ सुगमता से बोध करने के लिए उक्त समग्र कथन का प्रारूप परिशिष्ट मे देखिए।

'साइ अधुवो नियमा'—अर्थात् जो बध सादि हो, जिसका प्रारम्भ हो, वह अवश्य ही अध्रुव होता है। इसका कारण यह है कि सादित्व तभी घट सकता है, जब पूर्व के बध का विच्छेद हो जाने के पश्चात् पुन नवीन बध का प्रारम्भ हो। इसलिए सादित्व बधविच्छेद पूर्वक ही होता है और तभी यह कहा जा सकता है कि जो बध सादि हो वह अवश्य निश्चित रूप से अध्रुव—सात होता है।

प्रकारान्तर से इसका फलितार्थ यह निकला कि अनादि बध को ध्रुव होना चाहिए। क्योकि अनादि सादि के विपरीत लक्षण वाला है।

लेकिन अनादि बध मे यह विशेपता है कि जीवविशेपो की अपेक्षा वह अध्रुव भी है और ध्रुव भी है—'जीवविसेसे अणाई अधुवधुवो।' इसका कारण यह है कि समस्त ससारी जीव भव्य और अभव्य की अपेक्षा दो प्रकार के है। अत अभव्य और भव्य रूप जीवो की अपेक्षा अनादि बध के दो प्रकार हो जाते है—ध्रुव और अध्रुव। अभव्य को जो बध अनादि है वह ध्रुव, अनन्त है किन्तु भव्य के अनादि बध का भविष्य मे नाश होना सभव होने से अध्रुव--सात होता है।

जो बंध ध्रुव होता है, वह अवश्य ही अनादि होता है—'नियमा धुवो अणाई'। क्योकि सर्वकाल अवस्थायी को ध्रुव कहते है और समस्त काल पर्यंत अवस्थायित्व अनादि के विना सभव नही है। अनादि के सिवाय ध्रुवत्व अनन्त हो ही नही सकता है तथा अध्रुव, सादि बध अनन्त काल पर्यन्त रह ही नही सकता है। इसका कारण यह है कि ऊपर के गुणस्थानो मे जाकर पूर्व के बध का विच्छेद कर पतित होने पर पुन बध का प्रारम्भ किया जाये तब वह सादि कहलाता है। जैसे कि पहले मिथ्यात्वगुणस्थान से ऊपर के गुणस्थानो मे आरोहण करने वाला जीव चाहे पतन होने पर पुन पहले गुणस्थान मे आये, परन्तु वह देशोन अर्धपुद्गलपरावर्तन से अधिक ससार मे नही रहता है, अत जब ऊपर के गुणस्थान मे जाता है तब बध का अत करता

ही है। इसीलिए जो बध सादि हो वह अवश्य सात—अध्रुव होता है तथा ऐसा भी होता है कि जिस बध का अत हो जाये पुन उसके बध का प्रारम्भ नही होता है। जैसे कि वेदनीयकर्म के बध का विच्छेद होने के बाद पुन उसका बध नही होता है और किसी कर्म के बध का विच्छेद हो जाने के बाद पुन उसके बध की शुरूआत भी होती है। जैसे कि ज्ञानावरणकर्म के बध का विच्छेद हो जाने के बाद पतन होने पर पुन उसके बध की शुरूआत होती है। इसीलिए यह कहा गया है है कि 'अधुवो अधुवो व साई वा'—अर्थात् जो बध अध्रुव हो वह अध्रुव रूप ही रहता है एव उस बध की आदि भी होती है।

इस प्रकार से सादि आदि बध के भेदो मे जिसके सद्भाव मे जो अवश्य होता है अथवा जिसके सद्भाव मे जो नही होता है, यह स्पष्ट किया।

ये सादि आदि भी जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट के भेद से चार भेद वाले है। उनमे से अजघन्य और अनुत्कृष्ट एक जैसे दिखते है, अत अब तद्गत विशेष को स्पष्ट करके उन दोनो मे अन्तर बतलाते है।

अजघन्य और अनुत्कृष्ट मे अन्तर—भेद

उक्कोसा परिवडिए साइ अणुक्कोसओ जहन्नाओ।
अब्बधाओ वियरो तदभावे दो वि अविसेसा ॥७४॥

शब्दार्थ—उक्कोसा—उत्कृष्ट से, परिवडिए—पतन होने पर, साइ—सादि, अणुक्कोसओ—अनुत्कृष्ट, जहन्नाओ—जघन्य, अब्बधाओ—अबधक होकर, वियरो—अथवा इतर अर्थात् पुन बध करने पर, तदभावे—उसके अभाव मे, दो वि—दोनो ही, अविसेसा—अविशेष, समान।

गाथार्थ—उत्कृष्ट से पतन होने पर अनुत्कृष्ट और जघन्य से पतन होने पर अथवा अबधक होकर पुन बंध करने पर

अजघन्य सादि होता है। उसके अभाव मे दोनो ही अविशेष—समान है।

विशेषार्थ—ग्रन्थकार आचार्य ने गाथा मे अनुत्कृष्ट और अजघन्य सम्बन्धी भ्रात धारणा का निराकरण करके उन दोनो मे अन्तर-भेद बतलाया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जघन्य से आरम्भ कर उत्कृष्ट पर्यन्त जो बध या उदय होता है, वह सब अजघन्य कहलाता है। किन्तु उसमे सर्वजघन्य बध या उदय का समावेश नही होता है तथा उत्कृष्ट से लेकर जघन्य पर्यन्त जो बध या उदय हो, वह सब अनुत्कृष्ट कहलाता है। किन्तु उसमे उत्कृष्टतम-अधिक से अधिक होने वाले बध या उदय का समावेश नही होता है, उससे नीचे के स्थान तक उसकी सीमा है। यद्यपि जघन्य और उत्कृष्ट के बीच के एव उत्कृष्ट और जघन्य के बीच के स्थान दोनो मे सदृश ही है। अत वे विशेपता के कारण नही है किन्तु तद्गत सादित्व विशेष का भेद होने मे दोनो मे विशेपता है और यही विशेप उन दोनो मे अन्तर–भेद का दिग्दर्शन कराता है कि उत्कृष्ट से पतन होने पर अनुत्कृष्ट सादि होता है। यानी परिणामविशेप से उत्कृष्ट बध करने के पश्चात् पारिणामिक मन्दस्थिति के कारण उत्कृष्ट बध मे गिरने पर अनुत्कृष्ट बध सादि होता है और जघन्य बध मे अथवा बधादि का विच्छेद करने के अनन्तर पतन होने पर अजघन्य बध सादि होता है। तात्पय यह हुआ कि जब तथाप्रकार के परिणामविशेप के द्वारा जघन्य बध करके वहाँ मे पतन होने पर अथवा उपशातमोहगुणस्थान को प्राप्त कर और अबधक होने के बाद परिणामो के परावर्तन के कारण वहाँ मे पतन होने पर अजघन्य बध सादि होता है। इस प्रकार अजघन्य और अनुत्कृष्ट का सादित्व भिन्न-भिन्न कारणो से उत्पन्न होने के कारण ये दोनो (अजघन्य और अनुत्कृष्ट) भिन्न है, एक नही है।

अजघन्य और अनुत्कृष्ट इन दोनो की भिन्नता का दूसरा कारण यह है—इन दोनो के उत्पन्न होने की अवधि—मर्यादा भिन्न-भिन्न है।

अर्थात् अजघन्य और अनुत्कृष्ट भिन्न-भिन्न अवधि-मर्यादा जन्य हैं। जिसका आशय यह है कि जघन्य रूप मर्यादा की अपेक्षा लेकर अजघन्य और उत्कृष्ट रूप मर्यादा की अपेक्षा लेकर अनुत्कृष्ट अपने स्वरूप को प्राप्त करता है। यानी जघन्य से अजघन्य मे और उत्कृष्ट से अनुत्कृष्ट मे जाते है। इस प्रकार की अवधि के भेद से उन दोनो के स्वरूप मे भेद ज्ञात हो जाता है। जैसे कि पूर्व और पश्चिम दिशा की मर्यादा भिन्न होने मे वे दोनो स्वरूपत भिन्न हैं, उसी प्रकार अजघन्य और अनुत्कृष्ट की मर्यादा भिन्न-भिन्न होने से वे दोनो भी स्वरूप से भिन्न-भिन्न हैं।

प्रश्न—अजघन्य और अनुत्कृष्ट मे अन्तर बताने के लिये सादित्व विशेष को ग्रहण करने मे क्या हेतु है ?

उत्तर– यहाँ मात्र सादित्व विशेष को स्वीकार करने के द्वारा ही यानि सादित्व रूप विशेष को ग्रहण करने के कारण ही अजघन्य और अनुत्कृष्ट मे स्पष्ट रूप मे विशेष भेद ज्ञात होता है। इसीलिए उसको ग्रहण किया है। जहाँ सादित्व रूप विशेष का अभाव है, वहाँ उन दोनो के बीच किसी प्रकार की विशेषता नही है—'तदभावे दो वि अविसेसा'। क्योंकि सादित्व रूप विशेष का अभाव तभी होता है, जबकि मर्यादा का अभाव हो यानी जघन्य से अजघन्य मे जाये तब अजघन्य की सादि होती है और उत्कृष्ट से अनुत्कृष्ट मे जाये तब अनुत्कृष्ट की सादि होती है, इस प्रकार की मर्यादा ही नष्ट हो जाए तब मध्य के स्थान समान होने से उन दोनो मे किसी प्रकार का भेद घटित नही हो सकता है। इसलिए सादित्व विशेष ही उन दोनो के भेद मे कारण है। सादित्व-विशेष के अभाव मे वे दोनो सदृश है।

यदि किसी स्थान पर सादित्वविशेष सम्यक् प्रकार से ज्ञात न होता हो और उसके कारण अजघन्य, अनुत्कृष्ट के बीच भेद मालूम न पडता हो तो वहाँ भी यह समझ लेना चाहिए कि अजघन्य की मर्यादा जघन्य है और अनुत्कृष्ट की मर्यादा उत्कृष्ट है और इसको समझकर दोनो के बीच भेद है, यह निर्णय कर लेना चाहिये।

इस प्रकार से अजघन्य और अनुत्कृष्ट के विशेष को बतलाने के बाद अब अजघन्यादि मे सामान्य से सादित्वादि भंगो की प्ररूपणा करते है ।

सामान्य से सादित्व आदि का निर्देश

ते णाइ ओहेणं उक्कोसजहन्नो पुणो साई ।
अधुवाण साइ सव्वे धुवाणणाई वि सभविणो ॥२५॥

शब्दार्थ—ते—वे, णाइ—अनादि, ओहेण—ओघ—सामान्य से उक्कोसजहन्नो—उत्कृष्ट तथा जघन्य, पुणो—पुन तथा, साई—सादि, अधुवाण—अध्रुवबंधिनी साइ—सादि, सव्वे—सभी, धुवाण—ध्रुवबंधिनी, णाई—अनादि, वि—भी, सभविणो—सभवित ।

गाथार्थ—सामान्य से अजघन्य और अनुत्कृष्ट अनादि और उत्कृष्ट तथा जघन्य सादि है । अध्रुवबंधिनी प्रकृतियो के सभी भग सादि है और ध्रुवबंधिनी प्रकृतियो के सभवित अजघन्य और अनुत्कृष्ट भेद अनादि भी होते है ।

विशेषार्थ— गाथा मे जघन्य आदि बंध भेदो के सादि आदि भगो का निर्देश किया है कि 'ते णाई ओहेण' अर्थात् जिनमे सादित्वविशेष अनुपलक्ष्यमाण है—समझ नही सकते है, प्रतीत नही होता है, दिखता नही है ऐसे सादित्व विशेप से विहीन उन अजघन्य अथवा अनुत्कृष्ट का काल अनादि है । वे अनादि हैं ओघ से-सामान्य से । यानी प्रकृति अथवा स्थिति आदि विशेप की अपेक्षा रखे बिना सर्वत्र अनादि है तथा प्रकृति अथवा स्थिति आदि विशेप की अपेक्षा वे कैसे है ? तो इसका वर्णन यथास्थान आगे किया जायेगा तथा 'उक्कोसजहन्नो पुणो साइ' यानी उत्कृष्ट और जघन्य नियतकाल भावी होने से—अमुक निर्णीत समय पर्यन्त ही प्रवर्तमान होने से सादि है ।

इस प्रकार से प्रकृति, स्थिति आदि की अपेक्षा रखे बिना सामान्य से जघन्यादि मे सादित्वादि को जानना चाहिए। अव इसी बात को सामान्य से प्रकृतियो के बध की अपेक्षा स्पष्ट करते है—

'अघुवाण साई सव्वे' यानी सातावेदनीय आदि अध्रुवबधिनी प्रकृतियो के जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट ये सभो भंग सादि है तथा सादि यह सात, अध्रुव का उपलक्षण—सूचक होने से यह समझना चाहिये कि सादि अध्रुव—सात भी है। इसका कारण पूर्व मे कहा जा चुका है कि जो सादि होता है, वह सात भी है।[1] इसलिये यद्यपि यहाँ मात्र सादि भग का निर्देश किया है, तथापि अध्रुव-सात का भी ग्रहण स्वयमेव कर लेना चाहिए। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अध्रुवबधिनी प्रकृतियो के जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट ये चारो बध प्रकार सादि होते है और जब सादि है तो उन्हे अध्रुव—सात भी समझ लेना चाहिए।

अब ध्रुवबधिनी प्रकृतियो के लिये स्पष्ट करते है कि 'घुवाण णाई वि सभविणो' अर्थात् वर्णादि ध्रुवबधिनी प्रकृतियो मे यथायोग्य रीति से सभवित अजघन्य और अनुत्कृष्ट बध का काल अनादि है तथा उपलक्षण से यहाँ भी अनादि के साथ ध्रुव-अनन्त का ग्रहण समझ लेना चाहिये। क्योकि जब अनादि हो तभी ध्रुवत्व, अनन्तपना सभव है। यानी ये दोनो अनादि और ध्रुव है और गाथा मे आगत अपि शब्द से यह अर्थ लेना चाहिए कि सादि और अध्रुव भी है तथा ध्रुवबधिनी प्रकृतियो के जघन्य और उत्कृष्ट भेद सादि और सात भी समझना चाहिए। इसका कारण यह है कि ये दोनो कदाचित्क-किसी समय ही होते हैं। अत जब होते है तब सादि है और यह पहले बताया जा चुका है कि जो सादि है, वह सात होता ही है। इस लिये ध्रुवबधिनी प्रकृतियो के जघन्य और उत्कृष्ट बध सादि और सात जानना चाहिए।

---

१ 'साइ अधुवो नियमा।' गाथा २३।

सयोगिकेवली गुणस्थानो का ग्रहण कर लेना चाहिये ।[1] इसका तात्पर्य यह हुआ कि ग्यारहवे, बारहवे और तेरहवे इन तीन गुणस्थानो मे एक सातावेदनीय प्रकृति का ही बध होता है, इससे कम प्रकृतियो का बध अन्य दूसरे किसी भी गुणस्थान मे नही होता है । अत यह एक प्रकृतिक बध प्रकृतिबध की अपेक्षा जघन्यबध है ।

किन्तु 'तब्भट्ठा अजहन्नो'—अर्थात् वहाँ से—उपशातमोहगुणस्थान से गिरने पर अजघन्य बध होता है । इसका कारण यह है कि ग्यारहवे गुणस्थान से पतन अवश्यभावी है और पतन कर दसवे आदि गुणस्थानो मे आते है तब मूलकर्म आश्रयी छह और उत्तर प्रकृतियो की अपेक्षा सत्रह आदि प्रकृतियो का बध सभव है तथा 'उक्कोसो सन्निमिच्छमि' अर्थात् मिथ्यादृष्टि सज्ञी के उत्कृष्ट प्रकृतिबध होता है। क्योकि सज्ञी मिथ्यादृष्टि के ज्ञानावरण आदि आठो मूल और चौहत्तर उत्तर प्रकृतियो का बध हो सकता है ।[2]

यद्यपि ग्रन्थकार आचार्य ने गाथा मे जघन्य, अजघन्य और उत्कृष्ट बध का निर्देश किया है किन्तु उसको ध्यान मे रखते हुए अनुत्कृष्ट बध का स्वय निर्देश कर लेना चाहिये । क्योकि उत्कृष्ट बध के अनन्तर

---

१ यद्यपि उपलक्षण से क्षीणमोह और सयोगिकेवली गुणस्थानो का ग्रहण किया है । किन्तु गाथा मे उपशातमोहगुणस्थान का नामोल्लेख करने का कारण यह है कि उपशातमोहगुणस्थान से प्रतिपात होता है और प्रतिपात होने पर अजघन्य आदि विकल्प सम्भव हैं । यही मुख्यता बताने के लिए उपशातमोहगुणस्थान को ग्रहण किया है ।

२ एकेन्द्रियादि जीव भी आठ मूल और चौहत्तर उत्तर प्रकृति रूप उत्कृष्ट प्रकृतिबध करते हैं लेकिन गाथा मे सज्ञी जीव को ग्रहण किया है । इसका कारण सभवत यह हो कि पचेन्द्रिय सज्ञी मिथ्यादृष्टि अपनी बध्यमान प्रकृतियो की स्थिति और अनुभाग अधिक बाध सकते हैं । विद्वज्जन इसका समाधान करने की कृपा करें ।

जो उत्तरोत्तर अल्प-अल्प मूल अथवा उत्तर प्रकृतियो का बध होता है उसे अनुत्कृष्ट बध कहते है।

इन बध प्रकारो मे सादित्व आदि भगो की योजना इस प्रकार करना चाहिये कि मूल अथवा उत्तर प्रकृतियो का जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट बध कादाचित्क होने से सादि और सात है मात्र अजघन्य बध सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इन चारो प्रकार का है। क्योकि उपशातमोहगुणस्थान से पतित होकर जब अजघन्य बध करे तब सादि, उस स्थान को जिन्होने प्राप्त नही किया उनके अनादि, अभव्य को सदैव अजघन्य बध होते रहने से ध्रुव और भव्व के अमुक समय विच्छेद सभव होने से अध्रुव है।

इस प्रकार सामान्यत मूल और उत्तर प्रकृतियो की अपेक्षा जघन्य आदि बधो की सभवता जानना चाहिए। अब एक-एक मूलकर्म की अपेक्षा सादित्व आदि का प्रतिपादन करते है।

प्रत्येक मूलकर्म की सादि आदि प्ररूपणा

आउस्स साइ अधुवो बंधो तइयस्स साइअवसेसो।
सेसाण साइयाई भव्वाभव्वेसु अधुवधुवो ॥२७॥

शब्दार्थ—आउस्स—आयु का, साइ—सादि, अधुबो—अधुव, बधो—बध, तइयस्स—तीसरे वेदनीय कर्म का, साइ—सादि, अवसेसो—सिवाय, सेसाण—शेष कर्मों के, साइयाई—सादि आदि चारो, भव्वाभव्वेसु—भव्य और अभव्य मे, अधुवधुवो—अध्रुव और ध्रुव।

गाथार्थ—आयु का बध सादि और अध्रुव है। तीसरे वेदनीय कर्म के सादि के सिवाय शेष तीन बध होते है और इनसे शेष रहे कर्मो के सादि आदि चारो प्रकार के बध समझना चाहिये। भव्य और अभव्य के क्रमश अध्रुव और ध्रुव बध होते है।

विशेषार्थ—गाथा मे ग्रन्थकार आचार्य ने प्रत्येक मूलकर्म के सादि आदि बधप्रकारो का निर्देश किया है। जो इस प्रकार है—

'आउस्स साइ अधुवो'—अर्थात् ज्ञानावरण आदि आठो मूलकर्मो मे से आयु का बध अध्रुवबधिनी होने से सादि और अध्रुव—सात है तथा 'तइयस्स साइ अवमेसो—यानी तीसरे वेदनीयकर्म का बध सादि के सिवाय अनादि, अध्रुव और ध्रुव है। सर्वदा उसका बध होते रहने से अनादि, अभव्य के भविष्य मे किसी भी समय विच्छेद होना असम्भव होने मे अनन्त—ध्रुव और भव्य के अयोगिकेवलीगुणस्थान मे बध का विच्छेद होने से अध्रुव-सात है। इस प्रकार से वेदनीयकर्म का बध १ अनादि, २ अनन्त और ३ सात—अध्रुव रूप जानना चाहिए।

'सेसाण साइयाई' अर्थात् पूर्वोक्त आयु और वेदनीय इन दो कर्मो से शेष रहे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय, इन छह कर्मो का बध सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव चारो प्रकार का है। जब उपशान्तमोहगुणस्थान से गिरकर बध प्रारम्भ करे

---

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य मे भी मूल कर्मप्रकृतियो मे इसी प्रकार से सादिबध आदि का निरूपण किया है—

साइ अणाइ य धुव अद्धुवो य बधो दु कम्मछक्कस्स।
तइए साइयसेसा अणाइ धुव सेसओ आऊ।

आयु और वेदनीय को छोडकर शेष ज्ञानावरण आदि अन्तराय पर्यन्त छह कर्मों का सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव बध भी होता है। अर्थात् चारो प्रकार का वध होता है। तीसरे वेदनीय का सादि वध को छोडकर शेप तीन प्रकार का और आयुकर्म का अनादि और ध्रुव वध के सिवाय शेप दो प्रकार का वध होता है।

—दिगम्बर पचसग्रह, शतक अधिकार गा २३५

तब सादि, जिसने उस स्थान को प्राप्त नही किया, उसकी अपेक्षा अनादि और अभव्य के ध्रुव एव भव्य के अध्रुव बध जानना चाहिये।

इस प्रकार से मूलकर्म सम्बन्धी सादि-अनादि विषयक प्ररूपणा जानना चाहिये। अब उत्तरप्रकृतियो की अपेक्षा एक-एक प्रकृति के बध मे सादित्व आदि को बतलाते हैं।

उत्तरप्रकृतियो की साद्यादि बधप्ररूपणा

साई अधुवो सव्वाण होइ धुवबधियाण णाइधुवो।
निययअबधचुयाण साइ अणाई अपत्ताणं ॥२८॥

शब्दार्थ—**साई**—सादि, **अधुव**—अध्रुव, **सव्वाण**—सभी, **होइ**—होते हैं, **धुवबधियाण**—ध्रुवबधिनी प्रकृतियो के, **णाइ**—अनादि, **धुवो**—ध्रुव, **नियय**—अपने, **अबध**—अबधस्थान से, **चुयाण**—च्युत होने वाले के, **साइ**—सादि, **अणाई**—अनादि, **अपत्ताण**—प्राप्त नही करने वाले के।

गाथार्थ—सभी ध्रुवबधिनी प्रकृतियो का वध सादि, अध्रुव, अनादि और ध्रुव होता है। अपने अपने अवधस्थान से च्युत होने वाले के सादि वध और जिसने उस स्थान को प्राप्त नही किया, उसके अनादि बध होता है।

विशेषार्थ—अध्रुववधिनी प्रकृतियो का वध कादाचित्क होने मे सादि और अध्रुव होता है। अत॰ उनके वारे मे विशेप विचार की आवश्यकता नही रह जाती है। लेकिन ध्रुववधिनी प्रकृतियो की यह विशेपता है कि उनमे सादित्व, अनादित्व आदि सम्भव है। इसीलिए ग्रन्थकार आचार्य ने ध्रुववधिनी प्रकृतियो के वध मे सादित्व आदि का यहाँ विचार किया है—

ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणनवक, अन्तरायपचक, सोलह कपाय, मिथ्यात्व, भय, जुगुप्सा, अगुरुलघु, निर्माण, तैजस, कार्मण, उपघात

और वर्णचतुष्क इन सेंतालीस ध्रुवबधिनी प्रकृतियो का सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव, इस प्रकार चारो प्रकार का बध होता है ।[1] इनमे से पहले सादिबध का विचार करते है—

'नियय अबधचुयाण साइ' अर्थात् जहाँ-जहाँ जिस-जिस प्रकृति का अबधस्थान है, वहाँ से पतन होने पर होने वाला बध सादि होता है । जैसे कि मिथ्यात्व, स्त्यानर्द्धित्रिक और अनन्तानुबधिचतुष्क इन आठ प्रकृतियो के अबधस्थान मिश्रदृष्टि आदि गुणस्थान है, इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क के देशविरत आदि गुणस्थान, प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क के प्रमत्त सयतआदि गुणस्थान, निद्रा, प्रचला, अगुरुलघु, निर्माण, तैजस, उपघात, वर्णचतुष्क कार्मण, भय और जुगुप्सा इन तेरह प्रकृतियो के अनिवृत्तिबादरसम्पराय आदि गुणस्थान हैं, सज्वलनकषायचतुष्क के सूक्ष्मसम्पराय आदि गुण-स्थान एव ज्ञानावरणपचक, अन्तरायपचक और दर्शनावरणचतुष्क इन चौदह प्रकृतियो के उपशान्तमोह आदि गुणस्थान अबधस्थान है । अर्थात् इन-इन गुणस्थानो मे उन-उन प्रकृतियो का बध नही होता है । किन्तु उन मिश्रदृष्टि आदि अबधस्थानो से पतन होने पर मिथ्यात्व आदि प्रकृतियो का पुन बध प्रारम्भ होता है, जिससे सादि है । सादित्व अध्रुवपने के बिना होता नही है, अत जो बध सादि हो उसका अन्त अवश्य है । इसलिए मिश्रदृष्टि आदि गुणस्थानो मे जाने पर उन-उन प्रकृतियो के बध का अन्त होता है, अतएव उनका बध अध्रुव सात है तथा उन सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान आदि रूप अबध-स्थान को जिन्होने प्राप्त नही किया है, उनके उन-उन प्रकृतियो के बध की शुरूआत का अभाव होने से अनादि है—'अणाई अपत्ताण ।' अभव्यो के किसी भी समय बधविच्छेद नही होने से अनन्त-ध्रुव है और भव्य

---

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य का भी यही अभिमत है । देखिये दि पचसग्रह, शतक अधिकार गाथा २३७ ।

उन उन गुणस्थानो को प्राप्त कर भविष्य मे बध का नाश करेंगे अत उनकी अपेक्षा सात-अध्रुव बध जानना चाहिए।

उक्त ध्रुवबधिनी सैंतालीस प्रकृतियो के अलावा शेष रही तिहत्तर अध्रुवबधिनी प्रकृतियो का बध उनके अध्रुवबधिनी होने से ही सादि, अध्रुव-सात समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार प्रकृतिबधापेक्षा सामान्य एव विशेष से मूल और उत्तर प्रकृतियो की सादि आदि प्ररूपणा जानना चाहिए।

स्वामित्व-प्ररूपणा

अब स्वामित्व का विचार करते है कि कौनसा जीव कितनी प्रकृतिय के बध का अधिकारी है। उनमे भी जो प्रकृतिया जिन जीवो के बध के अयोग्य है, उन प्रकृतियो के बध के वे जीव स्वामी नही है, ऐसा कहा जाये तो इसका अर्थ यह होगा कि उनके सिवाय शेष रही दूसरी प्रकृतियो के बध के वे स्वामी है और चारो गतियो मे ऐसी बध के अयोग्य प्रकृतिया अल्प होती है, इसलिए ग्रन्थलाघव एव सक्षेप मे सरलता से बोध करने के लिए जो प्रकृतिया जिन जीवो के बध के अयोग्य है, उनका प्रतिपादन करते है। उनमें भी सर्वप्रथम तिर्यचो के बध-अयोग्य प्रकृतियो को बतलाते है।

तिर्यंचगति की बंध-अयोग्य प्रकृतिया

नरयतिग देवतिग इगिविगलाण विउव्वि नो बंधे।
मणुयतिगुच्चं च गईतसमि तिरि तित्थ आहार ॥२६॥

शब्दार्थ—**नरयतिग**—नरकत्रिक, **देवतिग**—देवत्रिक, **इगिविगलाण**—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियो के, **विउव्वि**—वैक्रियद्विक, **नो**—नही, **बधे**—बध

---

१ अध्रुवबधिनी तिहत्तर प्रकृतियो के नाम तीसरे बधव्यप्ररूपणा अधिकार मे देखिये।

मे, **मणुयतिगुच्च**—मनुष्यत्रिक और उच्चगोत्र, **च**—और, **गईतसमि**—गतित्रसो मे—तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवो मे, **तिरि**— तिर्यंचो मे, **तित्थ आहार**—तीर्थंकर, आहारकद्विक ।

गाथार्थ—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियो के नरकत्रिक, देवत्रिक और वैक्रियद्विक, गतित्रसो मे मनुष्यत्रिक और उच्चगोत्र तथा तीर्थंकर एव आहारकद्विक सभी तिर्यंचो के बध मे नही होते है ।

विशेषार्थ—गाथा मे तिर्यंचगति की बध के अयोग्य प्रकृतियो को बतलाया है । लेकिन एकेन्द्रिय आदि जातियो, पृथ्वी आदि काय भेदो की अपेक्षा तिर्यंचो के अनेक भेद है । इसलिए सामान्य और विशेषापेक्षा उन अयोग्य प्रकृतियो का निर्देश करते हुए कहा है—

नरकत्रिक—नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु, देवत्रिक—देवगति देवानुपूर्वी और देवायु तथा वैक्रियद्विक—वैक्रियशरीर, वैक्रिय-अगोपाग[1] इन आठ प्रकृतियो का 'इगिविगलाण नो बधे' एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय जीव बध नही करते हैं ।

'मणुयतिगुच्चे च गईतसमि' अर्थात् मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी और मनुष्यायु रूप मनुष्यत्रिक और उच्चगोत्र ये चार तथा पूर्व मे बतलाई गई आठ कुल बारह प्रकृतियो का गतित्रस—तेजस्काय और वायुकाय के जीव बध नही करते है । तथा—

'तिरि तित्थ आहार'—अर्थात् तथाभवस्वभाव से सभी तिर्यंच तीर्थंकरनाम और आहारद्विक—आहारकशरीर, आहारक—अगोपाग इन तीन प्रकृतियो को नही बाधते है ।

उक्त समस्त कथन का तात्पर्य यह हुआ कि तीर्थंकरनाम और आहारकद्विक बिना सामान्य से शेष एक सौ सत्रह प्रकृतिया तिर्यंचगति

---

१ इन आठ प्रकृतियो को वैक्रियाष्टक भी कहते हैं ।

मे बधयोग्य है और जिनके बध के स्वामी पचेन्द्रिय तिर्यंच है तथा इन एक सौ सत्रह प्रकृतियो मे से भी एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव नरकत्रिक, देवत्रिक और वैक्रियद्विक इन आठ प्रकृतियो के भी बधक नही होते है, अत इन आठ को एक सौ सत्रह मे से कम करने पर एक सौ नौ प्रकृतियो के बध के स्वामी एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव होते है तथा गतित्रस—तेजस्काय और वायुकाय के जीव इन एक सौ नौ प्रकृतियो मे से भी मनुष्यत्रिक—मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी और मनुष्यायु तथा उच्चगोत्र इन चार प्रकृतियो के बधक नही होते है। अतएव एक सौ नौ मे से इन चार को भी कम करने पर कुल एक सौ पाच प्रकृतियो के बध के अधिकारी है।[1]

इस प्रकार से तिर्यंचगति मे बध के योग्य व अयोग्य प्रकृतियो को जानना चाहिये। अब देव और नारको की अपेक्षा बध के अयोग्य प्रकृतियो को बतलाते है।

देव और नारक के बध-अयोग्य प्रकृतिया

वेउव्वाहारदुगं नारयसुरसुहुमविगलजाइतिगं।
बधहि न सुरा सायवथावरएगिंदि नेरइया ॥३०॥

---

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य का भी तिर्यंचगति मे बध-अयोग्य प्रकृतियो के लिए यही अभिमत है—देखिये दि पचसग्रह शतक अधिकार गाथा ३३३, ३३७, ३३८, ३३६, ३५६, ३५८, ३५९। लेकिन तत्सम्बन्धी विशेषता इस प्रकार है—

१—सामान्य से तिर्यंचगति बधप्रायोग्य ११७ प्रकृति है।

२—पचेन्द्रिय तिर्यंच के पर्याप्त, अपर्याप्त यह दो भेद किये हैं। उनमे से पर्याप्त के ११७ और अपर्याप्त के एकेन्द्रिय, विकलत्रिक के समान १०९ प्रकृतिया बधयोग्य है। फिर पर्याप्त मे पचेन्द्रिय तिर्यंचनी रूप एक भेद और करके उसमे भी बधयोग्य ११७ प्रकृतिया बताई हैं।

शब्दार्थ—**वेउव्वाहारदुग**—वैक्रियद्विक और आहारकद्विक, **नारयसुरसुहुम-विगलजाइतिग**—नरकत्रिक, देवत्रिक, सूक्ष्मत्रिक, विकलजातित्रिक, **बधहि**—बाधते हैं, **न**—नही, **सुरा**—देव, **सायवथावरएगिंदि**—आतप, स्थावर और एकेन्द्रिय जाति सहित, **नेरइया**—नारक।

गाथार्थ—वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, नरकत्रिक, देवत्रिक, सूक्ष्मत्रिक और विकलजातित्रिक इन सोलह प्रकृतियो को देव नही बाधते है तथा पूर्वोक्त सोलह और आतप, स्थावर और एकेन्द्रियजाति सहित कुल उन्नीस प्रकृतियो का नारक बध नही करते है।

विशेषार्थ— देवो और नारको के बध-अयोग्य प्रकृतियो का गाथा मे उल्लेख किया है। इस उल्लेख मे कुछ एक प्रकृतिया तो देवो और नारको मे समान रूप मे बध के अयोग्य हैं और कुछ ऐसी हैं जो नारको के बध के अयोग्य होने पर भी देवो के बधयोग्य है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

वैक्रियशरीर और वैक्रिय-अगोपाग रूप वैक्रियद्विक, आहारक-शरीर और आहारक-अगोपाग रूप आहारकद्विक तथा त्रिक शब्द का प्रत्येक के साथ योग होने से नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु रूप नरकत्रिक, देवगति, देवानुपूर्वी और देवायुरूप देवत्रिक, सूक्ष्म, साधारण और अपर्याप्त रूप सूक्ष्मत्रिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय रूप विकलेन्द्रियजातित्रिक, इस प्रकार कुल मिलाकर सोलह प्रकृतियो का भवस्वभाव से सभी देव बध नही करते है। अतएव देव इन सोलह से शेष एक सौ चार प्रकृतियो के बधाधिकारी हैं। सामान्य से एक सौ चार प्रकृतिया बधयोग्य हैं। तथा—

आतप, स्थावर और एकेन्द्रियजाति के साथ पूर्वोक्त सोलह प्रकृतियो को अर्थात् कुल उन्नीस प्रकृतियो को भवस्वभाव से कोई भी

नारक बध नही करते है। इसलिए वे सामान्य से एक सौ एक प्रकृतियों के बधाधिकारी है।[1]

पूर्वोक्त प्रकार से तिर्यंच, देव और नारको के बध-अयोग्य प्रकृतियो को बतलाने का फलितार्थ यह हुआ कि बधयोग्य सभी एक सौ बीस प्रकृतियो के बधाधिकारी मनुष्य है।[2]

इस प्रकार से प्रकृतिबध सम्बन्धी विवेचन है।

स्थितिबध

अब क्रमप्राप्त स्थितिबध का विचार प्रारम्भ करते है। इसके ग्यारह अनुयोगद्वार है—१ स्थितिप्रमाणप्ररूपणा, २ निषेकप्ररूपणा, ३ अबाधाकडकप्ररूपणा, ४ एकेन्द्रियादि जीवो की अपेक्षा उत्कृष्ट जघन्य स्थितिबध-प्रमाणप्ररूपणा, ५ स्थितिस्थानप्ररूपणा, ६ सक्लेशस्थानप्ररूपणा, ७ विशुद्धिस्थानप्ररूपणा, ८ अध्यवसाय-स्थानप्रमाणप्ररूपणा, ९ साद्यादिप्ररूपणा, १० स्वामित्वप्ररूपणा और ११ शुभाशुभत्वप्ररूपणा।

स्थितिप्रमाणप्ररूपणा

उक्त ग्यारह अनुयोगद्वारो मे से पहले स्थितिप्रमाणप्ररूपणा करते है। स्थितिप्रमाणप्ररूपणा यानी प्रत्येक मूल और उत्तर प्रकृतियो की कम से कम और अधिक से अधिक स्थिति के बध होने का विचार

---

१ दिगम्बर कर्मग्रन्थो मे इसी प्रकार सामान्य से देवगति और नरकगति मे क्रमश १०४ और १०१ प्रकृतिया बधयोग्य बताई है। देखिये दि पचसग्रह शतक अधिकार गाथा ३२६, ३२७, ३४३, ३४४।

२ सामान्य से किस-किस गुणस्थान मे कितनी प्रकृतियो का बध होता है और कौन-कौन से जीव कितनी कितनी प्रकृतियो के बधक हैं, इसका विस्तार से ज्ञान करने के लिये ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित दूसरे, तीसरे कर्मग्रन्थ देखिये। यहां तो दिग्दर्शन मात्र कराया है।

करना। इस द्वार मे मूल और उत्तर प्रकृतियो की जघन्य और उत्कृष्ट जितनी स्थिति बधती है, उसका विचार किया जायेगा। अतएव पहले मूल कर्मप्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति बतलाते है।

मूल प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबध

> मोहे सयरी कोडाकोडीओ वीस नामगोयाण।
> तीसियराण चउण्ह तेत्तीसयराइं आउस्स ॥३१॥

शब्दार्थ—**मोहे**—मोहनीयकर्म की, **सयरी**—सत्तर, **कोडाकोडीओ**—कोडाकोडी, **वीस**—बीस, **नामगोयाण**—नाम और गोत्र की, **तीसियराण**—तीस इतर, **चउण्ह**—चार की, **तेत्तीसयराइ**— तेतीस सागरोपम, **आउस्स**—आयुकर्म की।

गाथार्थ—मोहनीयकर्म की सत्तर कोडाकोडी, नाम और गोत्र की बीस कोडाकोडी, इतर अर्थात् दूसरे अन्य ज्ञानावरण आदि चार कर्मो की तीस कोडाकोडी तथा आयु की तेतीस सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बधती है।

विशेषार्थ—गाथा मे ज्ञानावरण आदि आठ मूल प्रकृतियो की उत्कृष्ट बधस्थिति का प्रमाण बतलाया है। जिसका कथन—१ सबसे अधिक स्थिति वाले कर्म, २ समान स्थिति वाले कर्म और ३ पूर्वोक्त कर्मो की अपेक्षा अल्प स्थिति वाले कर्म का निर्देश करके किया है। उक्त निर्देश का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट बधस्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम की है। नाम और गोत्र की बीस-बीस कोडाकोडी सागरोपम की, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मो की तीस-तीस कोडाकोडी सागरोपम की तथा आयुकर्म की तेतीस सागरोपम स्थिति है।

यह स्थिति इतनी अधिक है कि सख्याप्रमाण के द्वारा बताना अशक्य होने के कारण उपमाप्रमाण के द्वारा बतलाया है। सागरोपम[1] यह उपमा प्रमाण का एक भेद है और एक करोड को एक करोड से गुणा करने पर प्राप्त महाराशि को एक कोडाकोडी कहते है। इन कोडाकोडी सागरोपमो मे कर्मो की जो उत्कृष्ट स्थिति बताई है, उनमे आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति सागरो मे, किन्तु शेष सात कर्मो की स्थिति कोडाकोडी सागरोपम मे है। कर्मो की इस सुदीर्घ स्थिति से यह स्पष्ट है कि एक भव का बाधा हुआ कर्म अनेक भवो तक बना रह सकता है।

बध हो जाने पर जो कर्म जितने समय तक आत्मा के साथ सबद्ध रहता है, वह उसका स्थितिकाल कहलाता है और बधने वाले कर्मो मे इस स्थितिकाल की मर्यादा के पडने को स्थितिबध कहते है। यह स्थिति दो प्रकार की है—पहली कर्मरूपतावस्थानलक्षणा स्थिति अर्थात् बधने के बाद जब तक कर्म आत्मा के साथ ठहरता है, उतने काल का प्रमाण और दूसरी अनुभवयोग्या स्थिति अर्थात् जितने काल तक उसका वेदन होता है, उतने समय का प्रमाण। कर्मरूपतावस्थान-लक्षणा स्थिति मे उसका अबाधाकाल भी गर्भित रहता है और अनुभवयोग्या स्थिति अबाधाकाल से रहित होती है। यहाँ जो स्थिति का उत्कृष्ट प्रमाण बतलाया है और आगे जघन्य प्रमाण कहा जा रहा है, वह कर्मरूपतावस्थानलक्षणा स्थिति का समझना चाहिये। परन्तु आयुकर्म की उत्कृष्ट व जघन्य स्थिति का प्रमाण अनुभव-योग्या स्थिति का ही जानना चाहिये।

यदि कर्मो की अनुभवयोग्या स्थिति जानना हो तो कर्मरूपताव-स्थानलक्षणा स्थिति मे से अबाधाकाल कम कर लेना चाहिए। आयुकर्म को छोडकर शेष ज्ञानावरण आदि सात कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति का अबाधाकाल जानने के लिये यह नियम है कि जिस कर्म

---

१ सागरोपम का स्वरूप परिशिष्ट मे देखिये।

करना। इस द्वार मे मूल और उत्तर प्रकृतियो की जघन्य और उत्कृष्ट जितनी स्थिति बधती है, उसका विचार किया जायेगा। अतएव पहले मूल कर्मप्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति बतलाते है।

मूल प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबध

> मोहे सयरी कोडाकोडीओ वीस नामगोयाण।
> तीसियराण चउण्ह तेत्तीसयराइं आउस्स ॥३१॥

शब्दार्थ—**मोहे**—मोहनीयकर्म की, **सयरी**—सत्तर, **कोडाकोडीओ**—कोडाकोडी, **वीस**—बीस, **नामगोयाण**—नाम और गोत्र की, **तीसियराण**—तीस इतर, **चउण्ह**—चार को, **तेत्तीसयराइ**— तेतीस सागरोपम, **आउस्स**—आयुकर्म की।

गाथार्थ—मोहनीयकर्म की सत्तर कोडाकोडी, नाम और गोत्र की बीस कोडाकोडी, इतर अर्थात् दूसरे अन्य ज्ञानावरण आदि चार कर्मो की तीस कोडाकोडी तथा आयु की तेतीस सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बधती है।

विशेषार्थ—गाथा मे ज्ञानावरण आदि आठ मूल प्रकृतियो की उत्कृष्ट बधस्थिति का प्रमाण बतलाया है। जिसका कथन—१ सबसे अधिक स्थिति वाले कर्म, २ समान स्थिति वाले कर्म और ३ पूर्वोक्त कर्मो की अपेक्षा अल्प स्थिति वाले कर्म का निर्देश करके किया है। उक्त निर्देश का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट बधस्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम की है। नाम और गोत्र की बीस-बीस कोडाकोडी सागरोपम की, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मो की तीस-तीस कोडाकोडी सागरोपम की तथा आयुकर्म की तेतीस सागरोपम स्थिति है।

यह स्थिति इतनी अधिक है कि सख्याप्रमाण के द्वारा बताना अशक्य होने के कारण उपमाप्रमाण के द्वारा बतलाया है। सागरोपम[1] यह उपमा प्रमाण का एक भेद है और एक करोड को एक करोड से गुणा करने पर प्राप्त महाराशि को एक कोडाकोडी कहते है। इन कोडाकोडी सागरोपमो मे कर्मों की जो उत्कृष्ट स्थिति बताई है, उनमे आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति सागरो मे, किन्तु शेष सात कर्मों की स्थिति कोडाकोडी सागरोपम मे है। कर्मो की इस सुदीर्घ स्थिति से यह स्पष्ट है कि एक भव का बाधा हुआ कर्म अनेक भवो तक बना रह सकता है।

बध हो जाने पर जो कर्म जितने समय तक आत्मा के साथ सबद्ध रहता है, वह उसका स्थितिकाल कहलाता है और बधने वाले कर्मो में इस स्थितिकाल की मर्यादा के पडने को स्थितिबध कहते है। यह स्थिति दो प्रकार की है—पहली कर्मरूपतावस्थानलक्षणा स्थिति अर्थात् बंधने के बाद जब तक कर्म आत्मा के साथ ठहरता है, उतने काल का प्रमाण और दूसरी अनुभवयोग्या स्थिति अर्थात् जितने काल तक उसका वेदन होता है, उतने समय का प्रमाण। कर्मरूपतावस्थान-लक्षणा स्थिति मे उसका अबाधाकाल भी गर्भित रहता है और अनुभवयोग्या स्थिति अबाधाकाल से रहित होती है। यहाँ जो स्थिति का उत्कृष्ट प्रमाण बतलाया है और आगे जघन्य प्रमाण कहा जा रहा है, वह कर्मरूपतावस्थानलक्षणा स्थिति का समझना चाहिये। परन्तु आयुकर्म की उत्कृष्ट व जघन्य स्थिति का प्रमाण अनुभव-योग्या स्थिति का ही जानना चाहिये।

यदि कर्मों की अनुभवयोग्या स्थिति जानना हो तो कर्मरूपताव-स्थानलक्षणा स्थिति मे से अबाधाकाल कम कर लेना चाहिए। आयुकर्म को छोडकर शेष ज्ञानावरण आदि सात कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति का अबाधाकाल जानने के लिये यह नियम है कि जिस कर्म

---

१ सागरोपम का स्वरूप परिशिष्ट मे देखिये।

की जितने कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति का बध हो, उसका उतने सौ वर्ष का अबाधाकाल होता है। इस बात को बताने के लिये इसी प्रकरण मे आगे कहा जा रहा है— एवइया बाह वाससया' अर्थात् जिस कर्म की जितनी कोडाकोडी प्रमाण स्थिति का बध हो, उतने सौ वर्ष का अबाधाकाल होता है। जैसे कि मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण बधने पर उसका सत्तर सौ (सात हजार) वर्ष का अबाधाकाल है। अर्थात् उत्कृष्ट स्थिति से बाधा गया मोहनीयकर्म सात हजार वर्ष पर्यन्त अपने उदय द्वारा जीव को कुछ भी बाधा उत्पन्न नही करता है, तत्पश्चात् ही बाधा उत्पन्न करता है, यानी अपना विपाकवेदन कराता है। इसका कारण यह है कि सात हजार वर्ष के जितने समय होते हैं, उसमे आत्मा तथास्वभाव से दलिकरचना नही करती है। उसके बाद के समय से लेकर सात हजार वर्ष न्यून सत्तर कोडाकोडी सागरोपम काल पर्यन्त फलानुभव करती है।

उक्त कथन का साराश यह है कि जिस समय जो कर्म बधे, उसके भाग मे जो दलिक आते है, उनको क्रमश भोगने के लिए व्यवस्थित रचना होती है। जिस समय कर्म बधा, उस समय से लेकर कितने ही समय मे रचना नही होती है, परन्तु उससे ऊपर के समय में होती है। जितने समयो मे रचना नही होती है उसे अबाधाकाल कहते है। अबाधाकाल यानि दलिकरचना रहित काल। बध समय से लेकर अमुक समयो मे दलरचना नही होने मे जीवस्वभाव कारण है। अबाधाकाल के ऊपर के समय से लेकर अमुक समय मे इतने दलिक फल देगे, इस प्रकार स्थिति के चरम समय पर्यन्त क्रमबद्ध रूप से निश्चित रचना होती है। जिस-जिस समय मे जिस-जिस क्रमानुसार प्रमाण मे रचना हुई हो, उस-उस समय के प्राप्त होने पर उतने-उतने दलिको का फल भोग होता है। इसी कारण अबाधाकाल जाने के बाद एक साथ सभी दलिक फल नही देते है, किन्तु रचनानुसार फल देते है। जितने स्थानो मे रचना नही हुई है, उसे अबाधाकाल और फल

भोग के लिये हुई व्यवस्थित दलिकरचना को निषेकरचना कहते है। अवाधाकाल मे दलिक व्यवस्थित क्रम से जमाये हुए नही होने से उतने काल पर्यन्त विवक्षित समय मे बधे हुए कर्म का फलानुभव नही होता है। उतना काल बीतने के बाद अनुभव होता है। इस प्रकार आयु को छोडकर शेष कर्मो के लिये जानना चाहिए। यथा—नाम और गोत्र कर्म की बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है तो दो हजार वर्ष का अवाधाकाल है और अवाधाकाल से हीन कर्मदलिको की निषेकरचना का काल है तथा इतर चार कर्मों की तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है, तीन हजार वर्ष का अवाधाकाल है और अवाधाकाल से हीन शेष निषेकरचनाकाल है।

आयुकर्म की पूर्वकोटि का तीसरा भाग अधिक तेतीस सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है, पूर्वकोटि का तीसरा भाग आबाधाकाल है और अवाधाकाल से हीन शेष निषेकरचनाकाल है।[1]

इस प्रकार से मूलकर्मो की उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण जानना चाहिये। अब उनकी जघन्य स्थिति का प्रमाण बतलाते हैं।

मूलकर्म प्रकृतियो की जघन्यस्थिति

मोत्तुमकसाइ तणुया ठिइ वेयणियस्स बारस मुहुत्ता।
अट्ठट्ठ नामगोयाण सेसयाणं मुहुत्त तो ॥३२॥

---

१ आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति विषयक कथन का आशय यह है कि आयुकर्म की जो भी स्थिति बधती है, वह सभी निषेककाल है। अर्थात् उतनी स्थिति प्रमाण उसके निषेको की रचना (विपाकोदयरूपता) होती है। आयुकर्म की उत्कृष्ट अबाधा पूर्व कोटि वर्ष का त्रिभाग बताया है, वह भुज्यमान आयु की अपेक्षा समझाना चाहिए, बध्यमान आयु की अपेक्षा नही। यह कथन पूर्वकोटिप्रमाण कर्मभूमिज मनुष्य-तिर्यंचो की भुज्यमान आयु के त्रिभाग रूप अबाधाकाल को सम्मिलित करके कहा गया समझना चाहिए। आयुकर्म के अबाधाकाल सम्बन्धी चार विकल्प है, जिनका स्पष्टीकरण यथाप्रसग आगे किया जा रहा है।

शब्दार्थ—**मोत्तु मकसाई**—अकषायी को छोडकर, **तणुया**—जीवो को, **ठिइ**—स्थिति, **वेयणीयस्स**—वेदनीय की, **बारस**—बारह, **मुहुत्ता**—मुहूर्त्त, **अट्ठट्ठ**—आठ-आठ, **नामगोयाण**—नाम और गोत्र की, **सेसयाण**—शेष कर्मों की, **मुहुत्त तो**—अन्तर्मुहूर्त ।

गाथार्थ—अकषायी जीवो को छोडकर वेदनीयकर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त की है। नाम और गोत्र की आठ मुहूर्त और शेष कर्मों की अन्तर्मुहूर्त स्थिति है।

विशेषार्थ—गाथा मे ज्ञानावरण आदि आठो मूल कर्मो की जघन्य स्थिति बतलाई है। जिसका प्रारम्भ किया है वेदनीयकर्म से कि उसकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त की है। वेदनीयकर्म की जघन्य स्थिति के प्रसग मे यह जानने योग्य है कि वेदनीयकर्म की स्थिति दो प्रकार की है—१ सकषायी जीवो को दसवे गुणस्थान के अन्त मे कम से कम बधने वाली और २ अकपायी जीवो को ग्यारहवे से लेकर तेरहवे गुणस्थान पर्यन्त दो समय प्रमाण बधने वाली। यहाँ अकपायी जीवो की स्थिति की विवक्षा नही की है।[1] इसीलिए उस स्थिति को छोडकर शेष सकषायी जीवो के वेदनीय की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त प्रमाण बधती है यह सकेत किया है और उसका अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अबाधाकाल है और अबाधाकाल से हीन कर्मदलिको की निषेक-रचना का काल है।

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि स्थितिबध का मुख्य कारण कषाय है और कषाय का उदय दसवे सूक्ष्मसम्परायगुणस्थान तक ही

---

१ ग्यारहवें आदि गुणस्थान मे वधने वाली वेदनीयकर्म की दो समय प्रमाण स्थिति को जघन्य स्थिति के रूप मे ग्रहण न करने का कारण यह है कि कपायरूप हेतु के बिना वधने वाली स्थिति मे रस नही होने से उसका कुछ भी फल अनुभव मे नही आता है। किन्तु अल्पाधिक कपाय के निमित्त से वधने वाले कर्म का फल अनुभव होता है।

होता है। इसलिए दसवे गुणस्थान तक के जीव सकषायी और ग्यारहवे से लेकर चौदहवे गुणस्थान तक के जीव अकषायी कहलाते हैं। ज्ञानावरणादिक आठ कर्मो मे वेदनीयकर्म ही एक ऐसा कर्म है जो अकषायी जीवो को भी बधता है और शेष सात कर्म केवल सकषायी जीवो के ही बधते है। अकषायी जीवो के जो वेदनीयकर्म बधता है, उसकी केवल दो समय की ही स्थिति होती है, पहले समय मे उसका बध होता है और दूसरे समय मे उसका वेदन होकर निर्जरा हो जाती है। इसीलिए ग्रन्थकार ने 'मोत्तु मकसाई तणुया' पद देकर यह स्पष्ट किया है कि यहाँ वेदनीय की जो स्थिति बतलाई है, वह कषायसहित जीव द्वारा बाधी गई वेदनीयकर्म की जघन्य स्थिति जानना चाहिए, अकषायी जीव के वेदनीय की नही समझना चाहिए।

'अट्ठट्ठ नामगोयाण' अर्थात् नाम और गोत्र कर्म की आठ मुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति है, अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अबाधाकाल और अबाधाकालहीन शेष निषेकरचनाकाल है तथा 'सेसयाण मुहुत्तातो' यानी शेष रहे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अतराय और आयु इन पाच कर्मो की अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति है। अन्तर्मुहूर्त अबाधाकाल[1] और अबाधाकाल से हीन निषेकरचना योग्य काल है।

इस प्रकार मूलकर्मो की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति का प्रमाण जानना चाहिए। अब इसी उत्कृष्ट और जघन्य के क्रम से पहले मूलकर्मो की उत्तरप्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति बतलाते है।

---

१ अन्तर्मुहूर्त मे असख्यात समय होते है। अत स्थिति के अन्तर्मुहूर्त मे अधिक समय वाले अन्तर्मुहूर्त को और अबाधाकाल के अन्तर्मुहूर्त मे कम समयो वाले अन्तर्मुहूर्त को ग्रहण करने से जघन्य स्थिति के अन्तर्मुहूर्त मे अन्तर्मुहूर्त का अबाधाकाल घटित होता है।

उत्तर प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति

सुक्किलसुरभिमहुराण दस उ तह सुभचउण्हफासाणं।
अड्ढाइज्ज पवुड्ढी अबिलहालिद्द पुव्वाणं ॥३३॥

शब्दार्थ—**सुक्किलसुरभिमहुराण**—शुक्लवर्ण, सुरभिगध, मधुररस, **दस**—दस कोडाकोडी, **उ**—अधिक अर्थसूचक अव्यय है, **तह**—तथा, **सुभ**—शुभ, **चउण्ह**—चार, **फासाण**—स्पर्शों की, **अड्ढाइज्ज**—अढाई कोडाकोडी की, **पुवुड्ढी**—वृद्धि, **अबिलहालिद्द**—आम्लरस और हारिद्रवर्ण, **पुव्वाण**—पूर्वक, सहित।

गाथार्थ—शुक्लवर्ण, सुरभिगध, मधुररस और चार शुभ स्पर्शो की दस कोडाकोडी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है तथा आम्लरस, हारिद्रवर्णादि की अढाई-अढाई कोडाकोडी सागरोपम की वृद्धि सहित उत्कृष्ट स्थिति है।

विशेषार्थ—गाथा मे वर्णचतुष्क के अवान्तर भेदो की स्थिति का निर्देश किया है।

शुक्लवर्ण, सुरभिगध, मधुररस तथा मृदु, लघु, स्निग्ध और उष्ण रूप चार शुभ स्पर्श, इन सात प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडो सागरोपम को है। इनका एक हजार वर्ष अबाधाकाल और अबाधाकाल हीन शेष निषेकरचनाकाल है।

आम्लरस और पीतवर्ण आदि रस और वर्ण की उत्कृष्ट स्थिति अनुक्रम से अढाई-अढाई कोडाकोडो सागरोपम अधिक जानना चाहिए। जिसका तात्पर्य इस प्रकार है कि आम्लरस और पीतवर्ण की उत्कृष्ट स्थिति साडे बारह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण तथा साडे बारहसौ वर्ष का अबाधाकाल और अबाधाकाल से हीन शेष निषेकरचनाकाल है। इन साडे बारह कोडाकोडो सागरोपमो मे अढाई कोडाकोडी सागरोपम मिलाने पर कषायरस और रक्तवर्ण की पन्द्रह कोडाकोडी

सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति और इनका पन्द्रहसौ वर्ष का अबाधा-काल तथा अबाधाकाल से रहित शेष निषेकरचनाकाल है। इस पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम काल मे अढाई कोडाकोडी सागरोपम को मिला-कर कुल साडेसत्रह कोडाकोडी सागरोपम काल कटुकरस और नीलवर्ण का उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण है। साडे सत्रह सौ वर्ष अबाधाकाल और अबाधाकाल मे हीन शेष काल निषेकरचनाकाल है। तिक्तरस, कृष्णवर्ण और गाथागत अधिक अर्थसूचक तु शब्द से दुरभिगध, गुरु, कर्कश, रूक्ष और शीत इन चार स्पर्शों की पूर्वोक्त साडे सत्रह कोडाकोडी सागरोपम मे अढाई कोडाकोडी सागरोपम मिलाकर कुल बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति जानना चाहिए। इनका दो हजार वर्ष का अबाधाकाल है और अबाधाकाल से हीन निषेकरचनाकाल है।

इस प्रकार से वर्णचतुष्क के अवान्तर भेदो की उत्कृष्ट स्थिति जानना चाहिए।[1]

अब वेदनीय तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिकर्मों की सभी उत्तरप्रकृतियो एव मोहनीय व नामकर्म की कुछ प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति बताते है।

तीसं कोडाकोडी असाय-आवरण-अतरायाण।
मिच्छे सयरी इत्थी मणुदुगसायाण पन्नरस ॥३४॥

---

१ कर्मप्रकृति एव दिगम्बर कर्मसाहित्य मे वर्णचतुष्क के अवान्तर भेदो की उत्कृष्ट स्थिति पृथक्-पृथक् नामनिर्देश नही करके सामान्य से बीस कोडा-कोडी सागरोपम बताई है। जिसका सम्भव कारण यह है कि बधयोग्य मानी गई एक सौ बीस प्रकृतियो मे वर्णचतुष्क को ग्रहण किया है। यहाँ जो विस्तार से अलग-अलग उल्लेख किया है, वह विशेषापेक्षा समझना चाहिए।

शब्दार्थ—तीस—तीस, कोडाकोडी—कोडाकोडी, असाय—आसाता-वेदनीय, आवरण अतरायाण—आवरणद्विक, (ज्ञानावरण, दर्शनावरण) अन्तराय कर्मप्रकृतियो की, मिच्छे—मिथ्यात्व, सयरी—सत्तर, इत्थी—स्त्रीवेद, मणुदुग—मनुष्यगतिद्विक, सायाण—सातावेदनीय की, पन्नरस—पन्द्रह कोडाकोडी ।

गाथार्थ—असातावेदनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म प्रकृतियो की तीस कोडाकोडी, मिथ्यात्व की सत्तर कोडाकोडी, स्त्रीवेद, मनुष्यगतिद्विक और सातावेदनीय की पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ।

विशेषार्थ—गाथा मे समान-समान स्थिति वाले तीन कर्मप्रकृति वर्गों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है ।

पहला वर्ग है—आसातावेदनीय, ज्ञानावरणपचक (मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनपर्यायज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण), दर्शनावरणनवक(निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण), अतरायपचक (दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, (उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय), कुल बीस प्रकृतियो का। इन बीस प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति अपने मूलकर्म के बराबर तीस कोडाकोडी-तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है । इनका तीन-तीन हजार वर्ष अबाधाकाल और अबाधाकाल से हीन शेष निषेकरचनाकाल है ।

दूसरे वर्ग मे सिर्फ एक मिथ्यात्वमोहनीय प्रकृति है। इसकी सत्तर कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है और सात हजार वर्ष का अबाधाकाल और अबाधाकाल से हीन शेष कर्मदलिको की निषेकरचना का काल है ।

तीसरे वर्ग मे गृहीत स्त्रीवेद, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी और सातावेदनीय इन चार प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोडाकोडी साग-

रोपम की है। पन्द्रह सौ वर्ष का अवाधाकाल एव अबाधाकाल मे हीन शेप निपेकरचनाकाल है।

इस प्रकार से अभी तक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मो की सभी उत्तरप्रकृतियो एव कुछ एक मोहनीय और नामकर्म की उत्तरप्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई जा चुकी है। अब आगे की गाथा मे मुख्य रूप से नामकर्म की उत्तरप्रकृतियो की और साथ मे मोहनीयकर्म मे से सोलह कषायो की उत्कृष्ट स्थिति बतलाते है—

संघयणे सठाणे पढमे दस उवरिमेसु दुगुवुड्ढी।
सुहुमतिवामणविगले ठारस चत्ता कसायाण ॥३५॥

शब्दार्थ—सघयणे—सहनन मे, सठाणे—सस्थान मे, पढमे—पहले, दस—दस कोडाकोडी, उवरिमेसु—ऊपर के सहनन और सस्थानो मे, दुगुवुड्ढी—दो-दो की वृद्धि सुहुमति—सूक्ष्मत्रिक, वामण—वामनसस्थान, बिगले—विकलत्रिक की, ठारस—अठारह कोडाकोडी सागरोपम, चत्ता—चालीस, कसायाण—कषायो की।

गाथार्थ—सहननो और सस्थानो मे से पहले सहनन और सस्थान की उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम की है और इसके बाद ऊपर-ऊपर के एक सहनन और सस्थान मे दो-दो कोडाकोडी सागरोपम की वृद्धि करना चाहिए। सूक्ष्मत्रिक, वामन-सस्थान और विकलत्रिक की अठारह कोडाकोडी सागरोपम तथा कषायो की चालीस कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है।

विशेषार्थ—प्रथम सहनन—वज्रऋषभनाराच और प्रथम सस्थान—समचतुरस्र इन दोनो की उत्कृष्ट स्थिति दस-दस कोडाकोडी सागरोपम की है, एक हजार वर्ष का अबाधकाल एव अबाधाकाल मे हीन शेप दलिक

निषेकरचनाकाल है। इसके बाद आगे के सहननो और सस्थानो के युगल बनाकर अनुक्रम से दो-दो कोडाकोडी सागरोपम की वृद्धि करना चाहिए। वह इस प्रकार से समझना चाहिए—

दूसरे ऋषभनाराचसहनन और न्यग्रोधपरिमडलसस्थान की बारह कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है। बारहसौ वर्ष अबाधाकाल और अबाधाकाल से हीन शेष दलिक—निषेकरचनाकाल है। तीसरे नाराचसहनन और सादिसस्थान की चौदह कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्टस्थिति, चौदहसौ वर्ष अबाधाकाल और अबाधाकाल से हीन शेष दलिकरचनाकाल है। चौथा अर्धनाराचसहन और कुब्जसस्थान की सोलह कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है, सोलहसौ वर्ष अबाधाकाल और अबाधाकाल से हीन शेष निषेकरचनाकाल है। पाचवे कीलिकासहनन और वामनसस्थान की अठारह कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है, अठारहसौ वर्ष का अबाधाकाल और अबाधाकाल से हीन शेष निषेकरचनाकाल है तथा सेवार्तसहनन और हुडकसस्थान की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम की है, दो हजार वर्ष का अबाधाकाल और अबाधाकाल से हीन शेष निषेक-रचनाकाल है।

इस प्रकार सहनन और सस्थान नामकर्मों के छह-छह भेदो की कर्मरूपतावस्थानलक्षणा एव अनुभवयोग्या उत्कृष्ट स्थिति जानना चाहिए।

सूक्ष्मत्रिक—सूक्ष्म, साधारण और अपर्याप्त तथा विकलत्रिक—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति तथा वामनसस्थान[1] इन सात प्रकृतियो

---

१ कुछ एक आचार्य क्रमगणना मे वामन को चौथा सस्थान मानते है। अतएव उनके मतानुसार वामनसस्थान की उत्कृष्ट स्थिति सोलह कोडाकोडी सागरोपम की है। परन्तु पञ्चसग्रहकार इसे पाचवा सस्थान मानते हैं। इनको यह मत इष्ट नही है कि वामनसस्थान चौथा सस्थान है। इसीलिए

—→

की अठारह कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है, अठारह सौ वर्ष का अबाधाकाल और अबाधाकाल से हीन शेष निषेकरचानाकाल है। तथा—

'चत्ता कसायाण' अर्थात् अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोधादि चतुष्को रूप सोलह कषायो की उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोडाकोडी सागरोपम है, चार हजार वर्ष अबाधाकाल और अबाधाकाल से हीन निषेकरचनाकाल है। तथा—

पुंहासरईउच्चे सुभखगतिथिराइछक्कदेवदुगे।
दस सेसाण वीसा एवइयाबाह वाससया ॥३६॥

शब्दार्थ—पुंहासरईउच्चे—पुरुषवेद, हास्य, रति, उच्चगोत्र, सुभखगति—शुभ विहायोगति, थिराइछक्क—स्थिरादिषट्क, देवदुगे—देवद्विक, दस—दस कोडाकोडी सागरोपम, सेसाण—शेष प्रकृतियो की, वीसा—बीस कोडाकोडी सागरोपम, एवइयाबाह—इतना अबाधाकाल, वाससया—सौ वर्ष।

गाथार्थ—पुरुषवेद, हास्य, रति, उच्चगोत्र, शुभ विहायोगति, स्थिरषट्क और देवद्विक की दस कोडाकोडी सागरोपम की और शेष प्रकृतियो की बीस कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है। जितने कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति हो उतने ही सौ वर्ष का अबाधाकाल जानना चाहिए।

पूर्व मे संस्थानो की स्थिति का वर्णन कर दिये जाने के बाद पुन विशेष निर्णय के लिए गाथा मे पृथक् से निर्देश किया है—

सुहुमनिवामणविगले ठारस।

कर्मप्रकृति मे भी वामन को पाचवा संस्थान मानकर अठारह कोडाकोडी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है।

दिगम्बर कर्मग्रन्थो मे भी वामन को पाचवा संस्थान माना है।

विशेषार्थ—गाथा मे आयु और नामकर्म की सम्यक्त्वसाक्षेप आहारकद्विक और तीर्थंकरनाम इन तीन प्रकृतियो के अतिरिक्त पूर्वोक्त से शेष रही कतिपय शुभ प्रकृतियो एव मोहनीय, गोत्र कर्म की प्रकृतियो की नामोल्लेख पूर्वक उत्कृष्ट स्थिति तथा उत्कृष्ट स्थिति का अबाधा-काल जानने की विधि बतलाई है।

नामोल्लेख पूर्वक जिन प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है, वे इस प्रकार है—

पुरुषवेद, हास्य, रति, उच्चगोत्र, शुभविहायोगति, स्थिरषट्क—स्थिर, शुभ, सौभाग्य, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति और देवद्विक—देवगति और देवानुपूर्वी इन तेरह प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम की है। एक हजार वर्ष का अबाधाकाल और अबाधाकाल से हीन शेष निषेकरचनाकाल है तथा नामोल्लेख पूर्वक जितनी प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति अभी तक कही जा चुकी है, उनसे शेष रही प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम की है—'सेसाण वीसा।' वे शेष प्रकृतिया सैंतीस है। जिनके नाम इस प्रकार है—

भय, जुगुप्सा, शोक, अरति, नपु सकवेद, नीचगोत्र, नरकद्विक, तिर्यचद्विक, औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय, अयश कीर्ति, स्थावर, आतप, उद्योत, अशुभविहायोगति, निर्माण, एकेन्द्रियजाति, पचेन्द्रियजाति, तैजस और कार्मण। इनकी उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम है, दो हजार वर्ष का अवाधाकाल और अवाधाकाल से हीन निषेकरचनाकाल है।

यद्यपि प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति बतलाने के साथ उन-उनके अवाधाकाल का भी निर्देश करते आ रहे है। लेकिन अभी तक उतना-उतना अवाधाकाल मानने का नियम नही बतलाया है। अत अब उसे बताते हैं—

'एवइया बाहवाससया' अर्थात् जिस कर्म प्रकृति की जितने कोडा-कोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति हो, उस प्रकृति का उतने सौ वर्ष अबाधाकाल समझना चाहिए। जैसेकि मिथ्यात्वमोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम है तो उसका सत्तर सौ वर्ष यानी सात हजार वर्ष प्रमाण अबाधाकाल है। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिए।

अब पूर्वोक्त से शेष रही प्रकृतियो मे से पहले आयुचतुष्क की उत्कृष्ट स्थिति बतलाते है—

> सुरनारयाउयाणं अयरा तेत्तीस तिन्नि पलियाइं।
> इयराण चउसु वि पुव्वकोडितसो अबाहाओ ॥३७॥

शब्दार्थ—**सुरनारयाउयाण**—देव और नरक आयु की, **अयरा**—सागरोपम, **तेत्तीस**—तेतीस, **तिन्नि**—तीन, **पलियाइ**—पल्योपम, **इयराण**—इतर दो आयु की, **चउसु**—चारो आयु मे, **वि**—ही, **पुव्वकोडितसो**—पूर्व कोटि का तीसरा भाग, **अबाहाओ**—अबाधाकाल।

गाथार्थ—देव और नरक आयु की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम है और उनमे इतर दो आयु मनुष्य एव तिर्यंच आयु की तीन पल्य है। चारो ही आयु का पूर्वकोटि का तीसरा भाग अबाधाकाल है।

विशेषार्थ—गाथा मे आयुकर्म के चारो भेदो की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है—

देवायु और नरकायु की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम तथा इतर—तिर्यंच और मनुष्य आयु की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम की है। इन चारो स्थितियो मे पूर्वकोटि का तीसरा भाग अधिक मिला लेना चाहिये। इसका तात्पर्य यह हुआ कि देव और नरक आयु की जो उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम और तिर्यंच, मनुष्य आयु की तीन पल्योपम बतलाई है, वह अनुभवयोग्या उत्कृष्ट स्थिति है, उसमे

अबाधाकाल गर्भित नही है तथा पूर्वकोटि का तीसरा भाग जो अधिक लिया गया है, वह उनका अबाधाकाल है। इतने काल मे वध्यमान आयु के दलिको की रचना नही होती है। भुज्यमान आयु के दो भाग बीतने पर तीसरा भाग शेष रहे तब परभव की आयु का बध होता है, तभी पूर्वकोटि का तीसरा भाग अबाधा घटित होता है। पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाला तीसरे भाग की शुरुआत मे यदि परभव की आयु बध करे, उसे ही उतना उत्कृष्ट अबाधाकाल होता है। पूर्वकोटि का तीसरा भाग ये उत्कृष्ट अबाधा है। क्योकि पूर्वकोटि मे अधिक आयु वाला अपनी आयु के छह मास रहने पर परभव की आयु का बध करता है।

आयुकर्म के अबाधाकाल के सम्बन्ध मे एक बात ध्यान रखने योग्य है कि अबाधाकाल के लिए पहले जो नियम बतला आये है कि एक कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति मे सौ वर्ष अबाधाकाल होता है, वह नियम आयुकर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की अबाधा निकालने के लिए है। आयुकर्म की अबाधा स्थिति के अनुपात पर अवलम्बित नही है। इसका कारण यह है कि अन्य सातो कर्मो का बध तो सर्वदा होता रहता है, किन्तु आयुकर्म का बध अमुक-अमुक काल मे ही होता है। गति के अनुसार अमुक-अमुक काल निम्न प्रकार है—कर्मभूमिज मनुष्यगति और तिर्यंचगति मे जब भुज्यमान आयु के दो भाग बीत जाते हैं तव परभव की आयु के बध का काल उपस्थित होता है। जैसे कि यदि किसी मनुष्य की आयु निन्यानवै वर्ष की है तो उसमे छियासठ वर्ष बीतने पर वह मनुष्य परभव की आयु बाधेगा, उससे पहले उसके आयुकर्म का बध नही हो सकता है। यह तो हुई कर्मभूमिज मनुष्य-तिर्यंचो की अपेक्षा से आयुकर्म की अबाधा की व्यवस्था किन्तु भोग-भूमिज मनुष्य और तिर्यंच तथा देव और नारक अपनी-अपनी आयु के छह माह शेष रह जाने पर आगामी भव की आयु बाधते है।

आयुकर्म की अबाधा के सम्बन्ध मे दूसरी ध्यान मे रखने योग्य

बात यह है कि पूर्व मे सात कर्मो की जो स्थिति बतलाई है, उसमे उनका अबाधाकाल भी सम्मिलित है। जैसे कि मिथ्यात्वमोहनीय की सत्तर कोडाकोडी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है और उसका सात हजार वर्ष अबाधाकाल बतलाया है, तो ये सात हजार वर्ष उस सत्तर कोडाकोडी सागरोपम मे सम्मिलित है। अत यदि मिथ्यात्व की अबाधारहित स्थिति (अनुभवयोग्या स्थिति) जानना हो तो सत्तर कोडाकोडी सागरोपम मे से सात हजार वर्ष कम कर देना चाहिये। किन्तु आयुकर्म की तेतीस सागरोपम, तीन पल्योपम आदि जो स्थिति बतलाई है, वह शुद्ध स्थिति है। उसमे अबाधाकाल सम्मिलित नही है। क्योकि अन्य कर्मो की तरह आयुकर्म की अबाधा अनुपात पर आधारित नही है और अनुपात पर अवलम्बित न होने का कारण यह है कि आयु के त्रिभाग मे भी आयु का बध अवश्यभावी नही है। क्योकि त्रिभाग के भी त्रिभाग करते-करते आठ त्रिभाग पडते है। इस प्रकार से तीसरे भाग मे, नौवे भाग मे, सत्ताईसवे भाग मे परभव की आयु का बध हो सकता है और कदाचित् इस सत्ताईसवे भाग मे भी परभव की आयु का बध न हो तो मरण से अन्तर्मुहूर्त पहले अवश्य बध हो जाता है। इसी अनिश्चितता के कारण आयुकर्म की स्थिति मे उसका अबाधाकाल सम्मिलित नही किया जाता है।

आयुकर्म की स्थिति के साथ उसकी अबाधा को न जोडने का तीसरा कारण यह है कि अन्य कर्म अपने स्वजातीय कर्मो को अपने बध द्वारा पुष्ट करते है और यदि उनका उदय भी हो तो उसी जाति के बंधे हुए नवीन कर्म का बधावलिका के बीतने के पश्चात् उदीरणा द्वारा उदय भी होता है। परन्तु आयुकर्म के लिए ऐसा नही है। वध्यमान आयु भुज्यमान आयु के एक भी स्थान को पुष्ट नही करती है। जैसे कि मनुष्यायु को भोगते हुए स्वजातीय मनुष्यायु का बंध भी हो तो बध्यमान उस आयु को अन्य मनुष्य जन्म मे जाकर ही भोगा जाता है, यहाँ उसके एक भी दलिक का उदय या उदीरणा नही होती है। इसी कारण आयु के साथ अबाधाकाल को नही जोडा जाता है।

आयुकर्म की स्थिति के साथ उसके अबाधाकाल को न जोडने का चौथा कारण यह है कि आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति मे भी जघन्य अबाधा और जघन्य स्थिति मे भी उत्कृष्ट अबाधा हो सकती है। क्योकि पहले यह बता चुके हैं कि उसका अबाधाकाल स्थिति के प्रतिभाग के अनुसार नही होता है। अत आयुकर्म की अबाधा के चार विकल्प होते है—

१ उत्कृष्ट स्थितिबध मे उत्कृष्ट अबाधा।
२ उत्कृष्ट स्थितिबध मे जघन्य अबाधा।
३ जघन्य स्थितिबध मे उत्कृष्ट अबाधा।
४ जघन्य स्थितबध मे जघन्य अबाधा।

इन चार विकल्पो का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—जब कोई मनुष्य अपनी पूर्वकोटि की आयु मे तीसरा भाग शेष रहने पर तेतीस सागरोपम की आयु बाधता है तब उत्कृष्ट स्थितिबध मे उत्कृष्ट अबाधा होती है और यदि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण शेष रहने पर तेतीस सागरोपम की स्थिति बाधता है, तो उत्कृष्ट स्थिति मे जघन्य अबाधा होती है तथा जब कोई मनुष्य एक पूर्वकोटि का तीसरा भाग शेष रहते परभव की जघन्य स्थिति बाधता है जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण हो सकती है, तब जघन्य स्थिति मे उत्कृष्ट अबाधा और यदि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति शेष रहने पर परभव की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति बाधता है तो जघन्य स्थिति मे जघन्य अबाधा होती है। इस प्रकार आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति मे भी जघन्य अबाधा और जघन्य स्थिति मे भी उत्कृष्ट अबाधा हो सकती है। यही कारण है कि आयुकर्म की स्थिति मे उसका अबाधाकाल सम्मिलित नही किया जाता है।[1]

---

१ उत्कृष्ट स्थितिबध का अबाधाकाल निकालने का जो सूत्र बताया है कि एक कोडाकोडी सागरोपम पर सौ वर्ष की अबाधा होती है, उस सूत्र के अनुरूप आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति कोडाकोडी सागरोपमो मे नही होकर

इस प्रकार से आयुकर्म की स्थिति मे उसके अबाधाकाल को न जोडने के कारण को स्पष्ट करने के अनन्तर अब भुज्यमान आयु के दो भाग जाने के बाद तीसरा भाग शेष रहने पर परभव की आयु बध होने को आधार बनाकर प्रस्तुत की गई एक शका का समाधान करते है।

आयुबध विषयक शका-समाधान

> वोलीणेसु दोसु भागेसु आउयस्स जो बधो।
> भणिओ असभवाओ न घडइ सो गइचउक्केवि ॥३८॥
>
> पलियासंखेज्जसे बधति न साहिए नरतिरिच्छा।
> छम्मासे पुण इयरा तदाउतसो बहु होइ ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ—**बोलीणेसु**—बीतने पर, **दोसु भागेसु**—दो भागो के, **आउयस्स**—आयुकर्म के, **जो**—जो, **बधो**—बध, **भणिओ**—कहा है, **असभवाओ**—असभव होने से, **न**—नही, **घडइ**—घटित होता है, **सो**—वह, **गइचउक्केवि**—चारो गतियो मे भी।

पलियासखेज्ज से—पल्य के असख्यातवें भाग, **बधति**—बाधते है, **न**—नही **साहिए**—साधिक, **नरतिरिच्छा**—मनुष्य तिर्यच, **छम्मासे**—छह मास, **पुण**—पुन और, **इयरा**—इतर—देव, नारक, **तदाउतसो**—उनकी आयु का तृतीय अश, **बहु**—बहुत बडा, **होइ**—होता है।

गाथार्थ—भुज्यमान आयु के दो भागो के बीतने पर शेष रहे तीसरे भाग मे जो परभव की आयु का बध होना कहा है वह असभव होने से चारो गतियो मे घटित नही होता है। क्योकि युगलिक मनुष्य साधिक पल्योपम के असख्यातवे भाग के शेष

मात्र सागरोपमो मे होने से सम्भवत आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बधने मे उसका अबाधाकाल न जोडा हो। विज्ञजन इस दृष्टिकोण पर विचार करें।

रहने तक और इतर—देव, नारक छह मास से अ
तक शेष हो तब तक परभव की आयु नही बाधते
कारण यह है कि उनकी आयु का तीसरा भाग
होता है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओ मे एक शका का पूर्व
किया गया है।

शंका—भुज्यमान आयु के दो भाग बीतने पर शेष
भाग मे परभव की आयुबध होने का जो नियम कह
असभव है। इसका कारण यह है कि भोगभूमिज मनुष्य अ
अपनी भुज्यमान आयु का जब तक कुछ अधिक पल्योपम का
तवा भाग शेष हो तब तक परभव की आयु नही बाधते हैं
पल्योपम का असख्यातवा भाग शेष रहे तभी परभव की आयु
है तथा इतर—देव और नारक अपनी आयु का छह मास से अ
शेष हो तब तक परभव की आयु का बध नही करते है, पर
मास आयु शेष रहने पर परभव की आयु बाधते है। क्योकि
भूमिज मनुष्य-तिर्यंचो और देव-नारको की आयु का तीसरा
बहुत बडा होता है। भोगभूमिज मनुष्य-तिर्यंचो का तीसरा
पल्योपम प्रमाण और देव-नारको की आयु का त्रिभाग ग्यारह
प्रमाण होता है और आयु का इतना बडा भाग शेष रहे तब प
की आयु का बध घट नही सकता है। परन्तु पल्योपम का असख्य
भाग आदि शेष रहे तब बध होना घट सकता है। जब यह बात है
अपनी आयु का तीसरा भाग शेष रहने पर परभव की आयु का
और पूर्वकोटि का तीसरा भाग अबाधा यह जो कहा है, वह
असगत है।

---

१ यह कथन उनकी अपेक्षा समझना चाहिए जो युगलिक मनुष्यो और तिर्य
के पल्योपम का असख्यातवा भाग अबाधा मानते है। उनके मत
पल्योपम का असख्यातवा भाग शेष रहे तब परभव की आयु बाधते है।

यह शका का पूर्वपक्ष है। जिसका अब ग्रन्थकार आचार्य समाधान करते है—

पुव्वाकोडी जेसिं आऊ अहिकिच्च ते इम भणियं ।
भणिअ पि निय अबाह आउ बधति अमुयता ॥४०॥

शब्दार्थ—पुव्वाकोडी—पूर्वकोटि, जेसिं—जिनकी, आऊ—आयु, अहिकिच्च—अधिकृत करके, अपेक्षा मे, ते—वह, इम—यह, भणिय—कहा गया है, भणिअ—कहा है, पि—भी, निय—अपनी, अबाह—अबाधा आउ—आयु को, बधति—बाधते है, अमुयता—नही छोडते ।

गाथार्थ—जिनकी पूर्वकोटि वर्ष आयु है, उनकी अपेक्षा यह कहा गया है कि दो भाग बीतने के बाद तीसरा भाग शेष रहने पर परभव की आयु बाधते है एवं उन्ही की अपेक्षा यह कहा है कि वे पूर्वकोटि का त्रिभाग रूप अपनी अबाधा को नही छोडते हैं। अर्थात् पूर्वकोटि का तीसरा भाग शेष रहने पर परभव की आयु का बध करते है, यह जो कहा है, वह पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले जीवो की अपेक्षा से कहा गया है।

विशेषार्थ—गाथा मे ग्रन्थकार आचार्य ने शका का समाधान करते हुए बताया है कि पूर्वकोटि का त्रिभाग अबाधा का निर्देश असगत नही है। क्योकि जिन सज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्यो की पूर्व कोटि प्रमाण आयु होती है और वे परभव की आयु का बध करे तो उनकी अपेक्षा ही यह कहा गया है कि अपनी आयु के दो भाग जाने पर, तीसरे भाग के प्रारम्भ मे परभव की आयु का बध करते है। इसका तात्पर्य यह है कि उनकी अपनी आयु के दो भाग जाये और तीसरा भाग शेष रहे तब परभव की आयु का बध होता है, यह पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले जीवो की अपेक्षा से कहा गया है। किन्तु इससे अधिक जिनकी आयु हो उनकी अपेक्षा इस नियम का विधान नही किया गया है। वे तो छह माह की आयु शेष रहने पर आगामी भव की आयु का बध करते है तथा पूर्वकोटि का तीसरा भाग रूप उत्कृष्ट अबाधा भी

पूर्वकोटि वर्ष की आयु वालो के ही घटित होती है। क्योकि वे ही अपनी आयु के दो भाग जाने के अनन्तर तीसरे भाग के प्रारम्भ मे परभव की आयु बाध सकते है।

परभव की आयु का उत्कृष्ट बध और उत्कृष्ट अबाधा, यह भग भी उन्ही जीवो मे घटित हो सकता है जो पूवकोटि वर्ष की आयु वाले दो भाग जाने के बाद तीसरे भाग के प्रारम्भ मे आयु बाधते हैं और वह भी उत्कृष्ट आयु बाधते है। किन्तु ऐसा कोई नियम नही है कि पूर्व कोटि वर्ष की आयु वाले सभी जीव दो भाग जाने के बाद तीसरे भाग के प्रारम्भ मे ही आयु बाधते है। क्योकि कितने ही तीसरे भाग मे, कितने ही तीसरे भाग के तीसरे भाग मे, यानी कुल आयु के नौवे भाग मे, कितने ही नौवे भाग के तीसरे भाग मे यानी कुल आयु के सत्ताईसवे भाग मे, यावत् कितने ही अन्तिम अन्तर्मुहूर्त मे भी पारभविक आयु का बध करते है। जितनी अपनी भुज्यमान आयु शष रहे और पारभविक आयु बध हो, उतना अबाधाकाल है। यह अबाधाकाल भुज्यमान आयु सम्बन्धी समझना चाहिए किन्तु परभवायु सम्बन्धी नही तथा भुज्यमान आयु जिस समय पूर्ण हो, उसके अनन्तर समय मे ही परभव की आयु का उदय होता है। बीच मे एक भी समय का अन्तर नही रहता है। जीवस्वभाव के कारण निषेकरचना ही इस प्रकार से होती है कि भुज्यमान आयु के एक भी स्थान मे नही होती है किन्तु अनन्तर समय के प्रारम्भ से ही होती है। यानी भुज्यमान आयु पूर्ण हो कि उसके पश्चाद्वर्ती समय मे ही परभव की आयु का उदय होता है। इस प्रकार दो भाग जाने के बाद तीसरे भाग के प्रारम्भ मे आयु का बध और पूर्वकोटि का तीसरा भाग रूप उत्कृष्ट अबाधा यह सब कथन पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले की अपेक्षा मे कहा है, इसलिये उक्त कथन सगत हे।

इस प्रकार परभव की आयु बाधने वाले पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले सज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्यो के पूर्वकोटि का तीसरा भाग

रूप उत्कृष्ट अबाधा जानना चाहिये ।[1] अब परभव की आयु बांधने वाले शेष जीवों के जितनी अबाधा होती है, उसे बतलाते है ।

परभवायु बंधक शेष जीवों की अबाधा का प्रमाण

निरुवक्कमाण छमासा इगिविगलाणं भविट्ठिईतंसो ।
पलियासखेज्जंस जुगधम्मीण वयत्न्ने ॥४१॥

शब्दार्थ—निरुवक्कमाण—निरुपक्रम आयु वालो के, छमासा—छह मास, इगिविगलाण—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियो के, भवट्ठिईतसो—भवस्थिति का

---

१ आयु की ऐसी परिभाषा है कि पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले सख्यात वर्ष की आयु वाले और उससे एक समय भी अधिक यावत् पल्योपम सागरोपम आदि की आयु वाले असख्य वर्ष की आयु वाले कहलाते है । अपनी भुज्य-मान आयु के दो भाग जाने के पश्चात् तीसरे भाग के आदि मे—प्रारम्भ मे आयु बाध सकते है, यह कथन सख्यात वर्ष की आयु वालो की अपेक्षा घटित होता है । असख्यात वर्ष की आयु वालो की अपेक्षा नही । असख्यात वर्ष की आयु वाले तो अपनी आयु छह माह शेष रहे तब परभव की आयु का बध करते है । मतान्तर से युगलिक पल्योपम का असख्यातवा भाग शेष रहे तब और नारक अन्तर्मुहूर्त की आयु बाकी हो तब परभव की आयु बाधते है ।

पूर्व मे जो आयु के उत्कृष्ट स्थितिबध मे जघन्य अबाधा होने का सकेत किया है, वह नरकायु की उत्कृष्ट स्थिति बाधने पर सम्भव है । जैसे कि अन्तर्मुहूर्त की आयु वाला तन्दुलमत्स्य तेतीस सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट नरकायु का बध करता है । किन्तु देवायु की अपेक्षा सम्भव नही है । क्योकि अन्तर्मुहूर्त की आयु वाला मनुष्य अनुत्तर विमान की तेतीस सागरोपम प्रमाण आयु नही बाध सकता है । अनुत्तर विमान की आयु-प्रमत्तअप्रमत्त सयत गुणस्थान मे बधती है और वह गुणस्थान लगभग नौ वर्ष की उम्र वाले को ही प्राप्त होते हैं ।

असख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यंच और मनुष्यो की पल्योपम का असख्यातवा भाग परभवायु की अवाधा है। उनके मत से पल्योपम का असख्यातवा भाग शेप रहे, तब परभव की आयु का वध होता है।

इस प्रकार मे आयुचतुष्क की उत्कृष्ट स्थिति और तत्सम्बन्धी अवाधाकाल का विचार करने के पश्चात् अब तीर्थंकरनाम, आहारक-द्विक की उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण बताते है।

तीर्थंकरनाम, आहारकद्विक की उत्कृष्ट स्थिति

अंतोकोडाकोडी तित्थयराहार तीए सखाओ।
तेत्तीसपलियसंख निकाइयाण तु उक्कोसा ॥४२॥

शब्दार्थ—अतोकोटाकोडी—अन्त कोडाकोटी सागरोपम, तित्थयराहार—तीर्थंकरनाम और आहारकद्विक की, तीए—उसके, सखाओ—सख्यातवें भाग, तेत्तीसपलियसख—तेतीस सागरोपम और पल्योपम का असख्यातवा भाग, निकाइयाण—निकाचित की, तु—और, उक्कोसा—उत्कृष्ट।

गाथार्थ—तीर्थंकरनाम और आहारकद्विक की उत्कृष्ट स्थिति अन्त कोडाकोडी सागरोपम है और इन दोनो की निकाचित उत्कृष्ट स्थिति अनुक्रम से अन्त कोडाकोडी के सख्यातवे भाग से लेकर तेतीस सागरोपम और पल्योपम का असख्यातवा भाग प्रमाण है।

विशेपार्थ—यहां तीर्थंकरनाम और आहारकद्विक की सामान्य से और निकाचित अवस्था की अपेक्षा उत्कृष्ट स्थिति वतलाई है—

अनिकाचित अवस्था की अपेक्षा तो तीर्थंकर नामकर्म और आहारकद्विक—आहारकशरीर, आहारक-अगोपाग की उत्कृष्ट स्थिति अन्त. कोटाकोडी सागरोपम की है, अन्तर्मुहूर्त अवाधाकाल है और अवाधाकाल से हीन निपेकरचनाकाल है। लेकिन निकाचितापेक्षा इन दोनो की उत्कृष्ट स्थिति इस प्रकार जानना चाहिये कि तीर्थंकरनामकर्म की

अन्त कोडाकोडी सागरोपम के सख्यातवे भाग मे लेकर कुछ न्यून दो पूर्व कोडी अधिक तेतीस सागरोपम प्रमाण एव आहारकद्विक की पल्योपम का असख्यातवा भाग प्रमाण है।

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि तीर्थंकरनाम और आहारकद्विक की अत कोडाकोडी सागरोपम के सख्यातवे भाग की स्थिति से लेकर निकाचित करना प्रारम्भ करे और जब पूर्ण रूप मे गाढ निकाचित हो जाये तव तीर्थंकरनाम की उत्कृष्ट स्थिति कुछ कम दो पूर्वकोटि अधिक तेतीस सागरोपम होती है। जो इस प्रकार समझना चाहिये—

जिस भव मे तीर्थंकर होना है उस भव से तीसरे भव मे पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाला कोई मनुष्य तीर्थंकर नामकर्म को निकाचित करे, वहाँ से तेतीस सागरोपम की आयु वाला अनुत्तर विमानवासी देव हो और वहाँ से च्यवकर चौरासी लाख पूर्व की आयु वाला तीर्थंकर हो। इस प्रकार पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाला निकाचित बध करे और वहाँ से अनुत्तर विमान मे उत्कृष्ट आयु से उत्पन्न हो और उत्कृष्ट आयु से तीर्थंकर हो तो ऊपर कहे अनुसार निकाचित तीर्थंकरनामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति सम्भव है[1] और आहारकद्विक की अन्त कोडाकोडी सागरोपम के सख्यातवे भाग मे लेकर पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थिति गाढ निकाचित होती है। इस तरह इन दोनो[2] प्रकृतियो

---

१ तीर्थंकरनाम की उपर्युक्त गाढ निकाचित उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले मनुष्य की अपेक्षा से जानना चाहिए। जो तेतीस सागरोपम की आयु से अनुत्तर विमान मे उत्पन्न होकर फिर वहाँ से च्यवकर चौरासी लाख पूर्व की आयु से तीर्थंकर हो। यदि पूर्वकोटि वर्ष से कम आयु वाला बाधे और कम आयु वाले वैमानिक देवो या नारको मे उत्पन्न हो और तीर्थंकरभव मे कम आयु हो तो उपर्युक्त स्थिति से कम भी गाढ निकाचित स्थिति सम्भव है।

२ यहाँ तीर्थंकरनाम तथा आहारक शरीर आहारक-अगोपाग को आहारकद्विक नाम से एक प्रकृति रूप मे गिनकर 'दोनो' शब्द का प्रयोग किया है।

गाथार्थ—अन्त कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाला तीर्थंकर-नाम सत्ता मे होने पर भी इतने काल तक तिर्यंच क्यो नही होता है ? यदि कुछ काल तक होता है तो आगम से विरोध आता है।

विशेषार्थ—गाथा मे पूर्वपक्ष के रूप मे शका प्रस्तुत की गई है—

अन्त कोडाकोडी सागरोपम की स्थितिवाला तीर्थंकरनाम जब सत्ता मे हो तब क्या उतने काल पर्यन्त तिर्यंच नही होता है ? कदाचित् यह कहो कि नही होता है, तो ऐसा नही कहा जा सकता है। क्योकि त्रसकाय की उत्कृष्ट स्वकाय स्थिति दो हजार सागरोपम की है और उसके बाद जीव मोक्ष मे न जाये तो अवश्य स्थावर होता है। इसलिये तिर्यच गये बिना उतनी स्थिति पूर्ण हो नही सकती है और यदि यह कहा जाये कि कुछ काल के लिये तिर्यच मे जाता है तो आगम-विरोध होता है। क्योकि आगम मे यह कहा गया है कि तीर्थंकर-नामकर्म की सत्ता वाला तिर्यच मे नही जाता है।

यह शका का पूर्वपक्ष है। जिसके समाधानार्थ ग्रन्थकार आचार्य बतलाते है—

जमिह निकाइय तित्थ तिरियभवे त निसेहियं संतं।
इयरमि नत्थि दोसो उवट्टणवट्टणासज्झे ॥४४॥

शब्दार्थ—जमिह—यहाँ जो, निकाइय—निकाचित, तित्थ—तीर्थंकर नामकर्म, तिरियभवे—तिर्यंचभव मे, त—उसकी, निसेहिय—निषेध की है, सत—सत्ता, इयरमि—इतर—अनिकाचित मे, नत्थि—नही है, दोसो—दोष, उवट्टणवट्टणासज्झ—उद्वर्तना अपवर्तना साध्य मे।

गाथार्थ—यहाँ जो निकाचित तीर्थंकरनामकर्म है, उसकी सत्ता का तिर्यंचभव मे निषेध किया है किन्तु इतर मे अर्थात् उद्वर्तना अपवर्तना साध्य अनिकाचित सत्ता मे कोई दोष नही है।

विशेषार्थ—शका का समाधान करते हुए आचार्य स्पष्ट करते हैं कि जमिह—अर्थात् यहाँ—जिन प्रवचन मे जिस तीर्थंकरनामकर्म

का तीसरे भव मे निकाचित बध किया है यानी अवश्य भोगा जाये इस रीति से व्यवस्थित किया है, उसकी स्वरूप सत्ता का तिर्यंचभव मे निषेध किया है परन्तु जिसकी उद्वर्तना और अपवर्तना हो सकती है ऐसे अनिकाचित तीर्थकरनाम की सत्ता का तिर्यचभव मे निषेध नही किया है। अनिकाचित तीर्थकरनाम की सत्ता तिर्यंचभव मे हो तो उसमे कोई दोष नही है। यह कथन स्वकल्पित नही है किन्तु अन्य आचार्यो ने भी इसी प्रकार बतलाया है। विशेषोणवती ग्रन्थ मे कहा है—

तिरिएसु नत्थि तित्थयरनाम सत्तन्ति देसिथ समए।
कह य तिरिओ न होही, अयरोवम कोडिकोडीए॥ १॥
त पि सुनिकाइयस्सेव तइयभवभाविणो विणिद्दिट्ठ।
अणिकाइयम्मि वच्चइ सव्वगईओ वि न विरोहो॥ २॥

अर्थात् तीर्थकरनाम की सत्ता तिर्यचभव मे नही है, ऐसा जिन-प्रवचन मे कहा है, परन्तु तीर्थकरनाम की उत्कृष्ट स्थिति अन्त-कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण कही है, उतनी स्थिति मे तीर्थकरनाम-कर्म की सत्तावाला तिर्यंच क्यो नही होता है ? उतनी स्थिति मे तिर्यंच अवश्य होता ही है। क्योकि तिर्यच भव मे भ्रमण किये विना उतनी स्थिति की पूर्णता होना अशक्य ही है।

इसका उत्तर यह है—तीर्थकरनामकर्म की सत्ता तिर्यन्च मे नही होती है, ऐसा जो सिद्धान्त मे कहा गया है वह तीसरे भव मे होने वाली सुनिकाचित तीर्थकरनामकर्म की सत्ता की अपेक्षा कहा गया है, किन्तु सामान्य सत्ता की अपेक्षा नही कहा गया है। इसलिये अनि-काचित तीर्थकरनाम की सत्ता होने पर सभी चारो गतियो मे जाये, इसमे किसी प्रकार का विरोध नही है। अर्थात् अनिकाचित वध होने पर तिर्यचभव की भी प्राप्ति होती है तो इसमे कोई दोप नही है।

इस प्रकार यथायोग्य स्पष्टीकरण के साथ समस्त उत्तर प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण जानना चाहिये ।[1]

अब उत्तर प्रकृतियो को जघन्य स्थिति बतलाते है किन्तु उससे पूर्व जघन्य स्थिति के प्रमाण का सुगमता से बोध कराने के लिये तत्सम्बन्धी नियम का निर्देश करते है ।

उत्तर प्रकृतियो की जघन्य स्थिति का नियम

पुव्वकोडीपरओ इगि विगलो वा न बधए आउ ।
अतोकोडाकोडीए आरउ अभवसन्नी उ ॥४५॥

शब्दार्थ—**पुव्वकोडीपरओ**—पूर्वकोटि से अधिक, **इगि विगलो**—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, **वा**—और, **न**—नही, **बधए**—बाधते है, **आउ**—आयु, **अतोकोडाकोडीए**—अत कोडाकोडी सागरोपम से, **आरउ**—न्यून कम, **अभवसन्नी**—अभव्य सज्ञी, **उ**—तु (अधिक अर्थसूचक अव्यय) ।

गाथार्थ—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय पूर्वकोटि से अधिक आयु नही बाधते है और अभव्य सज्ञी अत कोडाकोडी से कम सात कर्मो की स्थिति का बध नही करते है ।

विशेषार्थ—गाथा मे एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय आदि के आयुबध के सम्बन्ध मे नियम बतलाया है कि एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव एक पूर्वकोटि से अधिक परभव की आयु का बध नही करते है । अर्थात् एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय परभव की उत्कृष्ट आयु एक करोड पूर्व[2]

---

१ दिगम्बर पचसग्रह शतक अधिकार गा ३९१ से ४०८ तक मे भी मूल एव उत्तर प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण बतलाया है । जो सामान्य तया वहाँ किये गये वर्णन से मिलता है ।

२ पूर्व का परिमाण इस प्रकार बतलाया है—

पुव्वस्स उ परिमाण सयरी खलु होति कोडिलक्खाओ ।
छप्पन्न च सहस्सा बोद्धव्वा वास कोडीण ॥

वर्ष की बाधते है तथा गाथा मे आगत 'तु' शब्द अधिक अर्थ का सूचक होने से यह अर्थ हुआ कि अभव्य सज्ञी आयु को छोडकर शेष सातो कर्मो की स्थिति अन्त कोडाकोडी सागरोपम मे हीन-हीनतर नही बाधता है, परन्तु जघन्य से भी अतःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति ही बाधता है।

इस प्रकार से विभिन्न जीवापेक्षा स्थितिबध का नियम जानना चाहिए। अब उत्तर प्रकृतियो की जघन्य स्थिति का प्रमाण बतलाते है।

उत्तर प्रकृतियो की जघन्य स्थिति

सुरनारयाउयाण दसवाससहस्स लघु सतित्थाण।
इयरे अतमुहुत्त अतमुहुत्त अबाहाओ ॥४६॥

शब्दार्थ—सुरनारयाउयाण—देव और नरक आयु की, दसवाससहस्स—दस हजार वर्ष, लघु—जघन्य, सतित्थाण—तीर्थंकरनाम सहित, इयरे—इतर-दो आयु की, अतमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त, अतमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त, अबाहाओ—अबाधा।

गाथार्थ- तीर्थंकरनाम सहित देव और नरक आयु की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है और इतर दो आयु की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है और अन्तर्मुहूर्त अबाधाकाल है।

विशेषार्थ—गाथा मे आयुकर्म की चारो उत्तर प्रकृतियो और तीर्थंकरनाम की जघन्य स्थिति एव उनका जघन्य अबाधाकाल बतलाया है कि—

अर्थात् सत्तर लाख छप्पन हजार करोड वर्ष का एक पूर्व होता है।
यह गाथा सर्वार्थसिद्धि और ज्योतिष्करण्डक मे भी पाई जाती है। ज्योतिष्करण्डक मे 'कोडिलक्खाओ' की जगह 'सयमहस्साइ' पाठ है। किन्तु आशय मे कोई अन्तर नहीं है।

देवायु, नरकायु और तीर्थंकरनाम की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष प्रमाण है[1] तथा इयरे-इतर मनुष्यायु और तिर्यंचायु की जघन्य स्थिति क्षुल्लकभव[2] रूप अन्तर्मुहूर्त है।

अब इनका अबाधाकाल बतलाते है कि चारो आयु और तीर्थंकर-नाम की अबाधा अन्तर्मुहूर्त है और अबाधाकाल से हीन निषेकरचना काल है। अर्थात् अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अबाधाकाल मे दलिकरचना नही होती है, किन्तु उसके वाद के स्थितिस्थान मे प्रारम्भ होती है। तथा—

पुवेए अट्ठवासा अट्ठमुहुत्ता जसुच्चगोयाण।
साए बारसहारगविग्घावरणाण किंचूणं ॥४७॥

---

१ यहाँ तीर्थंकरनाम की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष प्रमाण कोई अप्रचलित मतविशेप का सकेत है। क्योकि कर्मप्रकृतिचूर्णि, शतकचूर्णि एव दिगम्बर कर्मग्रन्थो मे सर्वत्र तीर्थंकरनाम की जघन्य स्थिति अन्त कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण बतलाई है। जो अन्त कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति से सख्यात गुणहीन जानना चाहिये। इस सम्वन्धी पाठ है—

'आहारगतित्थयरनामाण उक्कोसओ ठिइबधो भणिओ, तओ उक्कोसाओ ठिइबधाओ जहन्नओ ठिइबधो सखेज्जगुणहीणो, सोवि जहन्नओ अतोकोडाकोडी चेव।' —कर्मप्रकृतिचूर्णि

'आहारगसरीर आहारग-अगोवगतित्थयरनामाण जहण्णो ठिइबधो अतोसागरोपमकोडाकोडी, अन्तोमुहुत्तमवाहा, उक्कोसाओ सखेज्जगुणहीणो जहन्नो ठिइबधो इति।' —शतकचूर्णि

तित्थहाराण तो कोडाकोडी जहण्ण ट्ठिदिवधो।
—गो कर्मकाड १४१

२ निगोदिया जीवो के भव को क्षुल्लकभव या क्षुद्रभव कहते है। यह भव मनुष्य और तिर्यंच पर्याय मे ही होता है। क्षुल्लकभव का प्रमाण दो सौ छप्पन आवलिका है और असख्यात समय का एक आवलिका होती है।

देवायु, नरकायु और तीर्थंकरनाम की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष प्रमाण है[1] तथा इयरे-इतर मनुष्यायु और तिर्यचायु की जघन्य स्थिति क्षुल्लकभव[2] रूप अन्तर्मुहूर्त है।

अब इनका अबाधाकाल बतलाते है कि चारो आयु और तीर्थंकर-नाम की अबाधा अन्तर्मुहूर्त है और अबाधाकाल से हीन निषेकरचना काल है। अर्थात् अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अबाधाकाल मे दलिकरचना नही होती है, किन्तु उसके बाद के स्थितिस्थान मे प्रारम्भ होती है। तथा—

पुवेए अट्ठवासा अट्ठमुहुत्ता जसुच्चगोयाण।
साए बारसहारगविग्घावरणाण किंचूणं ॥४७॥

---

१ यहाँ तीर्थंकरनाम की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष प्रमाण कोई अप्रचलित मतविशेष का सकेत है। क्योकि कर्मप्रकृतिचूर्णि, शतकचूर्णि एव दिगम्बर कर्मग्रन्थो मे सर्वत्र तीर्थंकरनाम की जघन्य स्थिति अन्त कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण बतलाई है। जो अन्त कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति से सख्यात गुणहीन जानना चाहिये। इस सम्बन्धी पाठ हैं—

'आहारगतित्थयरनामाण उक्कोसओ ठिइबधो भणिओ, तओ उक्कोसाओ ठिइबधाओ जहन्नओ ठिइबधो सखेज्जगुणहीणो, सोवि जहन्नओ अतोकोडाकोडी चेव।'
—कर्मप्रकृतिचूर्णि

'आहारगसरीर आहारग-अगोवगतित्थयरनामाण जहण्णो ठिइबधो अतोसागरोपमकोडाकोडी, अन्तोमुहुत्तमबाहा, उक्कोसाओ सखेज्जगुणहीणो जहन्नो ठिइबधो इति।'
—शतकचूर्णि

तित्थहाराण तो कोडाकोडी जहण्ण ट्ठिदिबधो।
—गो कर्मकाड १४१

२ निगोदिया जीवो के भव को क्षुल्लकभव या क्षुद्रभव कहते हैं। यह भव मनुष्य और तिर्यंच पर्याय मे ही होता है। क्षुल्लकभव का प्रमाण दो सौ छप्पन आवलिका है और असख्यात समय का एक आवलिका होती है।

पृथक्-पृथक् नामोल्लेख पूर्वक बताई गई प्रकृतियो की जघन्य स्थिति से शेष रही प्रकृतियो की जघन्य स्थिति जानने का सामान्य नियम यह है कि उन उनकी उत्कृष्ट स्थिति मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर जो लब्ध आये वह उन-उनकी जघन्य स्थिति है—'सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तठिईए ज लद्ध'। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

निद्रा आदि निद्रापचक और असातावेदनीय इनकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। उसमे मिथ्यात्व की सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने और 'शून्य शून्येन पातयेत्' नियम के अनुसार शून्य को शून्य से काट देने पर ३/७ सागरोपम लब्ध आता है, उतनी निद्रापचक और असातावेदनीय की जघन्य स्थिति है।

इसी प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय की ७/७ सागरोपम यानि एक सागरोपम प्रमाण जघन्य स्थिति समझ लेना चाहिए।

सज्वलन के सिवाय शेष बारह कषायो की ४/७ सागरोपम जघन्य स्थिति है तथा सूक्ष्मत्रिक और विकलजातित्रिक की उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। उसमे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने और शून्य को शून्य से काटने पर ऊपर अठारह और नीचे सत्तर रहे। इन दोनो सख्याओ मे दो से भाग देने पर ऊपर नौ और नीचे पैंतीस शेष रहेगे। इसलिए ९/३५ सूक्ष्मत्रिक और विकलजातित्रिक इन छह प्रकृतियो की जघन्य स्थिति जानना चाहिये।

स्त्रीवेद और मनुष्यद्विक की उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। उसको मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने और शून्य को शून्य से काटने के बाद ऊपर नीचे की सख्याओ को पाच से काटने पर ३/१४ सागरोपम प्रमाण स्त्रीवेद और मनुष्यद्विक इन तीन प्रकृतियो की जघन्य स्थिति जानना चाहिए।

हास्य, रति और यश कीर्ति को छोडकर शेष स्थिरादिपचक, शुभविहायोगति, सुरभिगध, शुक्लवर्ण, मधुररस, मृदु, लघु, स्निग्ध

दो मास एग अद्ध अतमुहुत्त च कोहपुव्वाण ।
सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तठिईए ज लद्ध ॥४८॥

शब्दार्थ—**दो मास**—दो माह, **एग**—एक, **अद्ध**—अर्धमास, **अतमुहुत्त**—अतर्मुहूर्त, **च**—और, **कोहपुव्वाण**—(सज्वलन) क्रोधपूर्वक शेष कषायो की, **सेसाण**—शेष प्रकृतियो की, **उक्कोसाओ**—उत्कृष्ट स्थिति मे, **मिच्छत्तठिईए**—मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर, **ज**—जो, **लद्ध**—लब्ध प्राप्त हो।

गाथार्थ—सज्वलन क्रोध पूर्वक चारो कषायो की अनुक्रम से दो माह, एक माह, अर्धमास और अतर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति है और शेष प्रकृतियो की उन उनकी उत्कृष्ट स्थिति मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त हो उतनी-उतनी जघन्य स्थिति जानना चाहिए।

विशेषार्थ—गाथा मे अनुक्रम से चारो सज्वलन कषायो की जघन्य स्थिति बतलाने के अनन्तर अवशिष्ट प्रकृतियो की जघन्य स्थिति जानने के सामान्य नियम का निर्देशन किया है।

सज्वलन क्रोधादि मे से सज्वलन क्रोध की जघन्य स्थिति दो मास, सज्वलन मान की एक मास, सज्वलन माया की अर्धमास और सज्वलन लोभ की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति है। इसका तात्पर्य यह है कि नौवे अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थान मे जहाँ-जहाँ इनका बधविच्छेद होता है, वहाँ बधविच्छेद के समय क्षपकश्रेणि मे सज्वलन क्रोध की दो मास, सज्वलन मान की एक मास, सज्वलन माया की अर्धमास और सज्वलन लोभ की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति बधती है। इससे कम स्थिति का बध अन्य किसी भी गुणस्थान मे नहीं होता है। इसीलिये यह दो मास आदि सज्वलन क्रोधादि की जघन्य स्थिति बताई है। प्रत्येक का अन्तर्मुहूर्त अबाधाकाल है और अबाधाकाल से हीन शेष [illegible] रचनाकाल है।

पृथक्-पृथक् नामोल्लेख पूर्वक बताई गई प्रकृतियो की जघन्य स्थिति से शेष रही प्रकृतियो की जघन्य स्थिति जानने का सामान्य नियम यह है कि उन उनकी उत्कृष्ट स्थिति मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर जो लब्ध आये वह उन-उनकी जघन्य स्थिति है—'सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तठिईए ज लद्ध'। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

निद्रा आदि निद्रापचक और असातावेदनीय इनकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। उसमे मिथ्यात्व की सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने और 'शून्य शून्येन पातयेत्' नियम के अनुसार शून्य को शून्य से काट देने पर ३/७ सागरोपम लब्ध आता है, उतनी निद्रापचक और असातावेदनीय की जघन्य स्थिति है।

इसी प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय की ७/७ सागरोपम यानि एक सागरोपम प्रमाण जघन्य स्थिति समझ लेना चाहिए।

सज्वलन के सिवाय शेष बारह कषायो की ४/७ सागरोपम जघन्य स्थिति है तथा सूक्ष्मत्रिक और विकलजातित्रिक की उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। उसमे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने और शून्य को शून्य से काटने पर ऊपर अठारह और नीचे सत्तर रहे। इन दोनो सख्याओ मे दो से भाग देने पर ऊपर नौ और नीचे पैतीस शेष रहेगे। इसलिए ९/३५ सूक्ष्मत्रिक और विकलजातित्रिक इन छह प्रकृतियो की जघन्य स्थिति जानना चाहिये।

स्त्रीवेद और मनुष्यद्विक की उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। उसको मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने और शून्य को शून्य से काटने के बाद ऊपर नीचे की सख्याओ को पाच मे काटने पर ३/१४ सागरोपम प्रमाण स्त्रीवेद और मनुष्यद्विक इन तीन प्रकृतियो की जघन्य स्थिति जानना चाहिए।

हास्य, रति और यश कीर्ति को छोडकर शेष स्थिरादिपचक, शुभविहायोगति, सुरभिगध, शुक्लवर्ण, मधुररस, मृदु, लघु, स्निग्ध

और उष्णस्पर्श, आद्य सस्थान (समचतुरस्रसस्थान), आद्य सहनन (वज्र-ऋषभनाराचसहनन) इन सत्रह प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। जिसको मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने और ऊपर नीचे के समान शून्यो को काटने पर १/७ सागरोपम प्रमाण इन हास्यादि सत्रह प्रकृतियो की जघन्य स्थिति जानना चाहिये।

द्वितीय सहनन और द्वितीय सस्थान की उत्कृष्ट स्थिति बारह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। उसमे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने और समान शून्यो को काटने एव ऊपर नीचे की सख्याओ को दो से काटने पर ६/३५ द्वितीय सहनन (वज्रनाराचसहनन) और द्वितीय सस्थान (न्यग्रोधपरिमण्डलसस्थान) की जघन्य स्थिति जानना चाहिये।

तृतीय सस्थान और सहनन की उत्कृष्ट स्थिति चौदह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। उसमे मिथ्यात्वमोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देकर समान शून्यो को काट देने के बाद ऊपर नीचे की सख्याओ मे चौदह से भाग देने पर १/५ सागरोपम प्रमाण तृतीय सस्थान और सहनन की जघन्य स्थिति समझना चाहिये।

चतुर्थ सस्थान और सहनन की उत्कृष्ट स्थिति सोलह कोडाकोडी सागरोपम की हे। उसमे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने और समान शून्यो को काट देने के बाद ऊपर नीचे की सख्या मे दो से भाग देने पर प्राप्त ८/३५ सागरोपम प्रमाण चतुर्थ सस्थान और सहनन की जघन्य स्थिति है।

पचम सस्थान और सहनन की उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। उमे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देकर समान शून्यो को काटने के बाद ऊपर नीचे की सख्या मे दो से भाग देने पर ९/३५ सागरोपम प्रमाण दोनो की जघन्य स्थिति जानना चाहिये।

त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, अगुरुलघु, पराघात, उपघात, उच्छ्-वास, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयश कीर्ति, तिर्यंचद्विक, औदारिकद्विक, हारिद्र, लोहित, नील, कृष्णवर्ण, दुरभिगध, कषाय, अम्ल, कटुक और तिक्तरस, गुरु, कर्कश, रूक्ष और शीतस्पर्श, एकेन्द्रिय-जाति, पचेन्द्रियजाति, निर्माण, आतप, उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, हुडकसस्थान, सेवार्तसहनन, तैजस, कार्मण नीचगोत्र, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, नपुसकवेद और स्थावर, इन अडतालीस प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबध वोस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। उसमे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देकर समान सख्या वाले शून्यो को काटने के वाद २/७ सागरोपम प्रमाण इन अडतालीस प्रकृतियो की जघन्य स्थिति जानना चाहिये।

यद्यपि हारिद्र और रक्तवर्णादि की उत्कृष्ट स्थिति साडे बारह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। उसमे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर कुछ अधिक ६/३५ सागरोपम जघन्य स्थिति प्राप्त होती हे। परन्तु प्राचीन शास्त्रो मे वर्णादि प्रत्येक भेद की २/७ साग-रोपम प्रमाण ही जघन्य स्थिति बतलाई है। इसलिए यहाँ भी हारिद्र आदि वर्णादि की उतनी ही जघन्यस्थिति बतलाई है।

इस प्रकार निद्रापचक से लेकर सभी प्रकृतियो की जघन्य स्थिति का प्रमाण मतान्तर की अपेक्षा से ग्रन्थकार आचार्य ने बताया है। क्योकि कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थो मे दूसरे प्रकार से भी जघन्य स्थितिबध का निर्देश किया है। सक्षेप मे जो इस प्रकार है—

कर्मप्रकृति मे निद्रापचक आदि की जघन्य स्थिति का प्रमाण बतलाने के लिये निम्नलिखित गाथासूत्र कहा है—

वग्गुक्कोसठिईण, मिच्छत्तुक्कोसगेण ज लद्ध।
सेसाण तु जहन्नो, पल्लासखेज्जगेणूणो॥

—कर्मप्रकृति, बधनकरण ७९

अर्थात् अपने-अपने वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर प्राप्त लब्ध, उसमे से पल्य के असख्यातवे भाग को कम करने पर जो बाकी रहे, उतना शेष प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबध है। विस्तार से जिसका विवेचन इस प्रकार हैं—

वर्ग—स्वजातीय कर्मप्रकृतियो के समूह को कहते हैं। जैसे ज्ञानावरण की पाच प्रकृतियो का समूह ज्ञानावरणवर्ग, दर्शनावरण की नौ प्रकृतियो का समूह दर्शनावरणवर्ग, वेदनीय की दो प्रकृतियो का समूह वेदनीयवर्ग, दर्शनमोहनीय की प्रकृतियो का समुदाय दर्शनमोहनीयवर्ग, चारित्रमोहनीय की प्रकृतियो (कषायमोहनीय प्रकृतियो) का समुदाय चारित्रमोहनीयवर्ग, नोकषायमोहनीय प्रकृतियो का समुदाय नोकषायमोहनीयवर्ग, नामकर्म की प्रकृतियो का समुदाय नामवर्ग, गोत्रकर्म की प्रकृतियो का समुदाय गोत्रकर्मवर्ग और अन्तरायकर्म की पाचो प्रकृतियो का समुदाय अन्तरायवर्ग। इन वर्गो मे मात्र मोहनीयकर्म के तीन वर्ग है और शेष ज्ञानावरण आदि का एक-एक वर्ग है।

इन वर्गो मे जो तीस कोडाकोडी सागरोपम आदि प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है, उसको मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी से भाग देने पर जो लब्ध आये उसमे से पल्योपम का असख्यातवा भाग कम करने पर जो रहे, वह निद्रा आदि शेष प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबध समझना चाहिये। जैसे कि—

दर्शनावरण और वेदनीय कर्म की तीस कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है, उसमे मिथ्यात्व की स्थिति से भाग देने और शून्य को शून्य से हटाने पर जो ३/७ सागरोपम प्राप्त होते है वे पल्योपम के असख्यातवे भाग न्यून निद्रापचक और असातावेदनीय की जघन्य स्थिति है। इसी प्रकार मिथ्यात्वमोहनीय की पल्योपम के असख्यातवें भाग से न्यून एक सागरोपम जघन्य स्थिति है। सज्वलनचतुष्क के सिवाय वारह कपाय की पल्योपम के असख्यातवें भाग न्यून ४/७ सागरोपम जघन्य स्थिति है, पुरुपवेद के अतिरिक्त शेप आठ नोकपाय

तथा वैक्रियषट्क, आहारकद्विक, तीर्थंकरनाम और यशःकीर्ति के सिवाय नामकर्म की सभी प्रकृतियो एव नीचगोत्र की पल्योपम के असख्यातवे भाग से न्यून २/७ सागरोपम जघन्य स्थिति है आदि।

प्रकृतियो की जघन्य स्थिति के निर्देश मे वैक्रियषट्क की जघन्य स्थिति को नही बताया है, इसलिए अब उसकी स्थिति का पृथक् से कथन करते है।

वैक्रियषट्क की जघन्य स्थिति

> वेउव्विछक्कि तं सहसताडिय ज असन्निणो तेसि।
> पलियासंखंसूण ठिई अबाहूणि य निसेगो ॥४६॥

शब्दार्थ—वेउव्विछक्कि—वैक्रियषट्क की, त—पूर्वोक्त, सहसताडिय—हजार से गुणा करने पर, ज—जो, असन्निणो—असज्ञियो को, तेसि—उनके, पलियासखसूण—पल्योपम का असख्यातवा भाग न्यून, ठिई—स्थिति, अबाहूणि—अबाधान्यून, य—और, निसेगो—निषेकरचना।

गाथार्थ—वैक्रियषट्क की उत्कृष्ट स्थिति को मिथ्यात्व की स्थिति द्वारा भाग देने पर जो भाग प्राप्त हो, उसको हजार से गुणित करने पर जो लब्ध आये वह पल्योपम का असख्यातवा भाग न्यून वैक्रियषट्क की जघन्य स्थिति है। क्योकि उसके बधक असज्ञी पचेन्द्रिय है और अबाधाकाल हीन निषेकरचनाकाल है।

विशेषार्थ—कर्मो की जघन्य स्थिति बताने के पूर्वोक्त नियम से वैक्रियषट्क की जघन्य स्थिति प्राप्त नही होती है। अतः कारण सहित इस गाथा मे उसका पृथक् से निर्देश किया है—

देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, वैक्रियशरीर और वैक्रिय-अगोपाग रूप वैक्रियषट्क की उत्कृष्ट स्थिति को मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति द्वारा भाग देने पर जो २/७ सागरोपम लब्ध प्राप्त

होता है, उसको हजार मे गुणित करके पल्योपम का असख्यातवा भाग न्यून करने पर प्राप्त समय प्रमाण वैक्रियषट्क की जघन्य स्थिति का प्रमाण जानना चाहिये ।[1]

यद्यपि वैक्रियद्विक और नरकद्विक की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। इसलिए उसको मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर २/७ सागरोपम प्राप्त होते है और देवद्विक की उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है, जिसे मिथ्यात्व की स्थिति द्वारा भाग देने पर १/७ सागरोपम प्राप्त होते है। लेकिन इस सम्बन्ध मे यह जानना चाहिये कि देवद्विक की उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण होते हुए भी उसकी जघन्य स्थिति का प्रमाण प्राप्त करने के लिए बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति की विवक्षा की है। क्योकि अनिष्ट अर्थ मे शास्त्र की प्रवृत्ति नही होती है, ऐसा पूर्व पुरुषो का वचन है। इसलिये २/७ सागरोपम को एक हजार से गुणित करके पल्योपम का असख्यातवा भाग न्यून करने पर जो शेष रहे उतनी देवद्विक की भी जघन्य स्थिति है। इसीलिये यहाँ वैक्रियशरीर आदि छहो प्रकृतियो के लिए बीस कोडाकोडी सागरोपम को मिथ्यात्व की स्थिति से भाग देने का सकेत किया है। शतकचूर्णि मे भी इसी प्रकार बताया है—

'देवगई नरयाणपुव्वीण जहन्नओ ठिइबधो सागरोवमस्स सत्तभागा सहस्स गुणिया पलिओवमासखेज्जभागेणूणया ।'

प्रश्न—वैक्रियषट्क की जघन्य स्थिति का इतना प्रमाण बतलाने का क्या कारण है ?

उत्तर—वैक्रियषट्क रूप छह प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबध असज्ञी पचेन्द्रिय जीव करते हैं और वे इन प्रकृतियो की इतनी ही स्थिति बाधते है, इससे न्यून नही बाधते है। किसी भी कर्मप्रकृति का

---

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य मे भी वैक्रियषट्क की स्थिति इसी प्रकार बताई है।
—दि पचसग्रह शतक अधिकार गाथा ४१८

अमुक प्रमाण वाला जघन्य स्थितिबध तभी घटित हो सकता है, जब कि कोई जीव उतनी स्थिति का बधक हो। यदि अमुक कर्मप्रकृति का अमुक प्रमाण जघन्य स्थितिबध कहा जाये और उसका कोई बाधने वाला जीव न हो तो उसे स्थितिबध के रूप मे नही माना जा सकता है। वैक्रियषट्क की २/७ सागरोपम प्रमाणस्थिति का बधक तो अन्य कोई जीव नही है, परन्तु उसको हजार से गुणित करके पल्योपम का असख्यातवा भाग न्यून करने पर जो रहता है, उतना जघन्य स्थितिबध असज्ञी पचेन्द्रिय जीव बाधते है इसीलिए वैक्रियषट्क की जघन्यस्थिति के लिये हजार से गुणा करने के लिये कहा गया है। साराश यह हुआ कि पल्योपम का असख्यातवा भाग न्यून २८५, ५/७ सागरोपम वैक्रियषट्क की जघन्य स्थिति है। इसके बधक असज्ञी पचेन्द्रिय जीव ही होते है।

इस प्रकार से समस्त प्रकृतियो की जघन्यस्थिति का प्रमाण जानना चाहिये[1] तथा इन समस्त कर्मप्रकृतियो की जघन्य या उत्कृष्ट स्थिति अपनी-अपनी अबाधा से न्यून निषेकदलरचना की विषयभूत समझना चाहिये। यानी जघन्य या उत्कृष्ट स्थिति का जितना अबाधाकाल हो उतना काल छोडकर शेष स्थिति-समयो मे कर्मदलिको की निषेकरचना होती है,[2] अबाधा के समयो मे नही होती है।

इस प्रकार से मूल और उत्तर प्रकृतियो की उत्कृष्ट एव जघन्य स्थिति का प्रमाण, उनके अबाधाकाल का प्रतिपादन करने के बाद अब निषेक[3] का विचार करते है। उसके विचार के दो द्वार है—१

---

१ प्रकृतियो की जघन्य स्थिति के सम्बन्ध मे विभिन्न ग्रन्थो के दृष्टिकोण परिशिष्ट मे देखिए।

२ अबाहूणिया कम्मठिई कम्मनिसेगो। —भगवतीसूत्र

३ अबाधाकाल के बाद प्रतिसमय उदय आने योग्य द्रव्य के प्रमाण को निषेक कहते है।

अनन्तरोपनिधा[1] और २ परम्परोपनिधा ।[2] उनमे से पहले अनन्तरोपनिधा से निषेक का विचार करते है ।

अनन्तरोपनिधा से निषेकविचार

मोत्तुमबाहासमए बहुगं तयणंतरे रयइ दलिय ।
तत्तो विसेसहीण कमसो नेय ठिई जाव[3] ॥५०॥

शब्दार्थ—**मोत्तुमबाहासमए**—अबाधा के समयो को छोडकर, **बहुग**—अधिक द्रव्य, **तयणतरे**—उसके बाद के समय मे, **रयइ**—रचना होती है, **दलिय**—दलिक की **तत्तो**—तत्पश्चात्, **विसेसहीण**—विशेष-विशेष हीन, **कमसो**—अनुक्रम से, **नेय**—जानना चाहिये, **ठिइ**—स्थिति, **जाव**—पर्यन्त ।

गाथार्थ—अबाधा के समयो को छोडकर उसके बाद के समय मे अधिक दलिक-पुद्गलद्रव्य की रचना होती है और तत्पश्चात् उत्तरोत्तर समयो मे अनुक्रम से विशेष-विशेष हीन । इस प्रकार बध्यमान स्थिति के चरम समय पर्यन्त जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—यहाँ आचार्य ने अनन्तरोपनिधा से कर्मदलिको की स्थापना का निर्देश किया है ।

---

१ पूर्व समय, स्थान आदि से अनन्तरवर्ती उत्तर समय, स्थान आदि मे प्राप्त द्रव्यप्रमाण का विचार, मार्गण, गवेषण करना अनन्तरोपनिधा कहलाती है ।

२ प्रथम समय, स्थान आदि की अपेक्षा मध्य के समयो आदि का अन्तराल देकर प्राप्त स्थान के द्रव्यप्रमाण का विचार, मार्गण, गवेषण करने को परपरोपनिधा कहते हैं ।

३ तुलना कीजिये—

मोत्तूण सगमबाहे, पढमाए ठिइए बहुतर दव्व ।
एत्तो विसेसहीण जावुक्कोस ति सव्वेसि ॥

—कर्मप्रकृति, बधनकरण, गा ८२

किसी भी विवक्षित समय मे बधते हुए किसी भी प्रकृति रूप मे जितनी कार्मणवर्गणाये परिणत हो वे वर्गणाये उस समय उस प्रकृति की जितनी स्थिति बधे, उतनी स्थिति पर्यन्त क्रमश फल देने के लिये व्यवस्थित रीति मे स्थापित की जाती है, उसे निषेक कहते हैं। मात्र अबाधाकाल मे दलरचना नही होती है। क्योकि इस प्रकार की रचना न हो तो अबाधाकाल बीतने के बाद कितनी और कौन सी वर्गणाओ के फल का अनुभव करना, यह निश्चित नही हो सकता है और उसमे अव्यवस्था हो जायेगी और अव्यवस्था होने से अमुक प्रमाण मे बधी हुई स्थिति का कुछ भी अर्थ नही रहेगा। किन्तु बध समय मे बधी हुई वर्गणाओ की निश्चित रूप से रचना होने मे किंचिन्मात्र भी अव्यवस्था नही होती हैं।

वह रचना जिस प्रकार से होती है, अब यह स्पष्ट करते हैं—

जब किसी भी कर्म का बध हो, तब उसकी जितनी स्थिति का बध हो और उस स्थिति के प्रमाण मे जितना अबाधाकाल हो, उस अबाधा-काल के समयो को छोडकर दलरचना होती है—'मोत्तुमबाहासमए' और अबाधा के समयो को छोडकर होने वाली दलरचना का क्रम इस प्रकार जानना चाहिये कि अबाधाकाल की समाप्ति के अनन्तर के प्रथम समय मे प्रभूत दलिक की स्थापना की जाती है—'बहुग तयणतरे रयइ दलिय' और उसके बाद के उत्तरोत्तर समयो मे अनुक्रम मे विशेषहीन-विशेषहीन दलिकरचना होती है। यह क्रम विवक्षित समय मे बधी हुई स्थिति के चरम समय पर्यन्त जानना चाहिये—कमसो नेय ठिई जाव'।

उक्त कथन का तात्पर्य यह हुआ कि इस प्रकार से रचना होने से अबाधाकाल के अनन्तरवर्ती पहले समय मे प्रभूत दलिक का फलानुभव होता है, उसके बाद के दूसरे समय मे विशेषहीन दलिक के फल का अनुभव होता है। इस प्रकार उत्तर-उत्तर के समय मे पूर्व पूर्व के समय की अपेक्षा हीन हीन दलिक के फल का अनुभव किया जाता है। इसी

प्रकार प्रत्येक किसी विवक्षित समय मे बधी हुई स्थिति के चरम समय पर्यन्त जानना चाहिये। जिस समय जितने रस वाली और जितनी वर्गणाये फलदान के लिये नियत हुई हो, उस समय उतने रस वाली और उतनी वर्गणाये फल देती है और फल देकर आत्मप्रदेशो से छूट जाती है। परन्तु यह नियम करणो (आत्म-अध्यवसाय, परिणाम) की प्रवृत्ति न होने से पूर्व तक ही समझना चाहिये। क्योकि करणो के द्वारा अनेक प्रकार के परिवर्तन हो सकते है।

इस प्रकार की रचना का उक्त कथन आयुकर्म को छोडकर शेष सात कर्मों की दलिकरचना के विषय मे समझना चाहिये। आयुकर्म इसका अपवाद है। अत उसमे सम्बन्धित विशेष को स्पष्ट करते हैं—

आउस्स पढम समया परभविया जेण तस्स उ अबाहा।

शब्दार्थ—**आउस्स**—आयु के, **पढमसमया**—प्रथम समय से ही, **परभविया**—परभव सम्बन्धी, **जेण**—क्योंकि, **तस्स**—उसकी, **अबाहा**—अबाधा।

गाथार्थ—आयु के प्रथम समय से ही दलरचना होती है। क्योकि उसकी अबाधा परभव की आयु सम्बन्धी होती है।

विशेषार्थ—गाथा के पूर्वार्ध मे चारो आयुयो मे से किसी भी आयु का वध होने पर प्रथम समय से ही पूर्व क्रमानुसार दलरचना होने का स्पष्टीकरण किया है कि प्रथम समय मे अधिक दलिक स्थापित किया जाता है, दूसरे समय मे विशेपहीन, तीसरे समय मे उसमे विशेष-हीन दलिक स्थापित किया जाता है। इस प्रकार वध्यमान आयु के चरम समय तक जानना चाहिये।

आयुकर्म मे अन्य सात कर्मों की तरह अवाधाकाल को छोडकर रचना न होकर प्रथम समय से ही दलिक रचना होने का कारण यह है कि 'परभविया जेण तस्स अवाहा' अर्थात् वध्यमान आयु की अवाधा परभव सम्वन्धो-अनुभूयमान आयु सम्वन्धी है, जिसमे वह अवाधा उस वध्यमान आयु की सत्ता की विपयभूत नही कहलाती है, जवकि दूसरे

कर्मो मे अबाधा उस बध्यमान कर्म की सत्ता की अग है । इसी कारण बध्यमान आयु के उदय के प्रथम समय से लेकर ही दलिको की निषेक-विधि कही है और बध्यमान आयु की अबाधा परभव सम्बन्धी होने का कारण यह है—

बध्यमान आयु की अबाधा अनुभूयमान आयु के अधीन है, किन्तु बध्यमान आयु के अधीन नही है । क्योकि आयु का ऐसा स्वभाव है । जिससे जब तक अनुभूयमान भव की आयु उदय मे वर्तमान हो तब तक बध्यमान भव की आयु सर्वथा प्रदेशोदय या रसोदय से उदय मे नही आती है, परन्तु अनुभूयमान भव की आयु पूर्ण होने के बाद ही उदय मे आती है तथा किसी समय अनुभूयमान भव की आयु का तीसरा भाग शेष हो तब, कभी नौवा भाग शेष हो तब, कभी सत्ताईसवा भाग शेष हो तब और किसी समय अन्तर्मुहूर्त शेष हो तब पर-भव की दीर्घस्थिति वाली भी आयु का बंध होता है । जिससे दीर्घ-स्थिति वाली परभवायु की भी भुज्यमान आयु के शेष भाग के अनु-सार जितना भाग शेष हो उतनी-उतनी अबाधा प्रवर्तित होती है, जो परभव सम्बन्धी कहलाती है, बध्यमान आयु सम्बन्धी नही। अर्थात् भुज्यमान भव मे जब परभव की आयु बधी तो उस भुज्यमान भव तक उस अबाधा का सम्बन्ध रहता है, बध्यमान आयु से उसका कुछ भी सम्बन्ध नही रहता है । भवान्तर मे जाते ही उस बध्यमान आयु का उदय प्रारम्भ हो जाता है । इसीलिए बध्यमान आयु के उदय के प्रथम समय से ही दलरचना होने का निर्देश किया है ।

इस प्रकार से अनन्तरोपनिधा द्वारा निषेकरचना का विचार जानना चाहिये । अब परम्परोपनिधा से निषेकरचना का विचार करते है ।

परम्परोपनिधा से निषेकरचना का विचार

पल्लासखिय भागं गंतुं अद्धद्धय दलिय[1] ॥५१॥

---

१ तुलना कीजिय—पल्लासखियभाग गतु दुगणूणमेव मुक्कोसा ।

—कर्मप्रकृति, बधनकरण गा ८४

शब्दार्थ—पल्लासखियभाग—पल्योपम के असख्यातवें भाग, **गतु**—जाने पर, **अद्धद्ध**—अर्ध-अर्ध, **दलियं**—दलिक ।

गाथार्थ—पल्योपम के असख्यातवे भाग जितने स्थानो के जाने पर अर्ध-अर्ध दलिक प्राप्त होते है ।

विशेषार्थ—गाथा के इस उत्तरार्ध मे परम्परोपनिधा से दलिको की प्राप्ति का निर्देश किया है—

समस्त कर्मो मे अबाधा के अनन्तर पहले समय मे जो दलिको की रचना होती है, उसकी अपेक्षा दूसरे आदि समयो मे विशेषहीन-विशेषहीन दलिको की रचना होते-होते पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिस्थानो का अतिक्रमण होने के अनन्तर प्राप्त स्थानो मे आधे-आधे दलिक प्राप्त होते है । अर्थात् अबाधा के बाद के समयो मे इस प्रकार के क्रम से हीन-हीन दलिको की रचना होती है कि पल्योपम के असंख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिस्थानो का अतिक्रमण करने के बाद प्राप्त स्थान मे प्रथम स्थान की अपेक्षा आधे दलिक प्राप्त होते है ।

तत्पश्चात् आगे के स्थानो मे भी विशेषहीन-विशेषहीन दलिको की रचना होते होते जिस स्थान मे आधे दलिक हुए थे, उसकी अपेक्षा पुन पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थानो का अतिक्रमण होने के बाद जो स्थान प्राप्त होता है, उसमे आधे दलिक होते हैं ।

उससे पुन पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थानो का अतिक्रमण होने के बाद प्राप्त होने वाले स्थान मे आधे दलिक होते हैं । इस प्रकार पुन-पुन पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थानो का अतिक्रमण होने के बाद प्राप्त स्थान मे जिस स्थान मे आधे दलिक हुए थे, उसकी अपेक्षा आधे होते हैं ।

इस प्रकार से उतने-उतने स्थानो का अतिक्रमण करके अर्ध-अर्ध-हीन दलिक वहाँ तक जानना चाहिये, जब तक उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है ।

जिस-जिस समय उत्कृष्ट, मध्यम या जघन्य जितनी स्थिति बधती है, उस-उस समय मे उसके भाग मे जो वर्गणाये आती है, उनकी अबाधाकाल को छोडकर उत्कृष्ट, मध्यम या जघन्य स्थिति के चरम समय पर्यन्त जिस रीति से व्यवस्थित रचना होती है, यह उसका रूपक जानना चाहिये। इस रचना के अनुसार और परिवर्तन होने पर उसके अनुसार भोग होता है। प्रति समय कर्मबध होने से रचना भी प्रति समय होती है।

इस प्रकार परम्परोनिधा से निषेकरचना का विचार जानना चाहिये। अब दलरचना मे अर्ध-अर्ध हानि के सम्भव स्थानो का निरूपण करते है।

अर्ध अर्ध हानि के सम्भव स्थान

पलिओवमस्स मूला असखभागम्मि जत्तिया समया।
तावइया हाणीओ ठिइबधुक्कोसए नियमा ॥५२॥

शब्दार्थ—**पलिओवमस्स**—पल्योपम के, **मूला**—मूल, **असखभागम्मि**—असख्यातवें भाग मे, **जत्तिया**—जितने, **समया**—समय, **तावइया**—उतने, **हाणीओ**—हानि के **ठिइबधुक्कोसए**—उत्कृष्ट स्थितिबध मे, **नियमा**—नियम से।

गाथार्थ—उत्कृष्ट स्थितिबध मे पल्योपम के मूल के असख्यातवे भाग मे जितने समय होते है, नियम से उतने अर्ध-अर्ध हानि (द्विगुणहानि) के स्थान है।

विशेषार्थ—उत्कृष्ट स्थितिबध मे प्राप्त होने वाले द्विगुणहानि के स्थानो का गाथा मे निर्देश किया है—

'ठिइबधुक्कोसए' अर्थात् किसी भी कर्मप्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबध होने पर उसमे निषेकापेक्षा पूर्वोक्त क्रमानुसार होने वाली अर्ध-अर्ध हानि की सख्या पल्योपम के प्रथम वर्गमूल के असख्यातवे भाग मे

'जत्तिया समया'— जितने समय होते है, उतनी होती है—'तावइया हाणीओ' ।

निषेकापेक्षा पूर्वोक्त क्रमानुसार प्राप्त होने वाली अर्ध-अर्ध हानि को आधार बनाकर शकाकार अपनी शका प्रस्तुत करता है—

शंका—मिथ्यात्वमोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण होने से उसमे तो निषेकापेक्षा पूर्व कथनानुसार उतने द्विगुणहानि स्थान सम्भव है, परन्तु आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तो मात्र तेतीस सागरोपम प्रमाण होने से उसमे उतने स्थान कैसे सम्भव है ? और सामान्यत वे सभी स्थान एक जैसे ही प्रतीत होते है ?

समाधान—यद्यपि सामान्यत सभी द्विगुणहानि स्थान एक जैसे ज्ञात होते है, परन्तु यह असख्यातवा भाग असख्य भेद वाला है। क्योकि यह नियम है कि सख्यात के सख्यात, असख्यात के असख्यात और अनन्त के अनन्त भेद होते है। अतएव असख्यात के असख्यात भेद होने से आयुकर्म के विषय मे पल्योपम के प्रथम वर्गमूल का असख्यातवा भाग अत्यन्त अल्पतर ग्रहण करना चाहिये। जिससे किसी भी प्रकार के विरोध का अवसर नहीं रहता है। यहाँ यह जानना चाहिए कि यदि स्थिति छोटी है तो द्विगुणहानिया कम होती हैं और जैसे-जैसे स्थिति अधिक हो तो द्विगुणहानिया अधिक वार होती है। इसलिए स्थिति छोटी हो तो पल्योपम के प्रथम मूल का असख्यातवा भाग छोटा और जैसे-जैसे स्थिति अधिक हो, वैसे-वैसे बडा लेना चाहिए।

सभी अर्धहानिस्थान सख्या की अपेक्षा स्तोक है। क्योकि वे पल्योपम के पहले वर्गमूल के असख्यातवे भाग मात्र है, जिससे दो हानि के अन्तराल मे जो निषेकस्थान है, यानि जितने स्थानो का अतिक्रमण करने के पश्चात् उत्तरवर्ती स्थान मे अर्ध दलिक होते है वे स्थान असख्यातगुणे है। क्योकि वे पल्योपम के असख्यातवें भाग मे रहे हुए समय प्रमाण है।

करते-करते पल्योपम के असख्यातवे भाग हीन स्थिति का बध करे, तब तक उत्कृष्ट अबाधा रहती है। तात्पर्य यह हुआ कि उत्कृष्ट अबाधा तब तक होती है कि उत्कृष्ट स्थितिबध पल्योपम के असख्यातवे भाग न्यून तक बधे। दूसरी रीति से ऐसा भी कह सकते हैं कि पल्योपम के असख्यातवे भाग न्यून उत्कृष्ट स्थितिबध होने तक उत्कृष्ट अबाधा होती है।

जब उत्कृष्ट अबाधा एक समय न्यून हो तब अवश्य पल्योपम के असख्यातवे भाग न्यून उत्कृष्ट स्थिति का बध होता है, इसी नियम का सकेत करने के लिए ग्रन्थकार आचार्य ने कहा है—'उक्कोसठिईबधा ' उत्कृष्ट स्थितिबध मे से पल्योपम के असख्यातवे भागमात्र समय कम होने पर अबाधा का एक समय कम होता है और इस प्रकार कहने का अर्थ यह हुआ कि जब जीव एक समय न्यून उत्कृष्ट अबाधा मे वर्तमान हो तब अवश्य ही पल्योपम के असख्यातवे भाग हीन उत्कृष्ट स्थितिबध होता है।

इसी प्रकार आगे के स्थितिबध मे भी इसी नियम का अनुसरण करना चाहिये कि एक समय न्यून उत्कृष्ट अबाधा मे वर्तमान जीव पल्योपम के असख्यातवे भाग हीन उत्कृष्ट स्थिति को बाधता है। अथवा समयाधिक पल्योपम के असख्यातवे भाग न्यून उत्कृष्ट स्थिति को अथवा दो समयाधिक पल्योपम के असख्यातवे भाग न्यून उत्कृष्ट स्थिति को यावत् पल्योपम के दो असख्यातवे भाग न्यून स्थिति को बाधता है।

अब जब दो समय न्यून उत्कृष्ट अबाधा मे वर्तमान हो तब पल्योपम के असख्यातवे भाग रूप दो कडक न्यून यानि पल्य पम के दो असख्यातवे भाग न्यून उत्कृष्ट स्थिति बाधता है, वह भी एक समय न्यून अथवा दो समय न्यून बाधे यावत् तीसरी बार पल्योपम का असख्यातवा भाग न्यून स्थिति हो वहाँ तक की स्थिति बाधे। इस प्रकार जितने समय अबाधा न्यून हो उतने पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण कडक से हीन स्थिति-

बध होता है और इस तरह अबाधा का समय और स्थितिबध का पल्योपम का असख्यातवा भाग प्रमाण कडक कम करते हुए वहाँ तक कहना चाहिये कि जघन्य अबाधा मे वर्तमान जीव जघन्य स्थितिबध करे।

उक्त कथन का साराश यह हुआ कि जीव अनेक है। कोई उत्कृष्ट स्थिति बाधते है, कोई एक समय न्यून, कोई दो समय न्यून यावत् कोई पल्योपम के असख्यातवे भाग न्यून और कोई उससे भी न्यून बाधते है। इनके अबाधाकाल का नियम यह है कि उत्कृष्ट स्थितिबध करे तब उत्कृष्ट अबाधा, समय न्यून करे तब भी उत्कृष्ट अबाधा, दो समय न्यून करे तब भी उत्कृष्ट अबाधा, यावत् जहाँ तक पल्योपम के असख्यातवे भाग से न्यून बध न करे वहाँ तक उत्कृष्ट अबाधा होती है और पल्योपम का असख्यातवा भाग न्यून बध करे तब समय न्यून उत्कृष्ट अबाधा होती है। वह वहाँ तक कि दूसरी बार पल्योपम का असख्यातवा भाग बध मे से कम न हो। दूसरी बार पल्योपम का असख्यातवा भाग कम उत्कृष्ट स्थितिबध होता है तब दो समय न्यून उत्कृष्ट अबाधा होती है। इस प्रकार प्रत्येक पल्योपम के असख्यातवे भाग मे अबाधा का एक-एक समय न्यून करने पर एक ओर जघन्य स्थितिबध और दूसरी ओर जघन्य अबाधा का प्रमाण आता है।

इस प्रकार से अबाधा के समय की हानि करने के द्वारा स्थिति के कडक की हानि को जानना चाहिये। अब एकेन्द्रियादि के जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबध के प्रमाण का विचार करते है।

एकेन्द्रियादि का जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबंध

जा एगिंदि जहन्ना पल्लासंखस सजुया सा उ।
तेसिं जेट्ठा सेसाणसखभागहिय जासन्नी ॥५४॥
पणवीसा पन्नासा सय दससय ताडिया इगिंदिठिई।
विगलासन्नीण कमा जायइ जेट्ठा व इयरा वा ॥५५॥

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है, जिसमें मिथ्यात्व की सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति द्वारा भाग देने पर ३/७ सागरोपम प्राप्त होते है। उसमे मे पल्योपम के असख्यातवे भाग को कम करने पर यानी पल्योपम के असख्यातवे भाग न्यून ३/७ सागरोपम प्रमाण ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणनवक, वेदनीयद्विक और अन्तरायपचक की जघन्य स्थिति एकेन्द्रिय जीव बाधते है, उससे कम नही बाधते है। इसी प्रकार मिथ्यात्व की पल्योपम के असख्यातवे भाग न्यून एक सागरोपम प्रमाण, कषायमोहनीय की पल्योपम के असख्यातव भाग न्यून ४/७ सागरोपम प्रमाण, नोकषायमोहनीय तथा वैक्रियषट्क, आहारकद्विक और तीर्थंकरनाम रहित शेष नामकर्म की प्रकृतियो और गोत्रद्विक की पल्योपम के असख्यातव भाग न्यून २/७ सागरोपम प्रमाण जघन्य स्थिति बाधते है।

किन्तु पचसग्रहकार के मतानुसार तो निद्रापचक आदि प्रकृतियो की जो पूर्व मे ३/७ सागरोपम प्रमाण आदि जघन्य स्थिति कही है वही एकेन्द्रिय योग्य जघन्य स्थिति समझना चाहिए तथा ज्ञानावरणपचकादि प्रकृतियो की अन्तर्मुहूर्त आदि जघन्य स्थिति कर्मप्रकृतिचूर्णिकार आदि सम्मत जो पूर्व मे कही हैं, वही जघन्य स्थिति पचसग्रहकार के मत से भी समझना चाहिये।

अब कर्मप्रकृतिचूर्णिकार के मतानुसार एकेन्द्रिय योग्य उत्कृष्ट स्थिति को बतलाते है।

कर्मप्रकृतिचूर्णिकार के मत से एकेन्द्रियो की जो जघन्य स्थिति कही है, उसमे पल्योपम का असख्यातवा भाग मिलाने पर एकेन्द्रियो का उत्कृष्ट स्थितिबध होता है। जो इस प्रकार है—ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणनवक, वेदनीयद्विक और अन्तरायपचक का ३/७ सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबध होता है। इसी प्रकार मिथ्यात्व का एक सागरोपम प्रमाण, कषायमोहनीय का ४/७ सागरोपम प्रमाण, नोक

की, सौ से गुणा करने पर चतुरिन्द्रिय की और हजार से गुणा करने पर असज्ञी पचेन्द्रिय की उत्कृष्ट स्थिति होती है ।

इस विषय मे कर्मप्रकृतिकार आदि का मन्तव्य इस प्रकार है—

एकेन्द्रिय के उत्कृष्ट स्थितिबध को पच्चीस से गुणा करने पर जो आये, उतना द्वीन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबध होता है। इसी प्रकार पचास से गुणाकार करने पर त्रीन्द्रिय का, सौ से गुणा करने पर चतुरिन्द्रिय का और हजार से गुणा करने पर जो आये उतना असज्ञी पचेन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबध होता है और द्वीन्द्रियादि का अपना-अपना जो उत्कृष्ट स्थितिबध है, उसमे से पल्योपम का असख्यातवा भाग कम करने पर जो रहे, उतना उनका जघन्य स्थितिबध है। विशेष अतिशय ज्ञानियो द्वारा गम्य है ।

इस प्रकार से एकेन्द्रिय आदि के जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबध का प्रमाण जानना चाहिये ।[1] अब क्रम प्राप्त स्थितिस्थानो की प्ररूपणा करते है ।

स्थितिस्थान प्ररूपणा

> टिइठाणाइ एगिदियाण थोवाइं होंति सव्वाण ।
> बेदीण असंखेज्जाणि सखगुणियाणि जह उप्पि ॥५६॥

शब्दार्थ—ठिइठाणाइ—स्थितिस्थान, एगिंदियाण—एकेन्द्रियो के, थोवाइ—स्तोक-अल्प, होंति—होते हैं, सव्वाण—सभी, बेंदीण—द्वीन्द्रियो के, असखेज्जाणि—असख्यातगुणे, सखगुणियाणि—सख्यातगुणे, जह—तथा, उप्पि—ऊपर, आगे ।

गाथार्थ—एकेन्द्रियो के सभी स्थितिस्थान स्तोक हैं, उनसे

---

१ उत्तर कर्मप्रकृतियो की उत्कृष्ट, जघन्य स्थिति एव एकेन्द्रियादि जीवो का उत्कृष्ट, जघन्य स्थितिबधादि का दर्शक प्रारूप परिशिष्ट मे देखिये ।

की, सौ से गुणा करने पर चतुरिन्द्रिय की और हजार से गुणा करने पर असंज्ञी पंचेन्द्रिय की उत्कृष्ट स्थिति होती है।

इस विषय में कर्मप्रकृतिकार आदि का मन्तव्य इस प्रकार है—

एकेन्द्रिय के उत्कृष्ट स्थितिबंध को पच्चीस से गुणा करने पर जो आये, उतना द्वीन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है। इसी प्रकार पचास से गुणाकार करने पर त्रीन्द्रिय का, सौ से गुणा करने पर चतुरिन्द्रिय का और हजार से गुणा करने पर जो आये उतना असंज्ञी पंचेन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है और द्वीन्द्रियादि का अपना-अपना जो उत्कृष्ट स्थितिबंध है, उसमें से पल्योपम का असंख्यातवां भाग कम करने पर जो रहे, उतना उनका जघन्य स्थितिबंध है। विशेष अतिशय ज्ञानियों द्वारा गम्य है।

इस प्रकार से एकेन्द्रिय आदि के जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबंध का प्रमाण जानना चाहिये।[1] अब क्रम प्राप्त स्थितिस्थानों की प्ररूपणा करते हैं।

स्थितिस्थान प्ररूपणा

> ठिइठाणाइ एगिंदियाण थोवाइं होंति सव्वाण।
> बेदीण असंखेज्जाणि संखगुणियाणि जह उप्पि ॥५६॥

शब्दार्थ—ठिइठाणाइ—स्थितिस्थान, एगिंदियाण—एकेन्द्रियों के, थोवाइ—स्तोक-अल्प, होंति—होते हैं, सव्वाण—सभी, बेदीण—द्वीन्द्रियों के, असंखेज्जाणि—असंख्यातगुणे, संखगुणियाणि—संख्यातगुणे, जह—तथा, उप्पि—ऊपर, आगे।

गाथार्थ—एकेन्द्रियों के सभी स्थितिस्थान स्तोक हैं, उनसे

---

1 उत्तर कर्मप्रकृतियों की उत्कृष्ट, जघन्य स्थिति एवं एकेन्द्रियादि जीवों का उत्कृष्ट, जघन्य स्थितिबंधादि का दर्शक प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

की, सौ से गुणा करने पर चतुरिन्द्रिय की और हजार से गुणा करने पर असज्ञी पचेन्द्रिय की उत्कृष्ट स्थिति होती है।

इस विपय मे कर्मप्रकृतिकार आदि का मन्तव्य इस प्रकार है—

एकेन्द्रिय के उत्कृष्ट स्थितिबध को पच्चीस से गुणा करने पर जो आये, उतना द्वीन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबध होता है। इसी प्रकार पचास से गुणाकार करने पर त्रीन्द्रिय का, सौ से गुणा करने पर चतुरिन्द्रिय का और हजार गे गुणा करने पर जो आये उतना असज्ञी पचेन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबध होता है और द्वीन्द्रियादि का अपना-अपना जो उत्कृष्ट स्थितिवध है, उसमे से पल्योपम का असख्यातवा भाग कम करने पर जो रहे, उतना उनका जघन्य स्थितिबध है। विशेप अतिशय ज्ञानियो द्वारा गम्य है।

इस प्रकार से एकेन्द्रिय आदि के जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबध का प्रमाण जानना चाहिये।[1] अब क्रम प्राप्त स्थितिस्थानो की प्ररूपणा करते है।

स्थितिस्थान प्ररूपणा

टिइठाणाइं एगिंदियाण थोवाइं होति सव्वाण।
बेंदीण असंखेज्जाणि सखगुणियाणि जह उप्पि ॥५६॥

शब्दार्थ—ठिइठाणाइ—स्थितिस्थान, एगिंदियाण—एकेन्द्रियो के, थोवाइ—स्तोक-अल्प, होति—होते है, सव्वाण—सभी, बेंदीण—द्वीन्द्रियो के, असखेज्जाणि—असख्यातगुणे, सखगुणियाणि—सख्यातगुणे, जह—तथा, उप्पि—ऊपर, आगे।

गाथार्थ—एकेन्द्रियो के सभी स्थितिस्थान स्तोक है, उनसे

---

१ उत्तर कर्मप्रकृतियो की उत्कृष्ट, जघन्य स्थिति एव एकेन्द्रियादि जीवो का उत्कृष्ट, जघन्य स्थितिवधादि का दर्शक प्रारूप परिशिष्ट मे देखिये।

द्वीन्द्रिय के असख्यातगुण है तथा उससे आगे त्रीन्द्रिय आदि के सख्यातगुणे है।

विशेषार्थ -गाथा मे स्थितिस्थानो का विचार किया गया है कि जीवो के कितने स्थितिस्थान होते है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

एक समय मे एक साथ जितनी स्थिति का बध हो, उसे स्थिति स्थान कहते है। जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति के चरम समय पर्यन्त समय-समय की वृद्धि करते-करते जितने समय हो उतने स्थिति-स्थान होते है। यथा—कोई जीव जघन्य स्थिति का बध करे, वह पहला स्थितिस्थान, समयाधिक जघन्य स्थिति का बध दूसरा स्थिति-स्थान, दो समयाधिक जघन्य स्थिति का बध तीसरा स्थितिस्थान, इस प्रकार एक-एक समय बढाते हुए यावत् उत्कृष्ट स्थिति का बध वह अन्तिम स्थितिस्थान।[1]

---

१ स्थितिस्थान के दो प्रकार है—बद्धस्थितिस्थान और सत्तास्थितिस्थान। एक समय मे एक साथ जितनी स्थिति का बध हो, वे बद्धस्थितिस्थान है। जैसे कोई जघन्य स्थिति का बध करे वह पहला स्थितिस्थान, कोई समया-धिक जघन्य स्थिति का बध करे वह दूसरा स्थितिस्थान। इसी प्रकार कोई तीन, चार, सख्यात, असख्यात समयाधिक स्थिति का बध करे यावत् कोई उत्कृष्ट स्थिति का बध करे वह चरम स्थितिस्थान। यह तो बद्ध-स्थितिस्थानो की चर्चा हुई।

अब दूसरे सत्तागत स्थितिस्थानो का विचार करते हैं। एक समय मे जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट जितनी स्थिति बधी हो, उसके भाग मे आई वर्गणाओ के अबाधाकाल को छोडकर जितने समयो मे रचना हो, वे सब सत्तागत स्थितिस्थान कहलाते है। सत्तागत स्थितिस्थान अर्थात् एक समय मे एक साथ कालभेद से जितने समयो के बधे हुए और जितनी वर्गणाओ के फल का अनुभव हो।

अब यदि इस प्रकार के स्थितिस्थानो का समस्त एकेन्द्रियो की अपेक्षा विचार किया जाये तो वे सबमे स्तोक थोडे है—'एगिदियाण थोवाइ होति'। क्योकि उनके जघन्य स्थितिबध और उत्कृष्ट स्थिति-बध के बीच मे पल्योपम के असख्यातवे भाग का ही अन्तर है। अर्थात् उनका जितना जघन्य स्थितिबध है, उससे उत्कृष्ट स्थितिबध पल्योपम का असख्यातवा भाग अधिक है, जिससे उनके स्थितिस्थान पल्योपम के असख्यातवे भाग मे जितने समय होते है, उतने ही होते है। इसीलिए 'थोवाइ होति सव्वाण'—सबमे स्तोक-अल्प होते है।

एकेन्द्रियो के स्थितिस्थानको से 'बेदीण असखेज्जाणि'—द्वीन्द्रियो के स्थितिस्थान असख्यातगुणे होते है और उसके बाद उत्तरोत्तर सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवो पर्यन्त स्थितिस्थान सख्यातगुणे सख्यातगुणे जानना चाहिये— सखगुणियाणि जह उप्पि'। जिसका तात्पर्य यह हुआ—

१-४ सूक्ष्म अपर्याप्त एकेन्द्रिय के स्थितिस्थानक सबसे अल्प है। उससे अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय के सख्यातगुणे है। उससे सूक्ष्म पर्याप्त एकेन्द्रिय के सख्यातगुणे है। उससे पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय के सख्यातगुणे है। ये सभी मिलकर पल्योपम के असख्यातवे भाग गत समय प्रमाण है।[1]

यहाँ यह समझना चाहिये कि सक्लेश और विशुद्धि का आधार योग है। योगव्यापार की अल्पाधिकता के अनुसार विशुद्धि या सक्लेश अल्पाधिक होता है। स्थितिबध का आधार सक्लेश या विशुद्धि है। जैसे-जैसे सक्लेश अधिक हो वैसे-वैसे स्थिति का बध अधिक और सक्लेश कम एव विशुद्धि अधिक तो स्थिति का बध अल्प होता है। एकेन्द्रियो मे बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय का योग सबसे अधिक है, उससे सूक्ष्म पर्याप्त का, उसके बादर अपर्याप्त का और उससे सूक्ष्म अपर्याप्त का अल्प है। सक्लेश और विशुद्धि मे भी यही क्रम है।

---

१ पल्योपम का असख्यातवा भाग बडा बडा लेने से उपर्युक्त अल्पबहुत्व सम्भव है।

बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय का सक्लेश या विशुद्धि अन्य एकेन्द्रियो मे अधिक है, जिससे उसको स्वयोग्य कम-से कम और अधिक-से-अधिक स्थितिबध हो सकता है। उसमे सूक्ष्म पर्याप्त को सक्लेश भी कम और विशुद्धि भी कम, जिसमे वह बादर पर्याप्त जितनी जघन्य या उत्कृष्ट स्थिति नही बाध सकता है। यथा—बादर पर्याप्त उत्कृष्ट सौ वर्ष और जघन्य पाच वर्ष की स्थिति बाधता हो तो सूक्ष्म पर्याप्त जघन्य पन्द्रह और उत्कृष्ट नब्बे बाधेगा। जिससे जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति के बीच मे अन्तर कम-कम रहता है। जिसमे बादर पर्याप्त से सूक्ष्म पर्याप्त के स्थितिस्थान कम होते हैं। इसी प्रकार बादर अपर्याप्त आदि के लिये भी समझना चाहिये।

५—६ पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय के स्थितिस्थानो से अपर्याप्त द्वीन्द्रिय के स्थितिस्थान असख्यातगुण है। असख्यातगुणे होने का कारण यह है कि अपर्याप्त द्वीन्द्रिय के स्थितिस्थान पल्योपम के सख्यातवे भाग के समय प्रमाण हैं। क्योंकि उनको जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति के बीच मे इतना ही अन्तर है और पिछले एकेन्द्रिय के स्थितिस्थान पल्योपम के असख्यातवे भाग के समय प्रमाण है। पल्योपम का सख्यातवा भाग असख्यातवे भाग से सख्यात गुणा बडा होने से अपर्याप्त द्वीन्द्रिय के स्थितिस्थान एकेन्द्रिय के स्थितिस्थानो मे असख्यातगुणे होते है। उनसे पर्याप्त द्वीन्द्रिय के स्थितिस्थान सख्यातगुणे है।

७—८ उनसे अपर्याप्त त्रीन्द्रिय के स्थितिस्थान सख्यातगुणे है। उनसे पर्याप्त त्रीन्द्रिय के सख्यातगुणे है।

९—१० उनसे अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय के स्थितिस्थान सख्यातगुणे है। उनमे पर्याप्त चतुरिन्द्रिय के सख्यातगुणे है।

११—१२ उनसे अपर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय के स्थितिस्थान सख्यातगुणे है। उनसे पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय के सख्यातगुणे है।

१३—१४ उनसे अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय के स्थितिस्थान सख्यात-

गुणे हैं और उनसे भी पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के स्थितिस्थान सख्यातगुणे जानना चाहिये।

यहाँ असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त तक के प्रत्येक भेद मे जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति के बीच पल्योपम के सख्यातवे भाग का अन्तर होने मे उतने स्थितिस्थान बतलाये हे और पल्योपम का सख्यातवा भाग क्रमश बडा होने से उपर्युक्त अल्पबहुत्व घटित होता है और अपर्याप्त सज्ञी का जघन्य स्थितिबंध अत कोडाकोडी सागरोपम और उत्कृष्ट भी अन्त कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। किन्तु जघन्य से उत्कृष्ट सख्यात गुणबडा होने से सख्यातगुण घटित होता है और पर्याप्त सज्ञी के मिथ्यात्वगुणस्थान मे जघन्य स्थितिबध अत कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है और उत्कृष्ट प्रत्येक प्रकृति का जितना-जितना उत्कृष्ट स्थितिबध पहले कहा जा चुका है, उतना है, जिससे उसे भी सख्यातगुणत्व घटित होता हे।

इस अल्पबहुत्व मे अपर्याप्त द्वीन्द्रिय के स्थितिस्थान असख्यातगुणे और शेष समस्त सख्यातगुणे हैं।

इस प्रकार से एकेन्द्रिय मे लेकर पचेन्द्रिय जीवो तक के स्थिति-स्थानो को जानना चाहिए।

इन स्थितिस्थानो के हेतु है जीव से सक्लेश और विशुद्धि वाले परिणाम। अत प्रासगिक होने से अब सक्लेशस्थानो और विशोधि-स्थानो का विचार करते है।

सक्लेश और विशुद्धिस्थान प्ररूपणा

ये दोनो प्रकार के अर्थात् सक्लेश और विशुद्धि के स्थान उत्तरो-त्तर प्रत्येक जीवभेद मे असख्यातगुणे-असख्यातगुणे होते हैं। जो इस प्रकार समझना चाहिए—

सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त के सक्लेशस्थान सबसे अल्प है, उनसे अपर्याप्त बादर के असख्यातगुणे है, उनसे सूक्ष्म पर्याप्त के असख्यात-गुणे है, उनसे बादर पर्याप्त के असख्यातगुणे है। उनसे अपर्याप्त

कदाचित् यह कहा जाये कि स्थिति के स्थान जब सख्यातगुणे है, तव सक्लेश के स्थान सख्यातगुणे न होकर असख्यातगुणे क्यो होते है ? इसका उत्तर यह है कि अमुक-अमुक स्थानो का अतिक्रमण करने अनन्तर जो द्विगुणवृद्धि होती है, वह इस रीति से होती है कि वह असख्यातगुणी हो जाती है। इसका कारण यह है कि पूर्व-पूर्व की वृद्धि से उत्तर-उत्तर की वृद्धि दुगुनी होती है और वह वृद्धि उन स्थानो मे इतनी अधिक बार होती है कि जिससे उक्त कथन की सगति सिद्ध हो जाती है।

इस प्रकार से सक्लेशस्थानो का विचार कर लेने के बाद अब विशुद्धिस्थानो का निरूपण करते है कि जैसे प्रत्येक वे सक्लेशस्थान असख्यात असख्यात गुणे बतलाये है, उसी प्रकार विशुद्धिस्थान भी प्रत्येक के असख्यातगुणे जानना चाहिये। क्योकि सक्लिष्ट परिणाम वालो के जो सक्लेशस्थान है वे ही विशुद्ध परिणाम वाले के विशुद्धि-स्थान होते है। जिसका विस्तार से आगे विचार किया जा रहा है। इसलिए यहा तो इतना ही समझ लेना चाहिये कि पूर्व मे जिस क्रम से सक्लेश के स्थान असख्यातगुण कहे है उसी क्रम से विशुद्धि के स्थान भी असख्यातगुणे कहना चाहिये। इसका कारण यह है—

सक्लेश और विशुद्धि सापेक्ष हे। जो सक्लेश के स्थान है, वे ही विशुद्धि के सम्भव हे। जैसे कि दस स्थान है। विशुद्धि मे पहले से दूसरा, दूसरे से तीसरा, इस प्रकार उत्तरोत्तर प्रवर्धमान है, उसी प्रकार दसवे से नौवा, नौवे से आठवा, इस प्रकार पश्चानुपूर्वी से सक्लेश मे पतनोन्मुखी है। जो चढते विशुद्धि का स्थान, वही उतरते हुए अविशुद्धि का सम्भव है। जैसे कोई दो जीव चौथे गुणस्थान मे है। उनमे से एक चौथे से पाचवे मे और एक चौथे से तीसरे मे जाने वाला है। यद्यपि अभी तो दोनो जीव एक स्थान पर है, लेकिन चढने वाले की अपेक्षा शुद्ध और वही गिरने वाले की अपेक्षा अशुद्ध है। इस प्रकार सक्लेश और विशुद्धि सापेक्ष है। जितने सक्लेश के उतने ही विशुद्धि के स्थान है।

अब एक स्थितिस्थान के बंध में हेतुभूत नाना जीवों की अपेक्षा कितने अध्यवसाय होते हैं ? इसका समाधान करते हैं।

अध्यवसायस्थानप्रमाण प्ररूपणा

> सव्वजहन्ना वि ठिई असंखलोगप्पएसतुल्लेहिं।
> अज्झवसाएहि भवे विसेसअहिएहि उवरुवरिं ॥५७॥

शब्दार्थ—**सव्वजहन्ना**—सर्व जघन्य, **वि**—भी, **ठिई**—स्थिति, **असंखलोगप्पएसतुल्लेहिं**—असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण, **अज्झवसाएहिं**—अध्यवसायों द्वारा, **भवे**—होती है (बंधती है), **विसेसअहि**—विशेषाधिक-विशेषाधिक, **एहिं**—इसमें, **उवरुवरिं**—ऊपर-ऊपर की।

गाथार्थ—सर्व जघन्य स्थिति भी असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण अध्यवसायों से बंधती है और इससे ऊपर-ऊपर की स्थिति के स्थान विशेषाधिक-विशेषाधिक अध्यवसायों द्वारा बंधते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में स्थिति के बंध होने के अध्यवसायों के प्रमाण का निर्देश किया है—

आयु को छोड़कर शेष ज्ञानावरण आदि सातों कर्मों की जो सर्व-जघन्य स्थिति है वह भी अनेक जीवों की अपेक्षा असंख्य लोकाकाश प्रदेशप्रमाण अध्यवसायों द्वारा बंधती है। अर्थात् सर्वजघन्य स्थिति-बंध होने में भी असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण अध्यवसाय हेतु हैं। कोई जीव किसी अध्यवसाय द्वारा, कोई किसी अध्यवसाय द्वारा वह-वह जघन्य स्थिति बांधता है। स्थिति का स्थान एक ही है किन्तु उसके बंध में हेतुभूत अध्यवसाय[1] असंख्य हैं। तात्पर्य यह हुआ कि त्रिकालवर्ती अनेक जीवों की अपेक्षा वह एक ही जघन्य स्थिति असंख्य

---

१ तीव्र, तीव्रतर, मन्द, मन्दतर कषाय के उदय से उत्पन्न हुए आत्मपरिणामों को अध्यवसाय कहते हैं—अध्यवसायश्च तीव्र-तीव्रतरमन्द मन्दतररूपाः कषायोदयविशेषा अवसेयाः ।

भूत अध्यवसाय असख्य लोकाकाश प्रदेश तुल्य-प्रमाण ह। क्योकि उन जघन्यादि स्थितियो के असख्यात विशेष होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे स्थितिवध के हेतुभूत अध्यवसायो के असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होने के कारण का निर्देश किया है कि 'हीणमज्झिमुक्कोसा' अर्थात् जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थितिवध के हेतुभूत असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण अध्यवसाय है। क्योकि उन एक एक जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थितिस्थानो मे असख्याता विशेष है और वे विशेष स्थितिवध मे हेतुभूत अध्यवसाय की विचित्रता मे देश, काल, रस विभाग के वैचित्र्य द्वारा कारण होते है।

जिसका आशय यह है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, अनुभाग आदि अनेक कारणो का आत्मा पर असर होता है और उसके कारण अध्यवसायो की भिन्नता होती है। अनेक जीवो के एक सरीखी स्थिति वाधने पर भी वे जीव एक ही क्षेत्र मे, एक हो काल मे या एक ही प्रकार के समान सयोगो मे अनुभव नही करते है। किन्तु भिन्न-भिन्न क्षत्र-कालादि और भिन्न-भिन्न सयोगो मे अनुभव करते है।

इसका कारण भिन्न-भिन्न क्षेत्र, काल और अनुभाग आदि द्वारा निष्पन्न अध्यवसायो की विचित्रता कारण है। इस तरह भिन्न-भिन्न क्षेत्र, काल आदि असख्य कारण भिन्न-भिन्न अध्यवसायो के होने मे कारण हैं। क्षेत्रादि के असख्य होने से अध्यवसाय भी असख्य हैं। इन असख्य अध्यवसायो द्वारा एक सरीखी स्थिति वधने पर भी एक सरीखे सयोगो मे अनुभव नही की जाती है। किसी भी एक स्थितिवध का एक अध्यवसाय रूप एक ही कारण हो तो उस स्थिति को एक जीव जिस सामग्री को प्राप्त कर अनुभव करे उसी सामग्री को प्राप्त कर उस स्थिति को वाधने वाले सभी जीवो को अनुभव करना चाहिये, परन्तु ऐसा नही होता है। एक सरीखी स्थिति वाधने वाले अनेक जीवा मे से एक जीव उस स्थिति को अमुक क्षेत्र या अमुक काल मे

अनुभव करता है, दूसरा जीव उस स्थिति को दूसरे क्षेत्र या काल मे अनुभव करता है। इस कारण एक ही स्थितिबध होने मे अनेक अध्यवसाय रूप अनेक कारण है। उन अनेक कारणो द्वारा स्थितिबध एक सरीखा होता है। मात्र उसमे भिन्न-भिन्न सयोगो मे अनुभव करने रूप एव अनेक कारणो द्वारा परिवर्तन होने रूप विचित्रता रही हुई है।

अथवा जघन्य स्थिति असख्य समय प्रमाण है। इसी प्रकार प्रत्येक मध्यम और उत्कृष्ट स्थिति भी असख्य समय प्रमाण है। ये जघन्य स्थिति समय-समय प्रमाण कम होते जाने से प्रति समय अन्यथाभाव के— भिन्न-भिन्न प्रकार के—भेद को प्राप्त करती है। इसी प्रकार मध्यम और उत्कृष्ट स्थितिया भी समय-समय मात्र कम होने के द्वारा भिन्नता को प्राप्त करती है। इस प्रकार उन जघन्यादि स्थितियो मे असख्य विशेष रहे हुए है कि जिन विशेषो के कारण भी असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण अध्यवसाय है।

इस प्रकार से अध्यवसायस्थान प्ररूपणा का भाव जाना चाहिये। अब क्रम प्राप्त सादि-अनादि प्ररूपणा का निर्देश करते हैं। इस प्ररूपणा के दो प्रकार है—१ मूल प्रकृति विषयक, २ उत्तर प्रकृति विषयक। उनमे से पहले मूल प्रकृति विषयक सादि-अनादि का विचार करते है।

मूल प्रकृति विषयक सादि-अनादि प्ररूपणा

सण्तह अजन्नो चउहा ठिइबंधु मूलपगईणं।
सेसा उ साइअधुवा चत्तारि वि आउए एव ॥५८॥

शब्दार्थ—सत्तण्ह—सात, अजहन्नो—अजघन्य, चउहा—चार प्रकार का, ठिइबधु—स्थितिबध, मूलपगईण—मूल प्रकृतियो का, सेसा—शेष बध, उ—और, साइअधुवा—सादि और अध्रुव, चत्तारि—चारो, वि—भी, आउए—आयु के, एव—इसी प्रकार के।

गाथार्थ—सातो मूल प्रकृतियो का अजघन्य स्थितिबध चार प्रकार का है और शेष बध सादि, अध्रुव है तथा आयु के चारो ही बध इसी प्रकार के अर्थात् सादि और अध्रुव है।

विशेषार्थ—गाथा मे मूलकर्मो के स्थिति के सादित्व आदि चारो बधप्रकारो का निरूपण किया है कि आयुकर्म को छोडकर शेष ज्ञानावरण आदि सातो मूलकर्मो का अजघन्य स्थितिबध चार प्रकार का है—'अजहन्नो चउहा'—सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मोहनीयकर्म के सिवाय छह मूलकर्मो का जघन्य स्थितिबध क्षपकश्रेणि मे सूक्ष्मसम्परायगुणस्थान के चरम समय मे होता है। वह जघन्य बध चरम समय मे मात्र एक समय तक ही होने से सादि है और दूसरे समय मे उन प्रकृतियो के बधविच्छेद के साथ उस जघन्य बध का भी विच्छेद होने से सात है। इस जघन्य स्थितिबध से अन्य सभी स्थितिबध अजघन्य है। वह अजघन्य स्थितिबध उपशातमोहगुणस्थान मे नही होता है, किन्तु वहाँ से पतन होने पर होता है, जिससे सादि है, उस स्थान को जिन्होने प्राप्त नही किया, उनको अनादिकाल से अजघन्य बध होता आ रहा है, जिससे अनादि है, भव्य के कालान्तर मे अजघन्य बध का विच्छेद सम्भव होने से अध्रुव और अभव्य के किसी भी समय विच्छेद सम्भव नही होने से ध्रुव है।

मोहनीय का जघन्य स्थितिबध क्षपक के अनिवृत्तिबादरसपरायगुणस्थान के चरम समय मे होता है। एक समय मात्र होने से वह सादि-सान्त है, उसके सिवाय अन्य शेष समस्त बध अजघन्य कहलाता है। जो उपशमश्रेणि के सूक्ष्मसपरायगुणस्थान मे नही होता है। किन्तु वहाँ से पतन होने पर होता है, जिससे सादि है। उस स्थान को जिन्होने प्राप्त नही किया उनकी अपेक्षा अनादि और भव्य-अभव्य की अपेक्षा क्रमश अध्रुव, ध्रुव जानना चाहिये।

इस प्रकार से मूलकर्म विषयक सादि आदि भगो का विचार जानना चाहिये। अब उत्तर प्रकृति विषयक सादि आदि बधभगो का विचार करते है।

उत्तर प्रकृति विषयक सादि-अनादि प्ररूपणा

नाणतरायदसणचउवकसजलणठिई अजहन्ना।
चउहा साई अधुवा सेसा इयराण सव्वाओ ॥६०॥

शब्दार्थ—नाणतराय—ज्ञानावरण व अतराय पचक, दसणचउक्क—दर्शनचतुष्क सजलण—सज्वलनकषाय, ठिई—स्थिति, अजहन्ना—अजघन्य, चउहा—चार प्रकार की, साई—सादि, अधुवा—अध्रुव, सेसा—शेष, इयराण—इतर, सव्वाओ—समस्त, सभी।

गाथार्थ ज्ञानावरणपचक, अन्तरायपचक, दर्शनावरण-चतुष्क और सज्वलन कषायो की अजघन्य स्थिति चार प्रकार की है और शेष उत्कृष्ट आदि सादि और अध्रुव है एव इतर सभी प्रकृतियो की उत्कृष्ट आदि सभी स्थितिया भी सादि अध्रुव है।

विशेषार्थ—गाथा मे उत्तर प्रकृतियो के स्थितिबध की सादि-अनादि प्ररूपणा की है कि मतिज्ञानावरण आदि पाच ज्ञानावरण, दानान्तराय आदि पाच अन्तराय, चक्षुदर्शनावरण आदि दर्शनावरण-चतुष्क और सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ इन अठारह प्रकृतियो का अजघन्य स्थितिबध चार प्रकार का—सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणचतुष्क और अतरायपचक इन चौदह प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबध क्षपक को सूक्ष्मसपरायगुणस्थान के चरम समय मे और सज्वलनचतुष्क का जघन्य स्थितिबध क्षपक को अनिवृत्तिवादरसपरायगुणस्थान मे उनके बधविच्छेद के समय होता है। उसका काल मात्र एक समय का है। इसलिए वह जघन्य

स्थितिवध सादि-सान्त है। उसके सिवाय शेष समस्त स्थितिबध अजघन्य कहलाता है। वह अजघन्य स्थितिबध उपशातमोहगुणस्थान मे नही होता है, वहाँ से पतन होने पर पुन होता है, इसलिए सादि है। उस स्थान को जिन्होने प्राप्त नही किया है, उनको अनादि तथा अभव्य, भव्य की अपेक्षा क्रमश ध्रुव और अध्रुव है।

उक्त अठारह प्रकृतियो के शेष जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट स्थितिवध सादि, अध्रुव हैं। इनमे से जघन्य का विचार तो ऊपर किया जा चुका है और उत्कृष्ट एव अनुत्कृष्ट वध सज्ञी मिथ्यादृष्टि को एक के वाद दूसरा इस तरह वदल-वदल कर होते है। जिसका कारण यह है—

जिस-जिस समय सर्व सक्लिष्ट परिणाम होते है, उस-उस समय उत्कृष्ट स्थिति का बध और मध्यम परिणाम मे अनुत्कृष्ट स्थिति का वध होता है। इस प्रकार मिथ्यात्वगुणस्थान क्रमपूर्वक प्रवर्तित होने से वे दोनो सादि, अध्रुव है तथा उपर्युक्त अठारह प्रकृतियो के सिवाय शेष सभी (१०२) प्रकृतियो की जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट स्थितिया सादि और सात—अध्रुव है। जो इस प्रकार जानना चाहिए—

निद्रापचक, मिथ्यात्व, आदि की वारह कषाये, भय, जुगुप्सा, तैजस, कार्मण, वर्णादि चतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण इन उनतीस प्रकृतियो का जघन्य स्थितिवध स्वयोग्य सर्वविशुद्ध पर्याप्त वादर एकेन्द्रिय जीव को अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त होता है। उसके वाद उसी जीव के अध्यवसायो का परावर्तन होने से जव मद परिणाम होते हैं तव अजघन्य स्थितिवध होता है, पुन कालान्तर मे या अन्य भव मे विशुद्ध परिणाम हो, तव जघन्य स्थितिवध होता है। इस प्रकार वदल-वदल कर होने से वे दोनो सादि, अध्रुव है और उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट स्थितिवध सज्ञी पचेन्द्रिय को क्रम पूर्वक होते हैं। सर्व सक्लिष्ट परिणामो के होने पर उत्कृष्ट और मध्यम परिणामो के होने पर अनुत्कृष्ट होता है। जिसमे वे दोनो सादि और अध्रुव है।

जिन प्रकृतियो के जघन्य या उत्कृष्ट स्थितिबंध पहले गुणस्थान मे होते है, उनके अजघन्य और अनुत्कृष्ट स्थितिबध मे, उन दोनो के परावर्तित क्रम से होने के कारण सादि, सात यही दो भग घटित होते है तथा जिन प्रकृतियो के जघन्य अथवा उत्कृष्ट बध ऊपर के गुणस्थानो मे होते हो उनके अजघन्य या अनुत्कृष्ट पर चार भग घटित होते है। क्योकि ऊपर के गुणस्थान मे आरोहण नही किये हुए, आरोहण नही करने वाले और आरोहण करके गिरने वाले जीव होते है। जिससे भगो की योजना तदनुसार करना चाहिए।

शेप अध्रुवबधिनी प्रकृतियो के चारो विकल्प उनके अध्रुवबधिनी होने से सादि और अध्रुव जानना चाहिये।

अब पूर्वोक्त गाथा मे कहे गये जघन्यादि विकल्पो को सामान्य बुद्धि वाले शिष्यो को सरलता से समझाने के लिये विशेपता के साथ स्पष्ट करते है—

अट्ठारसण्ह खवगो बायरएगिदि सेसधुवियाण ।
पज्जो कुणइ जहन्न साई अधुवो अओ एसो ॥६१॥

शब्दार्थ—**अट्ठारसण्ह**—अठारह प्रकृतियो का, **खवगो**—क्षपक, **बायर-एगिदि**—बादर एकेन्द्रिय, **सेसधुवियाण**—शेप ध्रुवबधिनी प्रकृतियो का, **पज्जो**—पर्याप्त **कुणइ**—करता है, **जहन्न**—जघन्य, **साई अधुवो**—सादि, अध्रुव, **अओ**—इस कारण, **एसो**—इनका।

गाथार्थ—ज्ञानावरणपचक आदि अठारह प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबध क्षपक और शेप ध्रुवबधिनी प्रकृतियो का पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीव करता है। इस कारण वे सादि और अध्रुव विकल्प वाली है।

विशेषार्थ—गाथा मे ज्ञानावरणपचक आदि अठारह प्रकृतियो एव

शेष ध्रुवबधिनी प्रकृतियो के जघन्य स्थितिबध के सादि और अध्रुव होने के कारण का विचार किया है।

ज्ञानावरणपचक, अतरायपचक, दर्शनावरणचतुष्क और सज्वलन-चतुष्क इन अठारह प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबध क्षपक जीव उन-उन प्रकृतियो के बधविच्छेद के समय करता है। उनमे से सज्वलन-चतुष्क का अनिवृत्तिबादरगुणस्थान मे और शेष प्रकृतियो का सूक्ष्म-सपरायगुणस्थान मे बधविच्छेद करता है। क्योकि ये सभी प्रकृतिया अशुभ है और अशुभ प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबध विशुद्ध परिणामो के होने पर होता है। क्षपक जीव अत्यन्त विशुद्ध परिणाम वाला है, इसलिए पूर्वोक्त अठारह प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबध क्षपक को ही होता है, अन्यत्र नही होता है। उनका काल एक समय का है, इसलिये वह सादि और सात है।

'सेसधुवियाण'—अर्थात् शेष ध्रुवबधिनी प्रकृतियो का जघन्य स्थिति-बध तद्योग्य विशुद्ध परिणाम वाले पर्याप्त पृथ्वीकाय, अप्काय और प्रत्येक वनस्पति रूप बादर एकेन्द्रिय जीव कितनेक काल तक करते है। शेष एकेन्द्रिय जीव तथास्वभाव के कारण नही करते है। अन्तर्मुहूर्त के बाद वे ही जीव अजघन्य स्थितिबध करते है। अत क्रमपूर्वक उनके होने से वे दोनो सादि-सात है।

इस प्रकार से जघन्यबध के सादि, सात होने के कारण को जानना चाहिए।

अब पूर्वोक्त अठारह प्रकृतियो के अजघन्य स्थितिबध के चार प्रकारो का और शेष ध्रुवबधिनी प्रकृतियो के उत्कृष्टादि के सादि और सात विकल्पो का एव अध्रुवबधिनी प्रकृतियो के चारो प्रकारो के सादि और सात ये दो विकल्प होने का विचार करते है।

अट्ठाराणऽजहन्नो उवसमसेढीए परिवडतस्स ।
साई सेसवियप्पा सुगम अधुवा धुवाणपि ॥६२॥

स्वामित्व प्ररूपणा

सव्वाणवि पगईणं उक्कोस सन्निणो कुणति ठिइं।
एगिंदिया जहन्न असन्निखवगा य काणपि ॥६३॥

शब्दार्थ—सव्वाणवि—सभी, पगईण—प्रकृतियो का, उक्कोस—उत्कृष्ट, सन्निणो—सज्ञी, कुणति—करते है, ठिइ—स्थितिवध, एगिंदिया—एकेन्द्रिय, जहन्न—जघन्य, असन्निखवगा—असज्ञी और क्षपक, य—और, काणं—कितनी ही का, पि—भी।

गाथार्थ—सभी प्रकृतियो का उष्कृष्ट स्थितिबध सज्ञी और जघन्यस्थितिबध एकेन्द्रिय जीव करते हैं और कितनी ही प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबध असज्ञी एव क्षपक जीव भी करते हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे सामान्य से समस्त प्रकृतियो के स्थितिबध के स्वामियो का निर्देश किया है—

शुभ-अशुभ सभी प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबध सज्ञी जीव करते है—'उक्कोस सन्निणो कुणति'। लेकिन यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि तीर्थंकरनाम, आहारकद्विक और देवायु को छोडकर शेष एक सौ सोलह प्रकृतियो का सज्ञी मिथ्यादृष्टि एव तीर्थंकरनाम आदि चारो प्रकृतियो का सम्यग्दृष्टि आदि सज्ञी जीव करते है।

तीर्थंकरनाम आदि चार प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबध सम्यग्दृष्टि आदि को करने का कारण यह है कि तीर्थंकरनाम का बधहेतु सम्यक्त्व और आहारकद्विक का विशिष्ट सयम है[1] तथा देवायु की उत्कृष्ट स्थिति सर्वार्थसिद्ध विमान मे है और वहाँ विशिष्ट सयम के निमित्त से उत्पत्ति होती है। यानी उसके स्थितिवध मे भी सयम हेतु है। इसलिए मिथ्यादृष्टि जीव को इन प्रकृतियो का वध मूलत असभव होने से सम्य-

---

१ सम्मत्तगुणनिमित्त तित्थयर सजमेण आहार।

दृष्टि आदि जीवो को इन प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति का बध जानना चाहिए। मात्र देवायु के सिवाय उन प्रकृतियो के बधको मे जो सक्लिष्ट परिणामी जीव है, वे उन प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति बाधते है।[1]

इन तीर्थंकरनाम आदि प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्थितिबधक जीवो का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पहले जिसने नरकायु का बध किया ऐसा कोई असयत मनुष्य क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करके तीर्थंकरनाम के बध के विशेष बीस हेतुओ की आराधना द्वारा तीर्थंकरनाम का निकाचित बध करे किन्तु जब वह अन्तर्मुहूर्त आयु रहे और नरक मे जाने के अभिमुख हो तब सम्यक्त्व का वमन कर देता है। जिस समय सम्यक्त्व का वमन करके मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त करने के उन्मुख हो उस समय चतुर्थ गुणस्थान के अन्तिम समय मे तीर्थंकरनाम का उत्कृष्ट स्थितिबध करता है। तीर्थंकरनाम के बधको मे ऐसा जीव ही सर्वोत्कृष्ट सक्लिष्टपरिणाम वाला होता है। किन्तु जो जीव क्षायिक सम्यक्त्व सहित नरक मे जाता है, वह सम्यक्त्व का वमन करने वाला न होने से विशुद्ध परिणाम वाला होता है। जिससे उमे तीर्थंकरनाम का उत्कृष्ट स्थितिबध नही होता है।[2]

यहाँ क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी को ग्रहण करने का कारण यह है कि कार्मग्रन्थिको के मत से नरक मे जाने वाला जीव क्षायोपशमिक सम्यक्त्व साथ मे लेकर नही जाता है। अतः जब नरको मे जाने के लिए अभिमुख हो, तब उसका वमन कर देता है। जिससे चौथे से पहले

---

१ इसका कारण सहित स्पष्टीकरण आगे गाथा ६४ मे किया जा रहा है।

२ तित्थयरनामस्स उक्कोसठिइ मणुस्सो असजमो वेयगसम्मदिट्ठी पुव्व नरगवद्धाउगो नरगाभिमुहो मिच्छत्त पडिवज्जिही इति अतिमे ठिईबधे वट्टमाणो बधइ, तव्वधगेसु अइसकिलिट्ठो त्ति काउ।

—शतकचूर्णि

गुणस्थान मे जाते हुए चौथे गुणस्थान के चरम समय मे सक्लिष्ट परिणामो मे तीर्थंकरनाम का स्थितिबघ होता है और वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी करता है।

प्रमत्तभाव के सन्मुख हुआ अप्रमत्तसयत आहारकद्विक का उत्कृष्ट स्थितिबध करता है। क्योकि उनके बधको मे वही उत्कृष्ट सक्लेश परिणाम वाला है।

देवायु का भी पूर्वकोटि की आयु वाला पूर्वकोटि के तीसरे भाग के आद्य समय मे वर्तमान अप्रमत्तभाव के सन्मुख हुआ प्रमत्त सयत उत्कृष्ट स्थितिबध करता है। एकात सर्वविशुद्ध परिणाम वाला अप्रमत्त सयत आयु के बध को प्रारम्भ ही नही करता है, मात्र प्रमत्तसयत गुणस्थान मे प्रारम्भ किये हुए बध को अप्रमत्त पूर्ण करता है।[1] जिसका आशय यह है कि देवायु का उत्कृष्ट स्थितिबध पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाला पूर्वकोटि के तीसरे भाग के प्रथमसमय मे एक समय पर्यन्त करता है। उसके बाद के समय मे अबाधा की हानि सभव होने से और उस समय प्रमत्तगुणस्थान होने से उत्कृष्ट स्थितिबध नही होता है तथा आयु का उत्कृष्ट स्थितिबध विशुद्ध परिणामो से होता है, इसलिये अप्रमत्तभाव के सन्मुख हुए प्रमत्त जीव को आयु की उत्कृष्ट स्थिति का बधक कहा है।

पूर्वोक्त से शेष रही शुभ अथवा अशुभ समस्त कर्म प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति का बधक सर्व सक्लिष्ट सज्ञी मिथ्यादृष्टि जीव है। परन्तु इसमे जो विशेषता है, वह इस प्रकार है—

देवायु के सिवाय शेष तीन आयु, नरकद्विक, देवद्विक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, वैक्रियद्विक, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण इन पन्द्रह प्रकृतियो का तत्प्रायोग्य सक्लिष्ट परिणाम वाले मिथ्या-

---

१ अपमत्तो बंधिउ नाढवेइ पमत्तेणाढत्तमप्पमत्तो बधेइ।

दृष्टि तिर्यंच और मनुष्य उत्कृष्ट स्थितिबंध करते हैं। क्योंकि देव और नारकों के इनके बंध का अभाव है। जिसका कारण यह है कि तिर्यंचायु और मनुष्यायु को छोड़कर शेष प्रकृतियों को देव और नारक भव-स्वभाव से ही नहीं बांधते हैं तथा तिर्यंचायु और मनुष्यायु का उत्कृष्ट स्थितिबंध देवकुरु और उत्तरकुरु के युगलियों की आयु बंध करते समय होता है। देव और नारक तथास्वभाव से वहाँ उत्पन्न होते नहीं हैं। इसलिए तिर्यंच और मनुष्य आयु के उत्कृष्ट स्थितिबंधक देव और नारक नहीं हैं। परन्तु तिर्यंच और मनुष्य ही होते हैं और उनमें भी जो पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले पूर्वकोटि के तीसरे भाग के प्रथम समय में वर्तमान मिथ्यादृष्टि और तत्प्रायोग्य विशुद्ध परिणाम में वर्तमान हों वे ही होते हैं।[1] क्योंकि सम्यग्दृष्टि तिर्यंच, मनुष्यों के तिर्यंच और मनुष्य आयु का बंध ही नहीं होने से तत्प्रायोग्य विशुद्ध परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि को ग्रहण किया है।

नरकायु की उत्कृष्ट स्थिति के बंधक भी तत्प्रायोग्य संक्लिष्ट परिणामी मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्य होते हैं। अत्यन्त संक्लिष्ट परिणाम वालों के आयु का बंध होना असंभव होने से तत्प्रायोग्य संक्लिष्ट परिणामों को ग्रहण किया है। तथा—

तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, औदारिकशरीर, औदारिक-अंगोपांग, उद्योत और सेवार्तसंहनन इन छह प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति अत्यन्त संक्लिष्ट परिणाम वाले देव अथवा नारक बांधते हैं। इन छह प्रकृ-

---

१ अत्यंत विशुद्ध एवं अत्यन्त संक्लिष्ट परिणामों के होने पर आयुबंध नहीं होता है। इसलिये यहाँ अत्यंत विशुद्ध परिणाम वाला न कहकर तत्प्रायोग्य विशुद्ध परिणाम वाले का ग्रहण किया है—तत्प्रयोग्यविशुद्धिस्थानोपेता वेदितव्या नात्यंत विशुद्धा, अत्यंतविशुद्धानामायुर्बन्धाभावात्। अत्यंतसंक्लिष्टानामायुर्बन्धासम्भवात्।

—आ. मलयगिरि प. सं.-टीका पृ. २३६

तियो का उत्कृष्ट स्थितिबध अत्यन्त तीव्र सक्लेश होने पर होता है। यद्यपि तिर्यंच और मनुष्यो के इन छह प्रकृतियो का बध होता है, परन्तु वे माध्यमिक स्थिति बाधते है। क्योकि जिस सक्लेशस्थिति मे देव और नारक उपर्युक्त छह प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति बाधते हैं, उस प्रकार के सक्लेश की स्थिति मे मनुष्य और तिर्यंच नरकप्रायोग्य प्रकृतियो का बध करते है, परन्तु तिर्यंच या मनुष्य प्रायोग्य प्रकृतियो का बध नही करते हैं। इसीलिये देव अथवा नारको को इन छह प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबधक कहा है।

एकेन्द्रियजाति, स्थावर और आतप इन तीन प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति उत्कृष्ट सक्लेश वाले ईशानस्वर्ग तक के देव बाधते है। अन्य जीव इनके बधक न होने का कारण यह है कि नारक और सनत्कुमार आदि स्वर्गो के देवो को भवस्वभाव से ही इन प्रकृतियो का बध होना असम्भव है और अति सक्लिष्ट परिणाम वाले तिर्यंच, मनुष्यो के नरकगतिप्रायोग्य प्रकृतियो का बध होता है और मन्द सक्लेश मे उत्कृष्ट स्थिति के बध का होना असम्भव है। इसलिए इन तीन प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति के बधक मात्र ईशानस्वर्ग तक के देव ही बताये है।

पूर्वोक्त से शेष रही समस्त प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति के बधक चारो गति के सर्व सक्लिष्ट मिथ्यादृष्टि जीव है।[1]

इस प्रकार से उत्कृष्ट स्थिति के बधको का विचार करने के पश्चात् अब जघन्य स्थिति के बधस्वामित्व का निर्देश करते हैं—

'एगिंदिया जहन्न ' अर्थात् एकेन्द्रिय जघन्य स्थिति को बाधते है। मात्र कितनी ही प्रकृतियो की असज्ञी और क्षपक जीव भी जघन्य स्थिति बाधते हैं। जिसका तात्पर्य इस प्रकार है—

---

१ इसी प्रकार से दिगम्बर कर्मग्रथो मे भी उत्कृष्ट स्थितिबधस्वामित्व का कथन किया है। देखिये पचसग्रह शतक अधिकार गाथा ४२५-४३२।

देवत्रिक, नरकत्रिक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, तीर्थंकरनाम, पुरुषवेद, सज्वलनचतुष्क, ज्ञानावरणपचक, अन्तरायपचक, दर्शनावरणचतुष्क, उच्चगोत्र, सातावेदनीय और यश कीर्तिनाम इन तेतीस प्रकृतियो को छोडकर शेष सतासी (८७) प्रकृतियो[1] की जघन्य स्थिति तत्प्रायोग्य विशुद्ध परिणाम वाले एकेन्द्रिय पर्याप्त वादर पृथ्वीकाय, अप्काय और प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीव वाधते है तथा उक्त देवत्रिक आदि तेतीस प्रकृतियो मे से—

देवत्रिक, नरकत्रिक और वैक्रियद्विक इन आठ प्रकृतियो की असज्ञी पचेन्द्रिय जीव जघन्य स्थिति वाधते हे। आहारकशरीर, आहारक-अगोपाग और तीर्थंकरनाम की जघन्य स्थिति क्षपक अपूर्वकरणवर्ती जीव वाधते है तथा सज्वलनक्रोधादिचतुष्क और पुरुषवेद की क्षपक अनिवृत्तिवादरसपरायगुणस्थानवर्ती जीव और ज्ञानावरणपचक, अतरायपचक, दर्शनावरणचतुष्क, सातावेदनीय, उच्चगोत्र और यश-कीर्तिनाम इन सत्रह प्रकृतियो की जघन्य स्थिति क्षपक सूक्ष्मसपराय-गुणस्थानवर्ती जीव वाधते है। जिसका स्पष्टीकरण पूर्व मे जघन्य वध-प्रकार के प्रसग मे विशेषता के साथ किया जा चुका है।[2]

---

१ सतासी प्रकृतियो मे मनुष्यायु और तिर्यंचायु इन दोनो आयुओ का भी ग्रहण है। परन्तु उन दो आयु का दो सौ छप्पन आवलिका प्रमाण जघन्य वध तो तत्प्रायोग्य सक्लेश मे वर्तमान देव और नारक को छोडकर एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक के सभी जीव कर सकते है, यह सभव है।

दिगम्बर पचसग्रह पेज २५६ पर आयु के जघन्य स्थितिवधक के लिये लिखा है—आयुषा चतुर्णां जघन्यस्थिति सज्ञी वा असज्ञी वा वध्नाति। जिसका आशय स्पष्ट करते हुए लिखा है—

देवायु और नरकायु का जघन्य स्थितिवध कोई एक सज्ञी या असज्ञी पचेन्द्रिय जीव करता है। मनुष्यायु और तिर्यंचायु का जघन्य स्थितिवध कर्मभूमिज मनुष्य या तिर्यंच करते है।

२ दिगम्बर कर्मग्रथो मे भी कुछ भिन्नता और अधिकतम समानता के साथ इसी प्रकार जघन्य स्थितिवधस्वामित्व का वर्णन किया है। देखिये पचसग्रह शतक अधिकार गाथा ४३३ से ४४० तक।

उक्त उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबंध के स्वामित्व को निम्नलिखित प्रारूप द्वारा सरलता से समझा जा सकता है—

क्रम	प्रकृतियों के नाम	उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामी	जघन्य स्थितिबंध के स्वामी
१	ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक, दर्शनावरणचतुष्क	अति संक्लिष्ट परिणामी संज्ञी पर्याप्त मिथ्यादृष्टि	क्षपक सूक्ष्मसंपराय चरमसमयवर्ती
२	निद्रापंचक	,,	विशुद्ध पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय
३	मिथ्यात्व और आदि की बारह कषाय	,,	,,
४	संज्वलनचतुष्क	,,	क्षपक, स्वबंध चरम समयवर्ती
५	हास्य-रति	तत्प्रायोग्य संक्लिष्ट संज्ञी मिथ्यादृष्टि	विशुद्ध पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय
६	अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, नपुंसकवेद	अतिसंक्लिष्ट परिणामी संज्ञी मिथ्यादृष्टि	,, ,,
७	स्त्रीवेद	तत्प्रायोग्य संक्लिष्ट परिणामी संज्ञी मिथ्यादृष्टि	,, ,,
८	पुरुषवेद	,, ,,	क्षपक स्वबंध चरमसमयवर्ती
९	सातावेदनीय	,, ,,	,, ,,
१०	असातावेदनीय	अतिसंक्लिष्ट परिणामी संज्ञी मिथ्यादृष्टि	विशुद्ध बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय
११	देवायु	तत्प्रायोग्य विशुद्ध अप्रमत्ताभिमुख प्रमत्त यति	तत्प्रायोग्य संक्लिष्ट पर्याप्त संज्ञी असंज्ञी मिथ्यादृष्टि

क्रम	प्रकृतियो के नाम	उत्कृष्ट स्थितिबध के स्वामी	जघन्य स्थितिबध के स्वामी
१२	मनुष्यायु, तिर्यंचायु	मिथ्यादृष्टि तत्प्रायोग्य विशुद्ध पर्याप्त मनुष्य, तिर्यंच	तत्प्रायोग्य सक्लिष्ट मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यंच
१३	नरकायु	तत्प्रायोग्य स प. सज्ञी मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यंच	तत्प्रायोग्य विशुद्ध मिथ्यादृष्टि पर्याप्त असज्ञी और सज्ञी
१४	देवद्विक	तत्प्रायोग्य स पर्याप्त मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यंच	सर्वविशुद्ध पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय
१५	वैक्रियद्विक	अतिसक्लिष्ट पर्याप्त मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यंच	सर्वविशुद्ध पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय
१६	नरकद्विक	अतिसक्लिष्ट पर्याप्त मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यंच	तत्प्रायोग्य विशुद्ध पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय
१७	मनुष्यद्विक, आद्य पाच सहनन, आद्य पाच सस्थान, शुभविहायोगति, स्थिरपचक	तत्प्रायोग्य सक्लिष्ट मिथ्यादृष्टि पर्याप्त सज्ञी	विशुद्ध पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय
१८	तिर्यंचद्विक औदारिक शरीर, उद्योत	अतिसक्लिष्ट मिथ्यादृष्टि नारक तथा सहस्रारात देव	विशुद्ध पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय
१९	एकेन्द्रिय, स्थावर आतप	अतिसक्लिष्ट ईशानात देव	,, ,,

क्रम	प्रकृतियो के नाम	उत्कृष्ट स्थितिबध के स्वामी	जघन्य स्थितिबध के स्वामी
२०	औदारिक अगोपाग, सेवार्त सहनन	अति स मिथ्या नारक, सनत्कुमार से सहस्रार तक के देव	विशुद्ध पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय
२१	विकलत्रिक, सूक्ष्मत्रिक	तत्प्रायोग्य स मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यंच	,, ,,
२२	पचेन्द्रियजाति, तैजस, कार्मण हुडकसस्थान, वर्णचतुष्क, अशुभ-विहायोगति, पराघात, उच्छ्वास, अगुरुलघु, निर्माण, उपघात, त्रस-चतुष्क, अस्थिरषट्क	अतिसक्लिष्ट मिथ्यादृष्टि पर्याप्त सज्ञी	,, ,,
२३	आहारकद्विक	प्रमत्ताभिमुख अप्रमत्त यति	क्षपक स्वबधविच्छेद समयवर्ती
२४	तीर्थंकरनाम	मिथ्यात्व-नरकाभिमुख क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी चरम समयवर्ती मनुष्य	,, ,
२५	यश कीर्ति, उच्चगोत्र	तत्प्रायोग्य सक्लिष्ट पर्याप्त मिथ्यादृष्टि सज्ञी	क्षपक सूक्ष्मसपराय चरम समयवर्ती
२६	नीचगोत्र	अतिसक्लिष्ट मिथ्यादृष्टि पर्याप्त सज्ञी	विशुद्ध पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय

इस प्रकार से स्थितिबध के स्वामित्व की प्ररूपणा जानना चाहिए। अब उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबध की शुभाशुभरूपता की प्ररूपणा करते है।

शुभाशुभत्व प्ररूपणा

सव्वाण ठिई असुभा उक्कोसुक्कोससंकिलेसेणं ।
इयरा उ विसोहीए सुरनरतिरिआउए मोत्तुं ॥६४॥[1]

शब्दार्थ—सव्वाण—सभी प्रकृतियों की, ठिई—स्थिति, असुभा—अशुभ, उक्कोस—उत्कृष्ट, उक्कोससंकिलेसेण—उत्कृष्ट संक्लेश से, इयरा—इतर-जघन्य, उ—और, विसोहीए—विशुद्धि से, सुरनरतिरिआउए—देव-मनुष्य-तिर्यंचायु को, मोत्तु—छोड़कर।

गाथार्थ—देव, मनुष्य और तिर्यंच इन तीन आयु को छोड़कर शेष सभी प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति उत्कृष्ट संक्लेश से बंधने के कारण अशुभ है और इतर—जघन्य स्थिति विशुद्धि से बंधने के कारण शुभ है।

विशेषार्थ—गाथा में सभी प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति के अशुभ होने के कारण को स्पष्ट किया है।

शुभ या अशुभ समस्त कर्म प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति अशुभ है—'सव्वाण ठिई असुभा उक्कोस'। इसका कारण यह है कि जब उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम होते हैं तब उत्कृष्ट स्थिति का बंध होता है—'उक्कोस-संकिलेसेण'। जैसे-जैसे संक्लेश की वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे स्थिति-बंध में वृद्धि होती है।

कषाय के उदय से उत्पन्न हुए अशुभ अध्यवसायों को संक्लेश कहते हैं। अतएव संक्लिष्ट अध्यवसाय रूप कारण अशुद्ध होने से तज्जन्य उत्कृष्ट स्थिति का बंध रूप कार्य भी अशुभ होता है तथा अप्रशस्त कर्म में जैसे-जैसे संक्लेश की वृद्धि होती है, वैसे रस की वृद्धि होती है। इस हेतु से भी उत्कृष्ट स्थिति अशुभ है। तथा—

---

१ तुलना कीजिये—

सव्वाओ वि ठिदीओ सुहासुहाण पि होंति असुहाओ ।
माणुस-तिरिक्ख-देवाउगं च मोत्तूण सेसाणं ॥

—दि. पंचसंग्रह शतक अधिकार गाथा ४२४

प्रशस्त कर्मप्रकृतियो मे जैसे-जैसे सक्लेश बढता है वैसे-वैसे उनकी स्थिति की वृद्धि और रस-हानि होती जाती है। स्वयोग्य उत्कृष्ट सक्लिष्ट परिणाम होते हैं तब उनकी भी उत्कृष्ट स्थिति बधती है, उस-उस समय रस का अत्यन्त अल्प बध होता है, इसलिए उनकी उत्कृष्ट स्थिति भी जिसके अन्दर से रस निकाल लिया है, ऐसे नीरस ईख के समान होने से अप्रशस्त है।

अब जिसके द्वारा उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य स्थिति बधती है उस हेतु का निरूपण करते हैं—

समस्त कर्मप्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति उत्कृष्ट सक्लेश द्वारा बधती है, इसलिये जो-जो सक्लेश जिस-जिस प्रकृति के बध मे हेतु है, उसमे जो उत्कृष्ट सक्लेश है, वह सक्लेश उस-उस प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति मे हेतु है तथा समस्त प्रकृतियो की जघन्य स्थिति विशुद्ध अध्यवसायो द्वारा बधती है, यानि जो विशुद्ध परिणाम जिस प्रकृति के बध मे हेतु है, उनमे जो सर्व विशुद्ध परिणाम है, वे उस प्रकृति की जघन्य स्थिति उत्पन्न करते है। लेकिन एतद् विषयक अपवाद भी है—

'सुरनरतिरिआउए मोत्तु' अर्थात् देव, मनुष्य और तिर्यंच आयु को छोड देना चाहिए। इन तीन आयु के बधक जीवो मे जो सर्व-सक्लिष्ट परिणाम वाले है वे इन तीन आयु की जघन्य स्थिति बाधते हैं और सर्वविशुद्ध परिणाम वाले उत्कृष्ट स्थिति बाधते है तथा जैसे-जैसे उनकी स्थिति की वृद्धि होती है, वैसे वैसे रस की भी वृद्धि होती है और जैसे-जैसे अल्पस्थिति का बध होता है, वैसे-वैसे रस भी हीन बधता है। इस प्रकार इन तीन आयु का शेष प्रकृतियो से विपरीत क्रम है।

आयु के स्थितिबध के सन्दर्भ मे इतना विशेष है कि घोलमान परिणामो मे आयु का बध होता है। अत आयुबध हो सके, तत्प्रमाण सर्वसक्लिष्ट और सर्वविशुद्ध परिणाम ग्रहण करना चाहिये। किन्तु अत्यन्त सक्लिष्ट या विशुद्ध परिणाम नही जानना चाहिए।

इस प्रकार से स्थितिबध के स्वरूप का विवेचन समाप्त हुआ।

अनुभागबंध

अव रसबध (अनुभागबध) का प्रतिपादन प्रारम्भ करते है। इसके तीन अनुयोगद्वार है—१ सादि-अनादि प्ररूपणा, २ स्वामित्व प्ररूपणा और, ३ अल्पबहुत्व प्ररूपणा। सादि-अनादि प्ररूपणा भी दो प्रकार की है—मूल प्रकृति-सम्बन्धी और उत्तर प्रकृति-सम्बन्धी। इनमे से पहले मूल प्रकृति-सम्बन्धी सादि-अनादि प्ररूपणा करते है।

मूल प्रकृति विषयक सादि-अनादि प्ररूपणा

अणुभागोणुक्कोसो नामतइज्जाण घाइ अजहन्नो।
गोयस्स दोवि एए चउव्विहा सेसया दुविहा ॥६५॥

शब्दार्थ—**अणुभागोणुक्कोसो**—अनुत्कृष्ट अनुभाग, **नामतइज्जाण**—नाम और तृतीय वेदनीय कर्म का, **घाई**—घातिकर्मों का **अजहन्नो**—अजघन्य, **गोयस्स**—गोत्र के, **दोवि**—दोनो, **एए**—ये, **चउव्विहा**—चार प्रकार के, **सेसया**—शेप, **दुविहा**—दो प्रकार के।

गाथार्थ—नाम और तीसरे वेदनीय कर्म का अनुत्कृष्ट अनुभागबध, घातिकर्मो का अजघन्य अनुभागबंध और गोत्रकर्म के ये दोनो बध चार प्रकार के है और शेष बध दो प्रकार के है।

विशेषार्थ—गाथा मे ज्ञानावरण आदि मूलकर्मो के अनुभागबध की सादि-अनादि प्ररूपणा का निरूपण किया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

'नामतइज्जाण' अर्थात् नामकर्म और वेदनीयकर्म का 'अणुभागोणुक्कोसो' अनुत्कृष्ट अनुभागबध 'चउव्विहा'—चार प्रकार का है। जो इस प्रकार जानना चाहिए—

नाम और वेदनीय कर्म का उत्कृष्ट अनुभागबध क्षपक को सूक्ष्मसपरायगुणस्थान के चरम समय मे होता है और उसके बाद दूसरे समय मे विच्छिन्न हो जाता है। यह उत्कृष्ट बध एक समय मात्र का होने से सादि, सान्त है। इसके सिवाय शेष अनुभागबध अनुत्कृष्ट है। वह उपशातमोहगुणस्थान मे नही होता है। वहाँ से गिरने पर

होता है, अत सादि है। उस स्थान को प्राप्त नही करने वालो के अनादि, भव्य की अपेक्षा अध्रुव और अभव्य की अपेक्षा ध्रुव है।

'घाई अजहन्नो चउव्विहा'—घातिकर्मों का अजघन्य अनुभागबध चार प्रकार का है। मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय ये चार घातिकर्म है। इनमे से मोहनीयकर्म का जघन्य अनुभागबध क्षपक को अनिवृत्तिबादरसपरायगुणस्थान के चरम समय मे तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का क्षपक को सूक्ष्मसपरायगुणस्थान के चरम समय मे होता है। उसको एक समय मात्र का ही होने से सादि-सात है। इसके सिवाय शेष समस्त अनुभागबध अजघन्य है। मोहनीय का अजघन्य अनुभागबध उपशमश्रेणि मे सूक्ष्मसपरायगुणस्थान मे और ज्ञानावरणादि तीन का उपशातमोहगुणस्थान मे नही होता है, किन्तु वहाँ से गिरने पर होता है, इसलिए सादि है। उस स्थान को प्राप्त नही करने वालो के अनादि तथा भव्याभव्य की अपेक्षा क्रमश अध्रुव और ध्रुव है।

'गोयस्स दोन्नि एए चउविहा' अर्थात् गोत्रकर्म के ये दोनो—अजघन्य और अनुत्कृष्ट अनुभागबध सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चारो प्रकार के है। जो इस प्रकार जानना चाहिये कि गोत्रकर्म का उत्कृष्ट अनुभागबध क्षपक को सूक्ष्मसपरायगुणस्थान के चरम समय मे होता है। जो समय मात्र होने से सादि और सात है। उसके सिवाय शेप समस्त अनुभागबध अनुत्कृष्ट है। वह अनुत्कृष्ट अनुभागबध उपशातमोहगुणस्थान मे नही होता है, किन्तु वहाँ से पतन होने पर होता है, जिससे सादि है। उस स्थान को प्राप्त नही करने वालो की अपेक्षा अनादि तथा ध्रुव, अध्रुव क्रमश अभव्य एव भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये। तथा—

गोत्रकर्म का जघन्य अनुभागबध औपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न करते हुए सप्तम पृथ्वी के नारक को अनिवृत्तिकरण मे अन्तरकरण करके मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति का अनुभव करते-करते जब क्षय होता है, तब उस प्रथम स्थिति के चरम समय मे नीचगोत्र सम्बन्धी

होता है। जिसको एक समय मात्र का होने से सादि-सात है। उसके अलावा शेष जब तक उत्कृष्ट न हो, तब तक का समस्त अनुभागबंध अजघन्य है। वह अजघन्य अनुभागबंध औपशमिक सम्यक्त्व का लाभ हो तब उच्चगोत्र की अपेक्षा से है, इसलिये सादि है। उस स्थान को प्राप्त नहीं करने वालो की अपेक्षा अनादि और भव्य-अभव्य की अपेक्षा क्रमश अध्रुव और ध्रुव जानना चाहिये।

इन पूर्वोक्त सात कर्मों के उक्त प्रकारो से व्यतिरिक्त शेष समस्त दुविहा—सादि और अध्रुव इस तरह दो प्रकार के हैं। जो इस तरह जानना चाहिए—

वेदनीय और नामकर्म के उत्कृष्ट अनुभागबंध के सादि, अध्रुव विकल्पो का विचार पूर्व मे किया जा चुका है। जघन्य और अजघन्य बंध मिथ्यादृष्टि अथवा सम्यग्दृष्टि को क्रम से होते है। जो इस तरह से जानना चाहिए कि जब परावर्तन मध्यम परिणाम होते है तब मिथ्यादृष्टि अथवा सम्यग्दृष्टि को जघन्य अनुभागबंध और संक्लिष्ट अथवा विशुद्ध परिणाम होने पर अजघन्य अनुभागबंध होता है। इस प्रकार क्रमपूर्वक होने मे वे दोनो सादि, अध्रुव हैं। इसी प्रकार घाति-कर्मों के जघन्य अनुभागबंध के सादि और अध्रुव विकल्पो का पूर्व मे विचार किया जा चुका है और उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट मिथ्यादृष्टि के अनु-क्रम मे होता है। जिस समय सर्वसंक्लिष्ट परिणाम होते हे तब उत्कृष्ट और मध्यम परिणाम होने पर अनुत्कृष्ट बंध होता है। इस-लिये वे दोनो सादि, अध्रुव है।

गोत्रकर्म के भी जघन्य और उत्कृष्ट इन दोनो के सादि-अध्रुव विकल्पो का विचार पूर्व मे किया जा चुका है तथा आयुकर्म अध्रुव-बंधि होने से उसके अजघन्य अनुभागबंध आदि चारो विकल्प सादि-अध्रुव होना प्रसिद्ध ही है।

सरलता से समझने के लिए इस सादि-अनादि प्ररूपणा का सारांश दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

वेदनीय और नामकर्म

वधप्रकार	वधविकल्प			
	मादि	अनादि	ध्रुव	अध्रुव
जघन्य	,,	×	×	,,
अजघन्य	,	×	×	,
उत्कृष्ट	,,	×	×	,,
अनुत्कृष्ट	,,	अनादि	ध्रुव	,,

घातिचतुष्क

वधप्रकार	वधविकल्प			
	सादि	अनादि	ध्रुव	अध्रुव
जघन्य	,,	×	×	,,
अजघन्य	,,	अनादि	ध्रुव	,,
उत्कृष्ट	,,	×	×	,,
अनुत्कृष्ट	,,	×	×	,,

गोत्रकर्म

वधप्रकार	वधविकल्प			
	सादि	अनादि	ध्रुव	अध्रुव
जघन्य	,,	×	×	,,
अजघन्य	,,	अनादि	ध्रुव	,,
उत्कृष्ट	,,	×	×	,,
अनुत्कृष्ट	,,	अनादि	ध्रुव	,,

आयुकर्म

वधप्रकार	वधविकल्प			
	सादि	अनादि	ध्रुव	अध्रुव
जघन्य	,,	×	×	,,
अजघन्य	,,	×	×	,,
उत्कृष्ट	,,	×	×	,,
अनुत्कृष्ट	,,	×	×	,,

इस प्रकार मूल प्रकृतियो-सम्बन्धी सादि-अनादि प्ररूपणा जानना चाहिए।[1] अब उत्तर प्रकृतियो की सादि-अनादि प्ररूपणा करते है।

उत्तर प्रकृतियो की सादि-अनादि प्ररूपणा

सुभधुवियाणणुक्कोसो चउहा अजहन्न असुभधुवियाण।
साई अधुवासेसा चत्तारिवि अधुवबधीण ॥६६॥

शब्दार्थ—**सुभधुवियाण**—शुभ ध्रुवबधिनी प्रकृतियो का, **अणुक्कोसो**—अनुत्कृष्ट, **चउहा**—चार प्रकार का, **अजहन्न**—अजघन्य, **असुभधुवियाण**—अशुभ ध्रुवबधिनी प्रकृतियो का, **साई**—सादि, **अधुवा**—अध्रुव, **सेसा**—शेष, **चत्तारि**—चारो प्रकार, **वि**—भी, **अधुवबधीण**—अध्रुवबधिनी प्रकृतियो के।

गाथार्थ—शुभ ध्रुवबधिनी प्रकृतियो का अनुत्कृष्ट और अशुभ ध्रुवबधिनी प्रकृतियो का अजघन्य अनुभागबध चार प्रकार का है। शेष बध सादि और अध्रुव है तथा अध्रुवबधिनी प्रकृतियो के चारो प्रकार भी सादि और अध्रुव हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे बधप्रकृतियो के शुभ और अशुभ ऐसे दो विभाग करके उनकी सादि-अनादि प्ररूपणा की है। उनमे से पहले शुभ ध्रुवबधिनी प्रकृतियो का विचार करते है—

'सुभधुवियाण' अर्थात् शुभ ध्रुवबधिनी—तैजस, कार्मण, प्रशस्त वर्ण, गध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु और निर्माण इन आठ प्रकृतियो का अनुत्कृष्ट अनुभागबध चउहा—सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव, इस तरह चार प्रकार का है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उक्त आठो प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभागबध क्षपक के अपूर्वकरण मे तीस प्रकृतियो का जिस समय बधविच्छेद होता है, उस समय एक

---

१ इसी प्रकार से दिगम्बर कर्मग्र थो मे मूल कर्मप्रकृतियो की सादि-अनादि प्ररूपणा की गई है। देखिये पचसग्रह, शतक अधिकार गाथा ४४२-४४३।

समय मात्र ही होता है। एक समय मात्र ही होने से वह सादि और अध्रुव है। उसके सिवाय शेप समस्त अनुभागवध अनुत्कृप्ट है। वह उपशमश्रेणि मे वधविच्छेद होने के बाद नही होता है किन्तु वहाँ से गिरने पर होता है, इसलिये सादि है। उस स्थान को प्राप्त नही करने वाले की अपेक्षा अनादि और ध्रुव, अध्रुव क्रमश अभव्य और भव्य की अपेक्षा जानना चाहिए।

'अजहन्न असुभधुवियाण' अर्थात् अशुभ ध्रुववधिनी ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणनवक, मिथ्यात्व, सोलह कपाय, भय, जुगुप्सा, उपघात, अशुभ वर्ण, गध, रस, स्पर्श[1] और अतरायपचक इन तेतालीस प्रकृतियो का अजघन्य अनुभागवध सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार जानना चाहिये—

ज्ञानावरणपचक, अतरायपचक और दर्शनावरणचतुष्क इन चौदह प्रकृतियो का जघन्य अनुभागवध क्षपक को सूक्ष्मसपरायगुणस्थान के चरम समय मे, सज्वलनकपायचतुष्क का अनिवृत्तिबादरगुणस्थान मे वर्तमान क्षपक के उस-उस प्रकृति के वधविच्छेद के समय मे तथा निद्रा, प्रचला, उपघात, भय, जुगुप्सा और अप्रशस्त वर्णचतुष्क इन नौ प्रकृतियो का क्षपकश्रेणि के अपूर्वकरणगुणस्थान मे उन-उन प्रकृतियो के बधविच्छेद के समय होता है।

प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क का जघन्य अनुभागवध सयम को प्राप्त करने के अभिमुख देशविरति को स्वगुणस्थान के चरम समय मे रहते हुए, अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क का क्षायिक सम्यक्त्व और

---

१ वर्णचतुष्क का शुभ और अशुभ दोनो प्रकार की ध्रुववधिनी प्रकृतियो मे ग्रहण करने से शुभ ध्रुववधिनी आठ और अशुभ ध्रुवबधिनी तेतालीस प्रकृतियो की सख्या बतलाई है। वैसे सामान्य से ४७ ध्रुववधिनी प्रकृतिया है।

सयम इन दोनो को एक साथ एक समय मे ही प्राप्त करने वाले अविरतसम्यग्दृष्टि जीव को होता है। क्योंकि उनके बाधने वालो मे वे ही अति विशुद्ध अध्यवसाय वाले है।

स्त्यानर्द्धित्रिक, मिथ्यात्व और अनन्तानुबधिकषायचतुष्क इन आठ प्रकृतियो का सम्यक्त्व और सयम इन दोनो को युगपत् एक ही समय मे प्राप्त करने के इच्छुक मिथ्यादृष्टि को चरम समय मे जघन्य अनुभाग-बध होता है। क्योकि उन-उन प्रकृतियो के बधको मे वे ही अतिनिर्मल परिणाम वाले है, इसलिये वे ही जघन्य अनुभागबध के स्वामी है। वह जघन्य अनुभागबध मात्र एक समय होने से सादि और अध्रुव है। उसके सिवाय शेष समस्त अनुभागबध अजघन्य है।

ज्ञानावरणपचक, अतरायपचक और दर्शनावरणचतुष्क इन चौदह प्रकृतियो का अजघन्य अनुभागबध उपशातमोहगुणस्थान मे नही होता है। इसी प्रकार सज्वलनचतुष्क का उपशमश्रेणि के सूक्ष्म-सपरायगुणस्थान मे, निद्रा, प्रचला, उपघात, अप्रशस्त वर्णचतुष्क, भय और जुगुप्सा का उपशमश्रेणि के अनिवृत्तिबादरसपरायगुणस्थान मे, प्रत्याख्यानावरणचतुष्क का प्रमत्तसयत के, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क का देशविरतादि गुणस्थान मे और स्त्यानर्द्धित्रिकादि का मिश्रादि गुणस्थान मे बधविच्छेद होने के कारण नही होता है, किन्तु वहाँ से गिरने पर होता है। इसलिये सादि है, उस स्थान को प्राप्त नही करने वालो की अपेक्षा अनादि तथा ध्रुव, अध्रुव अभव्य और भव्य की अपेक्षा जानना चाहिए।

इस प्रकार से शुभ और अशुभ ध्रुवबधिनी प्रकृतियो के क्रमश अनुत्कृष्ट और अजघन्य विकल्पो से शेष रहे विकल्प सादि और अध्रुव है। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

तैजस आदि शुभ आठ ध्रुवबधिनी प्रकृतियो के उत्कृष्ट अनुभाग-बध के सादि अध्रुव विकल्पो का विचार पूर्व मे अनुत्कृष्ट विकल्प के प्रसग मे किया जा चुका है और जघन्य, अजघन्य सज्ञी मिथ्यादृष्टि को क्रमपूर्वक होते है। जो इस प्रकार है कि उत्कृष्ट सक्लेश मे रहते जघन्य

और विशुद्ध परिणामो मे रहते अजघन्य अनुभागबध होता है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि के क्रमपूर्वक होने से जघन्य, अजघन्य प्रकार सादि और अध्रुव है।

तेतालीस अशुभ ध्रुवबाधिनी प्रकृतियो के जघन्य अनुभागबध के विकल्पो का ऊपर विचार किया जा चुका है और उत्कृष्ट अनुभागबध पर्याप्त सर्व सक्लिष्ट सज्ञी मिथ्यादृष्टि के एक अथवा दो समय पर्यन्त होता है, उसके बाद मद परिणाम होने पर अनुत्कृष्ट बध होता है। इसलिए ये दोनो भी सादि, अध्रुव है।

अध्रुवबाधिनी (७३) प्रकृतियो के जघन्यादि चारो विकल्प उनके अध्रुवबाधिनी होने से ही सादि और अध्रुव जानना चाहिए।[1]

उक्त सादि-अनादि प्ररूपणा का सरलता से बोध कराने वाला प्रारूप इस प्रकार है—

शुभ ध्रुवबधिनी तैजस आदि आठ प्रकृति

बधप्रकार	बधविकल्प				
	सादि	अनादि	ध्रुव	अध्रुव	
जघन्य	,,	×	×	,,	२
अजघन्य	,,	×	×	,	२
उत्कृष्ट	,,	×	×	,,	२
अनुत्कृष्ट	,,	अनादि	ध्रुव	,,	४

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य मे भी इसी प्रकार से बधयोग्य १२० उत्तर प्रकृतियो की सादि-अनादि प्ररूपणा का निर्देश किया है। देखिये पचसग्रह शतक अधिकार गाथा ४४४-४४८ ।

अशुभ ध्रुवबंधिनी ज्ञानावरणपंचक आदि तेतालीस प्रकृति

बंधप्रकार	बंधविकल्प				
	सादि	अनादि	ध्रुव	अध्रुव	
जघन्य	,,	×	×	,,	२
अजघन्य	,,	अनादि	ध्रुव	,,	४
उत्कृष्ट	,,	×	×	,,	२
अनुत्कृष्ट	,,	×	×	,,	२

अध्रुवबंधिनी तिहत्तर प्रकृति

बंधप्रकार	बंधविकल्प				
	सादि	अनादि	ध्रुव	अध्रुव	
जघन्य	,,	×	×	,,	२
अजघन्य	,,	×	×	,,	२
उत्कृष्ट	,,	×	×	,,	२
अनुत्कृष्ट	,,	×	×	,,	२

इस प्रकार से अनुभागबंध सम्बन्धी सादि-अनादि प्ररूपणा का आशय स्पष्ट करने के पश्चात् अब उस प्ररूपणा को विशेष रूप से स्पष्ट करने के लिये स्वामित्व प्ररूपणा करते हैं।

स्वामित्व प्ररूपणा

असुभधुवाण जहण्णं बधग चरमा कुणति सुविसुद्धा ।
समयं परिवडमाणा अजहण्णं साइया दोवि ॥६७॥

शब्दार्थ—असुभधुवाण—अशुभ ध्रुवबधिनी प्रकृतियो का, **जहण्ण**—जघन्य अनुभागबध, **बधग**—बधक, **चरमा**—चरमसमय मे, **कुणति**—करता है, **सुविसुद्धा**—सुविशुद्ध, **समय**—समय, **परिवडमाणा**—गिरने पर, **अजहण्ण**—अजघन्य, **साइया**—सादि, **दोवि**—दोनो ही ।

गाथार्थ—अशुभ ध्रुवबधिनी प्रकृतियो का जघन्य अनुभागबध सुविशुद्ध परिणाम वाला बधक बध के चरम समय मे रहते एक समय मात्र करता है और वहाँ से गिरने पर अजघन्य अनुभाग बध करता है । जिससे वे दोनो ही सादि है ।

विशेषार्थ—गाथा मे अशुभ ध्रुवबधिनी प्रकृतियो के स्वामित्व का निर्देश किया है—

पूर्व मे कही गई अशुभ ध्रुवबधिनी तेतालीस प्रकृतियो का अत्यत विशुद्ध परिणाम वाला बध के चरम समय मे वर्तमान यानी जिस-जिस गुणस्थान मे जिस-जिस समय उनका बधविच्छेद होता है, उस समय मे वर्तमान क्षपक एक समय मात्र जघन्य अनुभागबध करता है और उपशमश्रेणि मे उपशमक उस उस प्रकृति का बधविच्छेद करके आगे उपशातमोहगुणस्थान मे जाकर वहाँ से गिरता है, तब अजघन्य अनुभागबध करता है । इसलिये जघन्य और अजघन्य ये दोनो सादि हैं तथा अजघन्य अनुभागबध समस्त ससारी जीवो को होता है, इस लिये जो बधविच्छेदस्थान को प्राप्त नही करते है, उनकी अपेक्षा अनादि, अभव्य को ध्रुव और भव्य को अध्रुव जानना चाहिये ।

इस प्रकार से अशुभ ध्रुवबधिनी प्रकृतियो के जघन्य और अजघन्य अनुभागबध के स्वामियो को जानना चाहिये । अब शुभ प्रकृतियो के उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागबध के स्वामियो का निर्देश करते हैं ।

सयलसुभाणुक्कोसं एवमणुक्कोसग च नायव्व ।
वन्नाई सुभ असुभा तेणं तेयाल धुव असुभा ॥६८॥

शब्दार्थ—सयलसुभाणुक्कोस—समस्त शुभ प्रकृतियो के उत्कृष्ट, एव—इसी प्रकार, अणुक्कोसग—अनुत्कृष्ट, च—और, नायव्व—जानना चाहिये, वन्नाई—वर्णादि, सुभ असुभा—शुभ और अशुभ, तेण—इस कारण, तेयाल—तेतालीस, धुव—ध्रुवबंधिनी, असुभा—अशुभ ।

गाथार्थ—समस्त शुभ प्रकृतियो के उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागबध के स्वामी भी इसी प्रकार जानना चाहिये । वर्णादि-चतुष्क शुभ और अशुभ दोनो प्रकार के होने से ध्रुवबंधिनी अशुभ प्रकृतिया तेतालीस होती है ।

विशेषार्थ—गाथा मे ध्रुवबधिनी शुभ प्रकृतियो के उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट बध के प्रकारो का स्वामित्व एव अशुभ ध्रुवबधिनी प्रकृतियो के तेतालीस होने के कारण को स्पष्ट किया है। पहले ध्रुवबधिनी शुभ प्रकृतियो के उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागबधप्रकारो के स्वामित्व का स्पष्टीकरण करते है—

सातावेदनीय, तिर्यचायु, मनुष्यायु, देवायु, मनुष्यद्विक, देवद्विक, पचेन्द्रियजाति, शरीरपंचक, समचतुरस्रसस्थान, वज्रऋषभनाराचसहनन, अगोपागत्रिक, प्रशस्त वर्ण, गध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, त्रसदशक, निर्माण, तीर्थकर-नाम और उच्चगोत्र रूप समस्त बयालीस शुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागबध भी पूर्व मे जिस प्रकार से कहा गया है, उसी प्रकार से जानना चाहिये। अर्थात् उन प्रकृतियो के बधको मे अत्यन्त विशुद्ध परिणाम वाले उत्कृष्ट अनुभागबध और मद परिणाम वाले अनुत्कृष्ट अनुभागबध करते है ।

वर्णादिचतुष्क का शुभ और अशुभ समुदाय मे ग्रहण करने के कारण अशुभ ध्रुवबधिनी प्रकृतिया तेतालीस होती है और शुभ ध्रुव-

बधिनी आठ है। किन्तु वर्णादि को सामान्य के गिनने पर ध्रुवबंधिनी प्रकृतिया सैतालीस होती है।

इस प्रकार सामान्य से प्रकृतियो के उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागबध के स्वामियो को जानना चाहिये। अब अनन्तरोक्त शुभ प्रकृतियो से कितनी ही प्रकृतियो का विशेष निर्णय करने के लिये कतिपय शुभ प्रकृतियो के उत्कृष्ट अनुभागबध के स्वामियो को बतलाते है।

उत्कृष्ट अनुभागबध स्वामित्व

सयलासुभायवाण उज्जोयतिरिक्खमणुयआऊण ।
सन्नी करेइ मिच्छो समय उक्कोस अणुभागं ॥६८॥

शब्दार्थ—सयलासुभ—समस्त अशुभ प्रकृतियो, **आयवाण**—आतप का, **उज्जोयतिरिक्खमणुयआऊण**—उद्योत, तिर्यंच और मनुष्य आयु का, **सन्नी**—सज्ञी जीव, **करेइ**—करता है, **मिच्छो**—मिथ्यादृष्टि, **समय**—समयमात्र, **उक्कोस**—उत्कृष्ट, **अणुभाग**—अनुभागबध को ।

गाथार्थ—समस्त अशुभ प्रकृतियो, आतप, उद्योत, तिर्यंचायु और मनुष्यायु रूप प्रकृतियो के उत्कृष्ट अनुभागबध को सज्ञी मिथ्यादृष्टि जीव एक समय मात्र करता है।

विशेषार्थ—गाथा मे समस्त अशुभ प्रकृतियो एव कतिपय शुभ प्रकृतियो के उत्कृष्ट अनुभागबध के स्वामियो का निर्देश किया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

'सयलासुभ' अर्थात् ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणनवक, असातावेदनीय, मिथ्यात्व, सोलह कषाय नव नोकषाय, नरकत्रिक, तिर्यंचद्विक, आदि को छोडकर शेष पाच सहनन और पाच सस्थान, एकेन्द्रियादि जातिचतुष्क, स्थावरदशक, अप्रशस्त वर्णचतुष्क, उपघात, अप्रशस्तविहायोगति, नीचगोत्र और अन्तरायपचक रूप सभी बियासी (८२)

अप्रशस्त-अशुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभागबध अति सक्लिष्ट परिणामी सज्ञी मिथ्यादृष्टि एक समय मात्र करता है—'सन्नी करेइ मिच्छो समय उक्कोस अणुभाग'। इस सामान्य कथन का विशद अर्थ इस प्रकार है—

नरकत्रिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण इन नौ प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभागबध अति सक्लिष्ट परिणाम वाला मिथ्यादृष्टि सज्ञी तिर्यंच अथवा मनुष्य करता है।[1] क्योकि देव और नारक भवस्वभाव से ही इन प्रकृतियो का बध नही करते है।

एकेन्द्रियजाति और स्थावर इन दो प्रकृतियो का भवनवासी से लेकर ईशान स्वर्ग तक के वैमानिक देव ही उत्कृष्ट अनुभागबध करते है। क्योकि उनके बधको मे यही अति सक्लिष्ट परिणाम वाले है। यदि वैसे परिणाम मनुष्यो और तिर्यंचो के हो तो वे नरकगति-प्रायोग्य प्रकृतियो को बाधते है और जब मन्द सक्लेश हो तब उनके अशुभ होने से उत्कृष्ट अनुभागबध सम्भव नही है तथा नारक और ईशान स्वर्ग से ऊपर के वैमानिक देव भवस्वभाव से ही इन प्रकृतियो को बाधते ही नही हैं। इसलिए इन दो प्रकृतियो के उत्कृष्ट अनुभाग-बध के स्वामी उक्त अतिसक्लिष्ट परिणामी देव है।

तिर्यंचद्विक और सेवार्तसहनन, इन तीन प्रकृतियो के उत्कृष्ट अनुभागबधक अतिसक्लिष्ट परिणामी मिथ्यादृष्टि देव अथवा नारक है। अतिसक्लिष्ट परिणामी मनुष्य-तिर्यंचो के नरकगतिप्रायोग्य प्रकृतियो का बध होने से वे उक्त प्रकृतियो का बाध ही नही कर सकते है। तथा—

पूर्वोक्त से शेष रही ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणनवक, असातावेद-

---

१ उत्कृष्ट अनुभागबध-स्वामित्व के वर्णन मे अतिसक्लिष्ट से तत्तत् प्रकृति-बधप्रायोग्य सक्लिष्ट परिणाम ग्रहण करना चाहिये।

नीय, मिथ्यात्व, सोलह कपाय, नपु सकवेद, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, हुडकसस्थान, अप्रशस्त वर्णचतुष्क, उपघात, अप्रशस्तविहायोगति, दुर्भग, दु स्वर, अशुभ, अस्थिर, अनादेय, अयश कीर्ति, नीचगोत्र और अन्तरायपचक इन छप्पन प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभागबध अति सक्लिष्ट परिणामो चारो गति के मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं तथा हास्य, रति, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, आदि और अन्त को छोडकर मध्यम सस्थानचतुष्क और मध्यम सहननचतुष्क इन बारह प्रकृतियो का तत्प्रायोग्य सक्लिष्ट परिणामी जीव उत्कृष्ट अनुभागबध करते है।

इस प्रकार मे समस्त अशुभ प्रकृतियो के उत्कृष्ट अनुभागबध के स्वामियो का निर्देश करने के बाद गाथोक्त आतप आदि शुभ प्रकृतियो के उत्कृष्ट अनुभागबध के स्वामियो को बतलाते हैं—

आतप, उद्योत, तिर्यंचायु और मनुष्यायु इन चार शुभ प्रकृतियो का 'सयलसुभाणुक्कोस' अर्थात् समस्त शुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभागबध विशुद्ध परिणामी जीव करते है, के नियमानुसार सुविशुद्ध सज्ञी मिथ्यादृष्टि जीव उत्कृष्ट अनुभागबध करते है।

इन चार प्रकृतियो के उत्कृष्ट अनुभागबध को मिथ्यादृष्टि जीव के करने परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव के नही करने का कारण यह है कि तिर्यंचायु, आतप और उद्योत इन तीन प्रकृतियो को तो सम्यग्दृष्टि जीव बाधते ही नही है। जिससे सम्यग्दृष्टि के लिए उनके अनुभागबध का विचार ही नही किया जा सकता है और मनुष्यायु का उत्कृष्ट अनुभागबध उसका तीन पल्योपम प्रमाण आयु बाधने वाले के होता है, किन्तु उससे न्यून बाधने वाले अन्य किसी को होता नही है। सम्यग्दृष्टि तिर्यंच अथवा मनुष्य तो मनुष्यायु का बध नही करते है। क्योकि वे तो मात्र देवायु का ही बध करते हैं। यद्यपि सम्यग्दृष्टि देव अथवा नारक मनुष्यायु को बाधते है किन्तु कर्मभूमियोग्य सख्यात वर्ष प्रमाण ही आयु बाधते हैं। अकर्मभूमियोग्य असख्यात वर्ष की नही बाधते है। क्योकि भवस्वभाव से देव और नारक वहाँ उत्पन्न नही होते हैं। इसलिये मनुष्यायु आदि चार प्रकृतियो के

उत्कृष्ट अनुभागबध के स्वामी मिथ्यादृष्टि जीव ही है, सम्यग्दृष्टि जीव नही।

इस विषय मे और भी विशेष रूप से विचार किया जाये तो आतप का तत्प्रायोग्य विशुद्ध परिणामी मिथ्यादृष्टि देव उत्कृष्ट अनुभागबध करते है, अन्य कोई जीव नही। इसका कारण यह है कि विशुद्ध परिणाम वाले देव जिन परिणामो मे आतप के उत्कृष्ट अनुभाग बध को करते हैं, उन परिणामो मे वर्तमान मनुष्य और तिर्यंच को आतप का बध असम्भव है। क्योकि वैसे परिणामो के होने पर एकेन्द्रिय योग्य कर्मबध होता नही है और नारक तथास्वभाव से इसका बध करते ही नहीं है।

उद्योतनामकर्म का सप्तम पृथ्वी मे वर्तमान औपशमिक सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाला नारक यथाप्रवृत्तादि तीन करण पूर्वक अन्तरकरण करके मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति अनुभव करते हुए उसके चरम समय मे उकृत्ष्ट अनुभागबध करता है। क्योकि उद्योत के बधको मे वही अत्यन्त शुद्ध परिणाम वाला है। सातवी पृथ्वी के नारक भवस्वभाव से तिर्यंचगतिप्रायोग्य प्रकृतियो का बध करते है और तिर्यंचगतिप्रायोग्य कर्मप्रकृतियो का बध करने पर उनके साथ उद्योतनामकर्म का बध हो सकता है। क्योकि ऐसे विशुद्ध परिणाम वाले आदि के छह नरक के नारक और देव मनुष्यप्रायोग्य एव मनुष्य, तिर्यंच देवप्रायोग्य प्रकृतिबध करते है। अतएव अनिवृत्तिकरण के चरम समय मे वर्तमान सप्तम पृथ्वी का नारक उद्योतनामकर्म के उत्कृष्ट अनुभाग का बधाधिकारी है।

तिर्यंचायु और मनुष्यायु का तत्प्रायोग्य विशुद्ध परिणामवाला मिथ्यादृष्टि तीन पल्योपम प्रमाण भोगभूमिज की आयु बाधने पर उत्कृष्ट अनुभागबध करता है।

अगुरुलघु, तैजस, कार्मण, निर्माण, प्रशस्त वर्ण, गध, रस, स्पर्श, देवद्विक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, पचेन्द्रियजाति, समचतुरस्रसस्थान, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, तीर्थंकरनाम और यशः-

कीर्ति के सिवाय त्रसादिनवक, इस प्रकार कुल मिलाकर उनतीस प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभागबध मोहनीयकर्म को सर्वथा क्षय करने की योग्यता वाला अपूर्वकरणगुणस्थानवर्ती जीव जहाँ उनका बध-विच्छेद होता है, वहाँ करता है।

मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक और प्रथम सहनन इन पाच प्रकृतियो के उत्कृष्ट अनुभागबध को अविरतसम्यग्दृष्टि देव करते हैं तथा प्रमत्तगुणस्थान मे देवायु के बध को प्रारम्भ करके अप्रमत्तगुणस्थान मे गया हुआ जीव तीव्र विशुद्धि के योग मे उसका उत्कृष्ट अनुभाग बध करता है और सातावेदनीय, उच्चगोत्र तथा यश कीर्ति इन तीन प्रकृतियो का क्षपक सूक्ष्मसपरायगुणस्थानवर्ती जीव अत्यन्त तीव्र विशुद्धि के योग मे उत्कृष्ट अनुभागबध करता है।[1]

---

१ तीर्थंकर आदि प्रकृतियो का आठवें और यश कीर्ति आदि का दसवें गुणस्थान मे उत्कृष्ट रसबध होने से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आठवें से नौवें एव दसवें से ग्यारहवें गुणस्थान मे अत्यन्त विशुद्ध परिणामो के होने पर भी वहाँ इन प्रकृतियो का उत्कृष्ट रसबध क्यो नही होता है ?

इसका उत्तर यह है कि अल्पातिअल्प सीमा से लेकर अधिक-से-अधिक अमुक सीमा तक के विशुद्ध और सक्लिष्ट परिणामो से अमुक पुण्य एव अमुक पाप प्रकृति बधती है। इस प्रकार बध मे अपनी अपनी कम-से-कम और अधिक-से-अधिक विशुद्धि या सक्लेश की मर्यादा है। उसकी अपेक्षा वह घट या बढ जाये तो उस प्रकृति का बध नही होता है। इसी कारण यह कहा गया है कि अमुक प्रकृति अमुक गुणस्थान तक बधती है। यदि इस प्रकार की मर्यादा न हो और उत्तरवर्ती गुणस्थानो मे भी बध होता रहे तो फिर बध का अत नही आयेगा, जिस से कोई जीव मुक्ति प्राप्त नही कर सकेगा। इसी कारण तीर्थंकर आदि प्रकृतियो का

इस प्रकार से विशेष रूप मे शुभ और अशुभ प्रकृतियो के उत्कृष्ट अनुभागबध के स्वामित्व को जानना चाहिये ।[1] अब शुभ-अशुभ प्रकृतियो के जघन्य अनुभागबध के स्वामियो का कथन करते है ।

जघन्य अनुभागबध स्वामित्व

आहार अप्पमत्तो कुणइ जहन्न पमत्तयाभिमुहो ।
नरतिरिय चोद्दसण्हं देवाजोगाण साऊण ॥७०॥

शब्दार्थ—आहार—आहारकद्विक, अप्पमत्तो—अप्रमत्त, कुणइ—करता है, जहन्न—जघन्य, पमत्तयाभिमुहो—प्रमत्तपने के अभिमुख, नरतिरिय—मनुष्य और तिर्यंच, चोद्दसण्ह—चौदह प्रकृतियो का, देवाजोगाण—देवो के अयोग्य, साऊण—अपनी आयु का ।

गाथार्थ—आहारकद्विक का जघन्य अनुभागबध प्रमत्तपने के अभिमुख हुआ अप्रमत्त करता है और देवो के अयोग्य चौदह प्रकृतियो तथा अपनी आयु का मनुष्य और तिर्यंच जघन्य अनुभागबध करते है ।

विशेषार्थ—इस गाथा से जघन्य अनुभागबध के स्वामित्व का विचार प्रारम्भ किया है—

आठवें और यश कीर्ति आदि का दसवें गुणस्थान मे उत्कृष्ट रसबध बताया है । क्योकि उनके बधयोग्य उत्कृष्ट विशुद्ध परिणाम वही है, आगे के गुणस्थानो मे उनकी बधयोग्य सीमा से अधिक निर्मल परिणाम हैं । जिससे वहाँ उनका बध नही होता है । इसी प्रकार प्रत्येक प्रकृति के लिये समझना चाहिए ।

१ दिगम्बर पचसग्रह, शतक अधिकार गाथा ४५१ से ४६६ तक उत्कृष्ट अनुभागबध के स्वामियो का वर्णन किया है । जो यहाँ से प्राय मिलता है ।

'आहार अप्पमत्तो कुणइ' अर्थात् आहारकद्विक—आहारकशरीर, आहारक-अगोपाग का प्रमत्तसयतगुणस्थान के अभिमुख हुआ अर्थात् अनन्तर समय मे प्रमत्तभाव को प्राप्त होने के अभिमुख जघन्य अनुभागबध करता है। इसका कारण यह है कि इनके बाधने वालो मे वही सक्लिष्ट परिणामी है और पतनोन्मुखी जीव के क्लिष्ट परिणाम होते हैं तथा क्लिष्ट परिणाम होने पर ही पुण्य—शुभ प्रकृतियो के जघन्य अनुभाग का बध होता है। तथा

'देवाजोगाण' अर्थात् देवो के बध के अयोग्य ऐसी नरकत्रिक, देवत्रिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण और वैक्रियद्विक रूप चौदह प्रकृतियो के तथा तिर्यंचायु और मनुष्यायु के जघन्य अनुभागबध के स्वामी तत्प्रायोग्य विशुद्ध और सक्लिष्ट परिणाम वाले मनुष्य और तिर्यंच है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

नरकत्रिक का दस हजार वर्ष प्रमाण नरकायु को बाधते समय तत्प्रायोग्य विशुद्ध[1] मनुष्य और तिर्यंच जघन्य अनुभागबध करते हैं। क्योकि अतिविशुद्ध परिणाम वाले के नरकप्रायोग्य बध सभव ही नही है तथा तीन आयु की अपनी-अपनी जघन्य स्थिति को बाधते हुए तत्प्रायोग्य सक्लिष्ट परिणामी जघन्य अनुभाग का बध करता है। अतिसक्लिष्ट परिणाम होने पर उसका बध असम्भव है।

वैक्रियद्विक का नरकगति योग्य बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति को बाधते हुए अति सक्लिष्ट परिणाम के योग मे तथा

---

१ यद्यपि नरकप्रायोग्य प्रकृतियो का बध करने पर क्लिष्ट परिणाम होते हैं। परन्तु दस हजार वर्ष से अधिक आयुबधक की अपेक्षा दस हजार वर्ष प्रमाण आयु बाधने वाला शुद्ध है। उससे अधिक शुद्ध परिणाम होने पर नरकप्रायोग्य बध ही नही होता है, इसलिये यहाँ 'तत्प्रायोग्य विशुद्ध' यह कहा है।

शुभ की सहचारी शुभ प्रकृतिया और अशुभ की सहचारी अशुभ प्रकृतिया होती है। इसलिये शुभ के साथ शुभ प्रकृतियो का और अशुभ के साथ अशुभ प्रकृतियो का योग करके औदारिकद्विक के साथ उद्योत का और तिर्यंचद्विक के साथ नीचगोत्र का संयोग करना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि 'व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्ति व्याख्यान—विस्तृत टीका द्वारा विशेष अर्थ का ज्ञान होता है' इस न्यायवचन के अनुसार औदारिकद्विक और उद्योतनाम इन तीन प्रकृतियो के जघन्य अनुभाग-बध के स्वामित्व का विचार करने के सदर्भ मे यद्यपि 'तमतमा' पद द्वारा सप्तम पृथ्वी का नारक जीव ही लिया है, लेकिन यहाँ यह अर्थ भी ग्रहण करना चाहिये कि देव अथवा नारक तिर्यंचगति की उत्कृष्ट सक्लेश से बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बाधते हुए जघन्य अनुभागबध करते हैं। क्योंकि उन प्रकृतियो के बधको मे वे ही सर्व सक्लिष्ट अध्यवसाय वाले है। किन्तु इस प्रकार के अति-सक्लिष्ट परिणामी तिर्यंच, मनुष्य को नरकगतियोग्य प्रकृतियो का बध सम्भव होने से उनको उपर्युक्त प्रकृतियो का बध होना असम्भव है। इसमे भी औदारिक-अगोपाण के बधक ईशानस्वर्ग से आगे के देव होते है। इसका कारण यह है कि अतिसक्लिष्ट परिणामो मे ईशान स्वर्ग तक के देवो के तो एकेन्द्रिय योग्य प्रकृतियो का बध सम्भव होने से उस समय उनको औदारिक-अगोपागनामकर्म का बध नही होता है। तथा—

तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी और नीचगोत्र का सप्तम नरक पृथ्वी मे वर्तमान औपशमिक सम्यक्त्व को उत्पन्न करता हुआ नारक यथा-प्रवृत्तादि तीन करण करने पूर्वक अन्तरकरण करके प्रथमस्थिति को विपाकोदय द्वारा अनुभव करते हुए प्रथम स्थिति के चरम समय मे मिथ्यादृष्टि होता हुआ जघन्य अनुभागबध करता है। इन प्रकृतियो

के बधको मे उसी के उत्कृष्ट विशुद्धि है ।[1] इस प्रकार इन छह प्रकृतियो का मिथ्यादृष्टि जघन्य अनुभागबंध का स्वामी है । तथा—

'मिच्छनरयाणभिमुहो' इत्यादि अर्थात् मिथ्यात्व और नरक के अभिमुख अविरत, वेदक सम्यग्दृष्टि जीव तीर्थंकरनाम के जघन्य अनुभागबाध का स्वामी है । चौथे गुणस्थान से पहले गुणस्थान मे जाते हुए चौथे गुणस्थान के चरम समय मे तीर्थंकरनाम का उत्कृष्ट स्थिति-बाध और जघन्य अनुभागबाध करता है । क्योकि इसके जघन्य अनु-भागबाध के योग्य वही सर्वसक्लिष्ट परिणाम वाला है । तथा—

सुभधुवतसाइचतुरो परघाय पणिदिसासचउगइया ।
उक्कडमिच्छा ते च्चिय थीअपुमाण विसुज्झंता ॥७२॥

शब्दार्थ—सुभधुव—शुभ ध्रुवबधिनी, तसाइचतुरो—त्रसादि चार, परघाय—पराघात, पणिदि—पचेन्द्रिय जाति, सास—उच्छ्वासनाम, चउगइया—चारो गति के जीव, उक्कडमिच्छा—उत्कृष्ट मिथ्यादृष्टि, ते—वे, च्चिय—ही, थीअपुमाण—स्त्रीवेद और नपु सकवेद का, विसुज्झता—विशुद्ध परिणाम वाले ।

गाथार्थ--शुभ ध्रुवबधिनी आठ, त्रसादि चार, उपघात, पचेन्द्रियजाति, उच्छ्वास इन पन्द्रह प्रकृतियो का जघन्य अनु-भागबध चारो गति के सक्लिष्ट परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव तथा

---

१ (क) तिरियगति तिरियाणुपुव्वि नियागोयाण अहेसत्तमपुढविनेरइओ सम्मत्ताभिमुहो करणाइ करेत्तु चरमसमयमिच्छदिट्ठीभवपच्चएण ताओ तिन्नि बधइ, जाव मिच्छत्तभावो ताव तस्स सव्वजहन्नोणुभागो हवइ, तव्वधगेसु अच्चन्तविसुद्धोत्ति काउ ।

—शतकचूर्णि

(ख) तिरियदुय णिच्च पि य तमतमा जाण तिण्णदे ।

—दि पचसग्रह, शतक अधि ४७५

कुछ विशुद्ध परिणामो मे वर्तमान जीव स्त्रीवेद और नपु सकवेद का जघन्य अनुभागबाध करते है।

विशेषार्थ—शुभ वर्णादि चतुष्क, अगुरुलघु, तैजस, कार्मण और निर्माण रूप शुभ ध्रुवबधिनी तथा त्रस, वादर, पर्याप्त और प्रत्येक रूप त्रसचतुष्क और पराघात, पचेन्द्रियजाति और उच्छ्वास कुल मिलाकर इन पन्द्रह प्रकृतियो का जघन्य अनुभागबध 'चउगइया' चारो गति मे वर्तमान सक्लिष्ट परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव करते है।[1] जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

नरकगति की उत्कृष्ट स्थिति बाधने वाले अतिक्लिष्ट परिणामी तिर्यंच और मनुष्य उपर्युक्त प्रकृतियो का जघन्य अनुभागबध करते हैं। क्योकि नरकगतिप्रायोग्य प्रकृतियो का बध करते समय भी ये प्रकृतिया बधती हैं तथा नरकगतिप्रायोग्य उत्कृष्ट स्थिति को बाधते हुए सर्वोत्कृष्ट सक्लेश भी है। इसीलिये इन सभी पुण्य प्रकृतियो का जघन्य अनुभागबध होता है। तथा—

ईशानस्वर्ग तक के देवो के सिवाय तीसरे से आठवें देवलोक तक के सक्लिष्ट परिणामी देव अथवा नारक तिर्यंचगति और पचेन्द्रियजाति की उत्कृष्ट स्थितियो को बाधते हुए इन प्रकृतियो का जघन्य अनुभागबध करते है। क्योकि ईशान तक के सर्वोत्कृष्ट सक्लेश मे वर्तमान देव तो पचेन्द्रियजाति और त्रसनाम को छोडकर शेष तेरह प्रकृतियो का जघन्य अनुभागबध करते है। सर्वसक्लिष्ट परिणाम होने पर एकेन्द्रियजाति और स्थावरनामकर्म का बधकरने वाले होने से उनके पचेन्द्रियजाति और त्रसनामकर्म का बध होना असम्भव है। तथा—

---

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य मे भी इन पन्द्रह प्रकृतियो के जघन्य अनुभागबधको के लिए इसी प्रकार बताया है। देखिये पचसग्रह, शतक अधिकार गाथा ४७८,४७९।

चारो गति के मिथ्यादृष्टि जीव कुछ विशुद्ध परिणाम मे रहते स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का जघन्य अनुभागबंध करते है—'थीअपुमाणं विसुज्झता'। किन्तु इतना विशेप जानना चाहिए कि मात्र कुछ अल्प विशुद्ध परिणाम वाले नपुंसकवेद का और उससे अधिक विशुद्ध परिणाम वाले स्त्रीवेद का जघन्य अनुभागबंध करते है और उससे भी अधिक विशुद्ध परिणाम वाले तो पुरुपवेद को बाधते हैं। इसीलिये उक्त दो वेदो के बंधको मे अल्प विशुद्धि वाले जीवो का ग्रहण किया है। वेद पापप्रकृति होने मे उसके जघन्य अनुभागबंध मे विशुद्ध परिणाम हेतु हैं। तथा—

थिरसुभजससायाणं सपडिवक्खाण मिच्छ सम्मो वा।
मज्झिमपरिणामो कुणइ थावरेगिंदिए मिच्छो ॥७३॥

शब्दार्थ—**थिरसुभजससायाण**—स्थिर, शुभ, यश कीर्ति और साातावेदनीय का, **सपडिवक्खाण**—अपनी प्रतिपक्षी प्रकृतियो का, **मिच्छो**—मिथ्यादृष्टि, **सम्मो**—सम्यग्दृष्टि, **वा**—अथवा, **मज्झिमपरिणामो**—मध्यमपरिणाम-परावर्तन परिणाम वाला, **कुणइ**—करता है, **थावरेगिदिए**—स्थावर, एकेन्द्रिय का, **मिच्छो**—मिथ्यादृष्टि।

गाथार्थ—अपनी प्रतिपक्षी प्रकृतियो के साथ स्थिर, शुभ, यश कीर्ति और सातावेदनीय का मध्यम परिणाम—परावर्तमान परिणाम वाला मिथ्यादृष्टि अथवा सम्यग्दृष्टि तथा स्थावर और एकेन्द्रिय का मिथ्यादृष्टि जघन्य अनुभागबंध करता है।

विशेषार्थ—अपनी प्रतिपक्षी अस्थिर, अशुभ, अयश कीर्ति और असातावेदनीय के साथ स्थिर, शुभ, यश कीर्ति और सातावेदनीय कुल आठ प्रकृतियो का जघन्य अनुभागबंध मध्यम परिणाम-परावर्तमान परिणाम मे वर्तमान सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करते है—मिच्छ-सम्मो वा।[1]

---

१ सम्माइट्ठी य मिच्छो वा। दि पचसग्रह, शतक अधिकार गा ४८१

इसका कारण यह है कि जिस स्थितिस्थान से जिस स्थितिस्थान पर्यन्त उक्त प्रकृतिया परावर्तन रूप से बधती है, उतने स्थानो मे वर्त-मान जीव उन प्रकृतियो का जघन्य अनुभागबध करते है। क्योकि सर्वविशुद्ध परिणाम होने पर तो केवल सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतियो का और सक्लिष्ट परिणाम होने पर केवल असातावेदनीय आदि अशुभ प्रकृतियो के उत्कृष्ट अनुभाग का बध होता है। इसी कारण मध्यम परिणाम युक्त सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि सप्रतिपक्षी उक्त प्रकृतियो अर्थात् सातावेदनीय, असातावेदनीय आदि आठ प्रकृतियो का जघन्य अनुभागबध करते है। तथा—

स्थावर और एकेन्द्रियजाति का भी जघन्य अनुभागबंध मध्यम परिणाम वाले जीव करते है। लेकिन इतनी विशेषता है कि नरक के बिना शेष तीन गति के मिथ्यादृष्टि मध्यम परिणामो मे वर्तमान जीव इनके जघन्य अनुभागबंध के स्वामी है।[1] क्योकि सर्वविशुद्ध परिणाम मे वर्तमान जीव पचेन्द्रियजाति और त्रसनामकर्म का और सर्व संक्लिष्ट परिणाम होने पर एकेन्द्रियजाति और स्थावरनामकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बाधते है। इसीलिए मध्यम परिणाम युक्त जीव को इन दोनो प्रकृतियो के जघन्य अनुभागबध का स्वामी कहा है।

आतप प्रकृति एकेन्द्रियप्रायोग्य है। यद्यपि गाथा मे उसका उल्लेख नही किया है, तथापि वर्णनक्रम से उसका भी ग्रहण कर लेना चाहिए कि आतपनामकर्म के जघन्य अनुभागबध के स्वामी सर्व-सक्लिष्ट परिणाम वाले ईशानस्वर्ग तक के मिथ्यादृष्टि देव स्वामी है।[2] क्योकि उसके बधको मे वे ही सर्वसंक्लिष्ट परिणाम वाले होते है। तथा—

---

१ दि पचसग्रह, शतक अधिकार गा ४७६

२ दि पचसग्रह, शतक अधिकार गा ४७७

सुसुराइतिन्नि दुगुणा सठिइसंघयणमणुयविहजुयले ।
उच्चे चउगइमिच्छा अरईसोगाण उ पमत्तो ॥७४॥

शब्दार्थ—सुसुराइतिन्नि—सुस्वरादि तीन, दुगुणा—द्विगुणित, सठिइसघयण—सस्थानषट्क और सहननषट्क, मणुयविहजुयले—मनुष्यद्विक और विहायोगतिद्विक, उच्चे—उच्चगोत्र, चउगइ—चारो गति के, मिच्छा—मिथ्यादृष्टि, अरईसोगाण—अरति और शोक के, उ—और, पमत्तो—प्रमत्त ।

गाथार्थ—द्विगुणित सुस्वरादि तीन तथा सस्थानषट्क और सहननषट्क, मनुष्यद्विक, विहायोगतिद्विक और उच्चगोत्र के जघन्य अनुभागबध के स्वामी चारो गति के मिथ्यादृष्टि जीव तथा अरति और शोक के जघन्य अनुभागबध के स्वामी प्रमत्त जीव है ।

विशेषार्थ—द्विगुणित सुस्वरादि तीन अर्थात् सुस्वरत्रिक—सुस्वर, सुभग और आदेय तथा इनके प्रतिपक्षी दुस्वर, दुर्भग और अनादेय इस प्रकार छह प्रकृतियो तथा समचतुरस्र आदि छह सस्थानो, वज्रऋषभनाराचादि छह सहननो एव युगलशब्द का मनुष्य और विहायोगति दोनो के साथ सम्बन्ध होने से मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी रूप मनुष्ययुगल तथा शुभ और अशुभ विहायोगति रूप विहायोगतियुगल तथा उच्चगोत्र रूप तेईस प्रकृतियो के जघन्य अनुभाग का वध मध्यम परिणाम वाले चारो गति के मिथ्यादृष्टि जीव करते है। क्योकि ये समस्त प्रकृतिया जब अपनी-अपनी प्रतिपक्षी प्रकृतियो के साथ परावर्तित-परावर्तित होकर बधती है, उस समय उनके जघन्य अनुभाग का वध होता है। इसका कारण यह है कि जब परावर्तन भाव होता है तब परिणामो मे तीव्रता नही होती है, जिसमे जघन्य अनुभाग का वध हो सकता ह । इसी कारण इनके जघन्य अनुभाग के वध मे परावर्तमान परिणामो को वधहेतु के रूप मे कहा है ।[1]

---

१ दि पचसग्रह शतक अधिकार गा ४८२

सम्यग्दृष्टि जीवो के तो इन प्रकृतियो का परावर्तन होने के द्वारा बध नही होता है। इसका कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि देव अथवा नारक मनुष्यद्विक और वज्रऋषभनाराचसहननामकर्म के बधक होते है तथा भवस्वभाव से वे देवद्विक का बध नही करते हैं और सम्यग्दृष्टि तिर्यंच आदि देवद्विक को बाधते हैं, मनुष्यद्विक और वज्र-ऋषभनाराचसहनन का बध नही करते है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि होने से वे उक्त प्रकृतियो की विरोधी अन्य प्रकृतियो को भी नही बाधते है तथा समचतुरस्रसस्थान, प्रशस्तविहायोगति, सुभग, सुस्वर, आदेय और उच्चगोत्र की प्रतिपक्षी प्रकृतिया सम्यग्दृष्टि जीव को बधती ही नही हैं। इसलिये उपर्युक्त तेईस प्रकृतियो के जघन्य अनुभागबध के स्वामी मिथ्यादृष्टि जीव है। तथा—

अरति और शोक का प्रमत्तसयत प्रमत्त से अप्रमत्तसयत गुण-स्थान मे जाते समय अतिविशुद्ध परिणामी होने से जघन्य अनुभाग-बध करते हैं।[1]

इस प्रकार से गाथा मे स्पष्टरूप से निर्दिष्ट प्रकृतियो के जघन्य अनुभागबध के स्वामियो को बतलाने के बाद गाथोक्त 'तु' शब्द द्वारा पूर्वोक्त से शेष रही प्रकृतियो के जघन्य अनुभागबधको का विचार करते है—

ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणचतुष्क और अन्तरायपचक, इन चौदह प्रकृतियो का सूक्ष्मसपरायगुणस्थान मे वर्तमान क्षपक बध-विच्छेद के समय एक समय मात्र जघन्य अनुभागबध करता है। क्यो कि वही इन प्रकृतियो के बधको मे अत्यन्त विशुद्ध परिणाम वाला है।

---

१ पमत्तसुद्धो दु अरइ सोयाण।

—दि पचस शतक अधिकार, ४७२

पुरुषवेद और सज्वलनचतुष्क का अनिवृत्तिबादर-सपरायगुण-स्थान मे वर्तमान क्षपक उनके बधको मे अत्यन्त विशुद्ध परिणाम वाला होने से उन-उन प्रकृतियो का बधविच्छेद के समय एक समय मात्र जघन्य अनुभागबध करता है।

अप्रशस्त वर्णचतुष्क, निद्रा, प्रचला, उपघात, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा रूप ग्यारह प्रकृतियो का क्षपणा के योग्य अपूर्वकरण मे वर्तमान जीव उन-उनके बधविच्छेद के समय एक समय मात्र जघन्य अनुभागबध करता है। क्योकि इनके जघन्य अनुभागबधको मे वही परम विशुद्धि वाला है।

स्त्यानर्द्धित्रिक, मिथ्यात्व और अनन्तानुबधिकषायचतुष्क इन आठ प्रकृतियो का सम्यक्त्व और सयम दोनो को युगपत् एक साथ प्राप्त करने वाला मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्वगुणस्थान के चरम समय मे जघन्य अनुभागबध करता है।

अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क का सयम को प्राप्त करने वाला अविरतसम्यग्दृष्टि, प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क का सर्वविरति को प्राप्त करने की ओर अग्रसर देशविरत जघन्य अनुभागबध करता है।

इस प्रकार से समस्त उत्तर प्रकृतियो के जघन्य अनुभागबध के स्वामियो को जानना चाहिये और इसके साथ ही उत्कृष्ट जघन्य अनुभागबध के स्वामित्व का विचार पूर्ण होता है।[1] सरलता से समझने के लिये जिसका प्रारूप इस प्रकार है—

---

1 दिगम्बर पचसग्रह शतक अधिकार गाथा ४६७-४८२ तक जघन्य अनुभागबध के स्वामियो का वर्णन किया है।

क्रम	प्रकृतिया	उत्कृष्ट अनुभागबध के स्वामी	जघन्य अनुभागबध के स्वामी
१	ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणचतुष्क, अतरायपचक	मिथ्यादृष्टि अति सक्लिष्ट पर्याप्त सज्ञी	सूक्ष्मसपरायगुणस्थान वाला क्षपक चरम समयवर्ती
२	निद्रा, प्रचला	,,	क्षपक, अपूर्वकरणवर्ती स्वबधविच्छेद के समय
३	स्त्यानर्द्धित्रिक, मिथ्यात्व अनन्तानुबधिचतुष्क	,,	अनन्तर समय मे क्षायिक सम्यक्त्व तथा सयम को प्राप्त करने वाला मिथ्यात्वी
४	अप्रत्याख्यानावरणकपायचतुष्क	,,	अनन्तर समय मे सयम को प्राप्त करने वाला अविरतसम्यग्दृष्टि
५	प्रत्याख्यानावरणकपायचतुष्क	,,	अनन्तर समय मे सर्वविरति प्राप्त करने वाला देशविरति
६	सज्वलनकपायचतुष्क	,,	अनिवृत्तिबादरसपरायी क्षपक, बधविच्छेद के समय
७	हास्य, रति	तत्प्रायोग्य सक्लिष्ट मिथ्यात्वी पर्याप्त सज्ञी	क्षपक अपूर्वकरण चरमसमयवर्ती
८	अरति, शोक	अति सक्लिष्ट मिथ्या पर्याप्त सज्ञी	अप्रमत्ताभिमुख प्रमत्त यति

क्रम	प्रकृतिया	उत्कृष्ट अनुभागबध के स्वामी	जघन्य अनुभागबध के स्वामी
९	भय, जुगुप्सा	अति सक्लिष्ट मिथ्यात्वी पर्याप्त सज्ञी	क्षपक अपूर्वकरण चरम समयवर्ती
१०	नपु सकवेद	"	तद्योग्य विशुद्ध मिथ्यादृष्टि
११	स्त्रीवेद	तत्प्रायोग्य सक्लिष्ट मिथ्यात्वी पर्याप्त सज्ञी	"
१२	पुरुषवेद	"	अनिवृत्तिबादरसपरायी क्षपक बधविच्छेद के समय
१३	असातावेदनीय	अति सक्लिष्ट मिथ्यात्वी पर्याप्त सज्ञी	परावर्तमान मध्यम परिणामी
१४	सातावेदनीय	सूक्ष्मसपराय चरम समयवर्ती क्षपक	"
१५	देवायु	तद्योग्य विशुद्ध अप्रमत्त यति	तत्प्रायोग्य स मिथ्यात्वी पर्याप्त पचे तिर्यंच, मनुष्य
१६	मनुष्यायु, तिर्यंचायु	तत्प्रायोग्य मिथ्यादृष्टि पर्याप्त मनुष्य, तिर्यंच	तत्प्रायोग्य स मिथ्यात्वी तिर्यंच, मनुष्य
१७	नरकायु	तत्प्रायोग्य स मिथ्यात्वी पर्याप्त मनुष्य, तिर्यंच	तत्प्रायोग्य विशुद्ध मिथ्यात्वी पर्याप्त मनुष्य तथा पचे. तिर्यंच

क्रम	प्रकृतिया	उत्कृष्ट अनुभागबध के स्वामी	जघन्य अनुभागबध के स्वामी
१८	देवद्विक, वैक्रियद्विक	क्षपक अपूर्वकरण मे स्वबधविच्छेद समयवर्ती	अति सक्लिष्ट मिथ्यात्वी पर्याप्त मनुष्य, पचेन्द्रिय तिर्यंच
१६	मनुष्यद्विक	अतिविशुद्ध सम्यग्दृष्टि देव	परावर्तमान मध्यम परिणामी मिथ्यात्वी
२०	तिर्यंचद्विक	अति सक्लिष्ट मिथ्यात्वी नारक तथा सहस्रारात देव	उपशमसम्यक्त्व प्राप्त करने वाला मिथ्यात्व चरमसमयवर्ती सप्तमपृथ्वी नारक
२१	नरकद्विक	अति सक्लिष्ट मिथ्यात्वी पर्याप्त मनुष्य, तिर्यंच	तत्प्रायोग्य विशुद्ध मिथ्यात्वी पर्याप्त मनुष्य और पचेन्द्रिय तिर्यंच
२२	आहारकद्विक	क्षपक अपूर्वकरण मे बधविच्छेद के समय	प्रमत्ताभिमुख अप्रमत्त यति
२३	औदारिकद्विक	अतिविशुद्ध सम्यग्दृष्टि देव	अति सक्लिष्ट मिथ्यादृष्टि देव, नारक
२४	तैजस, कार्मण, शुभ वर्णचतुष्क, पचेन्द्रियजाति, पराघात, उच्छ्वास, अगुरुलघु, निर्माण, त्रसचतुष्क	क्षपक अपूर्वकरणवर्ती स्वबधविच्छेद के समय	अति सक्लिष्ट चारो गति के मिथ्यादृष्टि

क्रम	प्रकृतिया	उत्कृष्ट अनुभागबध के स्वामी	जघन्य अनुभागबध के स्वामी
२५	सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक	तत्प्रायोग्य सक्लिष्ट मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यंच	तत्प्रायोग्य विशुद्ध मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यंच
२६	एकेन्द्रिय, स्थावर	अति सक्लिष्ट मिथ्या-दृष्टि ईशानान्त देव	नरक के सिवाय तीन गति के मिथ्यादृष्टि मध्यम परिणामी जीव
२७	वज्रऋषभनाराच सह-नन	सर्वविशुद्ध सम्यग्दृष्टि देव	परावर्तमान मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि
२८	मध्यम चार सहनन, चार सस्थान	तत्प्रायोग्य सक्लिष्ट मिथ्यादृष्टि	परावर्तमान मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि
२९	सेवार्तसहनन	अति सक्लिष्ट मिथ्या-दृष्टि नारक तथा ईशानान्त देव	परावर्तमान मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि
३०	समचतुरस्रसस्थान, स्थिर-पचक, शुभविहायोगति	क्षपक अपूर्वकरण स्वबधविच्छेदवर्ती	परावर्तमान मध्यम परिणामी
३१	हुडकसस्थान, अशुभ-विहायोगति, अस्थिर-षट्क	अति सक्लिष्ट मिथ्या-दृष्टि पर्याप्त सज्ञी	,, ,,
३२	अशुभवर्णचतुष्क, उपघात	,, ,,	अपूर्वकरणवर्ती क्षपक स्वबधविच्छेद के समय
३३	आतप	तत्प्रायोग्य विशुद्ध ईशानान्त देव	अति सक्लिष्ट मिथ्या-दृष्टि ईशानात देव

क्रम	प्रकृतिया	उत्कृष्ट अनुभागबध के स्वामी	जघन्य अनुभागबध के स्वामी
३४	उद्योत	उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करने वाला मिथ्यात्वी चरम समयवर्ती सप्तम पृथ्वी का नारक	अति सक्लिष्ट नारक तथा सहस्रारात देव
३५	तीर्थंकरनाम	अपूर्वकरणवर्ती क्षपक स्वबधविच्छेद के समय	मिथ्यात्व तथा नरका भिमुख, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व चरम समयवर्ती मनुष्य
३६	यश कीर्ति	सूक्ष्मसपराय चरम-समयवर्ती क्षपक	परावर्तमान मध्यम परिणामी
३७	उच्चगोत्र	सूक्ष्मसपराय चरम-समयवर्ती क्षपक	परावर्तमान मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि
३८	नीचगोत्र	अति सक्लिष्ट मिथ्या-दृष्टि पर्याप्त सज्ञी	उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करने वाला मिथ्यात्वी चरम समयवर्ती सप्तम पृथ्वी का नारक

अब अनुभागबध के अध्यवसायो और अनुभाग के अविभाग प्रतिच्छेदो के प्रमाण का निरूपण करने के लिये अल्पबहुत्व का विचार करते है।

अल्पबहुत्व प्ररूपणा

सेढिअसखेज्जसो जोगट्ठाणा तओ असखेज्जा।
पयडीभेआ तत्तो ठिइभेया होति तत्तोवि ॥७५॥
ठिइबधज्झवसाया तत्तो अणुभागबधठाणाणि।
तत्तो कम्मपएसाणंतगुणा तो रसच्छेया ॥७६॥

शब्दार्थ—सेढिअसखेज्जसो—श्रेणि के असख्यातवे भागप्रमाण, जोगट्ठाणा—योगस्थान, तओ—उनसे, असखेज्जा—असख्यातगुणे, पयडीभेया—प्रकृति के भेद, तत्तो—उनसे, ठिइभेया—स्थिति के भेद, होति – होते हैं, तत्तोवि—उनसे भी, ठिइबधज्झवसाया—स्थितिवधा ध्यवसाय स्थान, तत्तो—उनसे, अणुभागबधठाणाणि—अनुभागवधाध्यवसायस्थान, तत्तो—उनसे, कम्मपएसा—कर्म के प्रदेश, णतगुणा—अनन्तगुणे, तो—उनसे, रसच्छेया—रसच्छेदप्रमाण।

(**गाथार्थ**—श्रेणि के असख्यातवे भाग मे वर्तमान आकाशप्रदेशप्रमाण योगस्थान है, उनसे प्रकृति के भेद असख्यातगुणे, उनसे असख्यातगुणे स्थिति के भेद है, उनमे असख्यातगुणे स्थितिवधाध्यवसायस्थान है, उनसे असख्यातगुणे अनुभागबधाध्यवसायस्थान है, उनसे अनन्तगुणे कर्मप्रदेश है और उनसे भी रसच्छेदरसाणु अनन्तगुणे है)

विशेषार्थ—वध के निरूपण मे विचार के केन्द्रविन्दु दो है—एक वध और दूसरा उसके कारण। यद्यपि प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से वध चार है किन्तु उनके कारण तीन है। क्योकि प्रकृतिवध और प्रदेशवध का कारण एक ही है। अत वध-विचार के प्रसग मे उनके परिकर के रूप मे सात वाते ग्रहण की जाती है—(१) प्रकृतिभेद (२) स्थितिभेद (३) कर्मस्कध-प्रदेशभेद और (४) रसच्छेद अर्थात् अनुभागभेद और उनके कारण के रूप मे (५) योगस्थान (६) स्थितिवधाध्यवसायस्थान तथा (७) अनुभागवधाध्यवसायस्थान।

इन दो गाथाओ मे इन्ही सातो का अल्पवहुत्व वतलाया है। अर्थात् यह वताया है कि इन सातो मे किसकी सख्या परिमाण कम है और और किसकी सख्या अधिक है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सात राजू प्रमाण घनीकृत लोकाकाश की एक प्रादेशिकी पक्ति अर्थात् एक-एक प्रदेश की जो पक्ति उसे श्रेणि, सूचिश्रेणि कहते है। उस श्रेणि के असख्यातवे भाग मे जितने आकाशप्रदेश है, उतने योगस्थान हैं—'सेढिअसखेज्जसो जोगट्ठाणा'।

इन योगस्थानो से असख्यातगुणे ज्ञानावरणादि प्रकृतियो के भेद हैं—'तओ असखेज्जा पयडीभेया'। इसका कारण यह है कि यद्यपि मूल प्रकृतिया आठ है और उत्तर प्रकृतिया एक सौ अडतालीस बताई गई है। किन्तु बध की विचित्रता से एक-एक प्रकृति के असख्यात भेद हो जाते है। ये भेद एक-एक प्रकृति की तीव्र और मदरूपता द्वारा उत्पन्न हुए विशेषो की अपेक्षा से माने जाते हैं। उदाहरण के लिये अवधिज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरण को ले लीजिये कि इन के असख्यात लोकाकाश प्रदेशप्रमाण भेद हैं। क्योकि उन भेदो के विषय रूप क्षेत्र और काल के तारतम्य द्वारा क्षयोपशम के उतने भेद शास्त्र मे बताये गये हैं तथा चारो आनुपूर्वीनामकर्म के बध और उदय की विचित्रता से लोक के असख्यातवे भाग मे रहे हुए आकाशप्रदेशप्रमाण भेद है।

इसी प्रकार शेष प्रकृतियो के भी उस-उस प्रकार के द्रव्य, क्षेत्र, और स्वरूपादि रूप सामग्री की विचित्रता की अपेक्षा असख्यात भेद समझ लेना चाहिये। इसलिए योगस्थानो से असख्यातगुणे प्रकृति के भेद होते हैं। क्योकि एक-एक योगस्थान मे बध की अपेक्षा प्रकृति के समस्त भेद घटित होते है, यानी एक-एक योगस्थान मे वर्तमान अनेक जीवो द्वारा अथवा कालभेद से एक जीव द्वारा ये सभी प्रकृतिया बधती हैं।

इन प्रकृति के भेदो से स्थिति के भेद—स्थितिविशेष असख्यातगुणे है—'तत्तो ठिइभेया होति'। जघन्य स्थिति से प्रारम्भ कर उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त जितने समय होते है, उतने स्थितिविशेष है।

एक साथ जितनी स्थिति का बध हो उसे स्थितिस्थान अथवा स्थितिविशेष कहते है। जो इस प्रकार जानना चाहिये—जघन्य स्थिति यह पहला स्थितिस्थान, समयाधिक जघन्य स्थिति यह दूसरा स्थितिस्थान, दो समयाधिक जघन्य स्थिति यह तीसरा स्थितिस्थान, इस तरह एक-एक समय की वृद्धि करते-करते उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये, यह अन्तिम स्थितिस्थान है। इस प्रकार असख्याता स्थिति-

विशेष होते है। ये स्थितिविशेष प्रकृति के भेदो से असख्यातगुणे है। क्योकि एक-एक प्रकृति असख्यात तरह की स्थितियो को लेकर बधती है। जैसे एक जीव एक ही प्रकृति को कभी अन्तमुहूर्त की स्थिति मे बाधता है, कभी एक समय अधिक अन्तमुहूर्त की स्थिति के साथ बाधता है। इस प्रकार जब एक प्रकृति और एक जीव की अपेक्षा से ही स्थिति के असख्याता भेद होते है तब सब प्रकृतियो और सब जीवो की अपेक्षा से प्रकृति के भेदो से स्थिति के भेदो का असख्यातगुणा होना स्पष्ट ही है। अत प्रकृतिभेदो से स्थिति के भेद असख्यातगुणे बताये है।

इन स्थिति के भेदो से भी स्थितिबध मे हेतुभूत अध्यवसाय—स्थिति-बधाध्यवसायस्थान असख्यातगुणे है—'तत्तो वि ठिइबधज्झवसाया'। कषाय के उदय से होने वाले जीव के जिन परिणामविशेषो से स्थिति-बध होता है, उन परिणमो को स्थितिबधाध्यवसाय कहते है। एक-एक स्थितिबध के कारणभूत ये अध्यवसाय—परिणाम अनेक होते है। क्योकि सबसे जघन्य स्थिति का बध भी असख्यात लोकाकाशप्रदेश प्रमाण अध्यवसायो से होता है। जब एक जीव की अपेक्षा ही यह स्थिति बनती है तब अनेक जीवो की अपेक्षा से असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थितिबधाध्यवसायस्थानो का होना स्वत सिद्ध है। अत स्थिति के भेदो से स्थितिबधाध्यवसायस्थान असख्यातगुणे होते है।

इन स्थितिबधाध्यवसायस्थानो से भी अनुभागबधाध्यवसायस्थान—अनुभागबध मे हेतुभूत अध्यवसाय असख्यातगुणे है—'तत्तो अणुभाग-बधठाणाणि'। इसका तात्पर्य यह है कि अनुभागबध मे आश्रयभूत, हेतु-भूत कषायोदयमिश्रित लेश्याजन्य जीव के परिणामविशेष जो कि जघन्य मे एक समय और उत्कृष्ट से आठ समय रहने वाले होते है, वे परिणाम स्थितिबध के हेतुभूत अध्यवसायो से असख्यातगुणे है। इसका कारण यह है कि स्थितिबध के हेतुभूत एक-एक अध्यवसाय मे तीव्र और मद आदि भेदरूप कृष्णादि लेश्या के परिणाम जो कि अनुभाग-

बध मे हेतु है, असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं। इसलिये स्थितिबध के हेतुभूत अध्यवसायो से अनुभागबध के हेतुभूत अध्यवसाय असख्यातगुणे होते है।

इन अनुभागबधाध्यवसायस्थानो से अनन्तगुणे कर्मस्कध है। अर्थात् किसी भी विवक्षित एक समय मे एक अध्यवसाय से ग्रहण किये कर्मदलिक के परमाणु अनन्तगुणे है—'तत्तो कम्मपएसाणतगुणा'। क्योकि एक जीव द्वारा एक समय मे ग्रहण किये गये कर्मदलिक की एक-एक वर्गणा मे अभव्य से अनन्तगुणे परमाणु होते है और एक जीव एक समय मे अभव्यराशि से अनन्तगुणे और सिद्धराशि के अनन्तवे भाग प्रमाण कर्मस्कधो को ग्रहण करता है। अत अनुभागबधाध्यवसाय-स्थानो मे जिनका प्रमाण असख्यात लोकाकाशप्रदेश प्रमाण बतलाया है, उनसे अनन्तगुणे कर्मस्कध स्वत सिद्ध हो जाते है।

इन कर्मप्रदेशो से भी अनन्तगुणे रसच्छेद या रस से अविभागी प्रतिच्छेद, रसाणु (अनुभागाणु) हैं—'तो रसच्छेया'। इसका कारण यह है कि अनुभागबधाध्यवसायस्थानो के द्वारा कर्मपुद्गलो मे रस-अनुभाग-शक्ति पैदा होती है। यदि एक परमाणु मे विद्यमान रस-अनुभागशक्ति को केवलज्ञान के द्वारा छेदा जाये तो उसमे समस्त जीवराशि से अनन्तगुणे अविभाग प्रतिच्छेद—रसच्छेद पाये जाते है और समस्त जीवराशि अनन्त है। इसीलिये कहा है कि समस्त कर्मस्कन्धो के प्रत्येक परमाणु मे समस्त जीवराशि से अनन्तगुणे रसच्छेद होते है। इस प्रकार बध और उनके कारणो का अल्पबहुत्व जानना चाहिये।[1]

इस प्रकार से अनुभागबध के स्वरूप का विवेचन जानना चाहिये।

---

१ इसी प्रकार दि कर्मग्रथो मे भी योगस्थानादि का अल्पबहुत्व बतलाया है। देखिये दि पचसग्रह शतक अधिकार गाथा—५१६-५१९।

प्रदेशबध

अब क्रम प्राप्त प्रदेशबध के स्वरूप का विचार प्रारम्भ करते है। उसके विचार के तीन अनुयोगद्वार है—१ भाग-विभागप्रमाण, २ सादि-अनादि प्ररूपणा, ३ स्वामित्व प्ररूपणा। इनमे से पहले भाग-विभागप्रमाण का विचार प्रारम्भ करने के प्रसग मे सर्वप्रथम आकाश प्रदेशो पर रही हुई कर्मवर्गणाओ को जिस तरह जीव ग्रहण करता है, उसको बतलाते है।

जीव द्वारा कर्मवर्गणाओ के ग्रहण करने की प्रक्रिया

एगपएसोगाढे सव्वपएसेहि कम्मणोजोग्गे।
जीवो पोग्गलदव्वे गिण्हइ साई अणाई वा[1] ॥७७॥

शब्दार्थ—एगपएसोगाढे—एक आकाशप्रदेश मे अवगाढ रूप से रहे हुए, **सव्वपएसेहि**—सर्व प्रदेशो से, **कम्मणोजोग्गे**—कर्म के योग्य, **जीवो**—जीव, **पोग्गलदव्वे**—पुद्गलद्रव्य को, **गिण्हइ**—ग्रहण करता है, **साइ**—सादि, **अणाई**—अनादि, **वा**—अथवा।

गाथार्थ—अभिन्न एक आकाश मे अवगाढ रूप से रहे हुए कर्म के योग्य पुद्गलद्रव्य को जीव अपने सर्व प्रदेशो से ग्रहण करता है। वह पौद्गलिक ग्रहण सादि अथवा अनादि होता है।

विशेषार्थ—गाथा मे सकर्मा जीव द्वारा पुद्गलद्रव्य के ग्रहण की प्रक्रिया बतलाई है—

जगत मे पुद्गल द्रव्य दो प्रकार के है। एक तो वे जो कर्मरूप से

---

१ तुलना कीजिये—

एयक्खेत्तो गाढ सव्वपदेसेहि कम्मणो जोग्ग।
बधइ जहुत्तहेउ सादिय महऽणादिय चावि॥

दि पचसग्रह शतक अधिकार ४९४

परिणत हो सके और दूसरे वे जो कर्मरूप मे परिणत न हो सकें। उनमे परमाणु और दो प्रदेशो से बने हुए स्कन्धो से लेकर मनोवर्गणा के बाद की अग्रहण प्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा[1] तक के समस्त स्कन्ध कर्म-अयोग्य है, यानी जीव वैसे स्कन्धो को ग्रहण करके उन्हे ज्ञानावरण आदि कर्मरूप मे परिणत नही कर सकता है। लेकिन उसके बाद के एक-एक अधिक परमाणु से बने हुए स्कन्धो से लेकर उन्ही की उत्कृष्ट वर्गणा तक के स्कन्ध ग्रहण योग्य है। वैसे स्कन्धो को ग्रहण करके उन्हे ज्ञानावरणादि रूप मे परिणत कर सकता है। तत्पश्चाद्‌वर्ती एक-एक अधिक परमाणु से बने हुए स्कन्धो मे लेकर महास्कन्ध वर्गणा तक के सभी स्कन्ध कर्म के अयोग्य हैं।

इस प्रकार के पुद्‌गल द्रव्यो मे से कर्मयोग्य पुद्‌गल द्रव्यो को कर्म रूप से परिणत करने के लिए जीव जिस प्रकार से ग्रहण करता है, अब उसको बतलाते है—

'एगपएसोगाढं' अर्थात् एकप्रदेशावगाढ पुद्‌गलो को ग्रहण करता है। तात्पर्य यह हुआ कि एकप्रदेशावगाढ यानी जिन आकाश प्रदेशो मे आत्मा के प्रदेश अवगाही रूप से रहे हुए है, उन्ही आकाश प्रदेशो मे जो कर्म योग्य पुद्‌गलद्रव्य अवगाही रूप से विद्यमान है, उन पुद्‌गल-द्रव्यो को जीव ग्रहण करता है। अन्य प्रदेशो मे रहे हुए पुद्‌गलद्रव्यो को ग्रहण नही करता है। इसका आशय यह हुआ कि जिन आकाश प्रदेशो मे अवगाहन करके जीव रहा हुआ है, उन्ही आकाश प्रदेशो मे अवस्थित कर्मयोग्य वर्गणाओ को ग्रहण करके वह उनको कर्मरूप से परिणत कर सकता है। किन्तु जिन आकाश प्रदेशो मे जीव का अव गाह नही, उन आकाश प्रदेशो मे अवगाहित कर्मयोग्य वर्गणाओ को

---

१ वगणाओ का वर्णन पचम कर्मग्रथ मे विस्तार से किया गया है। देखिये गाथा ७५,७६,७७।

ग्रहण करने और कर्मरूप मे परिणमित करने की शक्ति उसमे असम्भव है।

कर्मबध करने वाले प्रत्येक जीव के लिए यह सामान्य स्थिति है कि कोई भी जीव स्वयं जिन आकाश प्रदेशो मे अवगाहित है—अवस्थित है, उन्ही आकाश प्रदेशो का अवगाहन करके रही हुई कर्मवर्गणाओ को ग्रहण करके उन्हे कर्मरूप से परिणमित करता है। जिसको अत्यधिक समानता होने से अग्नि के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते है कि जैसे अग्नि जलाने योग्य अपने क्षेत्र मे रहे हुए काष्ठ आदि पुद्‌गल द्रव्यो को ही अग्नि रूप मे परिणमित कर सकती है किन्तु पर क्षेत्र मे रहे हुए पदार्थों को परिणत नही करती है। उसी प्रकार जीव भी स्वप्रदेशावगाढ कर्मयोग्य पुद्‌गल द्रव्यो को ही ग्रहण करने और कर्मरूप मे परिणत करने मे समर्थ है, परन्तु स्वय जिन आकाशप्रदेशो का अवगाहन करके नही रहता है, उन आकाश प्रदेशो का अवगाहन करके रहे हुए कर्मपुद्‌गलो को ग्रहण कर, कर्मरूप मे परिणमित करने मे समर्थ नही है। क्योकि वे उसके अधिकार क्षेत्र से बाहर रहे हुए है।

इस प्रकार जीव एकप्रदेशावगाढ कर्मयोग्य पुद्‌गलद्रव्यो को ग्रहण करता है। उनको ग्रहण करने की प्रक्रिया यह है कि 'सव्वपएसेंहि'—अपने समस्त आत्मप्रदेशो द्वारा उन कर्म योग्य पुद्‌गलो को ग्रहण करता है। जिसका तात्पर्य इस प्रकार है—

जीव के समस्त प्रदेश शृ खला से अवयवो की तरह परस्पर शृ खलित है—परस्पर साकल की कडी से कडी की तरह एक-दूसरे से जुडे हुए है। इसलिये जीव का एक प्रदेश जब स्वक्षेत्रावगाढ कर्मयोग्य पुद्‌गलद्रव्य को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है तब अन्य प्रदेश भी उन पुद्‌गल द्रव्यो को ग्रहण करने के लिये अनन्तर और परम्परा रूप से प्रयत्न करते है। यह अवश्य होता हे कि उनके प्रयत्न मद, मदतर और मदतम हो। जैसे घटादि किसी वस्तु को ग्रहण करने के लिये हाथ प्रयत्न करता है, तब वहाँ अधिक क्रिया होती है और दूर रहे

हुए मणिबध, कोहनी, कन्धा आदि मे अनुक्रम से अल्प-अल्प क्रिया होती है। यानी क्रिया मे अल्पाधिकता हो सकती है परन्तु प्रयत्न समस्त प्रदेशो मे होता है।

इस प्रकार जब समस्त जीवप्रदेश स्वक्षेत्रावगाढ कर्मयोग्य द्रव्यो को ग्रहण करने के लिये प्रयत्न करते है तब समस्त जीवप्रदेश अनन्तर और परम्परा से सपूर्णतया प्रयत्न करते है। ऐसा नही होता है कि कोई प्रदेश तो योग्य पुद्गलो को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है और अन्य प्रदेश प्रयत्न नही करते है, परन्तु प्रत्येक समय समस्त जीव प्रदेश प्रयत्न करते है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये ग्रन्थकार आचार्य ने कहा है कि सर्वप्रदेशो द्वारा ग्रहण करता है।

उक्त समग्र कथन का साराश यह है कि समस्त लोक पुद्गलद्रव्य से ठसाठस भरा हुआ है और वह पुद्गलद्रव्य अनेक वर्गणाओ मे विभाजित है। उक्त वर्गणाओ मे से कर्मवर्गणाओ को जीव ग्रहण करता है। किन्तु प्रत्येक जीव उन्ही कर्मवर्गणाओ को ग्रहण करता है जो उसके अत्यन्त निकट होती है—एकक्षेत्रावगाही है। जैसे अग्नितप्त लोहे के गोले को पानी मे डाल देने पर वह उसी जल को ग्रहण करता है, जो उसके गिरने के स्थान पर है, उसे छोडकर अन्यत्र दूरवर्ती जल को ग्रहण नही करता है। इसी प्रकार जीव भी जिन आकाशप्रदेशो मे स्थित है, उन्ही आकाशप्रदेशो मे विद्यमान कर्मवर्गणाओ को ग्रहण करता है तथा वह तपा हुआ गोला जल मे गिरने पर चारो ओर से पानी को खीचता है, उसी तरह जीव भी सर्व आत्मप्रदेशो से कर्मो को ग्रहण करता है। ऐसा नही होता है कि आत्मा के अमुक भाग से ही कर्मो का ग्रहण करता हो। इस प्रकार से जीव द्वारा कर्मवर्गणाओ को ग्रहण करने की प्रक्रिया जानना चाहिये।

अब यदि जीव द्वारा ग्रहण किये जाते उन कर्मयोग्य पुद्गलद्रव्यो का नियत देश, काल और स्वरूप की दृष्टि मे विचार किया जाये तो ग्रहण की अपेक्षा वे सादि है। क्योकि वैसे स्वरूप वाले वे पुद्गलद्रव्य

उसी समय ही ग्रहण किये गये है और यदि मात्र कर्मरूपपरिणाम की दृष्टि से प्रवाहापेक्षा विचार किया जाये तो अनादि है। क्योंकि ससारी जीव अनादिकाल से कर्मपुद्गलो को ग्रहण करते रहते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि कर्म प्रतिसमय बधते रहने की अपेक्षा सादि हैं और प्रवाह की अपेक्षा अनादि है।

इस प्रकार मे भाग-विभाग प्ररूपणा करने की पूर्वभूमिका के रूप मे जीव द्वारा कर्मप्रदेशो को ग्रहण करने की प्रक्रिया का विचार किया।[1] अब एक अध्यवसाय द्वारा ग्रहण किये गये कर्मदलिक के भाग-विभाग की प्ररूपणा करते है।

कर्मदलिक भाग-विभाग प्ररूपणा

कमसो वुड्ढठिईणं भागो दलियस्स होइ सविसेसो।
तइयस्स सव्वजेट्ठो तस्स फुडत्त जओ णप्पे ॥७८॥

शब्दार्थ—कमसो—क्रमश, वुड्ढठिईण—अधिक स्थिति वाले कर्मों का, भागो—भाग, दलियस्स—दलिक का, होइ—होता है, सविसेसो—सविशेष, अधिक, तइयस्स—तीसरे वेदनीयकर्म का, सव्वजेट्ठो—सबसे अधिक, तस्स—उसका, फुडत्त—स्फुटत्व, व्यक्तवेदन, जओ—क्योंकि, णप्पे—अल्प होने पर नही होता है।

गाथार्थ—अधिक स्थितिवाले कर्मों का दलिक-भाग क्रमश अधिक होता है। मात्र तीसरे वेदनीयकर्म का भाग सबमे ज्येष्ठ-अधिक होता है, क्योंकि अल्प भाग होने पर उसका स्फुटत्व-व्यक्त-वेदन नहीं हो सकता है।

---

1 इसी प्रकार कर्मप्रकृति बधनकरण गा २१ मे कथन किया है—

एगमवि गहणदव्वं सव्वप्पणयाए जीवदेसम्मि।
सव्वप्पणया सव्व-त्थवावि सव्वे गहणखधे॥

विशेषार्थ—बध्यमान कर्मो को प्राप्त होने वाले दलिको के भाग-विभाग के नियम का गाथा मे निर्देश किया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जिस प्रकार पेट मे जाने के बाद भोजन रस, रुधिर आदि रूप मे परिणत हो जाता है, उसी प्रकार जीव द्वारा किसी भी विवक्षित समय मे एक अध्यवसाय द्वारा ग्रहण किये गये दलिक—कर्मपरमाणुओ का समूह—उसी समय उतने हिस्सो मे बट जाता है, जितने कर्मो का बध उस समय उस जीव ने किया है। उस ग्रहीत कर्मपरमाणुओ के समूह मे से जिस-जिस कर्म की स्थिति अधिक होती है, उस स्थिति की अधिकता के अनुसार अनुक्रम से उस-उस कर्मप्रकृति को अधिक-अधिक दलिकभाग प्राप्त होता है। अर्थात् अधिक-अधिक स्थिति वाले कर्म का भाग अनुक्रम से विशेष-विशेष होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस कर्म की स्थिति अधिक है, उस क्रम से उसका भाग भी अधिक होता है और जिसकी स्थिति अल्प हो उसका भाग भी अल्प।

स्थितिबधप्ररूपणा के प्रसग मे यह बताया जा चुका है कि दूसरे समस्त कर्मो की अपेक्षा आयुकर्म की स्थिति सबके अल्प— मात्र तेतीस सागरोपम प्रमाण है। अत आयुकर्म का भाग सबसे अल्प होता है। उससे नाम और गोत्र कर्म का विशेषाधिक है। क्योकि उनकी स्थिति उत्कृष्ट से बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। किन्तु इन दोनो की स्थिति समान होने से उन्हे हिस्सा भी बराबर मिलता है। अर्थात् जितना भाग नामकर्म का होता है, उतना ही भाग गोत्रकर्म का है।

नाम और गोत्र की अपेक्षा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का भाग विशेषाधिक है। क्योकि इन तीनो की उत्कृष्ट स्थिति तीस-तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। अत नाम और गोत्र मे इन तीनो कर्मो को अधिक भाग प्राप्त होता है। लेकिन इन तीनो कर्मों की स्थिति समान है, अत स्वस्थान मे इनका भाग बराबर-बराबर है।

मोहनीयकर्म की स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण होने से इन तीनो कर्मों से भी उसका भाग अधिक है।

स्थिति के अनुसार कर्मों को अपना-अपना भाग प्राप्त करने का उक्त सामान्य नियम है।[1] लेकिन उसमे वेदनीयकर्म अपवाद रूप है। यद्यपि तीसरे वेदनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मो के समान तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। जो मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति से आधी भी नही है। फिर भी उसका भाग सबसे अधिक है और उसका भाग सबसे अधिक होने का कारण यह है कि तीसरे वेदनीयकर्म के हिस्से मे यदि अल्प दलिक आये तो सुख-दुखादि का स्पष्ट अनुभव नही हो सकता है। यानि वेदनीयकर्म द्वारा जो स्पष्ट रूप से सुख-दुख का अनुभव होता है वह यदि उसके भाग मे अल्प दलिक आये तो न हो। वह अधिक पुद्गल मिलने पर ही अपना कार्य करने मे समर्थ है। अल्पदल होने पर वेदनीय प्रगट ही नही होता है। इसी कारण उसे सबसे अधिक भाग मिलता है—'तस्स फुडत्त जओ णप्पे'।

मूलकर्मों को भाग प्राप्त होने का उक्त विचार एक अध्यवसाय द्वारा गहण की गई कर्मवर्गणाओ की अपेक्षा समझना चाहिये। जिसका कारण उस एक अध्यवसाय का विचित्रतागर्भित होना है। यदि ऐसा न हो तो कर्म मे विद्यमान विचित्रता सिद्ध ही न हो। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार समझना चाहिये—

यदि अध्यवसाय एक ही स्वरूप वाला हो तो उसके द्वारा ग्रहण किया गया कर्म भी एक स्वरूप वाला ही होना चाहिये। क्योकि कारण

---

१ स्थिति और प्रदेश बध के हेतु क्रमश कषाय और योग है। अतएव यहां यह समझना चाहिए कि कषायोदय से अनुरजित योगप्रवृत्ति द्वारा स्थिति मे वृद्धि होने के साथ-साथ अधिक कर्मप्रदेशो का बध होता है। तभी उस-उस कर्म को अधिक कर्मप्रदेशो की प्राप्ति सभव है।

के भेद के बिना कार्य का भेद नही होता है। यदि कारण के भेद बिना कार्य का भेद हो तो अमुक कार्य का अमुक कारण है, यह नियत सम्बन्ध नही बन सकता है। यहाँ ज्ञानावरणादि के भेद से कर्म मे अनेक प्रकार की विचित्रता है, इसलिये उसके हेतुभूत अध्यवसाय को भी शुद्ध एक स्वरूप वाला नही परन्तु अनेक स्वरूप वाला मानना चाहिये। वह चित्रतागर्भित[1] एक अध्यवसाय उस उस प्रकार की द्रव्य, क्षेत्र, कालादि सामग्री के आधार से सक्लेश अथवा विशुद्धि को प्राप्त होते हुए भी किसी समय आठ कर्म का बधहेतु होता है, किसी समय सात कर्म का, किसी समय छह कर्म का और किसी समय एक कर्म का ही बधहेतु होता है।

एक अध्यवसाय से ग्रहण किये गये कर्मदलिक का ज्ञानावरणादिक आठ कर्मो के बधरूपेण परिणत होने का कारण यह है कि आत्मा का अध्यवसाय ही उस प्रकार का होता है, जिसके द्वारा एक अध्यवसाय से ग्रहण किया गया कर्मदलिक आठ आदि प्रकार के बध रूप से परिणत होता है। जैसे कुम्भकार मिट्टीपिण्ड के द्वारा सराब आदि अनेक आकृतियो को परिणत करता है। क्योकि उसका उस प्रकार का परिणाम है। इसी प्रकार एक परिणाम द्वारा बाधा गया कर्मदलिक भी ज्ञानावरणादिक आठ कर्मबध रूप परिणाम को प्राप्त करता है।

---

१ जिसमे अनेक प्रकार के कार्य करने रूप विचित्रता रही हुई हो, उसे चित्रता-गर्भ करते है। यहाँ अध्यवसाय को चित्रतागर्भ कहने का अर्थ यह हुआ कि अनेक प्रकार के विचित्र कार्य उत्पन्न करे ऐसा वह है। यदि ऐसा न हो तो कर्म मे अल्पाधिक स्थिति, रस, दलिक प्राप्ति होने रूप विचित्रता न हो और शुद्ध एक अध्यवसाय हो तो एक जैसा—सदृश कार्य ही हो। चित्रतागर्भ अध्यवसाय के होने मे कर्म का उदय कारण है। प्रति समय आठो कम का उदय हो तो वे समान स्थिति एव रस वाले नही होते है। उनका एव विचित्र द्रव्य-क्षेत्रादि का असर आत्मा पर होता है। जिससे अध्यवसाय विचित्र होता है और उससे कर्मबध रूप कार्य भी विचित्र होता है।

इस प्रकार से आठ प्रकार के कर्मबंध की भाग-विभाग की विधि जानना चाहिये। यह विधि सात प्रकार के कर्मबंध मे और छह के बंध मे भी समझ लेना चाहिये। अर्थात् उन सात अथवा छह प्रकार के कर्मों का बंध होने पर जिसकी स्थिति अधिक हो उसका भाग अधिक और जिसकी स्थिति कम हो उसका भाग कम समझना।[1]

अब इसी बात को ग्रन्थकार आचार्य विशेषता के साथ स्पष्ट करते हैं—

> ज समयं जावइयाइ बंधए ताण एरिसविहीए।
> पत्तेयं पत्तेयं भागे निव्वत्तए जीवो ॥७६॥

---

१ यहाँ सामान्य से विभाग का क्रम बताया है कि अमुक कर्म का अधिक और अमुक को कम भाग मिलता है। किन्तु गो कर्मकाण्ड मे इस क्रम को बताने के साथ-साथ विभाग करने की रीति भी बतलाई है—

> बहुभागे समभागो अट्ठण्ह होदि एक भागम्हि।
> उत्तकमो तत्थवि बहुभागो बहुगस्स देओ दु ॥१९५॥

अर्थात् बहुभाग के समान आठ भाग करके आठो कर्मों को एक-एक भाग देना चाहिये। शेष एक भाग का पुन बहुभाग करके और वह बहु भाग बहुत हिस्से वाले कर्म को देना चाहिए।

इस रीति के अनुसार एक समय मे जितने पुद्गलद्रव्य का बंध हो, उसमे आवली के असख्यातवें भाग से भाग देकर एक भाग को अलग रख शेष बहुभाग के आठ समान भाग कर आठो कर्मों को देना चाहिये। इसके बाद शेष एक भाग मे पुन आवली के असख्यातवें भाग से भाग देकर एक भाग अलग रख बहु भाग वेदनीय कर्म को देना चाहिए। इसी रीति से आगे बहु भाग उत्तरोत्तर अधिक स्थिति वाले कर्म को देना चाहिए और उनमे जो समान स्थिति वाले हो तो प्राप्त भाग उतने समान हिस्सो मे बाट देना चाहिए।

जिसकी स्थिति अधिक, उसको भाग अधिक और जिसकी स्थिति थोडी, उसका भाग अल्प होता है। जब आठ प्रकार के कर्मबध मे हेतुभूत अध्यवसाय प्रवर्तमान होता है, तब उसके कारण गृहीत दलिक को जोव आठ भागो मे विभाजित करता है। जिसका विस्तार से विचार पूर्व मे किया जा चुका है।

अब सात कर्मों के भाग-विभाग का विचार करते है कि जब सात कर्म के बध मे हेतुभूत अध्यवसाय प्रवर्तमान होता है, तब उसके कारण ग्रहण किया गया कर्मदलिक सात कर्मो मे विभाजित करता है। उसमे नाम और गोत्र कर्म का भाग सबसे अल्प किन्तु स्वस्थान मे परस्पर तुल्य है। उनसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का भाग अधिक है। क्योकि नाम और गोत्र से उनकी स्थिति अधिक है। किन्तु स्वस्थान मे परस्पर एक-दूसरे का भाग समान है। उनसे भी मोहनीय का भाग विशेषाधिक है। क्योकि ज्ञानावरणादि से भी उसकी स्थिति अधिक है और उससे भी वेदनीय का भाग विशेषाधिक है। वेदनीयकर्म का सर्वोत्कृष्ट भाग होने के कारण को पूर्व मे स्पष्ट किया जा चुका है।

अब छह कर्मो के भाग-विभाग को बतलाते है कि छह कर्म के बध मे हेतुभूत अध्यवसाय के कारण बाधे गये कर्मदलिक के छह भाग होते है। यानी उसको छह भागो मे विभाजित कर देता है। उसमे भी भाग-विभाग का विचार पूर्व के समान जानना चाहिए। यथा नाम और गोत्र का भाग अल्प किन्तु परस्पर तुल्य। उनसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का भाग अधिक किन्तु स्वस्थान मे इन तीनो का परस्पर तुल्य और इनसे भी वेदनीय का भाग अधिक है।

लेकिन जब मात्र एक वेदनीयकर्म का बध हो तब योगवशात् बाधा गया जो कुछ भी कर्मदलिक हो, वह सबका सब उस बधने वाले सातावेदनीय रूप ही परिणमित होता है।

उक्त समग्र कथन का तात्पर्य यह हुआ कि जैसे-जैसे जीव अल्प अल्प प्रकृतियो को बाधे तो उन बध्यमान प्रकृतियो का भाग अधिक होता है और यदि अधिक-अधिक प्रकृतियो को बाधे तो अल्प-अल्प भाग होता है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जह जह य अप्पपगईण बंधगो तहतहत्ति उक्कोस ।
कुव्वइ पएसबध जहन्नय तस्स वच्चासा ॥८०॥

शब्दार्थ—**जह जह**—जैसे-जैसे, **अप्पपगईण**—अल्प प्रकृतियो का, **बधगो**—बधक, **तहतहत्ति**—वैसे-वैसे, **उक्कोस**—उत्कृष्ट, **कुव्वइ**—करता है, **पएसबध**—प्रदेशबध, **जहन्नय**—जघन्य, **तस्स**—उसके, **वच्चासा**—विपरीत-पने से।

गाथार्थ—जैसे-जैसे जीव अल्प प्रकृतियो का बधक होता है वैसे-वैसे उत्कृष्ट प्रदेशबध करता है और उसके विपरीतपने से विपरीत अर्थात् जघन्य प्रदेशबध करता है।

विशेषार्थ—'जह जह य अप्पपगईण' अर्थात् जैसे-जैसे जीव मूल या उत्तर प्रकृतियो मे से अल्प प्रकृतियो का बधक होता है, वैसे-वैसे बध्यमान उन प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबध करता है। क्योकि जैसे-जैसे अल्प-अल्प प्रकृतियो को बाधे तो जो-जो प्रकृतिया उस समय बधती नही हैं, उनका भाग भी बध्यमान उन-उन प्रकृतियो को प्राप्त होता है। इसलिए अल्प प्रकृतियो का बध होता हो तब उत्कृष्ट प्रदेशबध होता है। लेकिन—

जहन्नय तस्स वच्चासा' अर्थात् पूर्व मे जो कहा गया है, उसके विपरीतपने से जघन्य प्रदेशबध करता है। अर्थात् जैसे-जैसे अधिक मूल या उत्तर प्रकृतियो का बध करने वाला होता है, तो जघन्य प्रदेश-बध करता है। क्योंकि प्रकृतियो की अधिकता से भाग अधिक हो जाने के कारण उन उनको अल्प-अल्प भाग मिलता है।

इस प्रकार कारण सहित उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबंध की सभावना को जानना चाहिए। अब जिन प्रकृतियो का स्वत —अन्य प्रकृ-

तियो का भाग प्राप्त हुए बिना, परत —अन्य प्रकृतियो का भाग प्राप्त होने से और उभयत—दोनो प्रकारो से उत्कृष्ट प्रदेशबध सम्भव है, उसका विचार करते है।

स्वत परतः उभयतः सभव उत्कृष्ट प्रदेशबंध

> नाणंतराइयाण परभागा आउगस्स नियगाओ ।
> परमो पएसबधो सेसाण उभयओ होइ ॥८१॥

शब्दार्थ—नाणतराइयाण—ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म का, परभागा—परभाग मे, आउगस्स—आयुकर्म का, नियगाओ—स्वत, परमो—उत्कृष्ट, पएसबधो—प्रदेशबध, सेसाण—शेष कर्मों का, उभयओ—उभयत, होइ—होता है।

गाथार्थ—ज्ञानावरण और अन्तराय का उत्कृष्ट प्रदेशबध परत —अन्यकर्म का भाग प्राप्त होने से, आयुकर्म का स्वत —अपने भाग से ही और अवशिष्ट प्रकृतियो का उभयत उत्कृष्ट प्रदेशबध होता है।

विशेषार्थ—ग्रन्थकार आचार्य ने यहा उन-उन कर्मों के उत्कृष्ट प्रदेशबध होने की सामग्री का निर्देश किया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

'नाणतराइयाण परभागा' अर्थात् ज्ञानावरण और अन्तराय इन दो कर्मों की प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबध परत —अन्य प्रकृतियो के भाग का प्रवेश होने मे होता है। इसका कारण यह है कि आयु और मोहनीय कर्म का बधविच्छेद होता है तब उस-उस समय बधी हुई कार्मणवर्गणाओं का मोहनीय और आयु रूप मे परिणमन नही होता है। जिसमे जितने कर्मों का बध होता है उतने ही कर्म रूप मे उनका परिणमन होता है। इसलिये इन दोनो कर्मों के भाग का प्रवेश होने से ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म की प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबध होना बताया है, किन्तु स्वजातीय किसी भी उत्तर प्रकृति के भाग क

प्रवेश होने से इन दोनो कर्मो की प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबध नही होता है। क्योकि ज्ञानावरण और अन्तराय इन दोनो कर्मो की उत्तर प्रकृतियो का एक साथ बधविच्छेद होता है। तथा—

'आउगस्स नियगाओ' अर्थात् आयु का अपनी स्वजातीय प्रकृति को प्राप्त भाग के प्रवेश द्वारा ही उत्कृष्ट प्रदेशबध होता है। जो इस प्रकार समझना चाहिये—आयुकर्म के बध के समय जीव आठो मूल प्रकृतियो का बाधक होता है। इसलिये अन्य प्रकृति के भाग का प्रवेश होने से उसका उत्कृष्ट प्रदेशबध नही होता है। किन्तु स्वजातीय प्रकृति द्वारा लभ्य भाग के प्रवेश द्वारा ही होता है। इसका कारण यह है कि आयु कर्म के अवान्तर भेद चार हैं और तथाप्रकार का जीवस्वभाव होने से एक समय चार मे से किसी भी एक आयु का ही बध होता है, अधिक का बध नही होता है। जिससे शेष तीन आयु का भाग भी बध्यमान किसी एक ही आयु को प्राप्त होता है। इसलिये स्वकीय—स्वजातीय प्रकृति द्वारा लभ्य-प्राप्त करने योग्य भाग के प्रवेश द्वारा ही उसका उत्कृष्ट प्रदेशबध सभव है। तथा—

'सेसाण उभयओ होइ' अर्थात् पूर्वोक्त से शेष रहे दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, नाम और गोत्र इन पाच कर्मो का उत्कृष्ट प्रदेशबध स्वकीय—अपनी स्वजातीय और परकीय—अन्य प्रकृतियो के भाग का प्रवेश होने से, इस प्रकार दोनो रूप से होता है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मोहनीयकर्म को कुछ एक प्रकृतियो का आयुबध के विच्छेदकाल मे उस आयु के भाग का प्रवेश होने मे उत्कृष्ट प्रदेशबध होता है और कितनी ही प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबध स्वजातीय प्रकृतियो का बध-विच्छेद होने के बाद उन विच्छिन्न हुई प्रकृतियो के भाग का प्रवेश होने से होता है। इसी प्रकार दर्शनावरण, वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशबध के लिये भी समझ लेना चाहिये।

प्रवेश होने से इन दोनो कर्मो की प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबध नही होता है। क्योकि ज्ञानावरण और अन्तराय इन दोनो कर्मो की उत्तर प्रकृतियो का एक साथ बधविच्छेद होता है। तथा—

'आउगस्स नियगाओ' अर्थात् आयु का अपनी स्वजातीय प्रकृति को प्राप्त भाग के प्रवेश द्वारा ही उत्कृष्ट प्रदेशबध होता है। जो इस प्रकार समझना चाहिये—आयुकर्म के बध के समय जीव आठो मूल प्रकृतियो का बाधक होता है। इसलिये अन्य प्रकृति के भाग का प्रवेश होने से उसका उत्कृष्ट प्रदेशबध नही होता है। किन्तु स्वजातीय प्रकृति द्वारा लभ्य भाग के प्रवेश द्वारा ही होता है। इसका कारण यह है कि आयु-कर्म के अवान्तर भेद चार है और तथाप्रकार का जीवस्वभाव होने से एक समय चार मे से किसी भी एक आयु का ही बध होता है, अधिक का बध नही होता है। जिससे शेष तीन आयु का भाग भी बध्यमान किसी एक ही आयु को प्राप्त होता है। इसलिये स्वकीय—स्वजातीय प्रकृति द्वारा लभ्य-प्राप्त करने योग्य भाग के प्रवेश द्वारा ही उसका उत्कृष्ट प्रदेशबध सभव है। तथा—

'सेसाण उभयओ होइ' अर्थात् पूर्वोक्त से शेष रहे दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, नाम और गोत्र इन पाच कर्मो का उत्कृष्ट प्रदेशबध स्वकीय—अपनी स्वजातीय और परकीय—अन्य प्रकृतियो के भाग का प्रवेश होने से, इस प्रकार दोनो रूप से होता है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मोहनीयकर्म की कुछ एक प्रकृतियो का आयुबध के विच्छेदकाल मे उस आयु के भाग का प्रवेश होने मे उत्कृष्ट प्रदेशबध होता है और कितनी ही प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबध स्वजातीय प्रकृतियो का बध-विच्छेद होने के बाद उन विच्छिन्न हुई प्रकृतियो के भाग का प्रवेश होने से होता है। इसी प्रकार दर्शनावरण, वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशबध के लिये भी समझ लेना चाहिये।

उक्त कथन का साराश यह हुआ कि ज्ञानावरण और अन्तराय के सिवाय प्रत्येक कर्म मे स्वजातीय अबद्धमान प्रकृति के भाग के दलिको की प्राप्ति द्वारा एव अन्य नही बधने वाले कर्म के भाग के दलिको की प्राप्ति द्वारा प्रदेशबध मे वृद्धि होती है। ज्ञानावरण और अन्तराय की पाच-पाच प्रकृतिया होने और एक साथ उनका बधविच्छेद होने से सजातीय प्रकृति के भाग के दलिको की प्राप्ति द्वारा तो नही किन्तु परप्रकृति के भाग के दलिको की प्राप्ति द्वारा ही प्रदेशबध मे वृद्धि होती है। जब आयुकर्म सहित आठो कर्मो का बध होता हो, उस समय मोहनीय, वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु मे सजातीय नही बधने वाली प्रकृति के भाग के दलिको के आने से और आयु का बध न होता हो तब नही बधने वाली स्व तथा पर प्रकृति के भाग के दलिको की प्राप्ति द्वारा प्रदेशबध मे वृद्धि होती है। दर्शनावरणकर्म की जब सभी नौ प्रकृतियो का बध होता हो तब तो स्वजातीय प्रकृतियो का भाग प्राप्त नही होता है किन्तु जब छह या चार का बध होता है, तभी स्वजातीय भाग प्राप्त होता है।

पूर्वोक्त प्रकार से प्रदेशबध मे वृद्धि होने की प्रक्रिया का निर्देश करने के बाद अब आयु के विषय मे शकाकार की शका और उसका समाधान प्रस्तुत करते है—

उक्कोसमाइयाणं आउम्मि न संभवो विसेसाणं।
एवमिणं किंतु इमो नेओ जोगट्ठिइविसेसा ॥८२॥

शब्दार्थ—उक्कोसमाइयाण—उत्कृष्ट आदि की, आउम्मि—आयुकर्म मे, न सभवो—सभावना नही है, विसेसाण—विशेषो की, एवमिण—यह इसी प्रकार है, किंतु—किन्तु, इमो—यह, नेओ—जानना चाहिये, जोगट्ठिइविसेसा—योग और स्थिति के विशेष से।

गाथार्थ—उत्कृष्ट आदि विशेषो की आयुकर्म मे सभावना नही है। यह इसी प्रकार है, किन्तु योग और स्थिति के विशेष से यह जानना चाहिये।

विशेषार्थ—गाथा के पूर्वार्ध मे शकाकार की शका और उत्तरार्ध मे उसके समाधान का प्रतिपादन किया गया है।

शका का रूप इस प्रकार है—

शका—'उक्कोसमाइयाण आउम्मि न सभवो विसेसाण अर्थात् आयुकर्म के सम्बन्ध मे उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य रूप विशेष-भेद सम्भव नही है। इसका कारण यह है कि जब आयुकर्म का बध होता है तब आठो कर्मो का बध होने से, उसके बधकाल मे मूल कर्मप्रकृतियो की अपेक्षा उसे सदैव आठवा भाग प्राप्त होता है। अत न्यायदृष्टि से विचार किया जाये तो सर्वदा उसके भाग मे समान ही वर्गणाये प्राप्त होती है किन्तु अल्पाधिक नही। तो फिर उत्कृष्ट आदि विशेपो की सभवता कैसे हो सकती है ? किस रीति से मानी जा सकती है ?

इस प्रकार से शका प्रस्तुत किये जाने पर आचार्य उसका समाधान करते है—

समाधान—'एवमिण' अर्थात् तुमने जो कहा है, वैसा ही है कि आयुवध के समय आठो कर्मो का बध होने से मूल प्रकृति की अपेक्षा सदैव आयु को आठवा भाग प्राप्त होता है। इसलिए उसकी अपेक्षा उत्कृष्ट आदि विशेपो का होना सम्भव नही है। हम भी इस बात को स्वीकार करते है कि मात्र आठवा भाग प्राप्त होने की अपेक्षा उसमे तुल्यरूपता—एक-जैसापन है, हीनाधिकता नही है। फिर भी आयुकर्म मे उत्कृष्टादि रूप जो विशेष है वे योग और स्थिति के भेद से समझना चाहिये—इमो नेओ जोगट्ठिइविसेसा'। जिसका स्पष्ट आशय इस प्रकार हे—

जव जीव उत्कृष्ट योग मे वर्तमान होता है, तव उत्कृष्ट प्रदेश—अधिक से अधिक वर्गणाओ को ग्रहण करता हे, मध्यम योग मे मध्यम और जघन्य योग मे जघन्य—कम से कम वर्गणाओ को ग्रहण करता

है। इस प्रकार होने से आयुकर्म का उत्कृष्टादि रूप भाग भी उसके अनुसार ही होता है तथा जब अधिक स्थिति वाले आयुकर्म का बध होता है, तब उसका भाग अधिक होता है और जघन्य स्थिति वाले के बधने पर भाग भी जघन्य होता है। इस प्रकार योग और स्थिति के भेद मे आयुकर्म के उत्कृष्टादि रूप विशेष भग होना सम्भव है।

इसी कारण पूर्व गाथा मे आयुकर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबध होने की प्रक्रिया का विचार किया गया है।

इस प्रकार से भाग-विभाग प्ररूपणा का विचार करने के अनन्तर अब सादि-अनादि प्ररूपणा करते है। वह दो प्रकार की है—१ मूल प्रकृति विषयक और २ उत्तर प्रकृति विषयक। दोनो मे से अल्प वक्तव्य होने से पहले मूल प्रकृति विषयक सादि अनादि प्ररूपणा करते है।

मूल प्रकृति विषयक सादि-अनादि प्ररूपणा

मोहाउयवज्जाण अणुक्कोसो साइयाइओ होइ।
साई अधुवा सेसा आउमोहाण सव्वेवि ॥८३॥

शब्दार्थ—**मोहाउयवज्जाण**—मोहनीय और आयु वर्जित कर्मों का, **अणुक्कोसो**—अनुत्कृष्ट, **साइयाइओ**—सादि आदि भेदो वाला, **होइ**—होता है, **साई**—सादि, **अधुवा**—अध्रुव, **सेसा**—शेप विकल्प, **आउमोहाण**—आयु और मोहनीय के, **सव्वेवि**—सभी।

गाथार्थ—मोहनीय और आयु वर्जित छह कर्मो का अनुकृष्ट प्रदेशबध सादि आदि चारो भेद वाला है और शेप जघन्यादि सादि, अध्रुव है तथा आयु और मोहनीय के सभी प्रकार भी सादि और अध्रुव हैं।

विशेषार्थ—उत्कृष्ट आदि बधप्रकारो का पूर्व मे निर्देश किया जा चुका है। प्रदेशबध के सन्दर्भ मे भी उन्ही बधप्रकारो के सादि-

अनादि आदि विकल्पो का विचार किया जा रहा है। मूल प्रकृतियो की अपेक्षा जो इस प्रकार है—

'मोहाउयवज्जाण' अर्थात् मोहनीय और आयु कर्म के सिवाय शेष रहे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय इन छह कर्मो का अनुत्कृष्ट प्रदेशबध 'साइयाइओ होइ' सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस प्रकार चारो तरह का होता है तथा उन्ही छहो के अनुत्कृष्ट से शेष रहे उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य विकल्प सादि और अध्रुव है—'साइ अधुवो सेसा'।

अब पूर्वोक्त छह कर्मो से शेष रहे मोहनीय और आयु कर्म के प्रदेश-बंध के बधप्रकारो के विकल्पो को बतलाते है कि 'आउमोहाण सव्वेवि' अर्थात् आयु और मोहनीय कर्म के जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट ये सभी भेद सादि और अध्रुव होते है।

इस प्रकार सामान्यत मूल प्रकृतियो के उत्कृष्ट आदि भेदो के विकल्पो का निर्देश करने के बाद अब कारण सहित विस्तारपूर्वक बत-लाते है। उसमे भी पहले मोहनीय और आयु को छोडकर छह कर्मो के भेदो का विचार करते है—

छब्बधगस्स उक्कस्स जोगिणो साइ अधुव उक्कोसो।
अणुक्कोस तच्चुयाओ अणाइअधुवाधुवा सुगमा ॥८४॥

होइ जहन्नोऽपज्जत्तगस्स सुहुमनिगोय जीवस्स।
तस्स मउप्पन्नग सत्तबधगस्सप्पविरियस्स ॥८५॥

एक्क समय अजहन्नो तओ साइ अद्धुवा दोवि।

शब्दार्थ—**छब्बधगस्स**—इन छह कर्मों के बधक के, **उक्कस्स जोगिणो**—उत्कृष्ट योगी के, **साइ**—सादि, **अधुव**—अध्रुव, **उक्कोसो**—उत्कृष्ट, **अणु-क्कोस**—अनुत्कृष्ट, **तच्चुयाओ**—वहाँ से गिरने पर, **अणाइ**—अनादि, **अधुवा**—अध्रुव, **धुवा**—ध्रुव, **सुगमा**—सुगम हैं।

होइ—होता है, **जहन्नो**—जघन्य, **अपज्जत्तगस्स**—अपर्याप्तक के, **सुहमनिगोयजीवस्स**—सूक्ष्म निगोदिया जीव के, **तस्समउप्पन्नग**—उसी समय उत्पन्न के, **सत्तबधगस्स**—सात कर्म के बधक के, **अप्पविरियस्स**—अल्प वीर्य वाले, जघन्य योगी के ।

एक्क—एक, **समय**—समय, **अजहन्नो**—अजघन्य, **तओ**—तत्पश्चात्, **साइ**—सादि, **अद्धुवा**—अध्रुव, **दोवि**—दोनो ही ।

गाथार्थ—इन छह कर्मों के बंधक उत्कृष्ट योगी के उत्कृष्ट प्रदेशबध सादि, अध्रुव है । वहाँ से गिरने पर अनुत्कृष्ट होता है तथा अनादि, अध्रुव और ध्रुव सुगम है ।

उसी समय—प्रथम समय—उत्पन्न जघन्य योगी सात कर्म के बधक अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव के एक समय पर्यन्त जघन्य प्रदेशबध होता है, तत्पश्चात् अजघन्य होता है । ये दोनो सादि, अध्रुव हैं ।

विशेषार्थ—उक्त गाथाओ मे आयु और मोहनीय कर्म को छोडकर शेप ज्ञानावरण आदि छह कर्मों के उत्कृष्ट आदि चारो बधप्रकारो के सादि आदि विकल्प होने के कारण का निर्देश किया है । जिसका सविस्तार स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

'छव्वधगस्स' अर्थात् मोहनीय और आयु के सिवाय ज्ञानावरणादि छह कर्मो के बधक उत्कृष्ट योगी सूक्ष्मसपरायगुणस्थानवर्ती क्षपक अथवा उपशमक जीव के एक अथवा दो समय पर्यन्त मोह और आयु के बिना छह कर्मो का उत्कृष्ट प्रदेशबध होता है । उसके उसी समय होने से सादि और दूसरे या तीसरे समय विच्छिन्न होने से अध्रुव-सात है ।

उक्त उत्कृष्ट प्रदेशबध के अतिरिक्त अन्य सब प्रदेशबध अनुत्कृष्ट है । वह अनुत्कृष्ट प्रदेशबध उत्कृष्ट प्रदेशबध करके वहाँ से गिरने पर होता हैं । जिसमे वह सादि है । अथवा उपशातमोहगुणस्थान मे

अनादि आदि विकल्पो का विचार किया जा रहा है। मूल प्रकृतियो की अपेक्षा जो इस प्रकार है—

'मोहाउयवज्जाण' अर्थात् मोहनीय और आयु कर्म के सिवाय शेष रहे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय इन छह कर्मो का अनुत्कृष्ट प्रदेशबध 'साइयाइओ होइ' सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस प्रकार चारो तरह का होता है तथा उन्ही छहो के अनुत्कृष्ट से शेष रहे उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य विकल्प सादि और अध्रुव हैं—'साइ अधुवो सेसा'।

अब पूर्वोक्त छह कर्मो से शेष रहे मोहनीय और आयु कर्म के प्रदेश-बंध के बधप्रकारो के विकल्पो को बतलाते है कि 'आउमोहाण सव्वेवि' अर्थात् आयु और मोहनीय कर्म के जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट ये सभी भेद सादि और अध्रुव होते हैं।

इस प्रकार सामान्यत मूल प्रकृतियो के उत्कृष्ट आदि भेदो के विकल्पो का निर्देश करने के बाद अब कारण सहित विस्तारपूर्वक बतलाते है। उसमे भी पहले मोहनीय और आयु को छोडकर छह कर्मो के भेदो का विचार करते है—

छब्बधगस्स उक्कस्स जोगिणो साइ अधुव उक्कोसो।
अणुक्कोस तच्चुयाओ अणाइअधुवाधुवा सुगमा ॥८४॥

होइ जहन्नोऽपज्जत्तागस्स सुहुमनिगोय जीवस्स।
तस्समउप्पन्नग सत्तबधगस्सप्पविरियस्स ॥८५॥

एक्क समय अजहन्नो तओ साइ अद्धुवा दोवि।

शब्दार्थ—छब्बधगस्स—इन छह कर्मों के बधक के, **उक्कस्स जोगिणो**—उत्कृष्ट योगी के, **साइ**—सादि, **अधुव**—अध्रुव, **उक्कोसो**—उत्कृष्ट, **अणुक्कोस**—अनुत्कृष्ट, **तच्चुयाओ**—वहाँ से गिरने पर, **अणाइ**—अनादि, **अधुवा**—अध्रुव, **धुवा**—ध्रुव, **सुगमा**—सुगम है।

होइ—होता है, **जहन्नो**—जघन्य, **अपज्जत्तगस्स**—अपर्याप्तक के, **सुहमनिगोयजीवस्स**—सूक्ष्म निगोदिया जीव के, **तस्समउप्पन्नग**—उसी समय उत्पन्न के, **सत्तबंधगस्स**—सात कर्म के बंधक के, **अप्पविरियस्स**—अल्प वीर्य वाले, जघन्य योगी के।

एक्क—एक, **समय**—समय, **अजहन्नो**—अजघन्य, **तओ**—तत्पश्चात्, **साइ**—सादि, **अद्धुवा**—अध्रुव, **दोवि**—दोनो ही।

गाथार्थ—इन छह कर्मो के बंधक उत्कृष्ट योगी के उत्कृष्ट प्रदेशबंध सादि, अध्रुव है। वहाँ से गिरने पर अनुत्कृष्ट होता है तथा अनादि, अध्रुव और ध्रुव सुगम है।

उसी समय—प्रथम समय—उत्पन्न जघन्य योगी सात कर्म के बंधक अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव के एक समय पर्यन्त जघन्य प्रदेशबंध होता है, तत्पश्चात् अजघन्य होता है। ये दोनो सादि, अध्रुव हैं।

विशेषार्थ—उक्त गाथाओ मे आयु और मोहनीय कर्म को छोडकर शेप ज्ञानावरण आदि छह कर्मो के उत्कृष्ट आदि चारो बंधप्रकारो के सादि आदि विकल्प होने के कारण का निर्देश किया है। जिसका सविस्तार स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

'छव्वंधगस्स' अर्थात् मोहनीय और आयु के सिवाय ज्ञानावरणादि छह कर्मो के बंधक उत्कृष्ट योगी सूक्ष्मसपरायगुणस्थानवर्ती क्षपक अथवा उपशमक जीव के एक अथवा दो समय पर्यन्त मोह और आयु के बिना छह कर्मो का उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है। उसके उसी समय होने से सादि और दूसरे या तीसरे समय विच्छिन्न होने से अध्रुव-सात है।

उक्त उत्कृष्ट प्रदेशबंध के अतिरिक्त अन्य सब प्रदेशबंध अनुत्कृष्ट है। वह अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध उत्कृष्ट प्रदेशबंध करके वहाँ से गिरने पर होता है। जिसमे वह सादि है। अथवा उपशातमोहगुणस्थान मे

बधविच्छेद होने के पश्चात् वहाँ से गिरने पर मन्द योगस्थान मे वर्तमान जीव को होता है। इस तरह वह सादि है और अनादि, ध्रुव और अध्रुव तो सुगम है। जो इस प्रकार जानना चाहिए कि बधविच्छेदस्थान को अथवा उत्कृष्ट प्रदेशबधस्थान को जिन्होने प्राप्त नही किया उनके अनुत्कृष्ट प्रदेशबध अनादि है और ध्रुव, अध्रुव क्रमश अभव्य और भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये।

इस प्रकार आयु और मोहनीय कर्म के बिना शेष छह कर्मों के उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट प्रदेशबध का विचार करने के बाद जघन्य-अजघन्य का विचार करते है।

तत्समयोत्पन्न यानि उत्पत्ति के प्रथम समय मे वर्तमान सबसे अल्प वीर्य वाले, सात कर्मों के बधक अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव को मोहनीय और आयु के बिना शेप छह कर्म का, सामर्थ्य[1] से मात्र एक समय ही जघन्य प्रदेशबध होता है। अनन्तरवर्ती समय मे अजघन्य होता है। तत्पश्चात् कालान्तर मे पुन भी जघन्य-अजघन्य प्रदेशबध होता है। इस प्रकार एक के बाद दूसरा इस क्रम से होते रहने से दोनो सादि और अध्रुव है।

उक्त समग्र कथन का सक्षिप्त साराश यह है कि ज्ञानावरणादि छह कर्मों का उत्कृष्ट प्रदेशबध मोहनीयकर्म का बधविच्छेद होने के बाद सूक्ष्मसपरायगुणस्थान मे उत्कृष्ट योग मे वर्तमान क्षपक अथवा उपशमक को एक या दो समय पर्यन्त होता है। इसलिए उत्कृष्ट प्रदेशबध तो सादि-सात ही है। इसके सिवाय शेष रहा अन्य समस्त प्रदेश

---

१ यहाँ सामर्थ्य से एक समय कहने का कारण यह है कि सभी अपर्याप्त जीव अपर्याप्तावस्था मे पूर्व-पूर्व से उत्तर-उत्तर समय मे असख्य-असख्य गुण बढते हुए योगस्थान मे जाते हैं। जिससे जघन्य योग मात्र पहले समय मे होता है, दूसरे आदि समयो मे नही। इसीलिये जघन्य प्रदेशबध भी एक समय होना बताया है।

बध अनुत्कृष्ट है। वह अनुत्कृष्ट प्रदेशबध उत्कृष्ट प्रदेशबध करके वहाँ से गिरने अथवा उपशातमोहगुणस्थान मे बधविच्छेद होने के अनन्तर वहाँ से गिरने पर मन्द योगस्थानवर्ती जीव को होने से सादि है। उस स्थान को जिन्होने प्राप्त नही किया है, उनकी अपेक्षा अनादि तथा अभव्य एव भव्य की अपेक्षा क्रमश ध्रुव और अध्रुव जानना चाहिए। तथा—

इन छह कर्मो के जघन्य और अजघन्य विकल्प सादि-सात है। जघन्य प्रदेशबध तो उत्पत्ति के प्रथम समय मे वर्तमान सबसे अल्प वीर्य वाले और सात कर्म के बधक सूक्ष्म निगोदिया जीव को एक समय मात्र होता है और दूसरे समय मे उसी को अजघन्य प्रदेशबध होता है तथा पुन सख्यात अथवा असख्यात काल बीतने के बाद जघन्य योग और अपर्याप्त सूक्ष्म निगोद अवस्था प्राप्त होने पर प्रथम समय मे जघन्य और उसके बाद के समय मे अजघन्य प्रदेशबध होता है। इस प्रकार ससारी जीव के अनेक बार जघन्य और अजघन्य प्रदेशबध मे परावर्तमान होते रहने से दोनो सादि-सात है।

इस प्रकार से मोहनीय और आयु के सिवाय शेष ज्ञानावरण आदि छह कर्मों के उत्कृष्ट प्रदेशबध आदि चारो प्रकारो की सादि-अनादि प्ररूपणा जानना चाहिए। अब मोहनीय और आयु कर्म के उत्कृष्ट प्रदेश-बध आदि प्रकारो की सादि-अनादि प्ररूपणा करते है।

> मोहेवि इमे एव आउम्मि य कारण सुगम ॥८६॥
> मोहस्स अइकिलिट्ठे उक्कोसो सत्तबधए मिच्छे।
> एक्क समयंणुक्कोसओ तओ साइअधुवाओ ॥८७॥

शब्दार्थ—मोहेवि—मोहनीयकर्म के भी, इमे—ये, एव—इसी प्रकार, आउम्मि—आयु मे, य—और, कारण—कारण, सुगम—सुगम है।

मोहस्स—मोहनीय का, अइकिलिट्ठे—अति सक्लिष्ट, उक्कोसो—उत्कृष्ट, सत्तबधए—सात का बध करने वाले, मिच्छे—मिथ्यादृष्टि, एक्क—एक,

समय—समय, णुक्कोसओ—अनुत्कृष्ट, तओ—इसके बाद, साइअधुवाओ—सादि, अध्रुव।

गाथार्थ—मोहनीयकर्म के भी ये दोनो (जघन्य, अजघन्य) इसी प्रकार जानना चाहिये तथा आयु के सम्बन्ध मे तो कारण सुगम है।

अति सक्लिष्ट परिणामी सात कर्मो का बध करने वाले मिथ्यादृष्टि (अथवा सम्यग्दृष्टि) के एक समय पर्यन्त उत्कृष्ट और उसके बाद अनुत्कृष्ट प्रदेशबध होता है, इसलिए ये दोनो सादि, अध्रुव हैं।

विशेषार्थ—ग्रन्थकार आचार्य ने इस डेढ गाथा मे मोहनीय और आयु कर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबध आदि चारो प्रकारो के सादि आदि विकल्पो का प्रतिपादन किया है।

सर्वप्रथम मध्यदीपकन्याय से पूर्व मे आये जघन्य, अजघन्य पद को यहाँ ग्रहण करके बताया है कि 'मोहेवि इमे एव'— अर्थात् मोहनीयकर्म के जघन्य और अजघन्य प्रदेशबध को भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए। यानी पूर्व मे जैसे ज्ञानावरण आदि छह कर्मो के जघन्य और अजघन्य प्रदेशबध के सादित्व और अध्रुवत्व का विचार किया है कि जघन्य प्रदेशबध उत्पत्ति के प्रथम समय मे वर्तमान सबमे अल्प वीर्य वाले और सात कर्म के बधक सूक्ष्म निगोदिया जीव को एक समय मात्र होता है और दूसरे समय उसी को अजघन्य होता है, इत्यादि उसी प्रकार से यहाँ भी समझ लेना चाहिए तथा आयुकर्म के तो जघन्य आदि चारो विकल्प सादि, अध्रुव ही जानना चाहिए। क्यो कि आयु अध्रुवबधिनी प्रकृति है और अध्रुवबधिनी प्रकृति सादि, अध्रुव होती है। इसलिए उसके उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य ये चारो विकल्प सादि और अध्रुव है।

इस प्रकार ग्रन्थलाघव की अपेक्षा प्रसगोपात्त आयुकर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबध आदि चारो प्रकारो के सादित्व का विचार करने के बाद

अब मोहनीयकर्म के शेष रहे उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट प्रदेशबध के सादित्व आदि विकल्पो को स्पष्ट करते है—

अति सक्लिष्ट परिणामी अर्थात् उत्कृष्ट योगस्थान मे वर्तमान यानि अत्यन्त बलवान तथा सात कर्मो का बध करने वाले मिथ्यादृष्टि अथवा उपलक्षण से सम्यग्दृष्टि जीव के एक अथवा दो समय उत्कृष्ट प्रदेशबध और उसके बाद शेषकाल मे अनुत्कृष्ट प्रदेशबध होता है। पुन इसी तरह कालान्तर मे उत्कृष्ट और उसके बाद अनुत्कृष्ट प्रदेशबध होता है। इस तरह क्रमश. एक के बाद दूसरे के होने से दोनो 'साइ अधुवाओ'—सादि, अध्रुव है।

इस प्रकार से मूल प्रकृतियो सम्बन्धी सादि-अनादि प्ररूपणा जानना चाहिए। अब क्रम प्राप्त उत्तर प्रकृति विषयक सादि-अनादि प्ररूपणा करते है।

उत्तर प्रकृति विषयक सादि-अनादि प्ररूपणा

नाणतरायनिद्दा अणवज्जकसाय भयदुगंछाण।
दंसणचउपयलाण चउवि (व्वि) गप्पो अणुक्कोसो ॥८८॥
निययअबधचुयाण णुक्कोसो साइणाइ तमपत्ते।
सेसा साइ अधुवा सव्वे सव्वाण सेसपगईणं ॥८९॥
साई अधुवोऽधुवबधियाणऽधुवबधणा चेव।

शब्दार्थ—नाणतराय—ज्ञानावरण, अन्तराय, निद्दा—निद्रा—अणवज्जकसाय—अनन्तानुबधी को छोडकर शेष कषाय, भयदुगछाण—भय और जुगुप्सा, दसणचउ—दर्शनावरणचतुष्क, पयलाण—प्रचला का, चउविगप्पो—चार प्रकार का, अणुक्कोसो—अनुत्कृष्ट प्रदेशबध।

निययअबधचुयाण—अपने अबधस्थान से गिरे हुओ को, णुक्कोसो—अनुत्कृष्ट प्रदेशबध, साइ—सादि, णाइ—अनादि, तमपत्ते—उस स्थान की प्राप्ति

नही करने वाले के, **सेसा**—शेप प्रकार, **साई अधुवा**—सादि, अध्रुव (सात), **सव्वे**—सब, **सव्वाण**—सभी, **सेसपगईण**—शेप प्रकृतियो के ।

साई—सादि, **अधुवा**—अध्रुव (सात), **अधुवबधियाण**—अध्रुवबधिनी प्रकृतियो के, **अधुवबधणा चेव**—अध्रुवबधिनी होने से ही ।

गाथार्थ—ज्ञानावरणपचक, अन्तरायपचक, निद्रा, अनन्तानुबधी को छोडकर शेष बारह कषाय, भय, जुगुप्सा, दर्शनावरण-चतुष्क और प्रचला का अनुत्कृष्ट प्रदेशबध चार प्रकार का है ।

(पूर्वोक्त तीस प्रकृतियो का) अपने अबधस्थान से गिरे हुओ को अनुत्कृष्ट प्रदेशबध होता है जिससे वह सादि है और उस स्थान को प्राप्त नही करने वालो के अनादि है । उक्त प्रकृतियो के शेप विकल्प तथा शेष सभी प्रकृतियो के सब विकल्प सादि, अध्रुव (सात) है ।

अध्रुवबधिनी प्रकृतियो के अध्रुवबधिनी होने से उनके उत्कृष्ट आदि विकल्प सादि, अध्रुव (सात) है ।

विशेषार्थ—यहाँ प्रदेशबध की अपेक्षा ध्रुवबधिनी और अध्रुवबधिनी के क्रम मे उत्तर प्रकृतियो की सादि-अनादि प्ररूपणा की है । ध्रुवबधिनी प्रकृतिया सैंतालीस और अध्रुवबधिनी प्रकृतिया तिहत्तर है । सुगमता की दृष्टि से यह सादि-अनादि प्ररूपणा करने के लिए ध्रुवबधिनी प्रकृतियो के दो विभाग किये है । प्रथम विभाग मे ज्ञानावरण-पचक आदि भय, जुगुप्सा पयन्त तीस प्रकृतिया हे और द्वितीय विभाग मिथ्यात्व आदि निर्माण पर्यन्त सत्रह प्रकृतियो का है ।

प्रथम विभाग की ज्ञानावरणपचक आदि तीस प्रकृतियो के लिए सकेत किया है—'चउविगप्पो अणुक्कोसो' इनका अनुकृष्ट बधप्रकार सादि आदि चारो भग वाला है और साथ ही अनुकृष्ट बध को सादि, अनादि भग वाले होने के कारण को स्पप्ट किया [illegible] यह अनुत्क्रष्ट बध अपने अबधस्थान से गिरने वालो की अपेक्ष [illegible]

(अध्रुव) स्थान को प्राप्त नहीं करने वालो की अपेक्षा अनादि है—'नियअबवच्चुयाण णुक्कोसो साइणाइ तमपत्ते'। यद्यपि ग्रन्थकार आचार्य ने ध्रुव और अध्रुव होने के कारण का सकेत नही किया है, लेकिन सुगम होने से स्वय समझ लेना चाहिए तथा अनुत्कृष्ट से शेष रहे उक्त प्रकृतियो के उत्कृष्ट, जघन्य, अजघन्य बध एव अन्य सत्रह ध्रुवबधिनी प्रकृतियो तथा अध्रुवबधिनी होने से अध्रुवबधिनी प्रकृतियो के उत्कृष्ट आदि चारो बधप्रकार सादि-सात (अध्रुव) विकल्प वाले जानना चाहिये।

उक्त सक्षिप्त कथन का विशेषता के साथ स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मतिज्ञानावरण आदि ज्ञानावरणपचक, दानान्तराय आदि अन्तरायपचक, निद्रा, अनन्तानुबधिकषायचतुष्क को छोडकर शेष बारह कषाय, भय, जुगुप्सा, चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शन रूप दर्शनावरणचतुष्क और प्रचला इन ध्रुवबधिनी तीस प्रकृतियो का अनुत्कृष्ट प्रदेशबध 'चउविगप्पो'—सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है। जो इस प्रकार जानना चाहिए—

ज्ञानावरणपचक, अन्तरायपचक और चक्षुदर्शनावरण आदि रूप दर्शनावरणचतुष्क इन चौदह प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबध उत्कृष्ट योग मे वर्तमान क्षपक या उपशमक सूक्ष्मसपरायगुणस्थानवर्ती जीव को एक समय या दो समय पर्यन्त होता है। क्योकि उत्कृष्ट योग मे वर्तमान होने से वह अधिक दलिको को ग्रहण करता है तथा आयु एव मोहनीय कर्म की प्रकृतियो का बधविच्छेद हो जाने कारण उनका भाग भी इनको प्राप्त होता है एव दर्शनावरणचतुष्क मे तो स्वजातीय नही बधने वाली प्रकृतियो का भाग भी प्राप्त होता है। जो प्रतिनियत एक या दो समय होने से सादि और सात है।

तत्पश्चात् समयान्तर मे मन्द योगस्थान मे वर्तमान उसी जीव को अनुत्कृष्ट प्रदेशबध होता है तब अथवा उपशातमोहगुणस्थान मे बध-

विच्छेद होने के बाद वहाँ से पतन होने पर अनुत्कृष्ट प्रदेशबध करे तब उसकी सादि होती है। उस उत्कृष्ट प्रदेशबध योग्य स्थान अथवा विच्छेदस्थान को जिन्होने प्राप्त नही किया, उनकी अपेक्षा अनादि तथा अभव्य का ध्रुव और भव्य को अध्रुव जानना चाहिये।

निद्रा और प्रचला का उत्कृष्ट प्रदेशबध उत्कृष्ट योगस्थान मे वर्तमान सात कर्मो का बध करने वाले अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक के जीव को एक अथवा दो समय होता है। इसका कारण यह है कि उत्कृष्ट योगस्थान सम्भव होने से अधिक दलिको को ग्रहण करता है एवं न बधने वाली आयु एवं स्त्यानर्द्धित्रिक प्रकृतियो का भी भाग प्राप्त होता है। अतएव उत्कृष्ट के एक या दो समय पर्यन्त होने से सादि-सात है।

उसके बाद समयान्तर मे अनुत्कृष्ट प्रदेशबध होता है, जिससे वह भी सादि हे। अथवा बधविच्छेदस्थान को प्राप्त करके वहाँ से गिरने पर मन्द योगस्थान मे वर्तमान होने से अनुत्कृष्ट प्रदेशबध होता है, जिसमे वह सादि है। उत्कृष्ट प्रदेशबध योग्य अथवा बधविच्छेद-स्थान को जिन्होने प्राप्त नही किया, उनको अनादि और ध्रुव, अध्रुव क्रमश अभव्य और भव्य की अपेक्षा है।

अप्रत्याख्यानावरणकपायचतुष्क का उत्कृष्ट प्रदेशबध उत्कृष्ट योग मे वर्तमान अविरतसम्यग्दृष्टि जीव को एक या दो समय होता है। क्योकि उत्कृष्ट योगस्थान मे वर्तमान होने से अधिक दलिको को ग्रहण करता है तथा स्वजातीय मिथ्यात्व एव अनन्तानुबधिकपायो का बध नही होने से उनके भाग का प्रवेश होता है। उस उत्कृष्ट योगस्थान से गिरे अथवा बधविच्छेदस्थान को प्राप्त कर वहाँ से गिरे तब मन्द योगस्थान मे रहते हुए अनुत्कृष्ट प्रदेशबध को प्रारम्भ करे तब उसकी सादि होती है। उत्कृष्ट बधस्थान अथवा व्यवच्छेद-स्थान को जिन्होने प्राप्त नही किया, उनको अनादि और अभव्य की अपेक्षा ध्रुव एव भव्य की अपेक्षा अध्रुव जानना चाहिये।

प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क का उत्कृष्ट प्रदेशबध उत्कृष्ट योग मे वर्तमान देशविरति जीव के एक अथवा दो समय पर्यन्त होता है। क्योकि उत्कृष्ट योगवशात् अधिक दलिको को ग्रहण करता है तथा स्वजातीय मिथ्यात्व, अनन्तानुबधि और अप्रत्याख्यानावरण रूप कषायो का बध न होने से उनका भाग भी प्राप्त होता है। उसके एक या दो समय ही होने से सादि सात है।

उस उत्कृष्ट प्रदेशबध से गिरने पर अनुत्कृष्ट प्रदेशबध होता है तब अथवा बधविच्छेदस्थान को प्राप्त कर वहाँ मे पतन हो तब, मन्द योगस्थान मे रहते हुए अनुत्कृष्ट प्रदेशबध होने पर उसकी सादि होती है। उस उत्कृष्ट बधयोग्य स्थान अथवा बधविच्छेदस्थान को जिन्होने प्राप्त नही किया, उनको अनादि और ध्रुव, अध्रुव अभव्य, भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये।

भय और जुगुप्सा का उत्कृष्ट योगी अपूर्वकरणगुणस्थान मे वर्तमान जीव को एक अथवा दो समय उत्कृष्ट प्रदेशबध होता है। क्योकि उत्कृष्ट योगवशात् वह अधिक वर्गणाओ को ग्रहण करता है एव मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबधि आदि अबध्यमान स्वजातीय प्रकृतियो के भाग का भी उनमे प्रवेश होता है।[1] उसको उत्कृष्ट से भी मात्र दो समय होने से सादि-सात है। उस उत्कृष्ट से अनुकृष्ट मे जाने पर उस अनुत्कृष्ट की सादि है, अथवा बधविच्छेदस्थान को प्राप्त कर वहाँ से गिर

---

१ अबध्यमान मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबधि आदि बारह कषायो का भाग मिलने से भय, जुगुप्सा के उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी अपूर्वकरणगुणस्थानवर्ती जीव बताया है। परन्तु अबध्यमान मिथ्यात्वादि तेरह प्रकृतियो का भाग प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान मे भी मिलता है। जिससे इन दो गुणस्थानवर्ती जीवो को भी भय और जुगुप्सा के उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी कहना चाहिये। परन्तु क्यो नही बताया ? यह विचारणीय है। विद्वज्जन इस पर विचार करे।

कर अनुत्कृष्ट योगस्थान मे रहते हुए अनुत्कृष्ट प्रदेशबध प्रारम्भ करे तब उसकी सादि होती है। उस उत्कृष्ट प्रदेशबध योग्य स्थान अथवा बधविच्छेदस्थान को जिन्होने प्राप्त नही किया, उनकी अपेक्षा अनादि एव ध्रुव, अध्रुव क्रमश अभव्य, भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये।

सज्वलन क्रोध का उत्कृष्ट प्रदेशबध उत्कृष्ट योगस्थान मे वर्त-मान सज्वलनचतुष्क के बधक अनिवृत्तिबादरसपरायगुणस्थानवर्ती जीव को एक या दो समय होता है। क्योकि उत्कृष्ट योग के कारण वह अधिक दलिको को ग्रहण करता है और मिथ्यात्वादि प्रकृतियो के तथा पुरुषवेद के भाग का प्रवेश होता है तथा सज्वलन मानादि तीन प्रकृतियो के बधक उत्कृष्ट योगी उसी अनिवृत्तिबादरसपरायगुणस्थानवर्ती जीव के एक या दो समय सज्वलन मान का (सज्वलन क्रोध के भाग का भी प्रवेश होने के कारण) उत्कृष्ट प्रदेशबध होता है और सज्वलन मायादि द्विविध बधक उत्कृष्ट योगी उसी अनिवृत्तिबादरसपरायगुणस्थानवर्ती जीव के सज्वलन मान के भाग का भी प्रवेश होने से एक या दो समय सज्वलन माया का उत्कृष्ट प्रदेशबध होता है तथा उत्कृष्ट योगी एव सज्वलन लोभ प्रकृति के बधक अनिवृत्तिबादरसपरायगुणस्थानवर्ती जीव के एक या दो समय सज्वलन लोभ का उत्कृष्ट प्रदेशबध होता है। क्योकि मोहनीय का समस्त भाग बध्यमान उस एक प्रकृति रूप ही परिणत होता है। इस प्रकार सज्वलनकषायचतुष्क की चारो प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबध एक या दो समय ही होने के कारण सादि-सात है।

उसके अतिरिक्त शेष समस्त प्रदेशबध अनुत्कृष्ट है। जो उत्कृष्ट प्रदेशबध योग्य स्थान से गिरने अथवा बधविच्छेद के स्थान को प्राप्त करके वहाँ से पतन होने पर मन्द योगस्थानवर्ती जीव के होने से सादि है। उत्कृष्ट प्रदेशबध योग्य स्थान अथवा बधविच्छेदस्थान को प्राप्त नही करने वालो की अपेक्षा अनादि है और ध्रुव, अध्रुव क्रमश अभव्य और भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये।

मिथ्यादृष्टि के ये दोनो क्रमश होते रहने के कारण सादि, अध्रुव (सात) है। तथा—

तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, उपघात, वर्णचतुष्क और निर्माण, नाम-कर्म की इन नौ ध्रुवबधिनी प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबध नामकर्म की तेईस प्रकृतियो[1] के बधक उत्कृष्ट योग मे वर्तमान मिथ्यादृष्टि के एक अथवा दो समय पर्यन्त होता है। इसके सिवाय नामकर्म की पच्चीस आदि प्रकृतियो के बधक के अधिक भाग होने से उत्कृष्ट प्रदेशबध नही होता है। तत्पश्चात् समयान्तर मे अनुत्कृष्ट होता है तथा पुन कालान्तर मे उत्कृष्ट होता है। इस प्रकार क्रमश होने के कारण दोनो सादि-अध्रुव (सात) है।

जघन्य और अजघन्य प्रदेशबध का विचार तीस प्रकृतियो के सदर्भ मे जैसा पूर्व मे किया गया है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये।

इस प्रकार से ध्रुवबधिनी सैंतालीस प्रकृतियो के सादि आदि भगो का विचार जानना चाहिये।

अध्रुवबधिनी समस्त प्रकृतियो के उत्कृष्ट आदि चारो विकल्प उनका अध्रुवबध होने से ही सादि और अध्रुव-सात जानना चाहिये।[2]

प्रदेशबध की अपेक्षा मूल एव उत्तर प्रकृतियो की सादि-अनादि प्ररूपणा उक्त प्रकार मे जानना चाहिये।

सादि-अनादि प्ररूपणा करने के अनन्तर अब क्रमप्राप्त स्वामित्व प्ररूपणा करते है। इस प्रदेशबध-स्वामित्व के दो प्रकार है—१ उत्कृष्ट प्रदेशबध स्वामित्व २ जघन्य प्रदेशबध-स्वामित्व। ये दोनो भी प्रत्येक

---

१ प्रत्येक कर्म की उत्तर प्रकृतियो के बधस्थानो का निर्देश पूर्व मे किया गया है।

२ दिगम्बर कर्मसाहित्य मे की गई प्रदेशबध की सादि-अनादि प्ररूपणा के लिये देखिये पचसग्रह शतक अधिकार गाथा ४९८-५०१।

दो-दो प्रकार के है—मूल प्रकृति सबन्धी, उत्तर प्रकृति सबन्धी। इनमे से पहले मूल और उसके बाद उत्तर प्रकृति विषयक उत्कृष्ट प्रदेशवध के स्वामित्व का विचार करते है।

मूल प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबध-स्वामित्व

जाण जहिं बधतो उक्कोसो ताण तत्थेव ॥९०॥

शब्दार्थ - **जाण**—जिनका, **जहिं**—जहाँ, **बधतो**—वध का अत होता है, **उक्कोसो**—उत्कृष्ट प्रदेशबध, **ताण**—उनका, **तत्थेव**—वहाँ ही।

गाथार्थ—जिन प्रकृतियो के बध का जहाँ अत होता है, वहाँ उन प्रकृतियो का (प्राय) उत्कृष्ट प्रदेशबध होता है।

विशेषार्थ—ग्रन्थकार आचार्य ने उत्कृष्ट प्रदेशबध स्वामित्व के लिये सक्षेप मे जिस करणसूत्र का सकेत किया है, उसका विस्तार से स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

'जाण जहिं बधतो' अर्थात् जिन प्रकृतियो का जिस स्थान मे—गुणस्थान मे बधविच्छेद होता है, उन प्रकृतियो का प्राय वही उत्कृष्ट प्रदेशबध होना समझना चाहिये। तात्पर्य यह हुआ कि जिस गुणस्थान मे जिस प्रकृति का बंधविच्छेद होता है, उस स्थान को प्राप्त हुए और उत्कृष्ट योगस्थान मे वर्तमान जीव उस-उस प्रकृति के उत्कृष्ट प्रदेश-बध के स्वामी है।

उक्त सूत्रात्मक कथन का मूल प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशबध-स्वामित्व के प्रसग मे विस्तृत विवेचन इस प्रकार है—

आयुकर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबध के स्वामी मिथ्यादृष्टि, अविरत-सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत इन पाच गुण-स्थानो मे वर्तमान उत्कृष्ट योगसम्पन्न जीव है। क्योकि इन सभी गुणस्थान वालो के उत्कृष्ट योगस्थान और आयु का वध सभव है।

प्रश्न—सासादनगुणस्थानवर्ती जीव आयु के उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी क्यो नही है ?

उत्तर—तथास्वभाव से सासादनगुणस्थानवर्ती जीव के उत्कृष्ट योगस्थान सभव नही होने से वह आयुकर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी नही है और उसके उत्कृष्ट योगस्थान सभव नही होने का कारण यह है कि यदि सासादनगुणस्थानवर्ती जीव के उत्कृष्ट योग हो तो अनन्तानुबधि का उत्कृष्ट प्रदेशबध सासादन मे ही घट सकता है। क्योकि उस समय मिथ्यात्व के भाग की भी उसको प्राप्ति होती है और यदि ऐसा हो तो अनन्तानुबधि का अनुत्कृष्ट प्रदेशबध सादि-आदि चार विकल्प रूप से घट सकता है। जो इस प्रकार है—

अनन्तानुबधि का उत्कृष्ट प्रदेशबध उक्त न्याय से सासादनगुण-स्थान मे होता है अन्यत्र नही होता है। उस सासादनगुणस्थान से च्युत होने पर जब मिथ्यात्व मे आये तब अनुत्कृष्ट प्रदेशबध होता है, इसलिये सादि है। जिन्होने सासादनगुणस्थान प्राप्त नही किया, उनको अनादि, अभव्यो को ध्रुव और भव्यो को अध्रुव। इस प्रकार से अनुत्कृष्ट प्रदेशबध के चार विकल्प घट सकते है। परन्तु यह कथन शास्त्रकार को इष्ट नही है। क्योकि यह पहले कहा जा चुका है कि अनन्तानुबधि का अनुत्कृष्ट प्रदेशबध सादि और अध्रुव होता है। इस लिये सासादनगुणस्थान मे उत्कृष्ट योग असभव होने से सासादन-गुणस्थानवर्ती जीव आयुकर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी नही है।

मिश्रगुणस्थान मे तो आयु का बध ही नही होने से उसका भी निषेध किया है।

मोहनीयकर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबध के स्वामी सात कर्मों के बधक मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसयत, अप्रमत्तसयत, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिबादरसपराय इन सात गुणस्थानवर्ती जीव हैं।[1] क्योकि इन सबके उत्कृष्ट योगस्थान और मोहनीय के बध का सद्भाव पाया जाता है।

---

१ आचार्य शिवशर्मसूरि ने भी इसी प्रकार शतक मे आयु और मोहनीय कर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबधक गुणस्थानो का उल्लेख किया है—

आउक्कस्स पदेसस्स पच मोहस्स सत्त ठाणाणि।—→

यद्यपि सासादनसम्यग्दृष्टि और मिश्रगुणस्थान मे मोहनीय का सद्भाव है, लेकिन उत्कृष्ट योग न होने से उनके मोहनीय का उत्कृष्ट प्रदेशबंध सभव नही है। क्योकि ऐसा सिद्धान्त है—

सासणसम्मामिच्छेसुक्कोसो जोगो न हवइ त्ति ।

सासादन और मिश्रदृष्टि के उत्कृष्ट योग नही होता है। इसलिये उपर्युक्त सात गुणस्थान वाले ही मोहनीय के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामी है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय इन छह कर्मो का उत्कृष्ट प्रदेशबंध उत्कृष्ट योगस्थान को प्राप्त सूक्ष्म-सपरायगुणस्थानवर्ती जीव के होता है। क्योकि अबध्यमान मोहनीय और आयु का भाग भी उनको प्राप्त होता है।

इस प्रकार से मूल प्रकृति विपयक उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामित्व को जानना चाहिये। अब ध्रुवबंधिनी उत्तर प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेश-बंध के स्वामित्व का विवेचन करते है।

ध्रुवबधिनी उत्तर प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबध-स्वामित्व

मतिज्ञानावरणादि रूप ज्ञानावरणपचक, चक्षुदर्शनावरणादि रूप दर्शनावरणचतुष्क और दानान्तरायादि रूप अन्तरायपचक इन चौदह प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी उत्कृष्ट योगस्थान प्राप्त सूक्ष्म-सपरायगुणस्थानवर्ती जीव है। इसका कारण यह है कि मोहनीय

दिगम्बर कर्मसाहित्य मे पूर्वोक्त से भिन्नता है—

आउक्कस्स पदेसस्स छच्च मोहस्स णव दु ठाणाणि ।

—गो कर्मकाड गा २११

—दि पचसग्रह शतक अधिकार ५०२

आयुकर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबध मिश्रगुणस्थान को छोडकर प्रारम्भ के छह गुणस्थानो मे तथा मोहकर्म का प्रारम्भ के नौ गुणस्थान मे होता है। एतद् विपयक विशेप वक्तव्य परिशिष्ट मे देखिये।

और आयुकर्म का भाग भी इनको प्राप्त होता है और दर्शनावरण-चतुष्क मे स्वजातीय अवध्यमान निद्रापचक के भाग का भी प्रवेश होता है। इसलिये इन चौदह प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी सूक्ष्मसपरायगुणस्थानवर्ती जीव है।

उत्कृष्ट योगस्थान मे वर्तमान और अनुक्रम से चार, तीन, दो और एक प्रकृति का बध करने वाला अनिवृत्तिबादरसपरायगुणस्थान-वर्ती जीव सज्वलन क्रोध, मान माया और लोभ के उत्कृष्ट प्रदेश-बध का स्वामी है। क्योकि बध मे विच्छिन्न हुई प्रकृतियो का भाग उन-उनको प्राप्त होता जाता है।

निद्राद्विक के उत्कृष्ट प्रदेशबध के स्वामी उत्कृष्ट योगस्थान मे वर्तमान, सात कर्म के बधक चौथे अविरतसम्यग्दृष्टि-गुणस्थान से लेकर आठवे अपूर्वकरणगुणस्थान तक के जीव है। इन सभी गुणस्थानो मे उत्कृष्ट योगस्थान और इन प्रकृतियो का बध सभव है एव स्त्यानर्द्धित्रिक और आयु के भाग का प्रवेश होता है।

भय और जुगुप्सा के उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी उत्कृष्ट योग-स्थान मे वर्तमान अपूर्वकरणगुणस्थानवर्ती जीव है। क्योकि उनका उत्कृष्ट प्रदेशबध करते समय मिथ्यात्व, अनन्तानुबधि, अप्रत्याख्याना-वरण और प्रत्याख्यानावरणादि चतुष्क प्रकृतियो के भाग का भी उनमे प्रवेश होता है।

अप्रत्याख्यानावरणकषाय के उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी सात-कर्मो का बधक उत्कृष्ट योग मे वर्तमान अविरतसम्यग्दृष्टि जीव है। क्योकि आयु, मिथ्यात्व और अनन्तानुबधि के भाग का उसमे प्रवेश होता है।

प्रत्याख्यानावरणकषाय के उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी सात का बधक, उत्कृष्ट योगस्थान प्राप्त देशविरत है। क्योकि मिथ्यात्व, अन-न्तानुबधि, अप्रत्याख्यानावरण और आयु के भाग का भी इसमे प्रवेश हो जाता है।

तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, उपघात, वर्णचतुष्क और निर्माण इन नौ प्रकृतियो का सात कर्म का बधक और उसमे भी नामकर्म की एकेन्द्रिय-प्रायोग्य तेईस प्रकृतियो को बाधने वाला, उत्कृष्ट योग मे वर्तमान मिथ्यादृष्टि जीव एक या दो समय पर्यन्त उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी है।

मिथ्यात्व, अनन्तानुबधी और स्त्यानर्द्धित्रिक रूप ध्रुवबधिनी प्रकृतियो और अध्रुवबधिनी प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशबध के स्वामित्व का विचार स्वय ग्रन्थकार आगे करने वाले है। अत यहाँ उनका विचार नही किया है।

इस प्रकार ध्रुवबधिनी प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशबध आदि चार प्रकारो के सादि आदि विकल्पो, मूल प्रकृतियो एव ध्रुवबधिनी उत्तर प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशबध के स्वामित्व और अध्रुवबधिनी उत्तर प्रकृतियो के भी उत्कृष्टबध आदि चारो प्रकारो के सादि आदि विकल्पो को बतलाने के बाद अब अध्रुवबधिनी प्रकृतियो के उत्कृष्ट एव सामान्य से सभी प्रकृतियो के जघन्य प्रदेशबध-स्वामित्व के सामान्य नियम के निर्देशपूर्वक स्वामित्व को बतलाते है।

अध्रुवबधिनी प्रकृतियो के स्वामित्व का नियम व स्वामी

अप्पतरपगइबधे उक्कडजोगी उ सन्निपज्जत्तो।
कुणइ पएसुक्कोसं जहन्नय तस्स वच्चासे[1] ॥६१॥

शब्दार्थ—अप्पतरपगइबधे—अल्पतर प्रकृतियो का बध होने पर, उक्कडजोगी—उत्कृष्ट योग वाला, उ—और, सन्निपज्जत्तो—सज्ञी पर्याप्तक, कुणइ

---

१ तुलना कीजिये—

उक्कस्सजोग सण्णी पज्जत्तो पयडिबधमप्पयर।
कुणइ पदेसुक्कस्स जहण्णय जाण विवरीय ॥

—दि पचसग्रह शतक अधिकार गाथा ५१०

—करता है, पएसुक्कोस—उत्कृष्ट प्रदेशवध को, जहन्नय—जघन्य, तस्स—उससे, वच्चासे—विपरीत स्थिति मे ।

गाथार्थ—अल्पतर प्रकृतियो का वध होने पर उत्कृष्ट योग वाला सज्ञी पर्याप्तक जीव उत्कृष्ट प्रदेशवध करता है और उससे विपरीत स्थिति मे जघन्य प्रदेशवध होता है ।

विशेषार्थ—गाथा मे अध्रुवबधिनी प्रकृतियो के उत्कृष्ट व सामान्य से सभी बध प्रकृतियो के जघन्य प्रदेशबधस्वामित्व के नियम का निर्देश किया है । उसमे से पहले अध्रुवबधिनी प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशबधस्वामित्व का प्रतिपादन करते है—

'अप्पतरपगइबधे' अर्थात् जब मूल प्रकृतियो का अत्यल्प बध हो रहा हो, तब उत्कृष्ट योग मे वर्तमान पर्याप्त सज्ञी जीव के एक या दो समय अध्रुवबधिनी प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबध होता है । अर्थात् किसी भी विवक्षित प्रकृति के उत्कृष्ट प्रदेशबध के विचार के प्रसग मे जब मूलकर्म एव उसकी स्वजातीय प्रकृतिया यथासभव कम मे कम बधती हो और योगस्थान उत्कृष्ट हो तब पर्याप्त सज्ञी जीव को उस प्रकृति का उत्कृष्ट प्रदेशबध होता है । जो इस प्रकार समझना चाहिये—

सातावेदनीय, उच्चगोत्र और यश कीर्ति इन तीन प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी छह मूलकर्मो का बधक, उत्कृष्ट योग-स्थान मे वर्तमान सूक्ष्मसपरायगुणस्थानवर्ती जीव है । क्योकि आयु और मोहनीय का भाग एव यश कीर्ति मे अवध्यमान स्वजातीय प्रकृतियो के भाग का भी प्रवेश होता है ।

पुरुपवेद के उत्कृष्ट प्रदेशबध का अनिवृत्तिबादरसपरायगुणस्थान-वर्ती उत्कृष्ट योगी जीव स्वामी है । क्योकि मिथ्यात्व और अनन्तानु-बधि आदि प्रकृतियो के भाग का भी प्रवेश हो जाता है ।

देवगतिप्रायोग्य तीर्थकरनाम के साथ उनतीस प्रकृतियो को

बधता हुआ अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान के छठे भाग तक उत्कृष्ट योग मे वर्तमान जीव तीर्थंकरनामकर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी है तथा उत्कृष्ट योग मे वर्तमान अप्रमत्तसयत तथा अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीव आहारकद्विक सहित देवगति योग्य तीस प्रकृतियो[1] का बधक आहारकद्विक के उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी है ।[2]

हास्य, रति, अरति और शोक इन मोहनीय कर्म की चार प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी उत्कृष्ट योग मे वर्तमान अविरत-

---

१ देवगतिप्रायोग्य उनतीस और तीस प्रकृतिक बधस्थान मे समाविष्ट प्रकृतियो के नाम इस प्रकार हैं—

देवद्विक, पचेन्द्रियजाति, वैक्रियद्विक, तैजस, कार्मण, समचतुरस्र-सस्थान, त्रसचतुष्क, वर्णचतुष्क, अगुरुलघुचतुष्क, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, प्रशस्तविहायोगति, यश कीर्ति, आदेय, निर्माण और तीर्थंकर=२९ ।

उक्त उनतीस प्रकृतिक स्थान मे तीर्थंकरनाम को कम करके आहारकद्विक—आहारकशरीर, आहारक-अगोपाग को मिलाने पर तीस प्रकृतिक स्थान होता है ।

२. 'आहारमप्पमत्तोति । आहारगस्स अप्पमत्तोत्ति, अप्पमत्ता अपुव्वकरणा य दोवि गहिया, तेसिं उक्कोसजोगीण देवगइपाउग्ग आहारगदुगसहिय तीस बधमाणाण उक्कोसपएसबधी हवइ, एक्कतीसे न लब्भइ, बहुगा भागा भवन्ति त्ति काऊ ।

—शतकचूर्णि

लेकिन दिगम्बर कर्मसाहित्य मे आहारकद्विक के उत्कृष्ट प्रदेशवध का स्वामी अप्रमत्तसयत को बतलाया है—

आहारमप्पमत्तो आहारकद्वयस्याप्रमत्तोमुनिरुत्कृष्टप्रदेशबध करोति ।

—दि प स शतक अधिकार, गाथा ५०८

सम्यग्दृष्टिगुणस्थानवर्ती जीव है[1] तथा तिर्यंचद्विक, असातावेदनीय[2], नीचगोत्र, स्त्रीवेद और नपु सकवेद का सात कर्म का बधक मिथ्यादृष्टि उ ़ृ प्रदेशबध का स्वामी है ।

हुडकसस्थान, स्थावर, अयश कीर्ति, औदारिकशरीर, प्रत्येक, साधारण, सूक्ष्म, वादर, एकेन्द्रियजाति और अपर्याप्त नामकर्म इन सभी प्रकृतिया के उत्कृप्ट प्रदेशबध का स्वामी एकेन्द्रियप्रायोग्य तेईस प्रकृतियो का वधक, उत्कृष्ट योग मे वतमान मिथ्यादृष्टि जीव है तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जाति, सेवार्तसहनन

---

१ यद्यपि यहाँ अविरतसम्यग्दृष्टि को उत्कृष्ट प्रदेशवध का स्वामी वताया है। जो विचारणीय है। क्योकि कर्मग्रन्थ की टीका मे अविरतसम्यग्दृष्टि से अपूर्वकरण गुणस्थान तक के उत्कृष्ट योग मे वर्तमान जीवो को वताया है। दूसरा कारण यह है कि मोहनीय की सत्रह और तेरह प्रकृतियो के वधक चौथे, पाचवें गुणस्थान वाले और नौ प्रकृतियो के वधक छठे, सातवें और आठवें गुणस्थान वाले हैं। जिससे यथाक्रम से उनको अल्प-अल्प प्रकृतियो का वध है और अवध्यमान मिथ्यात्व, अनन्तानुवधि, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कपायो का भाग भी प्राप्त होता है, जिससे उत्कृष्ट प्रदेशवधको मे उनको ग्रहण किया जा सकता है।

दिगम्बर कर्मसाहित्य मे इन हास्यादि नोकपायो के उत्कृष्ट प्रदेश-वधको मे अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान पर्यन्त जिन-जिन गुणस्थानो मे वध होता है, उन गुणस्थानवर्ती उत्कृष्ट योगी को वतालाया है।

२ यद्यपि यहाँ असातावेदनीय का उत्कृप्ट प्रदेशवधक मिथ्यादृष्टि जीव वतलाया है। परन्तु सम्यक्त्वी जीव भी असातावेदनीय को वाधता है। अतएव उसे भी उसके उत्कृष्ट प्रदेशवध का स्वामी होना चाहिए। पचम कर्मग्रन्थ मे इसी प्रकार बताया है।

दि पचसग्रह शतक अधिकार गाथा ५०८ मे सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनो को असातावेदनीय के उत्कृष्ट प्रदेशवध का स्वामी कहा है।

औदारिक अगोपाग, मनुष्यद्विक और त्रसनामकर्म इन नौ प्रकृतियो का अपर्याप्त द्वीन्द्रियादि योग्य पच्चीस प्रकृतियो का बधक[1] और उत्कृष्ट योग मे वर्तमान मिथ्यादृष्टि जीव उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी है।

पराघात उच्छ्‌वास और पर्याप्त नामकर्म का एकेन्द्रिय योग्य पच्चीस प्रकृतियो का बधक, उत्कृष्ट योग सम्पन्न मिथ्यादृष्टि स्वामी है और आतप व उद्योत का एकेन्द्रिय योग्य छब्बीस का बधक स्वामी है।

स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, समचतुरस्रसस्थान, प्रशस्त-विहायोगति, देवद्विक, वैक्रियद्विक, दुर्भग, अनादेय, अशुभऔर अस्थिर[2]

---

१ प्रकृत मे पच्चीस प्रकृतिक स्थान मे सकलित प्रकृतियो के नाम इस प्रकार हैं—

तिर्यचद्विक, शरीरत्रय—औदारिक, तैजस, कार्मण—विकलत्रय और पचेन्द्रियजाति मे से कोई एक, हुँडसस्थान, औदारिक-अगोपाग, वर्णचतुष्क, अपर्याप्त, अगुरुलघु, उपघात, त्रस, बादर, सेवार्त सहनन, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयश कीर्ति और निर्माण।

२ देवगतिप्रायोग्य अट्ठाईस प्रकृतियो के बाधने पर दुर्भग और अनादेय का बध नही होता है। परन्तु आचार्य मलयगिरि ने बताया है, जिसका आशय समझ मे नही आया। क्योकि इन दो प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबधक एकेन्द्रियप्रायोग्य तेईस प्रकृतियो को बाधने वाला मिथ्यादृष्टि अधिकारी है। अस्थिर और अशुभ के उत्कृष्ट प्रदेशबध का भी वही अधिकारी सभव है।

पचसग्रह की स्वोपज्ञवृत्ति मे इन दुर्भग आदि चारो का एकेन्द्रिय-प्रायोग्य तेईस का बधक स्वामी बताया है—तिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजाति ·· (दु स्वरवर्जं) स्थावरादिनव ··· एकेन्द्रियप्रायोग्यत्रयोविंशति बधके।

दि. पचसग्रह (शतक गाथा ५०८, ५०९) की टीका मे इन चारो प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबधक मिथ्यादृष्टि जीव बताया है।

विद्वज्जन इस भिन्नता को स्पष्ट करने की कृपा करें।

सम्यग्दृष्टिगुणस्थानवर्ती जीव है[1] तथा तिर्यंचद्विक, असातावेदनीय[2], नीचगोत्र, स्त्रीवेद और नपु सकवेद का सात कर्म का वधक मिथ्यादृष्टि उ ृ प्रदेशबध का स्वामी है।

हुडकसस्थान, स्थावर, अयश कीर्ति, औदारिकशरीर, प्रत्येक, साधारण, सूक्ष्म, वादर, एकेन्द्रियजाति और अपर्याप्त नामकर्म इन सभी प्रकृतिया के उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी एकेन्द्रियप्रायोग्य तेईस प्रकृतियो का बधक, उत्कृष्ट योग मे वर्तमान मिथ्यादृष्टि जीव है तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जाति, सेवार्तसहनन

---

१ यद्यपि यहाँ अविरतसम्यग्दृष्टि को उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी बताया है। जो विचारणीय है। क्योकि कर्मग्रन्थ की टीका मे अविरतसम्यग्दृष्टि से अपूर्वकरण गुणस्थान तक के उत्कृष्ट योग मे वर्तमान जीवो को बताया है। दूसरा कारण यह है कि मोहनीय की सत्रह और तेरह प्रकृतियो के बधक चौथे, पाचवें गुणस्थान वाले और नौ प्रकृतियो के बधक छठे, सातवें और आठवें गुणस्थान वाले हैं। जिससे यथाक्रम से उनको अल्प-अल्प प्रकृतियो का बध है और अबध्यमान मिथ्यात्व, अनन्तानुबधि, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायो का भाग भी प्राप्त होता है, जिससे उत्कृष्ट प्रदेशबधको मे उनको ग्रहण किया जा सकता है।

दिगम्बर कर्मसाहित्य मे इन हास्यादि नोकषायो के उत्कृष्ट प्रदेश-बधको मे अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान पर्यन्त जिन-जिन गुणस्थानो मे बध होता है, उन गुणस्थानवर्ती उत्कृष्ट योगी को बतालाया है।

२ यद्यपि यहाँ असातावेदनीय का उत्कृष्ट प्रदेशबधक मिथ्यादृष्टि जीव बतलाया है। परन्तु सम्यक्त्वी जीव भी असातावेदनीय को बाधता है। अतएव उसे भी उसके उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी होना चाहिए। पचम कर्मग्रन्थ मे इसी प्रकार बताया है।

दि पचसग्रह शतक अधिकार गाथा ५०८ मे सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दानो को आसातावेदनीय ृष्ट प्रदेशबध का स्वामी कहा है।

औदारिक अगोपाग, मनुष्यद्विक और त्रसनामकर्म इन नौ प्रकृतियो का अपर्याप्त द्वीन्द्रियादि योग्य पच्चीस प्रकृतियो का बधक[1] और उत्कृष्ट योग मे वर्तमान मिथ्यादृष्टि जीव उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी है।

पराघात उच्छ्वास और पर्याप्त नामकर्म का एकेन्द्रिय योग्य पच्चीस प्रकृतियो का बधक, उत्कृष्ट योग सम्पन्न मिथ्यादृष्टि स्वामी है और आतप व उद्योत का एकेन्द्रिय योग्य छव्वीस का बधक स्वामी है।

स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, समचतुरस्रसस्थान, प्रशस्त-विहायोगति, देवद्विक, वैक्रियद्विक, दुर्भग, अनादेय, अशुभऔर अस्थिर[2]

---

१ प्रकृत मे पच्चीस प्रकृतिक स्थान मे सकलित प्रकृतियो के नाम इस प्रकार हैं—

तिर्यंचद्विक, शरीरत्रय—औदारिक, तैजस, कार्मण—विकलत्रय और पचेन्द्रियजाति मे से कोई एक, हुंडसस्थान, औदारिक-अगोपाग, वर्णचतुष्क, अपर्याप्त, अगुरुलघु, उपघात, त्रस, बादर, सेवार्त सहनन, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयश कीर्ति और निर्माण।

२ देवगतिप्रायोग्य अट्ठाईस प्रकृतियो के बाधने पर दुर्भग और अनादेय का बध नही होता है। परन्तु आचार्य मलयगिरि ने बताया है, जिसका आशय समझ मे नही आया। क्योकि इन दो प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबधक एकेन्द्रियप्रायोग्य तेईस प्रकृतियो को बाधने वाला मिथ्यादृष्टि अधिकारी है। अस्थिर और अशुभ के उत्कृष्ट प्रदेशबध का भी वही अधिकारी सभव है।

पचसग्रह की स्वोपज्ञवृत्ति मे इन दुर्भग आदि चारो का एकेन्द्रिय-प्रायोग्य तेईस का बधक स्वामी बताया है—तिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजाति • (दु स्वरवर्ज) स्थावरादिनव " एकेन्द्रियप्रायोग्यत्रयोविशति बधके।

दि पचसग्रह (शतक गाथा ५०८, ५०९) की टीका मे इन चारो प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबधक मिथ्यादृष्टि जीव बताया है।

विद्वज्जन इस भिन्नता को स्पष्ट करने की कृपा करें।

सम्यग्दृष्टिगुणस्थानवर्ती जीव है[1] तथा तिर्यंचद्विक, असातावेदनीय[2], नीचगोत्र, स्त्रीवेद और नपु सकवेद का सात कर्म का बधक मिथ्यादृष्टि उ ृ प्रदेशबध का स्वामी है।

हुडकसस्थान, स्थावर, अयश कीर्ति, औदारिकशरीर, प्रत्येक, साधारण, सूक्ष्म, बादर, एकेन्द्रियजाति और अपर्याप्त नामकर्म इन सभी प्रकृतिया के उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी एकेन्द्रियप्रायोग्य तेईस प्रकृतियो का बधक, उत्कृष्ट योग मे वतमान मिथ्यादृष्टि जीव है तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जाति, सेवार्तसहनन

---

१ यद्यपि यहाँ अविरतसम्यग्दृष्टि को उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी बताया है। जो विचारणीय है। क्योकि कर्मग्रन्थ की टीका मे अविरतसम्यग्दृष्टि से अपूर्वकरण गुणस्थान तक के उत्कृष्ट योग मे वर्तमान जीवो को बताया है। दूसरा कारण यह है कि मोहनीय की सत्रह और तेरह प्रकृतियो के बधक चौथे, पाचवें गुणस्थान वाले और नौ प्रकृतियो के बधक छठे, सातवें और आठवें गुणस्थान वाले हैं। जिससे यथाक्रम से उनको अल्प-अल्प प्रकृतियो का बध है और अबध्यमान मिथ्यात्व, अनन्तानुबधि, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायो का भाग भी प्राप्त होता है, जिससे उत्कृष्ट प्रदेशबधको मे उनको ग्रहण किया जा सकता है।

दिगम्बर कर्मसाहित्य मे इन हास्यादि नोकषायो के उत्कृष्ट प्रदेश-बधको मे अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान पर्यन्त जिन-जिन गुणस्थानो मे बध होता है, उन गुणस्थानवर्ती उत्कृष्ट योगी को बतलाया है।

२ यद्यपि यहाँ असातावेदनीय का उत्कृष्ट प्रदेशबधक मिथ्यादृष्टि जीव बतलाया है। परन्तु सम्यक्त्वी जीव भी असातावेदनीय को बाधता है। अतएव उसे भी उसके उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी होना चाहिए। पचम कर्मग्रन्थ मे इसी प्रकार बताया है।

दि पचसग्रह शतक अधिकार गाथा ५०८ मे सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनो को असातावेदनीय के उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी कहा है।

औदारिक अगोपाग, मनुष्यद्विक और त्रसनामकर्म इन नौ प्रकृतियो का अपर्याप्त द्वीन्द्रियादि योग्य पच्चीस प्रकृतियो का बधक[1] और उत्कृष्ट योग मे वर्तमान मिथ्यादृष्टि जीव उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी है।

पराघात उच्छ्‌वास और पर्याप्त नामकर्म का एकेन्द्रिय योग्य पच्चोस प्रकृतियो का बधक, उत्कृष्ट योग सम्पन्न मिथ्यादृष्टि स्वामी है और आतप व उद्योत का एकेन्द्रिय योग्य छब्बीस का बधक स्वामी है।

स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, समचतुरस्रसस्थान, प्रशस्त-विहायोगति, देवद्विक, वैक्रियद्विक, दुर्भग, अनादेय, अशुभऔर अस्थिर[2]

---

१ प्रकृत मे पच्चीस प्रकृतिक स्थान मे सकलित प्रकृतियो के नाम इस प्रकार हैं—

तिर्यंचद्विक, शरीरत्रय—औदारिक, तैजस, कार्मण—त्रिकलत्रय और पचेन्द्रियजाति मे से कोई एक, हुँडसस्थान, औदारिक-अगोपाग, वर्णचतुष्क, अपर्याप्त, अगुरुलघु, उपघात, त्रस, वादर, सेवार्त सहनन, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयश कीर्ति और निर्माण।

२ देवगतिप्रायोग्य अट्ठाईस प्रकृतियो के वाधने पर दुर्भग और अनादेय का वध नही होता है। परन्तु आचार्य मलयगिरि ने वताया है, जिमका आशय समझ मे नही आया। क्योकि इन दो प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशवधक एकेन्द्रियप्रायोग्य तेईस प्रकृतियो को वाघने वाला मिथ्यादृष्टि अधिकारी है। अस्थिर और अशुभ के उत्कृष्ट प्रदेशवध का भी वही अधिकारी सभव है।

पचसग्रह की स्वोपज्ञवृत्ति मे इन दुर्भग आदि चारो का एकेन्द्रिय-प्रायोग्य तेईस का वधक स्वामी वताया है—तिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजाति' · (दु स्वरवर्ज) स्थावरादिनव ' एकेन्द्रियप्रायोग्यत्रयोविंशति वधके।

दि पचसग्रह (शतक गाथा ५०८, ५०९) की टीका मे इन चारो प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशवधक मिथ्यादृष्टि जीव वताया है।

विद्वज्जन इस भिन्नता को स्पष्ट करने की कृपा करें।

इन पन्द्रह प्रकृतियो का देवगतिप्रायोग्य अट्ठाईस प्रकृतियो का बधक उत्कृष्ट योग मे वर्तमान सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि तथा नरकद्विक, अप्रशस्तविहायोगति और दु स्वरनाम का नरकगतिप्रायोग्य अट्ठाईस प्रकृतियो का बधक उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी है।

मध्यम चार सहनन और चार सस्थान का तिर्यंच और मनुष्य-गतिप्रायोग्य उनतीस प्रकृतियो का बधक और वज्रऋषभनाराच सहनन का मनुष्यगतियोग्य उनतीस प्रकृतियो का बधक[1] उत्कृष्ट योग मे वर्तमान मिथ्यादृष्टि उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी है।

देवायु का उत्कृष्ट योगस्थान प्राप्त अप्रमत्तसयत तथा शेष तीन आयु[2] का उत्कृष्ट योगस्थानगत मिथ्यादृष्टि उत्कृष्ट प्रदेशबध का स्वामी है।

इस प्रकार से उत्तर प्रकृतियो सम्ब[illegible] उत्कृष्ट प्रदेशबध का

चेष्टा—क्रिया, विचारपूर्वक क्रिया करने के कारण शेष जीवों की अपेक्षा अतिशय बलवती होती है। प्रबल चेष्टायुक्त वह जीव अधिक पुद्गलों को ग्रहण करता है तथा उसके साथ ही मनोलब्धि युक्त होने पर भी यदि अपनी भूमिका के अनुसार मद-मद योगस्थान वाला हो तो उत्कृष्ट प्रदेशबंध संभव नहीं है। यद्यपि संज्ञी अपर्याप्त के भी अपनी भूमिका के अनुसार उत्कृष्ट योग होता है। परन्तु उस उत्कृष्ट योग में उत्कृष्ट प्रदेशबंध नहीं हो सकने से वह भी यहाँ प्रयोजनभूत नहीं है, इसीलिए समस्त पर्याप्तियों से पर्याप्त इस विशेषण को ग्रहण किया है। साथ ही इन तीन विशेषणों से युक्त होने पर भी यदि बहुत सी मूल एवं उत्तर प्रकृतियों का बंधक हो तब भी उत्कृष्ट प्रदेशबंध नहीं हो सकेगा। क्योंकि दलिक अधिक भागों में विभाजित हो जायेंगे। अतः उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामित्व के विषय में सर्वत्र यह जानना चाहिये—'अप्पतरपगडबंधे उक्कडजोगी सन्निपज्जत्तो कुणइ पएसुक्कोसं' अर्थात् अल्पतर प्रकृति का बंधक उत्कृष्ट योग सम्पन्न संज्ञी पर्याप्तक जीव उत्कृष्ट प्रदेशबंध करता है। यानी इस तरह की योग्यता वाला जीव उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी है।

उत्कृष्ट प्रदेशबंधक की योग्यता तो उक्त प्रकार की है और उसमें निर्दिष्ट योग्यता से विपरीत योग्यता वाला जीव प्रायः जघन्य प्रदेशबंध के स्वामित्व का अधिकारी है। अर्थात् मनोलब्धि से हीन, जघन्य योगस्थान में वर्तमान, लब्धि-अपर्याप्त, बहुत सी मूल और उत्तर प्रकृतियों को बांधने वाला जीव जघन्य प्रदेशबंध का स्वामी है।

इस प्रकार से जघन्य प्रदेशबंधक की योग्यता का निर्देश करने के बाद अब पहले मूल प्रकृतियों के जघन्य प्रदेशबंध के स्वामित्व को बतलाते हैं।

मूलकर्मों का जघन्य प्रदेशबंधस्वामित्व

आयु के बिना ज्ञानावरणादि सात मूल प्रकृतियों के जघन्य प्रदेशबंध का स्वामी उत्पत्ति के प्रथम समय में वर्तमान सबसे अल्पवीर्य वाला, लब्धि-अपर्याप्तक जीव है। उत्पत्ति के प्रथम समय के बजाय

दूसरे समय मे वर्तमान उस सूक्ष्म निगोदिया जीव के जघन्य प्रदेशबध का स्वामी न होने का कारण यह है कि पहले समय की अपेक्षा दूसरे समय के योगस्थान मे असख्यातगुणी वृद्धि हो जाती है। क्योंकि सभी अपर्याप्त जीव अपर्याप्त अवस्था मे प्रतिसमय पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय मे असख्यातगुणी वृद्धि वाले योगस्थानो को प्राप्त करते है। इसलिये दूसरे समय मे जघन्य प्रदेशबध होना सम्भव नही है।[1]

आयु का भी अन्य सूक्ष्म निगोदिया जीवो की अपेक्षा मदतम योग स्थानवर्ती वही लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव अपनी आयु के तीसरे भाग के पहले समय मे रहते जघन्य प्रदेशबध करता है, परन्तु उसके बाद के समय मे नही करता है। क्योंकि अपर्याप्त होने से उसके बाद के समय मे असख्यातगुण वृद्धि वाले योगस्थान को प्राप्त करता है। इसलिये वहाँ जघन्य प्रदेशबध सभव नही होने से अपनी आयु के तीसरे भाग के पहले समय मे जघन्य प्रदेशबध करना कहा है।[2]

---

१ अप्पज्जत्तगा सव्वेवि असखिज्जगुणेण जोगेण समए समए वड्ढति त्ति, विइय-समयाइसु जहन्नगोपएसवधो न लब्भइ। —शतकचूर्णि

२ दिगम्बर कर्मग्रन्थो मे भी उसी प्रकार से आठो कर्मो के जघन्य प्रदेशबध-स्वामित्व का निर्देश किया है—

सुहुमणिगोय अपज्जत्तयस्स पढमे जहण्णगे जोगे।
सतण्ह पि जहण्णो आउगबधे वि आउस्स ॥

—दि पचसग्रह, शतक अधिकार ५०३

सूक्ष्म निगोदियालब्ध्यपर्याप्त जीव के अपनी पर्याय के प्रथम समय मे जघन्य योग मे वर्तमान होने पर आयु के बिना शेप सात कर्मो का तथा उसी जीव के त्रिभाग के प्रथम समय आयुबध करने के प्रथम समय मे आयुकर्म का जघन्य प्रदेशबध होता है।

दो चार अक्षरो की भिन्नता के सिवाय दि पचसग्रह की ऊपर कही गई गाथा शिवशर्मसूरि विरचित शतक ग्रन्थ मे भी पाई जाती है—

सुहुमनिगोयापज्जत्तगो उ पढमे जहन्नगे जोगे।
सत्तण्हपि जहन्न आउग बधमि आउस्स ॥

इस प्रकार से मूल प्रकृति विषयक जघन्य प्रदेशबध का स्वामित्व जानना चाहिये। अब उत्तर प्रकृतियो के जघन्य प्रदेशबध के बधको—स्वामियो को बतलाते हैं।

उत्तर प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशबधस्वामित्व

नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु और देवायु रूप चार प्रकृतियो का समस्त पर्याप्तियो से पर्याप्त, जघन्य योगस्थान मे वर्तमान असज्ञी पचेन्द्रिय जघन्य प्रदेशबध का स्वामी है। क्योकि असज्ञी पर्याप्त से सज्ञी पर्याप्त का जघन्य योग असख्यातगुणा होने से उसे जघन्य प्रदेश-बध सभव नही है तथा अपर्याप्त असज्ञी के इन चार विवक्षित प्रकृतियो का बध होता नही है। इसीलिए समस्त पर्याप्तियो से पर्याप्त जघन्य योग मे वर्तमान असज्ञी पर्याप्तक जीव को इन चार प्रकृतियो के जघन्य प्रदेशबध का स्वामी बताया है।

आहारकद्विक के जघन्य प्रदेशबध का स्वामी आठो मूलकर्मो और देवगतिप्रायोग्य इकतीस प्रकृतियो का बधक जघन्ययोग मे वर्तमान अप्रमत्तसयत है।

देवद्विक, वैक्रियद्विक और तीर्थंकरनाम इन पाच प्रकृतियो के जघन्य प्रदेशबध का स्वामी भव के प्रथम समय मे वर्तमान जघन्य योग वाला अविरतसम्यग्दृष्टि जीव है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

तीर्थंकरनामकर्म का बधक देव अथवा नारक अनुक्रम से देव अथवा नरक भव से च्यवित होकर मनुष्यभव मे उत्पन्न होता हुआ उत्पत्ति के प्रथम समय मे वर्तमान मनुष्य देवगतिप्रायोग्य तीर्थंकर-नामकर्म सहित उनतीस प्रकृतियो का बधक जघन्य योगवाला वैक्रिय-द्विक और देवद्विक का जघन्य प्रदेशबध करता है।

कदाचित् यह कहा जाये कि सज्ञी की अपेक्षा असज्ञी मे योग की अल्पता होने से उक्त चार प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशबध असज्ञी को

क्यो नही होता है। तो इसका उत्तर यह है कि पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से असज्ञी के दो प्रकार हैं, उनमे से अपर्याप्त सज्ञी के तो देवगति अथवा नरकगति प्रायोग्य प्रकृतियो का बध ही नही होता है, पर्याप्त के होता है और पर्याप्त असज्ञी के अपर्याप्त सज्ञी के योग स्थान से असख्यात गुणा योग होता है। इसलिये असज्ञी मे जघन्य प्रदेशबध सभव नही होने से भव के प्रथम समय मे वर्तमान अविरत-सम्यग्दृष्टि मनुष्य वैक्रियद्विक और देवद्विकरूप इन चार प्रकृतियो के जघन्य प्रदेशबध का स्वामी है तथा तीर्थंकरनाम का तीर्थंकरनामकर्म को बाधने वाला मनुष्य मरकर देवो मे उत्पन्न हो तब वहाँ भव के प्रथम समय मे जघन्य योगस्थान मे रहते तीर्थंकरनाम सहित मनुष्य-प्रायोग्य तीस प्रकृतियो को बाधने वाले उस देव के जघन्य प्रदेशबध होता है, अन्यत्र उसका जघन्य प्रदेशबध सभव नही।[1]

शेष रही एक सौ नौ प्रकृतियो का सबसे जघन्ययोग मे वर्तमान लब्धि-अपर्याप्तक, उत्पत्ति के प्रथम समय से वर्तमान सूक्ष्म निगोदिया जीव जघन्य प्रदेशबध का स्वामी है। उसमे भी अपर्याप्त, सूक्ष्म और साधारण नाम का नामकर्म की पच्चीस प्रकृतियो का बधक, एकेन्द्रिय, आतप और स्थावर नामकर्म का एकेन्द्रियप्रायोग्य छब्बीस प्रकृतियो का बधक, मनुष्यद्विक का उनतीस प्रकृतियो का बधक तथा मनुष्यायु और तिर्यंचायु का भी वही सूक्ष्म निगोदिया जीव अपनी आयु के तीसरे भाग के प्रथम समय मे रहते जघन्य प्रदेशबध का स्वामी है। अपनी आयु

---

१ यहा 'अन्यत्र सभव नही है' कहने का अर्थ यह हुआ कि तीर्थंकर-नामकर्म का बध करके नरक मे जाने वाले के तीर्थंकरनामकर्म सहित मनुष्यप्रायोग्य तीस प्रकृतियों को बाधने पर तीर्थंकरनामकर्म का जघन्य प्रदेशबध नहीं होता है। इसका हेतु यह ज्ञात होता है कि देव की अपेक्षा नरकभव के प्रथम समय मे भी योग अधिक होना चाहिये।

के तीसरे भाग के दूसरे समय आदि समयो मे जघन्य प्रदेशबंध नही होने के कारण को पूर्व मे स्पष्ट किया जा चुका है तथा शेष रही नाम-कर्म की प्रकृतियो के जघन्य प्रदेशबंध का स्वामी पूर्वोक्त विशेषणो वाला सूक्ष्म निगोदिया जीव जानना चाहिये ।[1]

अब सामान्य बुद्धि वाले शिष्य के लिये मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधि-चतुष्क और स्त्यानर्द्धित्रिक इन आठ प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशबंध तथा तैजस आदि नामकर्म की ध्रुवबंधिनी प्रकृतियो के जघन्य प्रदेश-बंध के स्वामित्व का विशेषता के साथ प्रतिपादन करते है—

सत्तविहबंधमिच्छे परमो अणमिच्छथीणगिद्धीण ।
उक्कोससंकिलिट्ठे जहन्नओ नामधुवियाणं॥६२॥

शब्दार्थ—**सत्तविहबंध**—सात मूलकर्मों का बंधक, **मिच्छे**—मिथ्यादृष्टि, **परमो**—उत्कृष्ट प्रदेशबंध, **अणमिच्छथीणगिद्धीण**—अनन्तानुबंधी, मिथ्यात्व और स्त्यानर्द्धित्रिक का, **उक्कोससंकिलिट्ठे**—उत्कृष्ट संक्लिष्ट परिणामी, **जहन्नओ**—जघन्य, **नामधुवियाण**—नामकर्म की ध्रुवबंधिनी प्रकृतियो का ।

गाथार्थ—उत्कृष्ट संक्लिष्ट परिणामी सात कर्म के बंधक मिथ्यादृष्टि के अनन्तानुबंधिचतुष्क, मिथ्यात्व और स्त्यानर्द्धि-

---

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य मे भी इसी प्रकार से उत्तर प्रकृतियो के जघन्य प्रदेशबंध का स्वामित्व बतलाया है। देखिये पंचसंग्रह शतक अधिकार गाथा ५११-५१२ व वृत्ति एवं गो कर्मकाण्ड गाथा २१५-२१७ ।

गो कर्मकाण्ड गाथा २१७ मे शेष १०९ प्रकृतियो के बंधक सूक्ष्म निगोदिया जीव के बारे मे कुछ विशेषता बतलाई है कि लब्ध्यपर्याप्तक के ६०१२ भवो मे से अन्त के भव मे स्थित, विग्रहगति के तीन मोडो मे से पहले मोड मे स्थित हुआ सूक्ष्म निगोदिया जीव शेष प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशबंध करता है ।

त्रिक का उत्कृष्ट-प्रदेशबध होता है तथा अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव के नामकर्म की ध्रुवबधिनी प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशबध होता है।

विशेषार्थ—गाथा मे विशेप स्पष्टतापूर्वक मिथ्यात्व आदि आठ प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशवध और ध्रुवबधिनी नामकर्म की प्रकृतियो के जघन्य प्रदेशबध के स्वामित्व का निरूपण किया है। पहले मिथ्यात्व आदि आठ प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशबध के स्वामित्व को वतलाते है—

सर्वोत्कृष्ट योगस्थान मे वर्तमान मिथ्यादृष्टि के अनन्तानुबधि-कपायचतुष्क, मिथ्यात्व, स्त्यानर्द्धित्रिक—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि इन आठ प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबध होता है। अर्थात् सब पर्याप्तियो से पर्याप्त सर्वोत्कृष्ट योगस्थान मे वर्तमान, सात कर्मो का बधक सज्ञी पचेन्द्रिय पूर्वोक्त अनन्तानुबधिकपायचतुष्क आदि आठ प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशवध का स्वामी है।

अब नाम-ध्रुवबाधिनी प्रकृतियो के जघन्य प्रदेशवध के स्वामी का निर्देश करते है—

तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, उपघात, वर्णचतुष्क और निर्माण इन ध्रुववधिनी नामनवक प्रकृतियो का सात कर्म का बधक, मिथ्यादृष्टि, अपर्याप्त, सर्व जघन्य योगस्थान मे वर्तमान नामकर्म की तिर्यंचगति-योग्य तीस प्रकृतियो को बाधते हुए सूक्ष्म निगोदिया जीव जघन्य प्रदेशवध का स्वामी है।

इस प्रकार मे वधप्रकृतियो का उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशवध स्वामित्व जानना चाहिये। सरलता से समझने के लिए जिसका प्रारूप इस प्रकार है—

क्रम	प्रकृतिया	उत्कृष्ट प्रदेशबध स्वामित्व	जघन्य प्रदेशबध स्वामित्व
१	ज्ञानावरणपचक, अतरायपचक, दर्शनावरणचतुष्क	सूक्ष्मसपरायगुणस्थानवर्ती उत्कृष्ट योगी	सबसे अल्पवीर्य वाला लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव भवाद्य समय
२	सातावेदनीय	,,	,,
३	असातावेदनीय	मिथ्यादृष्टि पर्याप्त सज्ञी	,,
४	निद्रा, प्रचला	उत्कृष्ट योगी, सप्तविध बधक चौथे से आठवे गुणस्थान के प्रथम भाग तक वर्तमान जीव	,,
५	स्त्यानर्द्धित्रिक, मिथ्यात्व, अनन्तानुबधिचतुष्क नपु सकवेद, स्त्रीवेद	उत्कृष्ट योगी, सप्तविध बधक, पर्याप्त सज्ञी मिथ्यादृष्टि	,,
६	अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क	चतुर्थ गुणस्थानवर्ती	,,
७	प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क	पचम गुणस्थानवर्ती	,,
८	सज्वलनक्रोध	नोवें गुणस्थान का द्वितीय भागवर्ती	,,
९	सज्वलन मान	नोवें गुणस्थान का तृतीय भागवर्ती	,,

क्रम	प्रकृतियां	उत्कृष्ट प्रदेशबंध स्वामित्व	जघन्य प्रदेशबंध स्वामित्व
१०	संज्वलन माया	नौवें गुणस्थान का चतुर्थ भागवर्ती	सबसे अल्प वीर्य वाला लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव भवाद्य समय
११	संज्वलन लोभ	,, ,, पंचम भागवर्ती	,,
१२	हास्य, रति, शोक, अरति	अविरत सम्यग्दृष्टि	,,
१३	भय, जुगुप्सा	अष्टम गुणस्थानवर्ती	,,
१४	पुरुषवेद	नौवें गुणस्थान का प्रथम भागवर्ती	,,
१५	देवायु	अप्रमत्तसंयत	जघन्य योगी, पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय
१६	मनुष्यायु, तिर्यंचायु	मिथ्यादृष्टि पर्याप्त संज्ञी	सर्वाल्प वीर्यवंत, लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया स्वायु तृतीय भाग प्रथम समयवर्ती
१७	नरकायु	मिथ्यादृष्टि पर्याप्त संज्ञी	जघन्य योगी, पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय
१८	देवद्विक, वैक्रियद्विक	देवप्रायोग्य अट्ठाईस का बंधक	भवाद्य समय में देव-प्रायोग्य उनतीस का बंधक सम्य मनुष्य
१९	नरकद्विक	नरकप्रायोग्य अट्ठाईस का बंधक	जघन्य योगी, पर्याप्त, असंज्ञी पंचेन्द्रिय आठ का बंधक

क्रम	प्रकृतियां	उत्कृष्ट प्रदेशबंध स्वामित्व	जघन्य प्रदेशबंध स्वामित्व
२०	मनुष्यद्विक	मनुष्य प्रायोग्य पच्चीस का बंधक	मनुष्य योग्य उनतीस का बंधक
२१	तिर्यंचद्विक, वर्णचतुष्क, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण, उपघात, औदारिक शरीर, हुंडकसंस्थान, प्रत्येक, बादर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयश कीर्ति	तेईस के बंधक मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यंच	तिर्यंचप्रायोग्य तीस का बंधक
२२	औदारिक-अंगोपांग, पंचेन्द्रियजाति, सेवार्त संहनन, त्रस	त्रसप्रायोग्य पच्चीस का बंधक मनुष्य तिर्यंच	तिर्यंचप्रायोग्य तीस का बंधक
२३	पराघात, उच्छ्‌वास, पर्याप्त	एकेन्द्रियप्रायोग्य पच्चीस का बंधक नरक के बिना तीन गति के जीव	,,
२४	विकलत्रिक	स्वप्रायोग्य पच्चीस का बंधक मनुष्य, तिर्यंच	स्वप्रायोग्य तीस का बंधक
२५	एकेन्द्रिय, स्थावर	तेईस का बंधक मनुष्य, तिर्यंच	एकेन्द्रियप्रायोग्य छब्बीस का बंधक
२६	आतप	छब्बीस के बंधक नरक के बिना तीन गति के जीव	,,

क्रम	प्रकृतियां	उत्कृष्ट प्रदेशबंध स्वामित्व	जघन्य प्रदेशबंध स्वामित्व
१०	संज्वलन माया	नौवें गुणस्थान का चतुर्थ भागवर्ती	सबसे अल्प वीर्य वाला लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव भवाद्य समय
११	संज्वलन लोभ	,, ,, पंचम भागवर्ती	,,
१२	हास्य, रति, शोक, अरति	अविरत सम्यग्दृष्टि	,,
१३	भय, जुगुप्सा	अष्टम गुणस्थानवर्ती	,,
१४	पुरुषवेद	नौवें गुणस्थान का प्रथम भागवर्ती	,,
१५	देवायु	अप्रमत्तसंयत	जघन्य योगी, पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय
१६	मनुष्यायु, तिर्यंचायु	मिथ्यादृष्टि पर्याप्त संज्ञी	सर्वाल्प वीर्यवंत, लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया स्वायु तृतीय भाग प्रथम समयवर्ती
१७	नरकायु	मिथ्यादृष्टि पर्याप्त संज्ञी	जघन्य योगी, पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय
१८	देवद्विक, वैक्रियद्विक	देवप्रायोग्य अट्ठाईस का बंधक	भवाद्य समय में देव-प्रायोग्य उनतीस का बंधक सम्य मनुष्य
१९	नरकद्विक	नरकप्रायोग्य अट्ठाईस का बंधक	जघन्य योगी, पर्याप्त, असंज्ञी पंचेन्द्रिय आठ का बंधक

क्रम	प्रकृतियां	उत्कृष्ट प्रदेशबंध स्वामित्व	जघन्य प्रदेशबंध स्वामित्व
२०	मनुष्यद्विक	मनुष्य प्रायोग्य पच्चीस का बंधक	मनुष्य योग्य उनतीस का बंधक
२१	तिर्यंचद्विक, वर्णचतुष्क, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण, उपघात, औदारिक शरीर, हुंडकसस्थान, प्रत्येक, बादर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयश कीर्ति	तेईस के बंधक मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यंच	तिर्यंचप्रायोग्य तीस का बंधक
२२	औदारिक-अगोपाग, पचेन्द्रियजाति, सेवार्त सहनन, त्रस	त्रसप्रायोग्य पच्चीस का बंधक मनुष्य तिर्यंच	तिर्यंचप्रायोग्य तीस का बंधक
२३	पराघात, उच्छ्वास, पर्याप्त	एकेन्द्रियप्रायोग्य पच्चीस का बंधक नरक के बिना तीन गति के जीव	,,
२४	विकलत्रिक	स्वप्रायोग्य पच्चीस का बंधक मनुष्य, तिर्यंच	स्वप्रायोग्य तीस का बंधक
२५	एकेन्द्रिय, स्थावर	तेईस का बंधक मनुष्य, तिर्यंच	एकेन्द्रियप्रायोग्य छब्बीस का बंधक
२६	आतप	छब्बीस के बंधक नरक के बिना तीन गति के जीव	,,

क्रम	प्रकृतिया	उत्कृष्ट प्रदेशबध स्वामित्व	जघन्य प्रदेशबध स्वामित्व
१०	सज्वलन माया	नौवें गुणस्थान का चतुर्थ भागवर्ती	सबसे अल्प वीर्य वाला लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव भवाद्य समय
११	सज्वलन लोभ	,, ,, पचम भागवर्ती	,,
१२	हास्य, रति, शोक, अरति	अविरत सम्यग्दृष्टि	,,
१३	भय, जुगुप्सा	अष्टम गुणस्थानवर्ती	,,
१४	पुरुषवेद	नौवें गुणस्थान का प्रथम भागवर्ती	,,
१५	देवायु	अप्रमत्तसयत	जघन्य योगी, पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय
१६	मनुष्यायु, तिर्यचायु	मिथ्यादृष्टि पर्याप्त सज्ञी	सर्वाल्प वीर्यवत, लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया स्वायु तृतीय भाग प्रथम समयवर्ती
१७	नरकायु	मिथ्यादृष्टि पर्याप्त सज्ञी	जघन्य योगी, पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय
१८	देवद्विक, वैक्रियद्विक	देवप्रायोग्य अट्ठाईस का बधक	भवाद्य समय मे देव-प्रायोग्य उनतीस का बधक सम्य मनुष्य
१९	नरकद्विक	नरकप्रायोग्य अट्ठाईस का बधक	जघन्य योगी, पर्याप्त, असज्ञी पचेन्द्रिय आठ का बधक

क्रम	प्रकृतिया	उत्कृष्ट प्रदेशवध स्वामित्व	जघन्य प्रदेशवध स्वामित्व
२०	मनुष्यद्विक	मनुष्य प्रायोग्य पच्चीस का वधक	मनुष्य योग्य उनतीस का वधक
२१	तिर्यंचद्विक, वर्णचतुष्क, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण, उपघात, औदारिक शरीर, हुंडकसस्थान, प्रत्येक, वादर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयश कीर्ति	तेईस के वधक मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यंच	तिर्यंचप्रायोग्य तीस का वधक
२२	औदारिक-अगोपाग, पचेन्द्रियजाति, सेवार्त सहनन, त्रस	त्रसप्रायोग्य पच्चीस का वधक मनुष्य तिर्यंच	तिर्यंचप्रायोग्य तीस का वधक
२३	पराघात, उच्छ्वास, पर्याप्त	एकेन्द्रियप्रायोग्य पच्चीस का वधक नरक के विना तीन गति के जीव	,,
२४	विकलत्रिक	स्वप्रायोग्य पच्चीस का वधक मनुष्य, तिर्यंच	स्वप्रायोग्य तीस का वधक
२५	एकेन्द्रिय, स्थावर	तेईस का वधक मनुष्य, तिर्यंच	एकेन्द्रियप्रायोग्य छव्वीस का वधक
२६	आतप	छव्वीस के वधक नरक के विना तीन गति के जीव	,,

क्रम	प्रकृतिया	उत्कृष्ट प्रदेशबध स्वामित्व	जघन्य प्रदेशबध स्वामित्व
१०	सज्वलन माया	नौवें गुणस्थान का चतुर्थ भागवर्ती	सबसे अल्प वीर्य वाला लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव भवाद्य समय
११	सज्वलन लोभ	,, ,, पचम भागवर्ती	,,
१२	हास्य, रति, शोक, अरति	अविरत सम्यग्दृष्टि	,,
१३	भय, जुगुप्सा	अष्टम गुणस्थानवर्ती	,,
१४	पुरुषवेद	नौवें गुणस्थान का प्रथम भागवर्ती	,,
१५	देवायु	अप्रमत्तसयत	जघन्य योगी, पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय
१६	मनुष्यायु, तिर्यंचायु	मिथ्यादृष्टि पर्याप्त संज्ञी	सर्वाल्प वीर्यवत, लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया स्वायु तृतीय भाग प्रथम समयवर्ती
१७	नरकायु	मिथ्यादृष्टि पर्याप्त सज्ञी	जघन्य योगी, पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय
१८	देवद्विक, वैक्रियद्विक	देवप्रायोग्य अट्ठाईस का बधक	भवाद्य समय मे देव-प्रायोग्य उनतीस का बधक सम्य. मनुष्य
१९	नरकद्विक	नरकप्रायोग्य अट्ठाईस का बधक	जघन्य योगी, पर्याप्त, असंज्ञी पचेन्द्रिय आठ का बधक

क्रम	प्रकृतियां	उत्कृष्ट प्रदेशबंध स्वामित्व	जघन्य प्रदेशबंध स्वामित्व
२०	मनुष्यद्विक	मनुष्य प्रायोग्य पच्चीस का बंधक	मनुष्य योग्य उनतीस का बंधक
२१	तिर्यंचद्विक, वर्णचतुष्क, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण, उपघात, औदारिक शरीर, हुंडकसंस्थान, प्रत्येक, बादर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयश कीर्ति	तेईस के बंधक मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यंच	तिर्यंचप्रायोग्य तीस का बंधक
२२	औदारिक-अंगोपांग, पंचेन्द्रियजाति, सेवार्त संहनन, त्रस	त्रसप्रायोग्य पच्चीस का बंधक मनुष्य तिर्यंच	तिर्यंचप्रायोग्य तीस का बंधक
२३	पराघात, उच्छ्वास, पर्याप्त	एकेन्द्रियप्रायोग्य पच्चीस का बंधक नरक के बिना तीन गति के जीव	"
२४	विकलत्रिक	स्वप्रायोग्य पच्चीस का बंधक मनुष्य, तिर्यंच	स्वप्रायोग्य तीस का बंधक
२५	एकेन्द्रिय, स्थावर	तेईस का बंधक मनुष्य, तिर्यंच	एकेन्द्रियप्रायोग्य छब्बीस का बंधक
२६	आतप	छब्बीस के बंधक नरक के बिना तीन गति के जीव	"

क्रम	प्रकृतिया	उत्कृष्ट प्रदेशबध स्वामित्व	जघन्य प्रदेशबध स्वामित्व
१०	सज्वलन माया	नौवें गुणस्थान का चतुर्थ भागवर्ती	सबसे अल्प वीर्य वाला लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव भवाद्य समय
११	सज्वलन लोभ	,, ,, पचम भागवर्ती	,,
१२	हास्य, रति, शोक, अरति	अविरत सम्यग्दृष्टि	,,
१३	भय, जुगुप्सा	अष्टम गुणस्थानवर्ती	,,
१४	पुरुषवेद	नौवें गुणस्थान का प्रथम भागवर्ती	,,
१५	देवायु	अप्रमत्तसयत	जघन्य योगी, पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय
१६	मनुष्यायु, तिर्यंचायु	मिथ्यादृष्टि पर्याप्त सज्ञी	सर्वाल्प वीर्यवत, लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया स्वायु तृतीय भाग प्रथम समयवर्ती
१७	नरकायु	मिथ्यादृष्टि पर्याप्त सज्ञी	जघन्य योगी, पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय
१८	देवद्विक, वैक्रियद्विक	देवप्रायोग्य अट्ठाईस का बधक	भवाद्य समय मे देव-प्रायोग्य उनतीस का बधक सम्य मनुष्य
१९	नरकद्विक	नरकप्रायोग्य अट्ठाईस का बधक	जघन्य योगी, पर्याप्त, असंज्ञी पचेन्द्रिय आठ का बधक

क्रम	प्रकृतियां	उत्कृष्ट प्रदेशबंध स्वामित्व	जघन्य प्रदेशबंध स्वामित्व
२०	मनुष्यद्विक	मनुष्य प्रायोग्य पच्चीस का बंधक	मनुष्य योग्य उनतीस का बंधक
२१	तिर्यंचद्विक, वर्णचतुष्क, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण, उपघात, औदारिक शरीर, हुंडकसंस्थान, प्रत्येक, बादर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयश कीर्ति	तेईस के बंधक मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यंच	तिर्यंचप्रायोग्य तीस का बंधक
२२	औदारिक-अंगोपांग, पंचेन्द्रियजाति, सेवार्त संहनन, त्रस	त्रसप्रायोग्य पच्चीस का बंधक मनुष्य तिर्यंच	तिर्यंचप्रायोग्य तीस का बंधक
२३	पराघात, उच्छ्वास, पर्याप्त	एकेन्द्रियप्रायोग्य पच्चीस का बंधक नरक के बिना तीन गति के जीव	"
२४	विकलत्रिक	स्वप्रायोग्य पच्चीस का बंधक मनुष्य, तिर्यंच	स्वप्रायोग्य तीस का बंधक
२५	एकेन्द्रिय, स्थावर	तेईस का बंधक मनुष्य, तिर्यंच	एकेन्द्रियप्रायोग्य छब्बीस का बंधक
२६	आतप	छब्बीस के बंधक नरक के बिना तीन गति के जीव	"

क्रम	प्रकृतिया	उत्कृष्ट प्रदेशबंध स्वामित्व	जघन्य प्रदेशबंध स्वामित्व
१०	सज्वलन माया	नौवें गुणस्थान का चतुर्थ भागवर्ती	सबसे अल्प वीर्य वाला लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव भवाद्य समय
११	सज्वलन लोभ	,, ,, पचम भागवर्ती	,,
१२	हास्य, रति, शोक, अरति	अविरत सम्यग्दृष्टि	,,
१३	भय, जुगुप्सा	अष्टम गुणस्थानवर्ती	,,
१४	पुरुषवेद	नौवें गुणस्थान का प्रथम भागवर्ती	,,
१५	देवायु	अप्रमत्तसयत	जघन्य योगी, पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय
१६	मनुष्यायु, तिर्यंचायु	मिथ्यादृष्टि पर्याप्त सज्ञी	सर्वाल्प वीर्यवत, लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया स्वायु तृतीय भाग प्रथम समयवर्ती
१७	नरकायु	मिथ्यादृष्टि पर्याप्त सज्ञी	जघन्य योगी, पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय
१८	देवद्विक, वैक्रियद्विक	देवप्रायोग्य अट्ठाईस का बधक	भवाद्य समय मे देव-प्रायोग्य उनतीस का बधक सम्य मनुष्य
१९	नरकद्विक	नरकप्रायोग्य अट्ठाईस का बधक	जघन्य योगी, पर्याप्त, असज्ञी पचेन्द्रिय आठ का बधक

क्रम	प्रकृतिया	उत्कृष्ट प्रदेशबंध स्वामित्व	जघन्य प्रदेशबंध स्वामित्व
२०	मनुष्यद्विक	मनुष्य प्रायोग्य पच्चीस का बंधक	मनुष्य योग्य उनतीस का बंधक
२१	तिर्यंचद्विक, वर्णचतुष्क, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण, उपघात, औदारिक शरीर, हुंडकसंस्थान, प्रत्येक, बादर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयश कीर्ति	तेईस के बंधक मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यंच	तिर्यंचप्रायोग्य तीस का बंधक
२२	औदारिक-अगोपाग, पचेन्द्रियजाति, सेवार्त सहनन, त्रस	त्रसप्रायोग्य पच्चीस का बंधक मनुष्य तिर्यंच	तिर्यंचप्रायोग्य तीस का बंधक
२३	पराघात, उच्छ्वास, पर्याप्त	एकेन्द्रियप्रायोग्य पच्चीस का बंधक नरक के बिना तीन गति के जीव	,,
२४	विकलत्रिक	स्वप्रायोग्य पच्चीस का बंधक मनुष्य, तिर्यंच	स्वप्रायोग्य तीस का बंधक
२५	एकेन्द्रिय, स्थावर	तेईस का बंधक मनुष्य, तिर्यंच	एकेन्द्रियप्रायोग्य छब्बीस का बंधक
२६	आतप	छब्बीस के बंधक नरक के बिना तीन गति के जीव	,,

क्रम	प्रकृतिया	उत्कृष्ट प्रदेशबध स्वामित्व	जघन्य प्रदेशबध स्वामित्व
१०	सज्वलन माया	नौवें गुणस्थान का चतुर्थ भागवर्ती	सबसे अल्प वीर्य वाला लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव भवाद्य समय
११	सज्वलन लोभ	,, ,, पचम भागवर्ती	,,
१२	हास्य, रति, शोक, अरति	अविरत सम्यग्दृष्टि	,,
१३	भय, जुगुप्सा	अष्टम गुणस्थानवर्ती	,,
१४	पुरुषवेद	नौवें गुणस्थान का प्रथम भागवर्ती	,,
१५	देवायु	अप्रमत्तसयत	जघन्य योगी, पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय
१६	मनुष्यायु, तिर्यचायु	मिथ्यादृष्टि पर्याप्त सज्ञी	सर्वाल्प वीर्यवत, लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया स्वायु तृतीय भाग प्रथम समयवर्ती
१७	नरकायु	मिथ्यादृष्टि पर्याप्त सज्ञी	जघन्य योगी, पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय
१८	देवद्विक, वैक्रियद्विक	देवप्रायोग्य अट्ठाईस का बधक	भवाद्य समय मे देव-प्रायोग्य उनतीस का बधक सम्य मनुष्य
१९	नरकद्विक	नरकप्रायोग्य अट्ठाईस का बधक	जघन्य योगी, पर्याप्त, असज्ञी पचेन्द्रिय आठ का बधक

क्रम	प्रकृतियां	उत्कृष्ट प्रदेशबंध स्वामित्व	जघन्य प्रदेशबंध स्वामित्व
२०	मनुष्यद्विक	मनुष्य प्रायोग्य पच्चीस का बंधक	मनुष्य योग्य उनतीस का बंधक
२१	तिर्यंचद्विक, वर्णचतुष्क, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण, उपघात, औदारिक शरीर, हुंडकसंस्थान, प्रत्येक, बादर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयश कीर्ति	तेईस के बंधक मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यंच	तिर्यंचप्रायोग्य तीस का बंधक
२२	औदारिक-अंगोपांग, पंचेन्द्रियजाति, सेवार्त संहनन, त्रस	त्रसप्रायोग्य पच्चीस का बंधक मनुष्य तिर्यंच	तिर्यंचप्रायोग्य तीस का बंधक
२३	पराघात, उच्छ्वास, पर्याप्त	एकेन्द्रियप्रायोग्य पच्चीस का बंधक नरक के बिना तीन गति के जीव	"
२४	विकलत्रिक	स्वप्रायोग्य पच्चीस का बंधक मनुष्य, तिर्यंच	स्वप्रायोग्य तीस का बंधक
२५	एकेन्द्रिय, स्थावर	तेईस का बंधक मनुष्य, तिर्यंच	एकेन्द्रियप्रायोग्य छब्बीस का बंधक
२६	आतप	छब्बीस के बंधक नरक के बिना तीन गति के जीव	"

क्रम	प्रकृतिया	उत्कृष्ट प्रदेशबध स्वामित्व	जघन्य प्रदेशबध स्वामित्व
२७	उद्योत	नरक बिना तीन गति के जीव एक प्रायोग्य छब्बीस के बधक	तिर्यंचप्रायोग्य तीस का बधक
२८	मध्यमसस्थान व सहनन चतुष्क	तिर्यंच अथवा मनुष्य प्रायोग्य उनतीस का बधक	"
२९	वज्रऋषभनाराच सहनन	मनुष्यप्रायोग्य उनतीस का बधक	"
३०	समचतुरस्रसस्थान, शुभ विहायोगति, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय	देवप्रायोग्य अट्ठाईस का बधक	"
३१	अशुभ विहायोगति, दुस्वर	नरकप्रायोग्य अट्ठाईस का बधक	"
३२	सूक्ष्म, साधारण	एकेन्द्रियप्रायोग्य तेईस का बधक	पर्याप्त एके प्रायोग्य पच्चीस का बधक
३३	अपर्याप्त	"	अपर्या त्रसप्रायोग्य पच्चीस का बधक
३४	यश कीर्ति	सूक्ष्मसपरायगुणस्थानवर्ती	तिर्यंचप्रायोग्य तीस का बधक
३५	आहारकद्विक	देवप्रायोग्य तीस का बधक अप्रमत्त सयत	अष्टविध बधक देवप्रायोग्य इकतीस का बधक अप्रमत्त यति

क्रम	प्रकृतिया	उत्कृष्ट प्रदेशबंध स्वामित्व	जघन्य प्रदेशबंध स्वामित्व
३६	तीर्थंकरनाम	देवप्रायोग्य उनतीस का बधक मनुष्य	मनुष्यप्रायोग्य तीस का बधक सम्यग्-दृष्टि देव भवाद्य समय मे
३७	उच्चगोत्र	सूक्ष्मसपरायगुणस्थान-वर्ती	भवाद्य समयवर्ती सर्वाल्प योगी, लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगो-दिया जीव
३८	नीचगोत्र	मिथ्यादृष्टि	,,

इस प्रकार से स्वामित्व प्ररूपणा करने के साथ यद्यपि प्रदेशबध का विचार समाप्त होता है। किन्तु अभी तक यह नही बताया है कि कोन सी प्रकृति जघन्य उत्कृष्ट से निरन्तर कितने काल पर्यन्त बधती है ? अत अब उनके बधकाल का निरूपण करते है।

प्रकृतियो का निरन्तर बधकाल

समयादसखकाल तिरदुगनीयाणि जाव बज्झति ।
वेउव्वियदेवदुग पल्लतिग आउ अन्तमुहू ॥६३॥

शब्दार्थ—समयादसखकाल—एक समय और असख्यकाल, तिरदुगनीयाणि—तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र, जाव—पर्यन्त, बज्झति—बध सकते हैं, वेउव्वियदेवदुग—वैक्रियद्विक और देवद्विक, पल्लतिग—तीन पल्योपम, आउ—आयु, अन्तमुहू—अन्तर्मुहूर्त ।

गाथार्थ—तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र का जघन्य एक समय और उत्कृष्ट असख्यात काल पर्यन्त और आयु का अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त निरन्तर बध होता है।

विशेषार्थ—गाथा मे प्रकृतियो के निरन्तर बधकाल का कथन प्रारम्भ करते हुए बताया है—

'तिरदुगनीयाणि' अर्थात् तिर्यंचगति और तिर्यंचानुपूर्वी रूप तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र ये तीन प्रकृतिया जघन्य से एक समय बधती हैं। क्योकि दूसरे समय मे तथाप्रकार के अध्यवसाय के योग मे इनकी विरोधिनी प्रकृतियो का बध सम्भव है तथा उत्कृष्ट से असख्य लोकाकाश प्रदेश की सख्या प्रमाण समयो तक निरन्तर बधती है। इसका कारण यह है कि तेजस्काय और वायुकाय गत जीवो के ये तीन प्रकृतिया बधती हैं किन्तु तथाभवस्वभाव से इनकी विरोधिनी मनुष्यगति आदि प्रकृतियो का वध नही होता है। उन दोनो की स्वकायस्थिति उतनी ही है, जिससे उक्त तीन प्रकृतियो का उतना ही उत्कृष्ट निरन्तर वधकाल वताया है। तथा—

वैक्रियद्विक—वैक्रियशरीर, वैक्रिय-अगोपाग और देवद्विक—देवगति, देवानुपूर्वी ये चार प्रकृतिया परावर्तमान प्रकृतिया है। अत दूसरे समय मे तथाप्रकार के अध्यवसाय के योग से इनकी विरोधिनी प्रकृतिया वध सकती हैं और उत्कृष्ट से तीन पल्योपम पर्यन्त वधती है। क्योकि असख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यंच और मनुष्य जन्म से लेकर मरण पर्यन्त इन्ही प्रकृतियो को वाधते है और भोगभूमिज मनुष्य, तिर्यंच उत्कृष्ट से तीन पल्योपम की आयु वाले होते हैं, जिससे इन चार प्रकृतियो का उत्कृष्ट से उतना—तीन पल्योपम निरन्तर वध का काल जानना चाहिये।

'आउ अन्तमुहू' अर्थात् तथाप्रकार का जीवस्वभाव होने के कारण चारो आयु का उत्कृष्ट से निरन्तर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ही वध होता है। तथा—

देमूणपुव्वकोडी साय तह असखपोग्गला उरल।
परघाउस्सासमतसचउपणिदि पणसीय अयरसयं ॥६४॥

शब्दार्थ—देसूणपुव्वकोडी—देशोन (कुछ कम) पूर्व कोटि, साय—साता-वेदनीय, तह—तथा, असखपोग्गला—असख्य पुद्गल परावर्तन, उरल—औदारिक शरीर, परघाय—पराघात, उस्सास—उच्छ्वास, तसचउ—त्रसचतुष्क, पणिदि—पचेन्द्रिय जाति, पणसीय—पचासी, अयर—सागरोपम, सय—सौ।

गाथार्थ—उत्कृष्ट से सातावेदनीय का देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त, औदारिकशरीरनामकर्म का असख्यातपुद्गलपरावर्तन पर्यन्त और पराघात, उच्छ्वास, त्रसचतुष्क एव पचेन्द्रिय जाति का एक सौ पचासी सागरोपम पर्यन्त निरन्तर वध होता है।

विशेषार्थ—सर्वप्रथम गाथा मे सातावेदनीय के निरन्तर बधकाल का निर्देश किया है कि 'देसूणपुव्वकोडी साय' अर्थात् सातावेदनीय का उत्कृष्ट देशोनपूर्वकोटि पर्यन्त निरन्तर वध होता है। इसका कारण यह है कि उत्कृष्ट से सयोगिकेवली गुणस्थान का इतना—देशोन पूर्वकोटि काल है और वहाँ मात्र सातावेदनीय का ही बध होता है, असातावेदनीय का नही। इसी कारण सातावेदनीय का उत्कृष्ट से निरन्तर वधकाल देशोन पूर्वकोटि प्रमाण बताया है। किन्तु जघन्य से सातावेदनीय का बधकाल एक समय है। क्योकि परावर्तमान प्रकृति होने से दूसरे समय मे तथाप्रकार के अध्यवसायरूप सामग्री के कारण उसकी विरोधिनी प्रकृति का— असातावेदनीय का वध हो सकता है। जिससे सातावेदनीय का जघन्य से बधकाल एक समय मात्र है।[1]

---

१ इसी प्रकार प्रत्येक परावर्तमान प्रकृति के लिए समझना चाहिए। जहाँ जिस किसी भी परावर्तमान प्रकृति का निरन्तर बधकाल पल्योपम आदि कहा है, तो वहाँ उसकी विरोधिनी प्रकृति गुणप्रत्यय या भवप्रत्यय से नही बधने के कारण समझना चाहिए। जहाँ विरोधी प्रकृति बधती हो, वहाँ अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट निरन्तरकाल समझना और जघन्य एक समय।

औदारिकशरीरनामकर्म जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से असख्यात पुद्गलपरावर्तन काल तक बधता है।[1] इसका कारण यह है कि स्थावर जीव औदारिकशरीर ही बाधते है, वैक्रिय नही। क्योकि भवस्वभाव से उनके उस शरीरनामकर्म के बधयोग्य अध्यवसाय असम्भव है। स्थावर मे गये हुए व्यवहारराशि के जीव उत्कृष्ट से उतने ही काल वहाँ रहते है।

पराघात, उच्छ्वास एव त्रस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक रूप त्रसचतुष्क और पचेन्द्रिय जाति ये सात प्रकृतिया जघन्य से एक समय बधती हैं और उत्कृष्ट से एक सौ पचासी सागरोपम पर्यन्त निरन्तर बधती है। इन सात प्रकृतियो का निरन्तर उत्कृष्ट मे एक सौ पचासी सागरोपम काल तक बधने का कारण यह है—

छठवे नरक मे रहे हुए नारको की उत्कृष्ट से बाईस सागरोपम प्रमाण आयु है। जिससे उक्त सात प्रकृतिया भवस्वभाव से उतने काल पर्यन्त वहाँ बधती हैं, किन्तु उनकी विरोधिनी प्रकृतिया नही बधती हैं। वे नारक अपने भव के अन्त मे सम्यक्त्व को प्राप्त कर इन प्रकृतियो को साथ लेकर मनुष्य मे उत्पन्न हो तो वहाँ भी सम्यक्त्व के प्रभाव से

---

१ औदारिकशरीरनामकर्म का जो निरन्तर बधकाल कहा है, वह निम्न-लिखित तीन प्रकार के निगोदिया जीवो मे से तीसरे प्रकार के जीवो की अपेक्षा समझना चाहिए—

१ जो कभी निगोद से निकले नही और न निकलेंगे।

२ जो निगोद से पहले तो निकले नही, किन्तु अब निकलेंगे।

३ निगोद से निकलकर पुन निगोद मे गये।

पहले और दूसरे की अपेक्षा तो अनुक्रम से अनादि अनन्त और अनादि सान्त काल समझना चाहिए। सूक्ष्म निगोद भव को जिन्होने कभी छोड़ा नही, वे जीव अव्यवहारराशि और शेष सभी व्यवहारराशि के कहलाते हैं।

विवक्षित प्रकृतियो की प्रतिपक्षी प्रकृतिया नही बधती है। अब यदि वह मनुष्य अनुत्तर सयम[1] का पालन कर इकतीस सागरोपम की आयु के साथ ग्रैवेयक मे देवरूप से उत्पन्न हो और वह देव तथाप्रकार के अध्यवसायो के योग से जन्म होने के बाद तत्काल मिथ्यात्व भाव को प्राप्त करे और उसके वाद च्यवनकाल मे पुन सम्यक्त्व प्राप्त कर मनुष्य मे आकर उत्तम श्रावकपने को प्राप्त कर बाईस-बाईस सागरोपम की आयु से तीन बार अच्युत देवलोक को जाने के द्वारा छियासठ सागरोपम काल पूर्ण करे तब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व निरन्तर इतने काल तक रह सकता है । उसके वाद अन्तर्मुहूर्त मिश्रगुणस्थान मे आकर पुन क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त कर दो बार तेतीस सागरोपम की आयु से विजयादि विमान मे जाने के द्वारा छियासठ सागरोपम पूर्ण करे। इन स्थानो मे इतने काल पर्यन्त भवप्रत्यय अथवा गुणप्रत्यय से उक्त प्रकृतियो की विपक्षी प्रकृतिया नही बधती है। इस प्रकार से विवक्षित प्रकृतियो का निरन्तर एक सौ पचासी सागरोपम प्रमाण काल घटित होता है।

यहाँ इतना विशेप है कि सम्यक्त्व सहित छठी नरकपृथ्वी से निकलकर मनुष्यभव को प्राप्त कर देशविरति की आराधना कर सम्यक्त्व सहित चार पल्योपम की आयु वाला देव होकर, वहाँ से मनुष्य मे आकर सर्वविरति की आराधना कर इकतीस सागरोपम की आयु वाले ग्रैवेयक मे उत्पन्न हो और वहाँ से च्युत होकर बीच-बीच मे मनुष्यभव धारण करके तीन बाईस सागरोपम की आयु से अच्युत स्वर्ग मे उत्पन्न हो। तत्पश्चात् दो बार तेतीस सागरोपम की आयु सहित विजयादि विमानो मे उत्पन्न हो। इस प्रकार चार पल्योपम

---

१ यहाँ अनुत्तर सयम से देशविरति सयम समझना चाहिए। क्योकि छठी पृथ्वी से निकलकर मनुष्यभव मे उत्पन्न जीव देशसयम प्राप्त कर सकता है। देखिये बृहत्सग्रहणी।

अधिक एक सौ पचासी सागरोपम निरन्तर बधकाल समझना चाहिए।

चउरसउच्चसुभखगइपुरिससुस्सरतिगाण छावट्ठी।
बिउणा मणुदुगउरलगरिसहतित्थाण तेतीसा ॥९५॥

शब्दार्थ—चउरस—समचतुरस्र, उच्च—उच्चगोत्र, सुभखगई—प्रशस्त-विहायोगति, पुरिस—पुरुषवेद, सुस्सरतिगाण—सुस्वरत्रिक, छावट्ठी—छियासठ, बिउणा—द्विगुण, मणुदुग—मनुष्यद्विक, उरलग—औदारिक-अगोपाग, रिसह—वज्रऋषभनाराचसहनन, तित्थाण—तीर्थंकरनाम का, तेतीसा—तेतीस सागरोपम।

गाथार्थ—समचतुरस्रसस्थान, उच्चगोत्र, प्रशस्तविहायोगति, पुरुपवेद, सुस्वरत्रिक का द्विगुण छियासठ सागरोपम काल तक तथा मनुष्यद्विक, औदारिक अगोपाग, वज्रऋपभनाराच सहनन और तीर्थंकर नामकर्म का तेतीस सागरोपम प्रमाण निरन्तर वध काल है।

विशेपार्थ—समचतुरस्रसस्थान, उच्चगोत्र, प्रशस्तविहायोगति, पुरुपवेद तथा सुस्वर, सुभग और आदेय रूप सुस्वरत्रिक इन सात प्रकृतियो का निरन्तर वधकाल परावर्तमान प्रकृति होने मे जघन्यत एक समय है और उत्कृप्ट से द्विगुणछियासठ सागरोपम है। ये सभी प्रकृतिया सम्यग्दृष्टि अथवा सम्यग्मिथ्यादृष्टि-मिश्रदृष्टि जीवो के तो अवश्य वधती है। क्योकि इनकी विरोधिनी प्रकृतियो का सासादन-गुणस्थान मे वधविच्छेद होता है। यानी उत्कृप्ट से जितने काल तक जीव सम्यक्त्वादि गुणस्थान मे रह सकता है, उतने काल तक उपर्युक्त सात प्रकृतिया निरन्तर वधती रहती है।

सम्यक्त्व का अन्तर्मुहूर्त प्रमाण मिश्र गुणस्थान के काल से अन्तरित एक सौ बत्तीस सागरोपम काल इस प्रकार से जानना चाहिए—

कोई एक मनुष्य क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करके उत्तम श्रावकपने का पालन कर बाईस सागरोपम की आयु से अच्युतस्वर्ग मे जाये। वहाँ से च्यवकर पुन मनुष्य हो उत्तम श्रावकपने का पालन कर अच्युतदेवलोक मे जाये और वहाँ से च्यवकर पुन मनुष्य हो अच्युतदेवलोक मे जाये और वहाँ से च्यवकर मनुष्य हो। इस प्रकार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का बीच मे होने वाले मनुष्यभव अधिक छियासठ सागरोपम का काल होने से अन्तर्मुहूर्त मिश्रगुणस्थान मे जाकर पुन क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त कर उत्तम मुनिधर्म का पालन कर तेतीस सागरोपम की आयु से विजयादि चार मे से किसी महाविमान मे उत्पन्न हो और वहाँ से च्यवकर मनुष्य हो अनुत्तर मुनिधर्म का पालनकर दूसरी बार विजयादि विमानो मे उत्पन्न हो और वहाँ से च्यवकर मनुष्य हो। अब यदि उस भव मे मोक्ष न जाये तो सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व मे जायेगा। इस प्रकार बीच मे होने वाले मनुष्य के भवो से अधिक और अन्तर्मुहूर्त मिश्रगुणस्थान के काल से अन्तरित एक सौ बत्तीस सागरोपम पर्यन्त सम्यक्त्वादि गुणस्थानो मे रह सकता है और वहाँ उक्त सात प्रकृतियो को बाधता रहता है। तत्पश्चात् मोक्ष मे न जाये तो सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व मे जाकर उक्त सात प्रकृतियो की विरोधी प्रकृतियो को बाधता है।

मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, औदारिक अगोपाग और वज्रऋषभ-

नाराचसहनन का जघन्य मे एक समय[1] और तीर्थंकरनामकर्म का जघन्य से अन्तमुर्हूर्त और उत्कृष्ट से इन पाचो प्रकृतियो का तेतीस सागरोपम प्रमाण निरन्तर बधकाल है । जो इस प्रकार जानना चाहिये—

अनुत्तर विमान मे उत्पन्न हुआ जीव तीर्थंकरनामकर्म को छोड कर शेप प्रकृतियो का तो नियमपूर्वक वध करता है और उसके वाद के जन्मो मे तीर्थंकर होने वाला कोई जीव तीर्थकरनामकर्म का भी वंध करता है । इसलिये इन पाच प्रकृतियो का उत्कृष्ट से उतना—तेतीस सागरोपम—प्रमाण वधकाल कहा गया है । मात्र तीर्थंकर-नामकर्म का देशोन दो पूर्व कोटिसे अधिक[2] समझना चाहिये । तथा—

---

१ यहाँ जघन्य से जो एक समय वधकाल कहा है, वह जब तक विरोधिनी प्रकृतिया वधती हो, वहाँ तक और उत्कृष्ट वधकाल विरोधिनी प्रकृति का वधविच्छेद होने के पश्चात् अकेली जव तक वधे, तव तक समझना चाहिए । तीर्थंकरनामकम जीवस्वभाव मे जघन्यत भी आयु की तरह अन्तमुर्हूर्त ही वधता है ।

२ तीसरे मव मे निकाचित वध करे, इस अपेक्षा तीर्थंकरनाम का निरन्तर वधकाल देशोन पूर्वकोटि अधिक बताया है । जो इस प्रकार जानना चाहिये—

अधिक से अधिक पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले किसी मनुष्य ने तीर्थंकर-नाम का निकाचित वध किया, उसके वाद अनुत्तर विमानो मे तेतीस सागरोपम की आयु वाला देव हुआ । तत्पश्चात् वहाँ से च्यवकर उत्कृष्ट चोरासी लाख पूर्व की आयु से मनुष्य हुआ और वहाँ पर भी जब तक आठवें अपूर्वकरणगुणस्थान के छठे भाग से आगे नही गया तब तक निरन्तर वध करता रहा । क्योकि तीर्थंकरनामकर्म निकाचित होने के बाद अपनी बधयोग्य भूमिका मे प्रति समय वधता रहता है, ऐसा नियम है । इसीलिये कुछ वर्ष कम दो पूर्वकोटि अधिककाल बताया है ।

सेसाणनमुहुत्तं समया तित्थाउगाण अंतमुहू ॥
बंधो जहन्नओ वि हु भगतिग निच्चबंधीणं ॥६६॥

शब्दार्थ—**सेसाणतमुहुत्त**—शेप प्रकृतियो का अतमुंहूर्त, **समया**—समय, **तित्थाउगाण**—तीर्थंकरनाम और आयुकर्म की प्रकृतियो का, **अंतमुहू**—अन्तर्मुहूर्त, **बधो**—वध, **जहन्नओ वि**—जघन्य से भी, **हु**—निश्चित रूप से ही, **भगतिग**—तीन भग, **निच्चबधीण**—ध्रुवबधिनी प्रकृतियो के।

गाथार्थ—शेप प्रकृतियो का एक समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त तथा जघन्य से भी तीर्थंकरनाम एव आयुचतुष्क का अन्तर्मुहूर्त ही वध होता है और ध्रुवबधिनी प्रकृतियो के तीन भग होते है।

विशेषार्थ—पूर्वोक्त से शेप रही प्रकृतियो का निरतर वधकाल वतलाते हुए गाथा मे ध्रुवबधिनी प्रकृतियो के बधकाल के भंगो का निर्देश किया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पूर्व मे जिन प्रकृतियो का निरन्तर वधकाल कहा है, उनके सिवाय प्रथम सस्थान और सहनन को छोडकर शेप सस्थानपचक, सहननपचक, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति, स्थावर-दशक, हास्य, रति, अरति, शोक, नरकद्विक, आहारकद्विक, आतप, उद्योत, स्त्रीवेद, नपुसकवेद, स्थिर, शुभ, यश कीर्ति असातावेदनीय और अप्रशस्तविहायोगति इन इकतालीस प्रकृतियो का जघन्य से समय-मात्र वधकाल है और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त वधती है। क्योकि ये प्रकृतिया अध्रुवबधिनी होने से इनमे बधापेक्षा अवश्य परावर्तन[1] होता है।

---

१ इन प्रकृतियो मे हास्य, रति, अरति, शोक, आहारकद्विक, स्थिर, शुभ, यश कीर्ति और असातावेदनीय के सिवाय शेप सभी प्रकृतिया आदि के दो गुणस्थानो तक वधती है। वहाँ उन प्रकृतियो की विरोधिनी प्रकृतियो (क्रमश)

तीर्थंकरनाम और आयुकर्म का जीवस्वभाव से जघन्यत भी अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त निरन्तर वंध होता है और उत्कृष्ट से वधकाल का प्रमाण पूर्व मे कहा जा चुका है।

इस प्रकार के समस्त वध प्रकृतियो के वधकाल को जानना चाहिये। अव ध्रुववधिनी प्रकृतियो की वधकाल की अपेक्षा जो विशेषता है, उसके भगो को वतलाते हैं कि 'भगतिग निच्चवधीण' अर्थात् नित्य-वधि—ध्रुववधिनी प्रकृतियो के वधकाल की अपेक्षा तीन भग जानना चाहिये—१ अनादि-अनन्त, २ अनादि-सात, और ३ सादि-सात। इनमे से अभव्य की अपेक्षा अनादि-अनन्त वधकाल है। क्योकि वे अनादि-काल से वधती रहती हैं, जिससे अनादि हैं और भविष्यकाल मे किसी भी समय वध का विच्छेद होने वाला नही होने से अनत है तथा जो भव्य अभी तक मिथ्यात्व से आगे वढे नही, किन्तु अव वढेंगे और ध्रुववधिनी प्रकृतियो का वधविच्छेद करेंगे, ऐसे भव्यो की अपेक्षा अनादि-सात तथा उपशमश्रेणि से पतित हुए जीवो की अपेक्षा सादि-सात है तथा अध्रुववधिनी प्रकृतियो के अध्रुववधिनी होने से उनका काल सादि-सात जानना चाहिये।

का वध होने से एव उनके परावर्तमान होने से अन्तर्मुहूर्त से अधिक समय तक वध नही सकती हैं तथा आहारकद्विक के सिवाय हास्य, रति आदि सभी प्रकृतिया छठे गुणस्थान तक अपनी प्रतिपक्षी प्रकृतियो के साथ परावर्तन रूप से वधती रहती हैं और सातवें, आठवें गुणस्थानो का अन्त-मुहूर्त से अधिक काल नही है, जिससे आहारकद्विक का अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट वधकाल है तथा उनका जो एक समय वधकाल कहा गया है, वह सातवें या आठवे गुणस्थान मे जाकर एक समय वध करके मरण प्राप्त करने वाले की अपेक्षा समझना चाहिये।

इस प्रकार से बधप्रकृतियो का जघन्य और उत्कृष्ट से निरन्तर बधकाल जानना चाहिये। सरलता से समझने के लिये तद्दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

क्रम	प्रकृतिया	उत्कृष्ट बधकाल	जघन्य बधकाल
१	ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणनवक, अन्तरायपचक, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, भय, जगुप्सा	अभव्याश्रयी अनादि-अनन्त, भव्याश्रयी अनादि सात, पतिताश्रयी देशोन अर्धपुद्गल परावर्तन	अन्तर्मुहूर्त
२	हास्य, रति, अरति शोक, स्त्रीवेद, नपु सकवेद	अन्तर्मुहूर्त	एक ममय
३	पुरुषवेद	साधिक एक सौ बत्तीस सागरोपम	,,
४	सातावेदनीय	देशोन पूर्वकोटि	,,
५	असातावेदनीय	अन्तर्मुहूर्त	,,
६	चार आयु	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
७	देवद्विक, वैक्रियद्विक	तीन पल्योपम	एक समय
८	मनुष्यद्विक, औदारिक अगोपाग, वज्रऋषभ-नाराचसहनन	तेतीस सागरोपम	,,
९	तिर्यंचद्विक	असख्य उत्सर्पिणी अव-सर्पिणी	,,

क्रम	प्रकृतिया	उत्कृष्ट बंधकाल	जघन्य बंधकाल
१०	नरकद्विक, एकेन्द्रियादि-जातिचतुष्क, आहारक-द्विक अतिम पाच सहनन व सस्थान, अशुभ विहायोगति, आतप, उद्योत, स्थिर, शुभ, यश कीर्ति, स्थावर दशक	अन्तमुहूर्त	एक समय
११	पचेन्द्रिय जाति, पराघात, उच्छ्वास, त्रसचतुष्क	साधिक चार पल्योपम सहित एक सौ पचासी सागरोपम	एक समय
१२	औदारिक शरीर	असख्य पुद्गल परावर्तन	
१३	वर्णचतुष्क, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण, उपघात	अभव्याश्रयी अनादि-अनन्त, भव्याश्रयी अनादि-सात, पतिताश्रयी देशोन अर्ध पुद्गल परावर्तन	अन्तर्मुहूर्त
१४	समचतुरस्रसस्थान, शुभ विहायोगति, सुभग, सुस्वर आदेय	साधिक एक सौ बत्तीस सागरोपम	एक समय
१५	तीर्थंकरनामकर्म	देशोन दो पूर्व कोटि वर्ष अधिक तेतीस सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त
१६	उच्चगोत्र	साधिक एक सौ बत्तीस सागरोपम	एक समय
१७	नीचगोत्र	असख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी	एक समय

इस प्रकार से प्रदेशबध का वर्णन पूर्ण होने के साथ बधविधि का विचार समाप्त हुआ और बध के साथ उदय का क्रम जुडा हुआ है। क्योकि प्रत्येक कर्मप्रकृति बध होने के पश्चात् विपाक द्वारा अपना कार्य करके निर्जीर्ण होती है। विपाक के लिये उस-उस प्रकृति का उदय मे आना आवश्यक है। अत. अब उदयविधि का प्रतिपादन करते है।

उदयविधि

उदयविधि का विचार प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम उदय के प्रकारो को बतलाते है—

होइ अणाई अणंतो अणाइसतो धुवोदयाणुदओ ।
साइसपज्जवसाणो अधुवाणं तह य मिच्छस्स ॥६७॥

शब्दार्थ—होइ—होता है, अणाइ अणतो—अनादि-अनत, अणाइसंतो—अनादि-सात, धुवोदयाणुदओ—ध्रुवोदया प्रकृतियो का उदय, साइसपज्जवसाणो सादि-सात, अधुवाण—अध्रुवोदया प्रकृतियो का, तह—तथा, य—और, मिच्छस्स—मिथ्यात्व का।

गाथार्थ—ध्रुवोदया प्रकृतियो का उदय अनादि-अनन्त और अनादि-सात इस तरह दो प्रकार का है और अध्रुवोदया प्रकृतियो तथा मिथ्यात्व का उदय सादि-सात है।

विशेषार्थ—बध की तरह उदय मे भी प्रकृतिया दो तरह की है—ध्रुवोदया और अध्रुवोदया। गाथा मे इन दोनो तरह की प्रकृतियो के उदय के रूपो को बतलाया है।

उदयविधि से लेकर बधन आदि आठ करणो के स्वरूप का विचार कर्मप्रकृति के आधार से किया जायेगा। कर्मप्रकृति के कर्ता श्री शिव-

शर्मसूरि एकसौ अट्ठावन प्रकृतिया[1] मानते है। अत उनके अभिप्राया-नुसार ध्र ुवोदया प्रकृतिया अडतालीस होती है। जो इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरणपचक, अतरायपचक, दर्शनावरणचतुष्क मिथ्यात्व-मोहनीय, वर्णादि बीस, तैजस-कार्मणसप्तक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, अगुरुलघु और निर्माण।

इन अडतालीस प्रकृतियो का उदय 'होइ अणाइअणतो अणाइसतो' अनादि-अनन्त और अनादि-सात इस तरह दो प्रकार का है। जो इस तरह से जानना चाहिए कि अभव्य की अपेक्षा उक्त प्रकृतियो का उदय अनादि-अनन्त है। क्योकि अभव्यो के इन प्रकृतियो का अनादि काल से उदय है और किसी भी समय उदयविच्छेद सभव नही है तथा भव्यो की अपेक्षा अनादि-सात है। क्योकि मोक्ष मे जाने पर इनका उदय-विच्छेद अवश्यभावी है। इन ध्र ुवोदया अडतालीस प्रकृतियो मे से उदय की अपेक्षा मिथ्यात्व की विशेषता का स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है।

उक्त ध्र ुवोदया प्रकृतियो से शेष रही अध्र ुवोदया एक सौ दस प्रकृतियो का उदय सादि सात है—'साइसपज्जवसाणो अधुवाण'। इसका कारण यह है ये सभी प्रकृतिया अध्र ुवोदय होने से परावर्तित हो-होकर उदय मे आती है। इसीलिये अध्र ुवोदया प्रकृतियो का उदय सादि-सात है तथा ध्र ुवोदया होते हुए भी मिथ्यात्वमोहनीय का उदय भी सादि-सात है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

---

१ कर्मप्रकृतिकार के अभिप्राय से वधननाम के पन्द्रह भेद होने से आठो कर्मों की उत्तर प्रकृतिया एक सौ अट्ठावन होती हैं किन्तु पचसग्रहकार पाच वधन मानने वाले होने से एक सौ अडतालीस उत्तर प्रकृतिया मानते हैं। किन्तु यहां कर्मप्रकृतिकार के अभिप्रायानुसार वर्णन किये जाने से एकसौ अट्ठावन प्रकृतिया कही हैं। यह विवक्षाभेद है, मतान्तर नही है।

सम्यक्त्व से पतित हुए जीवों की अपेक्षा मिथ्यात्व के उदय की सादि और पुन सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर मिथ्यात्व का उदयविच्छेद होने से अध्रुव-सात। इस प्रकार अन्य ध्रुवोदया प्रकृतियों की अपेक्षा मिथ्यात्व के उदय की यह विशेषता है। अर्थात् मिथ्यात्व के उदय के तीन प्रकार है—अनादि-अनन्त, अनादि-सात और सादि-सात। इन तीन भगों मे से पहले दो भग अनादि-अनन्त और अनादि-सात तो मिथ्यात्व के ध्रुवोदया होने से और ध्रुवोदया प्रकृतियो के दो भग बताये जाने से मिथ्यात्व के भी दो भग उसी प्रकार समझ लेना चाहिए और तीसरे सादि-सात भग को ग्रन्थकार आचार्य ने 'तह य मिच्छस्स' पद द्वारा साक्षात् स्पष्ट बताया है।

इस प्रकार से उदय प्रकृतियो के उदय प्रकारो को जानना चाहिये। अब उदय के भेदों को बतलाते है।

उदय के भेद

पयडीठिइमाईया भेया पुव्वुत्तया इहं नेया।

उदीरणउदयाण जन्नाणत्तं तयं वोच्छ ॥६८॥

शब्दार्थ—**पयडीठिइमाईया**—प्रकृति, स्थिति आदि, **भेया**—भेद, **पुव्वुत्तया**—पूर्वोक्त—पूर्व मे कहे गये, **इहं**—यहाँ, **नेया**—जानना चाहिए, **उदीरण-उदयाण**—उदीरणा और उदय मे, **जन्नाणत्तं**—जो भेद—भिन्नता है, **तयं**—उसको, **वोच्छ**—कहूँगा।

गाथार्थ—प्रकृति, स्थिति आदि जो भेद पूर्व मे कहे है, वे यहाँ भी जानना चाहिये। उदीरणा और उदय मे जो भेद—भिन्नता है, उसको कहूँगा।

विशेषार्थ—गाथा मे उदय के भेदो का सकेत करते हुए उदय और उदीरणा मे जो भेद है, उसको स्पष्ट करने का निर्देश किया है। सर्वप्रथम उदय के भेदो का निर्देश करते है—

'पयडीठिइमाईया भेया' अर्थात् जिस तरह से पहले बधविधि के विचा प्रसग मे प्रकृतिबध, स्थितिबध, अनुभागबध और प्रदेशबध इस तरह चार भेद बताये हैं वे सभी यहाँ उदयाधिकार मे भी जानना चाहिये" किन्तु इतनी विशेषता है कि बध के स्थान पर उदय शब्द का प्रयोग किया जाये। यथा—प्रकृत्युदय, स्थित्युदय, अनुभागोदय और प्रदेशोदय।

अब गाथा के उत्तरार्ध का आशय स्पष्ट करते है।

उदयविधि का यहाँ वर्णन करते हैं तथा उदीरणा का स्वरू उदीरणाकरण मे विस्तार से कहा जायेगा और उदीरणा के स्वरूप क आगे कहने का कारण यह है कि उदय और उदीरणा सहचारी होने से इन दोनो के स्वामित्व के विषय मे प्राय कोई भेद नही है। क्योंकि जिन प्रकृतियो का जहाँ तक उदय होता है वही तक उनकी उदीरणा होती है। इसी प्रकार जिन प्रकृतियो की जहाँ तक उदीरणा होती है, वहाँ तक उनका उदय भी होता है। ऐसी स्थिति मे जिस प्रकार से प्रकृति आदि भेद और स्वामित्व आदि का विचार उदीरणाधिकार मे किया जायेगा, वह सब यहाँ भी उसी तरह जान लेना चाहिए। अत मात्र उदय और उदीरणा के प्रकृति आदि भेद के विषय मे जो भिन्नता है, उसका यहाँ विचार किया जायेगा और शेष सब वर्णन उदीरणा की तरह समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार से उदय और उदीरणा मे सामान्य से यथासभव समानता और भिन्नता का सकेत करने के बाद अब उदय और उदीरणा मे प्रकृतिभेद के विषय मे भिन्नता बताने के लिये जिन प्रकृतियो का उदीरणा के सिवाय भी कुछ काल उदय होता है, उसको बतलाते है।

विशेष उदयवती प्रकृतिया

> चरिमोदयमुच्चाण अजोगिकाल उदीरणाविरहे।
> देसूणपुव्वकोडी मणुयाउ य सायसायाण ॥८८॥

तइयच्चियपज्जत्ती जा ता निद्दाण होइ पचण्ह ।
उदओ आवलिअंते तेवीसाए उ सेसाण ॥१००॥

शब्दार्थ—**चरिमोदय**—चरमसमय मे उदयवती, **उच्चाण**—उच्चगोत्र, **अजोगि काल**—अयोगिकेवली गुणस्थान के काल पर्यन्त, **उदीरणाविरहे**—उदीरणा के बिना, **देसूणपुव्वकोडी**—देशोनपूर्वकोटि पर्यन्त, **मणुयाउ**—मनुष्यायु, **य**—और, **सायसायाण**—साता और असातावेदनीय का ।

तइयच्चियपज्जत्ती—तीसरी पर्याप्ति से, **जा**—जब तक, **ता**—तब तक **निद्दाण**—निद्राओ का, **होइ**—होता है, **पचण्ह**—पाच, **उदओ**—उदय, **आवलि**—आवलिका, **अंते**—अतिम, **तेवीसाए**—तेईस प्रकृतियो का, **उ**—और, **सेसाण**—शेष ।

गाथार्थ—अयोगिकेवली गुणस्थान के चरम समय मे उदयवती नामनवक प्रकृतियो और उच्चगोत्र का अयोगिकेवलीगुणस्थान के काल पर्यन्त, मनुष्यायु और साता-असातावेदनीय का देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त, पाच निद्राओ का तीसरी पर्याप्ति से पर्याप्त होने तक और शेप तेईस प्रकृतियो का अतिम आवलिका काल पर्यन्त उदीरणा के सिवाय केवल उदय होता है ।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओ मे उन प्रकृतियो का उल्लेख है जिनका अपने-अपने योग्य स्थान मे उदीरणा के सिवाय केवल उदय ही होता है । ऐसी प्रकृतिया इकतालीस हे । कारण सहित जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

अयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय मे जो प्रकृतिया केवल उदय मे वर्तमान होती हे, उन्हे चरमोदया प्रकृति कहते है । ऐसी प्रकृतियो के नाम है—मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, त्रसनाम, बादरनाम, पर्याप्तनाम, सुभगनाम, आदेयनाम, यश कीर्तिनाम, तीर्थंकरनाम और उच्चगोत्र । इनमे से आदि की नौ प्रकृतिया नामकर्म की है और अतिम गोत्रकर्म की है । इन प्रकृतियो का अयोगिकेवलीगुणस्थान मे उस

गुणस्थान के काल पर्यन्त उदीरणा के सिवाय केवल उदय ही होता है। तीर्थंकरनामकर्म के विषय मे इतना विशेष जानना चाहिये कि तीर्थंकर भगवान के ही तीर्थकरनाम का उदय होता है, किन्तु सामान्य केवली भगवतो को उदय नही होता है। तथा—

'मणुयाउ य सायसायाण'—अर्थात् मनुष्यायु, सातावेदनीय और असातावेदनीय इन तीन प्रकृतियो का प्रमत्तसयत गुणस्थान से आगे शेष गुणस्थानो मे वर्तमान जीवो के देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त उदीरणा के सिवाय केवल उदय ही होता है—'देसूण पुव्वकोडी'। यह देशोनपूर्वकोटिकाल सयोगिकेवलीगुणस्थान की अपेक्षा समझना चाहिये। क्योकि शेष समस्त गुणस्थानो का काल तो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है।

इन मनुष्यायु आदि तीन प्रकृतियो की प्रमत्तसयतगुणस्थान से आगे के गुणस्थानो मे उदीरणा न होने का कारण यह है कि उक्त तीन प्रकृतियो की उदीरणा सक्लिष्ट अध्यवसाय के योग से होती है और अप्रमत्तसयत आदि गुणस्थान वाले जीवो के तो विशुद्ध, अतिविशुद्ध अध्यवसाय होते हैं। इसलिये उनके इन तीन प्रकृतियो की उदीरणा होना सभव नही है। तथा—

'तइयच्चियपज्जत्ती' अर्थात् जीव के शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त होने के अनन्तर समय से लेकर तीसरी इन्द्रियपर्याप्ति जिस समय पूर्ण होती है, वहाँ तक—उतने काल पर्यन्त पाचो निद्राओ की तथास्वभाव से उदीरणा नही होती है मात्र उदय ही होता है[1]—'निद्दाण होइ पचण्ह उदओ'। तथा—

---

१ कर्मप्रकृति और दिगम्बर कर्मसाहित्य का भी यही मन्तव्य है। लेकिन पचसग्रह की स्वोपज्ञवृत्ति मे बताया है कि आहारपर्याप्ति से लेकर इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने तक पाचो निद्राओ का केवल उदय होता है, उदीरणा नही होती और उसके बाद उदय-उदीरणा साथ होती है। तत्सम्बन्धी पाठ इस प्रकार है—यावदाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तयस्तावन्निद्राणामुदय एतदूर्ध्वं उदीरणासहचरो भवत्युदया।

'आवलिअते तेवीसाए उ सेसाण' अर्थात् ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणचतुष्क, अतरायपचक, सज्वलन लोभ, तीन वेद, सम्यक्त्व-मोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय, नरकायु, तिर्यंचायु और देवायु रूप इन तेईस प्रकृतियो का अतिम आवलिका मे केवल उदय ही होता है, किन्तु उदीरणा नही होती है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणचतुष्क और अतरायपचक इन चौदह प्रकृतियो का बारहवे क्षीणकषाय गुणस्थान की चरम आवलिका मे केवल उदय ही होता है, किन्तु उदीरणा नही होती है। इसका कारण यह है कि उस समय इन सभी चौदह प्रकृतियो की अतिम एक उदयावलिका ही शेष रहती है। उदयावलिका से ऊपर कोई भी दलिक शेष रहा नही तथा उदयावलिका मे कोई करण प्रवर्तमान नही होता है। इसलिये चरम आवलिका मे इन चौदह प्रकृतियो की उदीरणा न होकर केवल उदय ही होता है।

इसी प्रकार क्षपकश्रेणि मे सूक्ष्मसपरायगुणस्थान की पर्यन्तावलिका मे सज्वलन लोभ का केवल उदय ही होता है। मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद इन चार प्रकृतियो का अतरकरण करने के बाद प्रथम स्थिति की जब आवलिका शेष रहे तब केवल उदय ही होता है। क्षायिक सम्यक्त्व को उपार्जित करते समय सम्यक्त्वमोहनीय का क्षय करते जब अतिम एक आवलिका शेष रहे तब सम्यक्त्वमोहनीय का भी केवल उदय होता है, उदीरणा नही होती है।

नरकायु, तिर्यचायु और देवायु इन तीन आयु का अपने-अपने भव की अतिम आवलिका मे केवल उदय ही होता है, उदीरणा नही होती है। क्योकि उदयावलिका मे प्रविष्ट समस्त कर्म उदीरणा के अयोग्य होते है।

मनुष्यायु का उदीरणा के बिना भी केवल उदयकाल देशोन-पूर्वकोटि प्रमाण पहले बताया जा चुका है। इसलिये मिथ्यादृष्टि

आदि गुणस्थान वालो के मनुष्यायु का उसकी अतिम आवलिका मे उदीरणा के अभाव मे जो आवलिकामात्र उदयकाल है, उसका पृथक् से निर्देश नही किया है। परन्तु उसके अन्तर्गत उसे भी समझ लेना चाहिये। क्योकि जब पूर्वकोटि का कथन किया तब आवलिका मात्र काल तो उसका एक अत्यल्प भाग रूप है। अत पृथक् से नही कहे जाने पर भी सामर्थ्य से समझ लेना चाहिये।

इस प्रकार उक्त इकतालीस प्रकृतियो के सिवाय शेष प्रकृतियो का जब तक उदीरणा हो तब तक उदय का क्रम चलता रहता है दोनो साथ ही प्रारम्भ होते हैं और साथ ही नष्ट होते है।

इस प्रकार से प्रकृत्युदय मे उदीरणापेक्षा विशेषता बतलाने के बाद अब सादि आदि प्ररूपणा करते है। वह मूलप्रकृतिविषयक और उत्तरप्रकृतिविषयक इस तरह दो प्रकार की है। जिसका यहाँ विस्तार से वर्णन करते हैं।

प्रकृत्युदयापेक्षा सादि अनादि प्ररूपणा

मोहे चउहा तिविहोवसेस सत्तण्ह मूलपगईण।
मिच्छत्तुदओ चउहा अधुव धुवाण दुविह तिविहो ॥१०१॥

शब्दार्थ—**मोहे**—मोहनीय का, **चउहा**—चार प्रकार का, **तिविहो**—तीन प्रकार का, **अवसेस**—शेष, **सत्तण्ह**—सात, **मूलपगईण**—मूल प्रकृतियो, **मिच्छत्तुदओ**—मिथ्यात्व का उदय, **चउहा**—चार प्रकार का, **अधुवधुवाण**—अध्रुव एव ध्रुवोदया प्रकृतियो का, **दुविह**—दो प्रकार का, **तिविहो**—तीन प्रकार का।

गाथार्थ—मोहनीयकर्म का उदय चार प्रकार का और शेष सात मूल प्रकृतियो का उदय तीन प्रकार का है तथा मिथ्यात्व का उदय चार प्रकार का और अध्रुवोदया तथा शेष ध्रुवोदया प्रकृतियो का उदय अनुक्रम से दो और तीन प्रकार का है।

विशेषार्थ—ग्रन्थकार आचार्य ने गाथा मे मूल और उत्तर प्रकृतियो सादि आदि भगो का निर्देश किया है। उसमे मे पहले मूल प्रकृतियो सम्वन्धी सादि आदि भगो को वतलाते हैं--

'मोहे चउहा' अर्थात् मोहनीयकर्म का उदय सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव, इस तरह चार प्रकार का है। जो इस तरह जानना चाहिये—उपशातमोहगुणस्थान मे मोहनीय का उदय होता नही, किन्तु वहाँ से गिरने पर होता है। इसलिये सादि है, ग्यारहवा उपशातमोह गुणस्थान जिन्होने प्राप्त नही किया उनकी अपेक्षा अनादि तथा ध्रुव, अध्रुव अनुक्रम से अभव्य और भव्य की अपेक्षा है। तथा—

मोहनीयकर्म से शेप रहे सात मूलकर्मो का उदय अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह तोन प्रकार का है—'तिविहोवसेस सत्तण्ह मूल पगईण।' जो इस प्रकार जानना चाहिये कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का बारहवे क्षीणमोहगुणस्थान के चरम समय पर्यन्त तथा वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुकर्म का चौदहवे अयोगिकेवली गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त उदय होता है। उस-उस गुणस्थान मे उन-उन कर्मो के उदय का क्षय होने के वाद वहाँ से पतन न होने से पुनः उनका उदय प्रारम्भ नही होता है। इसलिये इन सातो कर्मो का उदय अनादि है तथा भव्य जव क्षपकश्रेणि पर आरूढ होता है और उक्त गुणस्थानो को प्राप्त करता है तव उनका उदयविच्छेद हो जाने से अध्रुव-सान्त और अभव्य के किसी भी काल मे पूर्वोक्त कर्मो का उदयविच्छेद नही होने से ध्रुव अनन्त है।

इस प्रकार मूलकर्म विपयक सादि आदि भगो का विचार करने के वाद अव उत्तरप्रकृतियो सम्बन्धी सादि आदि भगा का विचार करते हैं।

उत्तरप्रकृतियो के भगो की प्ररूपणा

'मिच्छत्तुदओ चउहा' अर्थात् मिथ्यात्वमोहनीय का उदय सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव, इस तरह चार प्रकार का है। जो इस प्रकार जानना चाहिये—

सम्यक्त्व से च्युत होने वालो के मिथ्यात्व का उदय सादि है। उस स्थान को जिन्होने प्राप्त नही किया यानी अभी तक भी जिन्होने सम्यक्त्व को प्राप्त नही किया, उनकी अपेक्षा अनादि, अभव्य की अपेक्षा ध्रुव और भव्य की अपेक्षा अध्रुव है । तथा—

'अधुव-ध्रुवाण दुविह तिविहा' अर्थात् अध्रुवोदया प्रकृतियो का उदय सादि और अध्रुव-सात इस तरह दो प्रकार का और ध्रुवोदया प्रकृतियो का उदय अनादि ध्रुव और अध्रुव इस तरह तीन प्रकार का है। इन दोनो प्रकार की प्रकृतियो मे से अल्पवक्तव्य होने से पहले अध्रुवोदया प्रकृतियो के भगो का विचार करते है।

अध्रुवोदया प्रकृतियो का उदय स्थायी नही किन्तु अध्रुव होने से वे सभी प्रकृतिया सादि और अध्रुव उदयवाली जानना चाहिये। तथा—

मिथ्यात्वमोहनीय के सिवाय शेष सैतालीस ध्रुवोदया प्रकृतियो का उदय अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह तीन प्रकार का है। जो इस प्रकार है—

ध्रुवोदया घातिकर्म की प्रकृतियो का क्षीणमोहगुणस्थान के चरम समय पर्यन्त और नामकर्म की ध्रुवोदया प्रकृतियो का सयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय पर्यन्त उदय होता है। किन्तु उन-उन गुणस्थानो से पतन न होने से उन प्रकृतियो के उदय मे सादि भंग सभव नही है। उन स्थानो को जिन्होने प्राप्त नही किया है उन समस्त ससारी जीवो के पूर्वोक्त ध्रुवोदया प्रकृतियो का उदय अनादि तथा ध्रुव और अध्रुव क्रमश अभव्य और भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये।

इस प्रकार से प्रकृत्युदय की सादि अनादि प्ररूपणा करने के साथ प्रकृति-उदय का वर्णन समाप्त होता है। अब स्थित्युदय अर्थात् अधिक से अधिक और कम से कम स्थिति के उदय की प्ररूपणा करते है। इसके लिये पहले स्थिति-उदय के प्रकारो को बतलाते है।

स्थिति-उदय के प्रकार

उदओ ठिइक्खएण सपत्तीए सभावतो पढमो ।
सति तम्मि भवे बीओ पओगओ दीरणा उदओ ॥१०२॥

शब्दार्थ—उदओ—उदय, ठिइक्खएण—स्थिति का क्षय होने से, सपत्तीए—सप्राप्त, सभावतो—स्वभाव से, पढमो—पहला, सति—होते, तम्मि—उसमे, भवे—होता है, बीओ—दूसरा, पओगओ—प्रयोग से, दीरणा—उदीरणा, उदओ—उदय ।

गाथार्थ—स्थिति (अबाधाकाल रूप) का क्षय होने से सप्राप्त—प्राप्त होने वाला उदय पहला स्वभावोदय है और उस (स्वभावोदय) के होते हुए (उदीरणा रूप) प्रयोग से जो होता है, वह दूसरा उदीरणोदय है ।

विशेषार्थ—गाथा मे स्थिति के उदय के स्वभावोदय और उदीरणोदय इन दो रूपो का स्वरूप बतलाया है । जो इस प्रकार जानना चाहिये—

'ठिइक्खएण' अर्थात् स्थिति—अबाधाकाल रूप स्थिति का क्षय होने पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव रूप उदय के हेतुओ[1] के प्राप्त होने पर प्रयत्न के बिना स्वाभाविक रीति से होनेवाला उदय स्वभावोदय कहलाता है । इसके सप्राप्तोदय अथवा उदयोदय ये अपर नाम है । इस प्रकार से स्वभावोदय का स्वरूप जानना चाहिये ।

अब उदीरणोदय के स्वरूप का निर्देश करते है—स्वभावोदय के प्रवर्तमान होने पर उदीरणाकरणरूप प्रयोग द्वारा उदयावलिका से ऊपर के स्थानो मे विद्यमान दलिको को आकृष्ट करके उदयावलिका-

---

१ ये कारण प्रकृतियो के रसोदय मे हेतु है । अर्थात् अबाधाकाल से ऊपर के स्थानो मे जीव के जाने पर ऊपर बताये गये कारणो के अभाव मे प्रदेशोदय होता है, किन्तु रसोदय तो ऊपर बताये गये कारणो के सद्भाव मे होता है ।

गाथार्थ—उदीरणायोग्य स्थिति से उदययोग्य स्थिति एक स्थिति-स्थान से अधिक है।

विशेषार्थ—गाथा के पूर्वार्ध मे उदीरणायोग्य स्थिति से उदययोग्य स्थिति की अधिकता का निर्देश किया है। जिसका तात्पर्य इस प्रकार है—

उदीरणायोग्य उत्कृष्ट स्थितिवाली प्रकृतियो की उदीरणा योग्य जो स्थितिया है, उनसे उदययोग्य स्थितिया उदय प्राप्त एक स्थिति मे अधिक हैं। अर्थात् उदीरणा के द्वारा अधिक से अधिक जितने स्थितिस्थानो मे के दलिको का अनुभव किया जाता है उनसे उदय द्वारा एक स्थितिस्थान के अधिक दलिको का अनुभव किया जाता है। जो इस प्रकार जानना चाहिये कि उत्कृष्ट स्थिति जब बधती है तब अबाधाकाल मे भी पहले बधे हुए या जिनका अबाधाकाल बीत गया वे दलिक है। क्योकि अबाधाकाल तो विवक्षित समय मे बधी हुई कर्मप्रकृतियो का होता है, किन्तु सम्पूर्ण कर्मलता का नही होता है। उदाहरणार्थ—जिस समय उत्कृष्ट स्थिति वाले मतिज्ञानावरण कर्म का बध हो तब उस समय से लेकर उसका तीन हजार वर्ष का अबाधाकाल होता है, परन्तु सम्पूर्ण मतिज्ञानावरण कर्म का नही होता है। क्योकि पूर्व मे बँधे हुए मतिज्ञानावरण का या जिसका अबाधाकाल बीत गया है, उसकी दलरचना तो विवक्षित समय मे बधे हुए मतिज्ञानावरण के अबाधाकाल मे भी होती है। अत जब उत्कृष्ट स्थिति का बध हो तब बधावलिका के पूर्ण होने के बाद उसके पीछे के स्थिति-स्थानो को विपाकोदय द्वारा अनुभव करने वाला जीव उस समय से लेकर उदयावलिका से ऊपर के समस्त स्थितिस्थानो की उदीरणा करता है और उदीरणा करके अनुभव करता है। अर्थात् उत्कृष्ट स्थिति का जिस समय बध होता है, उस समय से लेकर बधावलिका जिस समय पूर्ण होती है, उसके अनन्तरवर्ती स्थान को रसोदय से

अनुभव करता हुआ उदयावलिका से ऊपर के बधावलिका[1] उदयावलिका[2] हीन उत्कृष्ट स्थिति के जितने समय होते है, उन समस्त स्थितिस्थानो मे रहे हुए दलिको को योग के प्रमाण मे खीचकर उनको उदयावलिका के दलिको के साथ मिलाकर अनुभव करता है।

इस प्रकार होने मे उदयावलिकाहीन शेष समस्त स्थिति की उदय और उदीरणा तुल्य है। क्योकि जितने स्थितिस्थानो मे से दलिको को खीचा गया है उन प्रत्येक का अनुभव तो होना ही है, जिससे उन स्थानो की अपेक्षा तो उदय और उदीरणा तुल्य है, किन्तु मात्र उदय मे एक स्थान अधिक है। क्योकि जिस स्थितिस्थान का अनुभव करता हुआ उदयावलिका मे ऊपर के स्थितिस्थानो की उदीरणा करता है, वे स्थान उदयावलिका के अन्तर्गत होने से, उनकी उदीरणा नही होती है, उनमे तो मात्र उदय ही प्रवर्तमान होता है। इसलिए उत्कृष्ट स्थिति की उदीरणा से उत्कृष्ट स्थिति का उदय वेद्यमान एक समय मात्र स्थिति से अधिक है।

एक समय अधिक है, कहने का कारण यह है कि जीव प्रति समय उदयावलिका मे के एक स्थान का ही अनुभव करता है। किन्तु किसी भी समय सम्पूर्ण उदयावलिका के स्थानो का एक साथ अनुभव नही करता है। बधावलिका—उदयावलिकाहीन उत्कृष्ट स्थिति का उदय उदयबधोत्कृष्टा छियासी प्रकृतियो का समझना चाहिए और शेष

---

१ बधावलिका अर्थात् जिस समय बध हो, उस समय से लेकर आवलिका जितना काल।

२ उदयवालिका—उदय समय से लेकर एक आवलिका प्रमाण काल मे भोगी जा सके ऐसी दलरचना। जिस समय कर्म बध होता है, उस समय से लेकर आवलिका पर्यन्त उस बँधे हुए कर्म मे कोई करण प्रवर्तित नही होता है। इसी प्रकार उदय समय से लेकर एक आवलिका काल मे भोगने योग्य कर्मदल मे भी कोई करण लागू नही होता है।

प्रकृतियो का[1] तो सत्तागत स्थिति के अनुसार जानना चाहिए। परन्तु उनमे भी उक्त न्यायानुसार एक स्थितिस्थान से अधिक समझना चाहिए।

इस प्रकार से उत्कृष्ट स्थिति—उदय विषयक विशेषता को बतलाने के बाद अब जघन्य स्थिति के उदय के सम्बन्ध मे विशेष कहते है—

हस्सुदओ एगठिईण निद्दूणा एगियालाए ॥१०३॥

शब्दार्थ—हस्सुदओ—जघन्य उदय, एगठिईणं—एक स्थिति का, निद्दूणा—निद्राओ के बिना, एगियालाए—इकतालीस प्रकृतियो का।

---

१ शेप प्रकृतियो का अर्थात् उदयसक्रमोत्कृष्टा तीस प्रकृतिया। इनके नाम तीसरे अधिकार की ६२वी गाथा मे बतलाये हैं। इनमे से सम्यक्त्वमोहनीय के सिवाय उनतीस प्रकृतियो की अपने-अपने उदयकाल मे अन्य प्रकृतियो के सक्रम से एक आवलिका न्यून अपने मूलकर्म की उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति सत्ता होती है और उस आवलिकान्यून हुई उत्कृष्ट स्थिति-सत्ता मे से सक्रमावलिका व्यतीत होने के बाद उदयावलिका के ऊपर के सर्व स्थितिस्थानगत दलिक उदीरणायोग्य होने से तीन आवलिका न्यून (बध, सक्रम, उदय आवलिका न्यून) अपने मूलकर्म के उत्कृष्ट स्थिति बध प्रमाण उत्कृष्ट उदीरणा योग्य स्थितियाँ होती है।

अनुदयबधोत्कृष्टा नरकगति आदि बीस एव तीर्थंकरनाम और आहारकसप्तक के विना अनुदय सक्रमोत्कृष्टा मनुष्यानुपूर्वी आदि दस प्रकृतियो की उत्कृष्ट उदीरणायोग्य स्थितिया अन्तर्मुहूर्तन्यून अपने-अपने मूलकर्म के उत्कृष्ट स्थितिबध के समान है। आहारकसप्तक की अतर्मुहूर्त-न्यून अत कोडाकोडी सागरोपम और जिन नाम की पल्योपम के असख्यातवें भाग प्रमाण उत्कृष्ट उदीरणायोग्य स्थितिया हैं। विस्तार से विवेचन आगे उदीरणाकरण अधिकार मे किया गया है।

गाथार्थ—पाच निद्राओ के बिना इकतालीस प्रकृतियो क अन्तिम जो एक स्थिति का उदय वह जघन्य उदय जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—पूर्व मे जिन प्रकृतियो का उदीरणा के काल से उदय का काल अधिक कहा है उन इकतालीस प्रकृतियो मे से पाच निद्राओ के सिवाय शेष रही मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यश कीर्ति, तीर्थकरनाम, उच्चगोत्र, आयुचतुष्क, साता-असातावेदनीय, ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणचतुष्क, अन्तराय-पचक, सज्वलन लोभ, वेदत्रिक, सम्यक्त्वमोहनीय और मिथ्यात्वमोहनीय इन छत्तीस प्रकृतियो की अन्तिम समयमात्र स्थिति रहे तब जघन्य स्थिति का उदय समझना चाहिए अर्थात् अयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय मे जिनका उदय हो उन प्रकृतियो का तथा आयुचतुष्क, ज्ञानावरण-पचक, अन्तरायपचक, दर्शनावरणचतुष्क, सज्वलन लोभ और सम्यक्त्व-मोहनीय इन समस्त प्रकृतियो की स्थिति का क्षय करते-करते सत्ता मे अन्तिम एक स्थितिस्थान शेष रहे तब उसका वेदन करने पर उनकी जघन्यस्थिति का उदय समझना चाहिये ।

तीन वेद तथा मिथ्यात्वमोहनीय की प्रथम स्थिति का भोग करते-करते जब अन्तिम एक समय शेष रहे तब उसका भोग करते हुए उन प्रकृतियो की जघन्य स्थिति का उदय जानना चाहिये ।

प्रश्न—यद्यपि निद्रापचक का शरीरपर्याप्ति पूर्ण करने के बाद इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण न होने के अन्तरिम काल मे केवल उदय ही होता है, उदीरणा नही होती है। इसलिये उतने काल के अन्तिम समय मे उस स्थान का अनुभव करने पर जघन्य स्थिति का उदय क्यो नही कहा है ?

उत्तर—उसे जघन्य स्थिति का उदय न कहने का कारण यह है कि यहाँ जघन्य स्थिति का उदय उसे कहा है कि कोई भी ऐसे एक स्थान का अनुभव करे कि जिसका वेदन करने पर उसके अन्दर उस समय मे

दूसरे किसी भी स्थान के दलिक न मिल सकते हो। जैसे कि बारहवे गुणस्थान के चरम समय मे ज्ञानावरणकर्म के अन्तिम स्थान का जब वेदन करता है तब उस समय उसमे अन्य किसी स्थान का दलिक नही मिलता है। किन्तु पाच निद्राओं[1] मे तो यद्यपि शरीरपर्याप्ति पूर्ण करने के बाद केवल उदय होता है लेकिन सत्ता मे बहुत-सी स्थिति होने से अपवर्तना द्वारा ऊपर के स्थान के दलिक मिल सकते हे और उनका भी उदय होता है। शुद्ध एक स्थिति का उदय नही होता है। इसलिये उसका निषेध किया है।

उपर्युक्त प्रकृतियो के सिवाय शेष प्रकृतियो का उदय और उदीरणा साथ ही प्रारम्भ होती है और साथ ही रुकती है। इसलिये उन प्रकृतियो की जो जघन्य स्थिति उदीरणा है उसी को जघन्य स्थिति उदय समझना चाहिये। परन्तु वहा भी मात्र उदयप्राप्त एक स्थान अधिक लेना चाहिए।

इसी तरह सादि आदि की प्ररूपणा जो यहाँ नही कही गई है, वह सब स्थिति उदीरणा मे निरूपित क्रमानुसार समझ लेना चाहिए। अत पुनरावृत्ति न होने देने के विचार मे उसका यहाँ कथन नही किया है।

इस प्रकार मे स्थिति-उदय का स्वरूप जनना चाहिये। अब क्रम प्राप्त अनुभाग-उदय का विचार प्रारम्भ करते है।

अनुभागोदय विषयक विशेषता

अणुभागुदओवि उदीरणाए तुल्लो जहन्नय नवर।
आवलिगते सम्मत्तावेयखीणतलोभाण ॥१०४॥

---

१ जो निद्रा का उदय बारहवें गुणस्थान तक मानते है, उनके मतानुसार बारहवें गुणस्थान के द्विचरम समय मे निद्रा और प्रचला के अन्तिम स्थान अनुभव करते हुए उसका जघन्य स्थिति उदय सभव है।

शब्दार्थ—अणुभागुदओवि—अनुभागोदय भी, **उदीरणाए**—अनुभागोदीरणा के, **तुल्लो**—तुल्य, **जहन्नय**—जघन्य, **नवर**—किन्तु, **आवलिगते**—आवलिका के चरम समय मे, **सम्मत्त**—सम्यक्त्वमोहनीय, **वेय**—वेद, **खीणत**—क्षीणमोहगुणस्थान मे जिनका अन्त होने वाला है, **लोभाणं**—सज्वलन लोभ का।

गाथार्थ—अनुभागोदय भी अनुभागोदीरणा के तुल्य समझना चाहिये। किन्तु सम्यक्त्वमोहनीय, वेदत्रिक और क्षीणमोहगुणस्थान मे अन्त होने वाली प्रकृतियो तथा सज्वलन लोभ के जघन्य रस का उदय उस-उस प्रकृति की अन्तिम आवलिका के चरम समय मे जानना चाहिये।

विशेषार्थ—जिन प्रकृतियो के अनुभागोदय मे अनुभागोदीरणा से विशेषता है, उसका उल्लेख गाथा मे किया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

अनुभाग के उदय का स्वरूप अनुभाग की उदीरणा के समान समझना चाहिये। यानी जिस रीति से जघन्य, उत्कृष्ट रस की उदीरणा का विचार उदीरणाकरण मे विस्तारपूर्वक किया जायेगा, उसी प्रकार से यहाँ अनुभाग-उदय मे भी जघन्य, उत्कृष्ट रस का उदय भी जानना चाहिये 'अणुभागुदओवि उदीरणाए तुल्लो'। लेकिन इतना विशेप है—

सम्यक्त्वमोहनीय, वेदत्रिक—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपु सकवेद तथा क्षीणमोहगुणस्थान मे उदयविच्छेद को प्राप्त होने वाली ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरण-चतुष्क, और अतरायपचक इन चौदह प्रकृतियो और सज्वलन लोभ कुल मिलाकर उन्नीस प्रकृतियो के जघन्य रस का उदय उन-उनकी अन्तिम आवलिका के चरम समय मे समझना चाहिए।

तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञानावरणपचक, अन्तरायपचक, दर्शनावरण-चतुष्क, तीन वेद, सज्वलन लोभ और सम्यक्त्वमोहनीय इन उन्नीस

प्रकृतियो का अपने-अपने अन्तकाल मे उदीरणा न होने के बाद सत्ता मे जब एक आवलिका मात्र स्थिति शेप रहे तब उस आवलिका के चरम समय मे जघन्य रस का उदय समझना चाहिये। क्योकि उक्त प्रकृतियो के जघन्य स्थिति का और जघन्य रस का उदय एक साथ ही होता है।

इस प्रकार अनुभागोदय का विवेचन जानना चाहिये। अब अन्तिम प्रदेशोदय का विचार प्रारम्भ करते हैं। उसके दो अर्थाधिकार है—१ सादि-अनादि प्ररूपणा और २ स्वामित्व-प्ररूपणा। सादि-अनादि विकल्पो की प्ररूपणा के दो प्रकार है—मूल प्रकृति सम्बन्धी और उत्तर-प्रकृति सम्बन्धी। इन दोनो मे से पहले मूल प्रकृति सम्बन्धी सादि आदि विकल्पो की प्ररूपणा करते है।

प्रदेशोदय की सादि आदि विकल्प प्ररूपणा

अजहन्नोऽणुक्कोसो चउह तिहा छण्ह चउविहो मोहे।
आउस्स साइ-अधुवा सेसविगप्पा य सव्वेसिं ॥१०५॥

शब्दार्थ—अजहन्नोऽणुक्कोसो—अजघन्य और अनुत्कृष्ट, चउह—चार प्रकार का, तिहा—तीन प्रकार का, छण्ह—छह कर्मों का, चउविहो—चार प्रकार के, मोहे—मोहनीयकर्म के, आउस्स—आयु के, साइ-अधुवा—सादि अध्रुव, सेसविगप्पा—शेप विकल्प, य—और, सव्वेसि—सभी प्रकृतियो के।

गाथार्थ—छह कर्मों का (आयु और मोहनीय को छोडकर) अजघन्य प्रदेशोदय चार प्रकार का और अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय तीन प्रकार का है। मोहनीयकर्म के ये दोनो चार प्रकार के है तथा आयु के समस्त विकल्प और समस्त कर्मों के शेष विकल्प सादि और अध्रुव है।

विशेषार्थ—ग्रन्थकार आचार्य ने गाथा मे मूलकर्मों के सादि-आदि विकल्पो का विवेचन किया है।

मोहनीय और आयुकर्म के सिवाय शेप छह कर्मो का अजघन्य

प्रदेशोदय सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

कोई एक क्षपितकर्मांश[1] जीव देवलोक मे देव रूप से उत्पन्न हुआ और वहाँ सक्लिष्ट परिणाम वाला होकर उत्कृष्ट स्थिति को बाधते हुए बहुत से प्रदेशो की उद्वर्तना[2] करता है। उसके बाद बध के अन्त मे काल करके एकेन्द्रिय मे उत्पन्न हो तो वहाँ पहले समय मे ज्ञानावरणादि पूर्वोक्त छह कर्मों का जघन्य प्रदेशोदय होता है। वह जघन्य प्रदेशोदय एक समय मात्र का ही होने से सादि और अध्रुव-सात है। उसके सिवाय अन्य समस्त प्रदेशोदय अजघन्य है। वह अजघन्य प्रदेशोदय दूसरे समय मे होने से सादि है। उस स्थान को प्राप्त नही करने वाले के अनादि, अभव्य के ध्रुव और भव्य के अध्रुव है।

यहाँ जो देवलोक मे उत्पन्न हो आदि विशेषणो का उल्लेख किया है, उसका आशय यह है कि क्षपितकर्मांश जीव सीधा एकेन्द्रिय मे पैदा नही होता है, किन्तु देवलोक मे जाता है। अतएव देवलोक मे जाना कहा है। जघन्य प्रदेशोदय एकेन्द्रिय मे होता है। क्योंकि अत्यन्त अल्प योग होने से वह अधिक उदीरणा नही कर सकता है, द्वीन्द्रियादि मे योग अधिक होने से उदीरणा अधिक होती है। यानी अधिक प्रमाण मे भोगे जाने से जघन्य प्रदेशोदय नही होता है। इसीलिये देवलोक से एकेन्द्रिय मे जाने का उल्लेख है। नीचे के स्थानो के दलिक जब ऊपर के स्थानो मे स्थापित किये जाते है तब नीचे के स्थानो मे दलिक कम रहते हैं, उसमे जघन्य प्रदेशोदय हो सकता है। इसीलिये उद्वर्तना

---

१ क्षपितकर्मांश यानी अल्पातयल्प कर्मांश की सत्ता वाला जीव। वह भव्य ही होता है। क्षपितकर्मांश का विस्तार से स्वरूप सक्रमकरण अधिकार मे बताया जा रहा है।

२ नीचे के स्थानो मे रहे हुए दलिको को ऊपर के स्थानो मे स्थापित करने को यहाँ उद्वर्तना समझना चाहिये।

करना बताया। जिन कर्म दलिको का बध हो और वे उद्वर्तित हो, उनकी अगर आवलिका पूर्ण हो तो वे उदीरणायोग्य होते हैं। और यदि उदीरणा हो तो भी जघन्य प्रदेशोदय नही होता है। इसीलिये उसके होने के पहले और अल्प योग प्रथम समय मे होता है, जिसमे प्रथम समय मे जघन्य प्रदेशोदय होना कहा है।

इन्ही छह कर्मो का अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय अनादि, ध्रुव और अध्रुव के विकल्प से तीन प्रकार का है। जो इस प्रकार जानना चाहिये।

इन छह कर्मो का उत्कृष्ट प्रदेशोदय गुणितकर्मांश[1] जीव के अपने-अपने उदय के अन्त मे गुणश्रेणिशीर्ष भाग[2] मे रहते होता है। वह

---

१ गुणित कर्मांश अर्थात् अधिक से अधिक कर्मांश की सत्ता वाला जीव।

२ गुणश्रेणिशीर्ष भाग उसे कहते है जिस स्थान मे अधिक से अधिक दलिक स्थापित हो। सम्यक्त्वादि प्राप्त करने पर अन्तर्मुहूर्त समय प्रमाण स्थानो मे पूर्व-पूर्व के समय से उत्तरोत्तर समय मे असख्य-असख्य गुणाकार रूप से दल रचना होती है। इस क्रम से अन्तर्मुहूर्त के अन्तिम समय मे जो सबसे अधिक दलिक स्थापित किये जाते है, उसे गुणश्रेणिशिरोभाग कहते हैं।

बारहवें गुणस्थान के सख्यात भाग जाने पर जब एक भाग शेष रहे तब ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय की स्थिति को सर्वापवर्तना द्वारा अपवर्तित कर बारहवें गुणस्थान की जितनी स्थिति शेष रही, उतनी करे, और ऊपर के दलिको को उतारकर उस अन्तर्मुहूर्त मे गुणश्रेणि के क्रम मे स्थापित करे तो उस अन्तर्मुहूर्त का चरम समय गुणश्रेणि का शिर है और यही बारहवें गुणस्थान का चरम समय है। वही उत्कृष्ट प्रदेशोदय घटित होता है। इसी प्रकार नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म की तेरहवें गुणस्थान के चरम समय मे चौदहवें गुणस्थान के काल प्रमाण गुणश्रेणि करे तो चौदहवें गुणस्थान का अन्तिम समय इन तीन कर्मों का गुणश्रेणिशीर्ष है, जिससे उस समय उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।

उत्कृष्ट प्रदेशोदय मात्र एक समय ही होने से सादि है। उसके सिवाय शेष समस्त उदय अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय है। जो सर्वदा प्रवर्तमान होने से अनादि है। क्योकि जब तक जीव ने, जिस गुणस्थान के जिस समय मे उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है, उस गुणस्थान को प्राप्त नही किया वहा तक अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है तथा अभव्य के ध्रुव और भव्य के अध्रुव है।

'चउविहोमोहे' अर्थात् मोहनीयकर्म के अजघन्य और अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव, इस तरह चार प्रकार के है। जो इस प्रकार जानना चाहिये।

क्षपितकर्माश जीव जब अन्तरकरण करे तब अन्तरकरण के अन्त मे आवलिका मात्र काल मे जो गोपुच्छाकार दल रचना[1] होती है, उस आवलिका के चरम समय मे जघन्य प्रदेशोदय होता है। वह एक समय मात्र ही होने से सादि, सात है। उसके सिवाय शेष समस्त प्रदेशोदय अजघन्य है। उसको दूसरे समय मे होने से सादि, उस स्थान को जिन्होने प्राप्त नही किया, उन्हे अनादि, अभव्य के ध्रुव और भव्य के अध्रुव है।

इस प्रकार मे मोहनीय कर्म के अजघन्य विकल्प का विचार करने के बाद अब अनुत्कृष्ट विकल्प का विचार करते है कि—

गुणितकर्माश जीव के सूक्ष्मसपरायगुणस्थान के चरम समय मे उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। जो मात्र अन्तिम समय मे होने से सादि सान्त है। उसके सिवाय शेष समस्त अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय है।

---

१ उदय समय मे अधिक और उत्तरोत्तर समय मे अल्प-अल्प निषेक रचना को गोपुच्छाकार दल रचना कहते है। इससे विपरीत गुणश्रेणि रूप रचना जानना चाहिये। अर्थात् उदय समय से लेकर उत्तरोत्तर समयो मे असख्यात-असख्यात गुण दल रचना होना गुणश्रेणि है।

वह उपशम श्रेणि मे च्युत होने पर होता है, अत सादि है। उस स्थान को जिन्होने प्राप्त नही किया, उनकी अपेक्षा अनादि तथा अभव्य की अपेक्षा ध्रुव और भव्य की अपेक्षा अध्रुव जानना चाहिये।

'आउस्स साइ-अधुवा' अर्थात् आयु के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य ओर अजघन्य ये चारो भेद सादि और अध्रुव—सात हैं। क्योकि ये चारो भेद यथायोग्य रीति से नियतकाल पर्यन्त प्रवर्तित होते है तथा पूर्वोक्त छह और मोहनीय, कुल मिलाकर सातो मूल कर्मो के उत्कृष्ट और जघन्यरूप शेष विकल्प सादि, अध्रुव भगरूप है। क्योकि अमुक नियतकाल पर्यन्त ही वे होते हे। जिसका विस्तृत विचार अनुत्कृष्ट और अजघन्य विकल्पो के प्रसग मे किया जा चुका है।

इस प्रकार से मूलकर्म विपयक सादि अनादि प्ररूपणा जानना चाहिये। अब उत्तर प्रकृतियो सम्बन्धी सादि-अनादि आदि भगो का विचार करते हे।

उत्तरप्रकृतियो की सादि अनादि प्ररूपणा

अजहन्नोऽणुक्कोसो धुवोदयाण चउतिहा चउहा।
मिच्छत्ते सेसासि दुविहा सव्वे य सेसाण ॥१०६॥

शब्दार्थ—अजहन्नोणुक्कोसो—अजघन्य और अनुत्कृष्ट, धुवोदयाण—ध्रुवोदया प्रकृतियो का, चउह—चार प्रकार का, तिहा—तीन प्रकार का, चउहा—चार प्रकार के, मिच्छत्ते—मिथ्यात्व के, सेसासि—शेप इनके, दुविहा—दो प्रकार के, सव्वे—सब, य—और सेसाणं—शेप प्रकृतियो के।

गाथार्थ—ध्रुवोदया प्रकृतियो का अजघन्य प्रदेशोदय चार प्रकार का और अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय तीन प्रकार का है। मिथ्यात्व के ये दोनो चार प्रकार के है तथा इन सभी प्रकृतियो के शेष विकल्प और शेष प्रकृतियो के सभी विकल्प दो प्रकार के हे।

विशेषार्थ—गाथा मे उत्तरप्रकृतियो के प्रदेशोदय के प्रकारो के भगो का विचार किया है। उनमे से पहले ध्रुवोदया प्रकृतियो के अजघन्य और अनुकृष्ट प्रकारो के भगो को बताया है।

मिथ्यात्वरहित शेष तैजस कार्मण सप्तक, वर्णादि वीस, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, अगुरुलघु, निर्माण, ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणचतुष्क और अन्तरायपचक रूप सैतालीस ध्रुवोदया प्रकृतियो का अजघन्य प्रदेशोदय सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है। जो इस प्रकार जानना चाहिए—

उत्कृष्ट सक्लेश मे रहते हुए उत्कृष्ट स्थिति बाधता क्षपितकर्माश कोई जीव उत्कृष्ट प्रदेश की उद्वर्तना करे और बध के अन्त मे काल करके एकेन्द्रिय मे उत्पन्न हो तो उस एकेन्द्रिय को उत्पत्ति के प्रथम समय मे पूर्वोक्त सैतालीस प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशोदय होता है। मात्र अवधिज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरण का देवो के बधावलिका के चरम समय मे जघन्य प्रदेशोदय जानना चाहिए। वह जघन्य प्रदेशोदय एक समय मात्र का होने से सादि है और उसके सिवाय शेष समस्त प्रदेशोदय अजघन्य है। वह एकेन्द्रिय को उत्पत्ति के दूसरे समय मे होने से सादि है। उस स्थान को जिसने प्राप्त नही किया यानि क्षपितकर्माश होकर देवगति मे से जो एकेन्द्रिय मे नही गया, उसकी अपेक्षा अनादि और अभव्य को ध्रुव तथा भव्य को अध्रुव अजघन्य प्रदेशोदय जानना चाहिए।

पूर्वोक्त उन्ही सैतालीस प्रकृतियो का अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह तीन प्रकार का है। जो इस प्रकार जानना चाहिए—गुणश्रेणिशीर्ष पर वर्तमान गुणितकर्माश जीव के उन-उन प्रकृतियो के उदय के अन्त मे उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। वह एक समय मात्र का होने से सादि है। उसके सिवाय अन्य समस्त प्रदेशोदय अनुत्कृष्ट है। जो सर्वदा होते रहने से अनादि, भव्य के अध्रुव और अभव्य के ध्रुव है।

इस प्रकार से सैतालीस ध्रुवोदया प्रकृतियो के अजघन्य और अनुत्कृष्ट प्रदेशोदयो का विचार करने के बाद उनसे शेष रही मिथ्यात्व प्रकृति के अजघन्य और अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय के भगो को बतलाते हैं—

मिथ्यात्व का अजघन्य और अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है—'चउहा मिच्छत्ते'। जो इस प्रकार से जानना चाहिए कि प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करते हुए जिसने अन्तरकरण किया है, ऐसा क्षपितकर्मांश कोई जीव उपशम सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व मे जाये और उस समय अन्तरकरण का कुछ अधिक आवलिका काल शेष रहे तब अन्तिम आवलिका मे जो गोपुच्छाकार दलरचना होती है, उसके चरम समय मे रहते जघन्य प्रदेशोदय होता है। उसको एक समय मात्र का होने से सादि है। उसके सिवाय अन्य समस्त प्रदेशोदय अजघन्य है। वह जघन्य से दूसरे समय मे प्रारम्भ होने से सादि है। अथवा वेदकसम्यक्त्व से गिरते समय भी अजघन्य प्रदेशोदय के प्रारम्भ होने से सादि है। उस स्थान को जिन्होने प्राप्त नही किया, उनकी अपेक्षा अनादि तथा भव्याभव्य की अपेक्षा क्रमश अध्रुव, ध्रुव जानना चाहिए। तथा—

देशविरति गुणश्रेणि मे वर्तमान कोई गुणितकर्मांश जीव सर्वविरति प्राप्त करे यानी उसके निमित्त गुणश्रेणि करे और उसको करके वहाँ तक जाये यावत् दोनो गुणश्रेणियो का शिरोभाग प्राप्त हो[1] और वहाँ से गिरकर मिथ्यात्व मे जाये तो उसे उन दोनो गुण-

---

१ जिस समय देशविरति प्राप्त करे तब से अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त आत्मा प्रवर्धमान परिणाम वाली रहती है। यानि अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त प्रवर्धमान गुणश्रेणि करती है। अब वह देशविरति की गुणश्रेणि मे रहते सर्वविरति प्राप्त करे और तन्निमित्तक गुणश्रेणि करे। सर्वविरति प्राप्त करके भी अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त अवश्य प्रवर्धमान परिणाम वाली ही रहती है और विकासोन्मुखी गुणश्रेणि करती है। उन दोनो गुणश्रेणियो के शिरोभाग पर जिस समय पहुँचने वाली हो, उसके पूर्व गिरकर मिथ्यात्व मे जाये, वहाँ उस शिरोभाग का अनुभव करते मिथ्यात्व का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।

श्र णियो के शिरोभाग का अनुभव करते मिथ्यात्व का उत्कृष्ट प्रदेशो-दय होता है। एक समय मात्र का होने मे वह सादि है। उसके सिवाय शेष समस्त प्रदेशोदय अनुत्कृष्ट है। उसको दूसरे समय होने से सादि है। अथवा वेदकसम्यक्त्व से गिरते समय भी अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय प्रारम्भ होने से सादि है। उस स्थान को जिन्होने प्राप्त नही किया, उनकी अपेक्षा अनादि तथा ध्रुव, अध्रुव क्रमश अभव्य, भव्य की अपेक्षा जानना चाहिए।

पूर्वोक्त सैंतालीस प्रकृतियो और मिथ्यात्वमोहनीय के शेप जघन्य और उत्कृष्ट ये दोनो विकल्प सादि और अध्रुव—सात है। जिनका विचार पूर्व मे अनुत्कृष्ट और अजघन्य विकल्पो के प्रसग मे किया जा चुका है।

ध्रुवोदया प्रकृतियो के विकल्प तो उक्त प्रकार है और शेप रही अध्रुवोदया एक सौ दस प्रकृतियो के जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट ये सभी विकल्प इन प्रकृतियो के अध्रुवोदया होने से सादि और अध्रुव—सात, इस तरह दो प्रकार के है।

इस प्रकार प्रदेशोदय की अपेक्षा उदय प्रकृतियो के भगो को जानना चाहिये। अब स्वामित्व प्ररूपणा करते है। वह दो प्रकार की है—उत्कृष्ट प्रदेशोदयस्वामित्व और जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व। उनमे से पहले उत्कृष्ट प्रदेशोदयस्वामित्व का प्रतिपादन करने के लिये सभव गुणश्रेणियो को बतलाते है।

गुणश्रेणिया

समत्तादेससपुन्नविरइ उप्पत्ति अणविसंजोगे।
दंसणखवणे मोहस्स समणे उवसत खवगे य ॥१०७॥

खीणाइनिगे असखगुणिय गुणसेढिदलिय जहक्कमसो।
सम्मत्ताईणेक्कारसण्ह कालो उ संखसो ॥१०८॥

शब्दार्थ—समत्त—सम्यक्त्व, देससंपुन्नविरइ—देशविरति और सर्वविरति, उप्पत्ति—उत्पत्ति, अणविसंजोगे—अनन्तानुबंधि की विसयोजना मे, दसणखवणे—दर्शनमोह के क्षपण मे, मोहस्स समणे—मोहनीयकर्म के उपशमन मे, उवसत—उपशातमोहगुणस्थान, खवगे—चारित्रमोह के क्षय मे, य—और, खीणाइतिगे—क्षीणमोह आदि तीन गुणस्थानो मे, असखगुणिय—असख्यातगुणित, गुणसेढिदलिय—गुणश्रेणिदलिक, जहक्कमसो—यथाक्रम से, सम्मत्ताईणेक्कारसण्ह—सम्यक्त्वादि ग्यारह का, कालो—काल, समय, उ—और संखंसो—सख्येयाश ।

गाथार्थ—सम्यक्त्व देशविरति और सर्वविरति की उत्पत्ति करते, अनन्तानुबंधि की विसयोजना करते, दर्शनमोहनीय का क्षपण करते, (चारित्र) मोहनीय का उपशमन करते, उपशातमोहगुणस्थान मे, चारित्रमोहनीय का क्षय करते और क्षीणमोह आदि तीन गुणस्थानो मे, इस तरह ग्यारह गुणश्रेणि होती है और इन सम्यक्त्व आदि ग्यारह गुणश्रेणियो मे दलिकरचना क्रमश असख्यात– असख्यात गुणित रूप होती है और काल अनुक्रम मे सख्येयाश सख्यातवा—सख्यातवा भाग है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओ मे ग्यारह गुणश्रेणियो के नाम, उनमे दलिकरचना होने का क्रम और प्रत्येक के काल समय का निरूपण किया है ।

ग्यारह गुणश्रेणियो के नाम क्रमश इस प्रकार हैं—१ सम्यक्त्व की उत्पत्ति मे पहली, २ देशविरति की उत्पत्ति मे दूसरी, ३ सर्वविरति की उत्पत्ति मे तीसरी, ४ अनन्तानुबंधिकषायो की विसयोजना मे चौथी, ५ दर्शनमोहत्रिक के क्षय मे पाचवी, ६ चारित्रमोह के उपशमन मे छठी, ७ उपशातमोहगुणस्थान मे सातवी, ८ (चारित्र) मोहनीय के क्षय मे आठवी, ९ क्षीणमोहगुणस्थान मे नौवी, १० सयोगिकेवलीगुण-

स्थान मे दसवी और ११ अयोगिकेवलीगुणस्थान मे ग्यारहवी गुण श्रेणि होती है ।[1]

इन ग्यारह गुणश्रेणियो के सम्बन्ध मे विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सम्यक्त्व के उत्पन्न होते समय जो तीन करण होते है, उनमे अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण मे गुणश्रेणि होती है और सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद जीव अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त अवश्य प्रवर्धमान परिणाम वाला रहता है, तब जो गुणश्रेणि होती है, वह सम्यक्त्वनिमित्तक गुणश्रेणि कहलाती है ।

देशविरति और सर्वविरति उत्पन्न होने के बाद भी आत्मा अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त अवश्य प्रवर्धमान परिणाम वाली रहती है । उस समय जो गुणश्रेणि होती है, वे देशविरति और सर्वविरति निमित्तक गुणश्रेणिया है । यद्यपि देशविरति और सर्वविरति चारित्र प्राप्त होने के बाद जब तक वे गुण रहे वहाँ तक गुणश्रेणि होती है, परन्तु वह उन-उन परिणामो के अनुसार होती है और प्रारम्भ के अन्तर्मुहूर्त मे अवश्य प्रवर्धमान गुणश्रेणि होती है ।

सर्वविरतिनिमित्तक गुणश्रेणि प्रमत्त और अप्रमत्त दोनो गुणस्थान मे होती है ।

---

१ गो जीवकाड (गाथा ६६,६७) मे भी इसी क्रम से गुणश्रेणियो की गणना की है । अतर इतना है कि अयोगिकेवली के स्थान मे समुद्घातकेवली गिनाया है ।

तत्त्वार्थसूत्र ६/४५ मे सयोगि-अयोगि केवली के स्थान मे केवल जिन शब्द रखा है और टीकाकारो ने उसे एक स्थान गिना है ।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा १०८ मे सयोगि और अयोगि को गिना है । किन्तु इसकी सस्कृत टीका मे टीकाकार ने स्वस्थानकेवली और समुद्घातकेवली को गिनाया है । अयोगिको उन्होने छोड दिया है ।

अनन्तानुबंधि की विसंयोजना में होने वाली गुणश्रेणि अप्रमत्त-गुणस्थान में अनन्तानुबंधि की विसंयोजना करते समय अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में होती है[1] तथा दर्शनमोहत्रिक के क्षय से होने वाली गुणश्रेणि सातवें गुणस्थान में सम्यक्त्व, मिश्र और मिथ्यात्व इन तीन दर्शनमोहनीय का क्षय करते अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण में होती है।

चारित्रमोहनीय का उपशमन करते समय होने वाली गुणश्रेणि मोहनीयकर्म का उपशम करने वाले उपशमश्रेणि पर आरूढ़ अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानवर्ती और सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानवर्ती जीव के मोहनीयकर्म का उपशमन करते समय होती है तथा चारित्रमोहनीय के क्षय में होने वाली गुणश्रेणि मोहनीय का क्षय करने वाले क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ अनिवृत्तिबादरसंपराय और सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानवर्ती जीव के चारित्रमोहनीय का क्षय करते समय होती है।

शेष गुणश्रेणियां अपने-अपने गुणस्थान में होती हैं। अर्थात् क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में नौवीं गुणश्रेणि, सयोगिकेवली नामक तेरहवें गुणस्थान में दसवीं और अयोगिकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान में ग्यारहवीं गुणश्रेणि होती है। ये तीनों श्रेणियां गुणस्थान

---

१ यद्यपि अनन्तानुबंधि की विसंयोजना चौथे से सातवें गुणस्थान पर्यन्त होती है। परन्तु सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव अनन्तगुण विशुद्ध परिणाम वाला होने से और सर्वविरति के निमित्त से होने वाली गुणश्रेणि से असंख्यातगुण निर्जरा अनन्तानुबंधि की विसंयोजना करने वाला करता है। इसलिये अप्रमत्त गुणस्थान में अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करते हुए जो गुणश्रेणि होती है, वह यहाँ ग्रहण करना चाहिये। इसी प्रकार दर्शनमोहनीय की क्षपणा आदि के निमित्त से सातवें गुणस्थान में होने वाली गुणश्रेणि ग्रहण करना चाहिये।

के नामानुसार क्रमश क्षीणमोह, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली कहलाती है।

अब इन गुणश्रेणियो मे दलरचना होने और समय के प्रमाण को बतलाते है—

'असखगुणिय गुणसेढिदलिय जहक्कमसो' अर्थात् इन सम्यक्त्वादि सम्बन्धी ग्यारह गुणश्रेणियो मे होने वाली दलरचना अनुक्रम से असख्यातगुण असख्यातगुण होती है। जो इस प्रकार जानना चाहिये कि सम्यक्त्वोत्पत्ति की गुणश्रेणि मे होने वाली दलरचना परिणामो की मन्दता के कारण अल्पप्रमाण मे होती है। उसकी अपेक्षा परिणामो के अनन्तगुण विशुद्ध होने से देशविरतिनिमित्तक गुणश्रेणि मे असख्यातगुण दलरचना होती है। उससे भी सर्वविरतिनिमित्तक गुणश्रेणि मे असख्यातगुणदलरचना होती है। इस प्रकार आगे-आगे की गुणश्रेणि मे उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि होने से असख्यातगुण-असख्यातगुण दलरचना अयोगिकेवलीनिमित्तक गुणश्रेणि पर्यन्त जानना चाहिये।

लेकिन 'कालो उ सखसो' अर्थात् सम्यक्त्वोत्पत्तिनिमित्तक आदि गुणश्रेणियो का काल उत्तरोत्तर अनुक्रम से सख्यातगुणहीन सख्यातगुणहीन जानना चाहिये। जिसका तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व के उत्पन्न होने पर होने वाली गुणश्रेणि का काल सख्यातगुणहीन है। उससे भी देशविरतिनिमित्तक गुणश्रेणि का काल सख्यातगुणहीन है। इसी प्रकार से उत्तर-उत्तर की गुणश्रेणियो के कालप्रमाण को सख्यातगुणहीन-सख्यातगुणहीन अयोगिकेवलीनिमित्तक गुणश्रेणि पर्यन्त समझना चाहिये।

गुणश्रेणियो मे होने वाली दलरचना और कालप्रमाण के उक्त कथन का आशय यह है कि सम्यक्त्वनिमित्तक गुणश्रेणि दीर्घ अन्तर्मुहूर्त प्रमाण वाली होती है। उससे सख्यातगुणहीन अन्तर्मुहूर्त मे भोगी जाने वाली और असख्यातगुण अधिक प्रदेशवाली देशविरतिनिमित्तक गुणश्रेणि होती है। इस प्रकार सख्यातगुणहीन-सख्यातगुणहीन अन्तर्मुहूर्त मे वेदन करने योग्य और असख्यातगुण असख्यातगुण अधिक दलरचना वाली उत्तरोत्तर गुणश्रेणिया है ।

अनुक्रम से उत्तरोत्तर गुणश्रेणि मे न समान और न कम किन्तु असख्यातगुण-असख्यातगुण दलिक होने का कारण यह है कि सम्यक्त्व उत्पन्न करने वाला जीव मिथ्यादृष्टि होता है। उसके परिणामो की मदता होने से अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण मे होने वाली दलरचना मे दलिक अल्पप्रमाण मे होते है और सम्यक्त्व उत्पन्न होने के बाद जो गुणश्रेणि होती है, वह पूर्वोक्त गुणश्रेणि की अपेक्षा अत्यत विशुद्ध परिणाम होने से असख्यातगुण दलरचना वाली होती है। इस प्रकार सम्यक्त्व उत्पन्न होने और सम्यक्त्व उत्पन्न होने के बाद होने वाली गुणश्रेणि मे दलिकरचना का तारतम्य जानना चाहिये। उससे भी देशविरति की गुणश्रेणि असख्यातगुण अधिक दलरचना वाली होती है। क्योकि सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा देशविरत जीव अत्यधिक विशुद्ध परिणाम वाला हे। उससे भी सर्वविरति आदि आगे की गुणश्रेणिया मे उत्तरोत्तर प्रवर्धमान विशुद्धि होने से असख्यातगुण-असख्यातगुण अधिक दलरचना होती है, परन्तु समान या न्यून नही होती है और इसी कारण उत्तरोत्तर गुणश्रेणि मे वर्तमान जीव असख्यातगुण-असख्यातगुण अधिक कर्मो की निर्जरा करनेवाले है।

प्रदेश और काल की अपेक्षा इस कथ को सरलता से समझने के लिए निम्नलिखित प्रारूपो को देखिये—

प्रदेशापेक्षा गुण श्रेणियो का प्रारूप

प्रदेशापेक्षा

अयोगि की अपेक्षा सभी गुण श्रेणियों में उत्तरोत्तर असंख्यात गुणहीन दलिक

- अयोगिकेवलो गुण श्रेणी
- सयोगिकेवली गुण श्रेणी
- क्षोणमोह गुण श्रेणी
- मोहक्षपक गुण श्रेणी
- उपशातमोह गुण श्रेणी
- मोहोपशमक गुण श्रेणी
- क्षायिक सम्यक्त्व निमि गुण श्रेणी
- अनन्ता० विसयोजक गुण श्रेणी
- सर्वविरति गुण श्रेणी
- देशविरति गुण श्रेणी
- सम्यक्त्व गुण श्रेणी

सम्यक्त्व गुण श्रेणी से उत्तरोत्तर असंख्यात गुण अधिक दलिक

कालापेक्षा गुणश्रेणियो का प्रारूप

कालापेक्षा

अयोगिकेवली गुण श्रेणी से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर संख्यात गुण अधिक काल

- अयोगिकेवलो गुण श्रेणी (अन्तर्मुहूर्त)
- सयोगिकेवलो गुण श्रेणी (अन्तर्मुहूर्त)
- क्षोणमोह गुण श्रेणी (अन्तर्मुहूर्त)
- मोहक्षपक गुण श्रेणी (अन्तर्मुहूर्त)
- उपशांतमोह गुण श्रेणी (अन्तर्मुहूर्त)
- मोहोपशमक गुण श्रेणी (अन्तर्मुहूर्त)
- क्षायिक सम्यक्त्वानिमि गुण श्रेणी (अन्तर्मुहूर्त)
- अनन्ता० विसयोजक गुण श्रेणी (अन्तर्मुहूर्त)
- सर्वविरति गुण श्रेणी (अन्तर्मुहूर्त)
- देशविरति गुण श्रेणी (अन्तर्मुहूर्त)
- सम्यक्त्व गुण श्रेणी (अन्तर्मुहूर्त)

सम्यक्त्व से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर संख्यात गुणहीन काल

प्रदेश और कालापेक्षा यहाँ गुणश्रेणियो का जो स्वरूप बताय है, उसका आशय यह है—

प्रदेशापेक्षा गुणश्रेणियो का स्वरूप इसलिये बतलाया है कि गुणश्रेणि शीर्ष मे रहते उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है तथा कालापेक्षा का यह आशय लेना चाहिये कि सम्यक्त्व के निमित्त से जितने अन्तर्मुहूर्त मे दलरचना होती है, उससे सख्यातवे भाग के अन्तर्मुहूर्त मे देशविरति के निमित्त से होने वाली गुणश्रेणि मे दलरचना होती है और उत्तरोत्तर असख्यात गुणी विशुद्धि होने से दलिक असख्यातगुण अधिक स्थापित किये जाते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सम्यक्त्व के निमित्त से जो गुणश्रेणि हुई वह बृहद् अन्तर्मुहूर्त मे हुई और दलिक कम स्थापित किये गये तथा देशविरतिनिमित्तक जो गुणश्रेणि हुई वह सख्यातगुणहीन अन्तर्मुहूर्त मे हुई किन्तु दलिक असख्यातगुण अधिक स्थापित किये गये। ऐसा होने से सम्यक्त्व की गुणश्रेणि द्वारा जितने काल मे जितने दलिक दूर होते हैं, उससे सख्यातवे भाग काल मे असख्यातगुण अधिक दलिक देशविरति गुणश्रेणि मे दूर होते हैं। इसी प्रकार उत्तरोत्तर की गुणश्रेणियो के दलिको एव समय के लिए समझना चाहिए कि समय कम होता जाता है, किन्तु दलिकसख्या मे वृद्धि होती जाती है।

इस प्रकार से गुणश्रेणियो के स्वरूप को बतलाने के बाद अव गतियो मे सभव गुणश्रेणियो का निर्देश करते हैं।

गतियो में सभव गुणश्रेणिया

झत्ति गुणाओ पडिए मिच्छत्तगयंमि आइमा तिन्नि।
लब्भंति न सेसाओ ज झीणासु असुभमरण ॥१०६॥

शब्दार्थ—झत्ति—शीघ्र, गुणाओ—(सम्यक्त्व) गुण से, पडिए—गिरकर, मिच्छत्तगय—मिथ्यात्व मे गए हुए के, आइमा तिन्नि—आदि की तीन, लब्भति—प्राप्त होती हैं, न—नही, सेसाओ—शेष, ज—क्योकि, झीणासु—क्षय होने क साथ, असुभमरण—अशुभ मरण।

गाथार्थ—जीव शीघ्र (सम्यक्त्व) गुण से गिरकर मिथ्यात्व मे जाये और तत्काल मरण प्राप्त करे तो आदि की तीन गुणश्रेणिया नरकादि भवो मे होती हैं, शेष सभव नही है। क्योकि इनका क्षय होने पर ही अशुभ मरण होता है।

विशेषार्थ— कौनसी गुणश्रेणि किस गति मे पाई जाती है, इसका निरूपण करते हुए बताया है कि कोई जीव सम्यक्त्वादि के निमित्त से होने वाली गुणश्रेणि करने के अनन्तर तत्काल ही सम्यक्त्वादि गुणो से गिरकर मिथ्यात्व मे जाये और वहाँ से भी तत्काल अप्रशस्त मरण द्वारा मरकर नारकादि भव मे जाये तो अल्प काल पर्यन्त उदय की अपेक्षा आदि की सम्यक्त्व, देशविरति और सर्वविरति के निमित्त से होने वाली तीन गुणश्रेणिया सभव है। यानि इन तीन गुणो के निमित्त से होने वाली दलरचना नारकादि भवो मे सभव है और दलरचना सभव होने से उसका उदय भी सभव है। शेष गुणश्रेणिया सभव नही है। क्योकि नारकादि भव अप्रशस्त मरण द्वारा मरण प्राप्त करने पर होते है।

उक्त तीन के सिवाय शेप गुणश्रेणियो के होने तक अप्रशस्त मरण नही होता है, परन्तु उन गुणश्रेणियो के दूर होने के बाद ही होता है। इसलिये आदि की तीन गुणश्रेणिया ही नारकादि भव मे सभव है, शेप सभव नही है।

उक्त कथन का साराश यह हुआ कि यदि सम्यक्त्व के निमित्त से हुई दलरचना कितनीक बाकी हो और देशविरति प्राप्त कर तन्नि-निमित्तक गुणश्रेणि करे और उसका भी अमुक भाग शेप हो तब सर्वविरति प्राप्त कर तन्निमित्तक गुणश्रेणि करे और वहाँ से तत्काल गिरकर मिथ्यात्व मे जाये एव वहाँ से भी तत्काल मरण को प्राप्त कर नारकादि भव मे जाये तो इन तीनो गुणो के निमित्त से हुई दलरचना को साथ लेकर जाने वाला होने से उदयापेक्षा जीव के इन तीन गुणश्रेणियो

के दलिक सभव है। परन्तु ऊपर के गुणस्थानो मे मरण को प्राप्त कर चौथा गुणस्थान लेकर देवलोक मे जाये तो अन्य भी गुणश्रेणिया साथ ले जाता है। जैसेकि उपशमश्रेणि मे मरण को प्राप्त कर उसके निमित्त से हुई गुणश्रेणि को लेकर अनुत्तर विमान मे भी उत्पन्न होता है।

इस प्रकार से गुणश्रेणियो का स्वरूप और नारकादि भवो मे सभव गुणश्रेणियो का निर्देश करने के बाद अब उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशोदय स्वामित्व का निरूपण करते है। उसमे भी पहले सामान्य से सभव उत्कृष्ट, जघन्य प्रदेशोदय के स्वामी को बतलाते है।

सामान्यतः उत्कृष्ट, जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व

उक्कोसपएसुदय गुणसेढीसीसगे गुणियकम्मो ।
सव्वासु कुणइ ओहेण खवियकम्मो पुण जहन्नं ॥११०॥

शब्दार्थ—उक्कोसपएसुदय—उत्कृष्ट प्रदेशोदय, गुणसेढीसीसगे—गुणश्रेणि-शीर्ष पर वर्तमान, गुणियकम्मो—गुणितकर्मांश, सव्वासु—सभी प्रकृतियो का, कुणइ—करता है, ओहेण—सामान्य से, खवियकम्मो—क्षपितकर्मांश, पुण—पुन, जहन्न—जघन्य ।

गाथार्थ—सामान्य से गुणश्रेणिशीर्ष पर वर्तमान गुणितकर्माश जीव सभी प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशोदय और क्षपितकर्माश जीव जघन्य प्रदशोदय करता है।

विशेषार्थ—विस्तार से उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशोदय के स्वामियो का निर्देश करने के लिय यहाँ भूमिका रूप मे उनके योग्य जीवो की योग्यता का सामान्य मे कथन किया है।

पहले उत्कृष्ट प्रदेशोदय के सभव स्वामी के सकेत के लिए बताया है 'गुणसेढीसीसगे गुणियकम्मो' अर्थात् गुणश्रेणि के शीर्षभाग—अग्रभाग पर वर्तमान गुणितकर्माश जीव सामान्य से समस्त कर्मप्रकृतियो का 'उक्कोसपएसुदय कुणइ' उत्कृष्ट प्रदेशोदय करता है। अर्थात् सामान्य

से—अधिकतर गुणश्रेणि के शिरोभाग मे वर्तमान-स्थित गुणितकर्मांश जीव के उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है और 'खवियकम्मो पुण जहन्न' प्राय' क्षपितकर्मांश जीव समस्त प्रकृतियो के जघन्य प्रदेशोदय का स्वामी है।

इस प्रकार सामान्य से उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशोदय के स्वामियो की विशेषता को बतलाने के बाद अब पृथक्-पृथक् समस्त प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशोदय के स्वामियो का निर्देश करते है—

सम्मत्तवेयसंजलणयाण खीणंत दुजिण अंताणं ।
लहु खवणाए अते अवहिस्स अणोहिणुक्कोसो ॥१११॥

शब्दार्थ—**सम्मत्तवेयसजलणयाण**—सम्यक्त्वमोहनीय, वेदत्रिक और सज्वलन कषाय का, **खीणत**—क्षीणमोहगुणस्थान मे अत होने वाली, **दुजिण अताण**—जिनद्विक स्थानो मे अत होने वाली प्रकृतियो का, **लहु खवणाए**—लघुक्षपणा द्वारा, **अते**—क्षय होने पर, **अवहिस्स**—अवधिद्विक का, **अणोहिण**—अवधिज्ञानहीन के, **उक्कोसो**—उत्कृष्ट ।

गाथार्थ—सम्यक्त्वमोहनीय, वेदत्रिक और सज्वलन कषाय का, क्षीणमोहगुणस्थान मे अत होने वाली प्रकृतियो का तथा जिनद्विक—सयोगिकेवली और अयोगिकेवली गुणस्थान मे अत होने वाली प्रकृतियो का लघुक्षपणा द्वारा क्षय होने पर गुणित-कर्मांश जीव के उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है, किन्तु अवधिद्विक का अवधिज्ञानहीन जीव के उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।

विशेषार्थ—गाथा मे कतिपय प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशोदय के स्वामी को बतलाया है—

सम्यक्त्वमोहनीय, वेदत्रिक—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपु सकवेद और सज्वलनकषायचतुष्क इन आठ प्रकृतियो का लघुक्षपणा के द्वारा क्षय करने के लिये उद्यत गुणितकर्मांश जीव के उस-उस प्रकृति के उदय के चरम समय मे उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।

प्रस्तुत मे लघुक्षपणा के लिये उद्यत हुए गुणितकर्मांश जीव को ग्रहण करने का कारण यह है कि क्षपणा दो प्रकार की है—लघुक्षपणा और चिरक्षपणा। इनमे से सातमास अधिक आठ वर्ष की अवस्था का कोई भव्य जीव सयम को स्वीकार करे और सयम स्वीकार करने के बाद अन्तर्मुहूर्त काल मे ही क्षपकश्रेणि आरम्भ करे तो उसको होने वाले कर्मक्षय को लघुक्षपणा कहते है और जो सुदीर्घकाल मे सयम को प्राप्त करने के अनन्तर बहुत-सा काल जाने के बाद क्षपकश्रेणि आरम्भ करे और उसके जो कर्मक्षय हो, वह चिरक्षपणा कहलाती है। इस चिरक्षपणा वाले के तो उदय, उदीरणा द्वारा अधिक पुद्गलो का क्षय होता है, अल्प ही शेष रहते है, जिससे चिरक्षपणा द्वारा उत्कृष्ट प्रदेशोदय सभव नही है। इसीलिये बताया है कि लघुक्षपणा द्वारा क्षय करने के लिये उद्यत के उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।

जो जीव कम-से-कम जितने समय मे (आयु मे) चारित्र प्राप्त हो उतने काल मे चारित्र प्राप्त कर तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्तकाल मे ही क्षपकश्रेणि आरम्भ करे तो उसे उदय, उदीरणा द्वारा अधिक कर्मपुद्गलो को कम करने का समय नही मिल पाता है, जिससे सत्ता मे अधिक कर्मपुद्गल होते हैं। गुणितकर्मांश जीव के उस प्रकृति के उदय के चरम समय मे उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।

अब उक्त दृष्टि के अनुसार जिन प्रकृतियो का जहाँ उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है, उसका निर्देश करते हे--

क्षीणमोहगुणस्थान मे जिन प्रकृतियो का उदयविच्छेद होता हे, ऐसी ज्ञानावरणपचक, अतरायपचक और दर्शनावरणचतुष्क इन चौदह प्रकृतियो का लघुक्षपणा द्वारा क्षय के लिये उद्यत हुये गुणश्रेणिशीर्ष पर वर्तमान गुणितकर्मांश क्षपक जीव के क्षीणमोहगुणस्थान के चरम समय मे उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। लेकिन अवधिद्विक-अवधिज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरण के उत्कृष्ट प्रदेशोदय के लिये इतना विशेष जानना चाहिये कि जिसे अवधिज्ञान और अवधिदर्शन उत्पन्न नही हुआ, उसे होता है। इसका कारण यह हे कि अवधिज्ञान को

उत्पन्न करते हुए तथास्वभाव मे प्रभूत कर्म पुद्गलो का क्षय होता है, जिससे अवधिज्ञानी के उत्कृष्ट प्रदेशोदय नही होता है। इसी अर्थ को स्पष्ट करने के लिये कहा गया है—'अवहिस्स अणोहिणुक्कोसो' —अवधिलब्धिरहित जीव के अवधिद्विक का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। तथा—

'दुजिण अताण अर्थात् यहाँ दुजिण—दो जिन इस पद द्वारा सयोगि और अयोगि केवली इन दो गुणस्थानो को ग्रहण किया है। उसमे से सयोगिकेवली के जिन-जिन प्रकृतियो का उदयविच्छेद होता है, उन औदारिकसप्तक, तैजस-कार्मणसप्तक, सस्थानषट्क, प्रथम सहनन, वर्णादि बीस, पराघात, उपघात, अगुरुलघु विहायोगतिद्विक, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ और निर्माण रूप बावन प्रकृतियो का गुणितकर्माश सयोगिकेवली भगवान को सयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय मे उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है तथा सुस्वर और दुस्वर का स्वर के निरोधकाल मे और उच्छ्वासनामकर्म का उच्छ्वास के निरोधकाल मे उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। अर्थात् स्वर और उच्छ्वास का रोध करते जिस समय अन्तिम उदय होता है, उस समय उनका उत्कृष्ट प्रदेशोदय सम्भव है।

अयोगिकेवली के जिन प्रकृतियो का उदयविच्छेद होता है, ऐसी अन्यतर वेदनीय, मनुष्यगति, मनुष्यायु, पचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यश कीर्ति, तीर्थंकरनाम और उच्चगोत्र रूप बारह प्रकृतियो का गुणितकर्माश अयोगिकेवली को चरम समय मे उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। तथा—

पढम गुणसेढिसीसे निद्दापयलाण कुणइ उवसतो।
देवत्त झति गओ वेउव्वियसुरदुग स एव ॥११२॥

शब्दार्थ—पढमगुणसेढिसीसे—प्रथम गुणश्रेणि के शीर्ष पर वर्तमान, निद्दापयलाण—निद्रा और प्रचला का, कुणइ—करता है, उवसतो—उपशात-

चतुरिन्द्रिय जाति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण नामकर्म तथा मिथ्यात्व-मोहनीय, अनन्तानुवधिकपायचतुष्क, मिश्रमोहनीय, स्त्यानर्द्धित्रिक—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि और अपर्याप्त रूप सत्रह प्रकृतियो का उन-उन प्रकृतियो का उदय रहते उत्कृप्ट प्रदेशोदय दूसरी और तीसरी गुणश्रेणि के शिरोभाग का योग होने के समय वर्तमान मिथ्यादृष्टि जीव के होता है। इसका तात्पर्यार्थ इस प्रकार है—

किसी एक जीव ने देशविरति प्राप्त करके देशविरति के निमित्त से होने वाली गुणश्रेणि की और तत्पश्चात् सयम प्राप्त कर सयम के निमित्त से होने वाली गुणश्रेणि करने के वाद वह जीव सम्यक्त्वादि गुणो से गिरकर मिथ्यात्व मे गया और वहाँ अप्रशस्त मरण द्वारा मरण करके तिर्यंच मे उत्पन्न हुआ। तव उस गुणितकर्मांश तिर्यंच के जिस समय देशविरति और सवविरति के निमित्त से हुई उन दोनो गुणश्रेणियो के शिरोभाग का योग हो—दोनो एकत्रित हो उस समय तिर्यंचगति मे एकान्तरूप से उदय होने वाली पूर्वोक्त सात प्रकृतियों तथा अपर्याप्तनामकर्म का यथायोग्य रीति से उस-उस प्रकृति का उदय होने पर उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है तथा मिथ्यात्व और अनन्तानुबधी के सम्बन्ध मे मरण प्राप्त करके भी जब देशविरति और सर्वविरति को गुणश्रेणि के शिरोभाग का योग हो, उस काल मे कोई गुणितकर्मांश जीव मिथ्यात्व प्राप्त करे तब उसे मिथ्यात्व और अनन्तानुवधिकषायो का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।

इसी प्रकार गुणश्रेणि के शिरोभाग पर वर्तमान कोई मिश्रगुणस्थान प्राप्त करे तो उसे मिश्रमोहनीय का तथा मिथ्यात्व मे जाये या न जाये किन्तु गुणश्रेणिशीर्ष पर वर्तमान गुणितकर्मांश जीव के स्त्यानर्द्धित्रिक का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। इसका कारण यह है कि स्त्यानर्द्धित्रिक का प्रमत्तसयत पर्यन्त उदय होता है। इसी से दोनो गुणश्रेणि के शीर्ष पर वर्तमान प्रमत्त होता है और उसे स्त्यानर्द्धित्रिक मे से किसी भी निद्रा का उदय हो तो उसे भी उत्कृष्ट प्रदेशोदय हो

सकता है और कदाचित् गिरकर मिथ्यात्व मे जाये तो वहाँ भी उत्कृष्ट प्रदेशोदय सम्भव है। किन्तु गुणश्रेणि के शिरोभाग को जिस समय प्राप्त हो उस समय उनका उदय होना चाहिए। तथा—

से कालेन्तरकरणं होही अमरो य अन्तमुहु परओ ।
उक्कोसपएसुदओ हासाइसु मज्झिमडण्ह ॥११४॥

शब्दार्थ—**से काले**—उस काल मे, **अन्तरकरण**—अन्तरकरण, **होही**—होता है, **अमरो**—देव, **य**—और, **अन्तमुहु**—अन्तर्मुहूर्त के, **परओ**—पश्चात्, **उक्कोसपएसुदओ**—उत्कृष्ट प्रदेशोदय, **हासाइसु**—हास्यादि छह नोकपायो का, **मज्झिमडण्ह**—मध्यम आठ कपायो का।

गाथार्थ—जिस समय अन्तरकरण होता है, उस काल मे यदि मर कर देव हो तो अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् हास्यादि छह नोकपायो और मध्यम आठ कपायो का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।

विशेषार्थ—गाथा मे हास्यादि पट्क नोकपायो और मध्यम कपायाष्टक के उत्कृष्ट प्रदेशोदयस्वामित्व को बतलाया है। विशेपता के साथ जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उपशमश्रेणि प्राप्त कर कोई जीव अनिवृत्तिकरण के समय जब अन्तरकरण होगा और उस अन्तरकरण के पहले समय मे मर कर देव हो तो उत्पन्न होने के पश्चात् उस देव को अन्तर्मुहूर्त व्यतीत होने पर गुणश्रेणिशीर्ष पर रहते हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा रूप हास्यपट्क तथा अप्रत्याख्यानावरणकपायचतुप्क एव प्रत्याख्यानावरणकपायचतुप्क रूप कपायाष्टक कुल मिलाकर चौदह प्रकृतियो का उस-उस प्रकृति के उदय काल मे उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।[1] तथा—

हस्सठिई बंधित्ता अद्धाजोगाइठिइनिसेगाण ।
उक्कोसपए पढमोदयम्मि सुरनारगाऊण ॥११५॥

---

१ इसका कारण यह है कि अपूर्वकरण मे अनिवृत्तिकरण के काल मे अधिक काल मे गुणश्रेणि होती है।

शब्दार्थ— हुस्सठिई—जघन्य स्थिति, बधित्ता—बाधकर, अद्धाजोगाइठिइ—अद्धा, योग और प्रथम स्थिति, निसेगाण—निषेको का, उक्कोसपए—उत्कृष्ट पद मे, पढमोदयम्मि—प्रथम स्थितिस्थान मे रहते, सुरनारगाऊण—देव और नारक आयु का।

गाथार्थ—अद्धा, योग और प्रथम स्थिति मे दलिको के निषेक का जब उत्कृष्ट पद हो और जघन्य स्थिति बाधकर मरण होने पर देव या नरक हो तब प्रथम स्थितिस्थान मे रहते उसे देव या नरक आयु का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।

विशेषार्थ—गाथा मे देवायु और नरकायु के उत्कृष्ट प्रदेशोदय के स्वामी को बतलाया है कि जब अद्धा-आयु का बधकाल, योग-मन, वचन और काया द्वारा प्रवर्तमान आत्मवीर्य और प्रथम स्थितिनिषेक—बधने वाली आयु के पहले स्थान मे होने वाली दलरचना, ये तीनो उत्कृष्ट पद मे हो यानि उत्कृष्ट योग मे रहते अधिक से अधिक जितने काल तक आयु का बध हो सकता है, उतने काल आयु की जघन्य स्थिति का बध करके तथा आयु के प्रथम स्थान मे उत्कृष्ट दलिक का निक्षेप करके मरण को प्राप्त कर देव या नारक हो तो उस देव के देवायु की और नारक के नरकायु की प्रथम स्थिति का अनुभव करते हुए उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। इसका कारण यह है कि दीर्घ अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त उत्कृष्ट योग मे बहुत से दलिको को ग्रहण किया है और प्रथमस्थिति मे अधिक स्थापित किये है। जिससे प्रथमस्थिति का अनुभव करते समय ही उत्कृष्ट प्रदेशोदय सभव है। तथा—

अद्धा जोगुक्कोसे बधित्ता भोगभूमिगेसु लहु।
सव्वप्पजीविय वज्जइत्तु ओवट्टिया दोण्ह ॥११६॥

शब्दार्थ—अद्धा—बधकाल, जोग—योग, उक्कोसे—उत्कृष्ट, बधित्ता—बाधकर, भोगभूमिगसु—भोगभूमियो मे, लहु—शीघ्र, सव्वप्पजीविय—सबसे अल्प स्थिति को, वज्जइत्तु—छोडकर, ओवट्टिया—अपवर्तना करके, दोण्ह—दोनो का।

गाथार्थ—उत्कृष्ट अद्धा—बंधकाल और योग द्वारा भोगभूमिया सम्बन्धी आयु का बंध कर शीघ्र ही मर कर भोगभूमियो मे उत्पन्न हो, वहाँ सबमे जघन्य स्थिति—अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति को छोडकर शेप की अपवर्तना करे, अपवर्तना होने के बाद प्रथम समय मे दोनो—मनुष्यायु और तिर्यंचायु का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।

विशेषार्थ—गाथा मे मनुष्यायु और तिर्यंचायु के उत्कृष्ट प्रदेशोदयस्वामित्व का स्पष्टीकरण करते हुए बताया है—

अधिक से अधिक जितने काल तक आयु का बंध हो सकता है, उतने काल द्वारा और अधिक से अधिक जितने योग द्वारा आयु का बंध हो उतने योग द्वारा भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी उत्कृष्ट तीन पल्योपम की आयु को बांधकर मरण को प्राप्त हो, वहाँ मनुष्य या तिर्यंच के रूप मे उत्पन्न हो और उत्पन्न हो कर शीघ्र सर्वाल्प जीवित—कम से कम अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु को छोडकर शेप समस्त आयु की अपवर्तनाकरण द्वारा अपवर्तना करके, अपवर्तना होने के बाद के प्रथम समय मे वर्तमान मनुष्य और तिर्यंच के अनुक्रम से मनुष्यायु और तिर्यंचायु का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।

साराश यह हुआ कि अपर्याप्तावस्था मे भोगभूमिज के आयु की अपवर्तना हो सकती है, परन्तु पर्याप्त होने के बाद नही होती है। इसमे भी कम से कम अन्तर्मुहूर्त आयु रखकर शेप आयु की ही अपवर्तना होती है। इसीलिये अन्तर्मुहूर्त को छोडकर शेप आयु की अपवर्तना करने का उल्लेख किया है। इन दो आयु का इसी रीति से उत्कृष्ट प्रदेशोदय हो सकता है। क्योंकि उत्कृष्ट योग और उत्कृष्ट काल द्वारा उत्कृष्ट आयु बांधी है और अपवर्तना होने पर अन्तर्मुहूर्त आयु को छोडकर ऊपर के समस्त आयु के दलिक अन्तर्मुहूर्त काल मे स्थापित है। उसमे भी पहले स्थान मे अधिक स्थापित है। जिससे अपवर्तना होने के बाद पहले समय मे उत्कृष्ट प्रदेशोदय होना बताया है। तथा—

नारयतिरियदुग दुभगाइनीय मणुयाणुपुव्विगाणं तु।
दसणमोहक्खवगो तइयगसेढी उ पडिभग्गो ॥११७॥

शब्दार्थ—नारयतिरियदुग—नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, दुभगाइ—दुर्भग आदि, नीय—नीचगोत्र, मणुयाणपुव्विगाण—मनुष्यानुपूर्वी का, तु—और, दंसणमोहक्खवगो—दर्शनमोहक्षपक के, तइयगसेढी—तीसरी गुणश्रेणि, उ—और, पडिभग्गो—पतित ।

गाथार्थ—नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, दुर्भगादि अर्थात् दुर्भग, अनादेय और अयश कीर्ति, नीचगोत्र और मनुष्यानुपूर्वी का उत्कृष्ट प्रदेशोदय तीसरी गुणश्रेणि में पतित दर्शनमोहक्षपक के होता है।

विशेषार्थ—दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियो का क्षय करने के लिये प्रयत्नवन्त अविरतसम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व के निमित्त गुणश्रेणि करे, उसके बाद वही देशविरति प्राप्त कर देशविरतिनिमित्तक गुणश्रेणि करे और तत्पश्चात् वही सर्वविरति प्राप्त कर सर्वविरति सम्बन्धी गुणश्रेणि करे। यह देशविरति और सर्वविरति सम्बन्धी गुणश्रेणि सम्यक्त्व के निमित्त से जो करण करता है उसी मे करता है यानि चौथे गुणस्थान मे क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए किए गए अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण मे रहते देशविरति और सर्वविरति प्राप्त कर तत्सम्बन्धी गुणश्रेणि करे और तत्पश्चात् करण की समाप्ति के बाद जिसने दर्शनमोहनीयत्रिक का क्षय किया और जिसने तीसरी सर्वविरति सम्बन्धी गुणश्रेणि करके वहाँ से गिरकर अविरतपना प्राप्त किया, उस अविरत जीव के सम्यक्त्व, देशविरति और सर्वविरति निमित्तक तीनो गुणश्रेणियो का शिरोभाग जिस स्थान पर मिलता है, उस स्थान पर रहते हुए उसी भव मे दुर्भग, अनादेय, अयश कीर्ति और नीचगोत्र मे से जिस-जिसका उदय

हो, उस-उसका उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। सर्वविरति से अवि-रति मे आने पर भी उसके निमित्त से हुई दलरचना रह जाती है, जिससे कोई विरोध नही है।

अब यदि उसी आत्मा ने नारक-आयु का बध किया हो और उस श्रेणि का शीर्षभाग प्राप्त होने के पहले मरकर नारक हो तो गुणश्रेणिशीर्ष पर रहते उसे पूर्वोक्त दुर्भगादि चार और नरकद्विक इस तरह छह प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है और कदाच असख्यात वर्ष वाले तिर्यंच की आयु का बध किया हो और मर-कर तिर्यंच हो तो उस तिर्यंचद्विक के साथ पूर्वोक्त दुर्भगादि चार प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है तथा भोगभूमिज मनुष्य सम्बन्धी आयु का बध किया हो और मनुष्य हो तो उसे मनुष्यानुपूर्वी के साथ[1] पूर्वोक्त प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। तथा—

संघयणपचगस्स उ विइयादि तिगुणसेढिसीसम्मि।
आहारुज्जोयाणं अपमत्तो आइगुणसीसे ॥११८॥

१ किसी भी भावी आयु का बध न किया हो या नारक, वैमानिक देव या असख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य, तिर्यंच की आयु बाधी हो, वही क्षायिक सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है। इसीलिये भोगभूमिज विशेषण दिया है। तिर्यंच के तो भवाश्रित नीचगोत्र का ही उदय होता है और मनुष्य को चौथे गुणस्थान में उसका उदय हो सकता है, पाचवें और उससे आगे के गुणस्थानो में तो मनुष्य को गुणप्रत्यय से उच्चगोत्र का ही उदय होता है। यदि पहले नीचगोत्र का भी उदय हो तो वह भी बदल जाता है और वहाँ से गिरने पर चौथे गुणस्थान मे आये तो जो मूल हो, उसी गोत्र का भी उदय हो सकता है। जिसमे उसका मनुष्यादि को चौथे गुणस्थान में उत्कृष्ट प्रदेशोदय घटित होता है। क्षायिक सम्यक्त्वी वैमा-निक देवो में जाने वाला होने से और वहाँ दुर्भगादि का उदय नही होने से देवगति मे उनका उत्कृष्ट प्रदेशोदय नही बताया है।

शब्दार्थ—सघयणपचगस्स—सहननपचक का, उ—और, विइयादि—दूसरी आदि, तिगुणसेढिसीसम्मि—तीन गुणश्रेणियो के शीर्ष पर, आहारुज्जोयाण—आहारक और उद्योत नाम का, अपमत्तो—अप्रमत्त, आइगुणसीसे—आदि गुणश्रेणि शीर्ष पर।

गाथार्थ—प्रथम को छोडकर शेप सहननपचक का दूसरी आदि तीन गुणश्रेणिशीर्ष पर रहते उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है तथा आहारकसप्तक और उद्योतनाम का प्रथम गुणश्रेणिशीर्ष पर वर्तमान अप्रमत्त को उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।

विशेषार्थ—प्रथम के सिवाय शेप पाच सहनननाम का द्वितीयादि तीन गुणश्रेणिशीप पर रहते उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। जिसका तात्पय इस प्रकार है—

कोई मनुष्य देशविरति प्राप्त कर देशविरतिनिमित्तक गुणश्रेणि करे, तत्पश्चात् वही तीव्र विशुद्धि के योग स सर्वविरति प्राप्त कर तन्निमित्तक गुणश्रेणि करे और उसके वाद वही तथाप्रकार की विशुद्धि के योग से अनन्तानुवधी की विसयोजना करने के लिये प्रयत्नशील होकर तन्निमित्तक गुणश्रेणि करे। इस प्रकार दूसरी, तीसरी और चौथी गुणश्रेणि होती है, इन तीनो गुणश्रेणियो को करके इन तीनो गुणश्रेणियो के शिरोभाग का जिस स्थान पर योग हो, उस स्थान मे वर्तमान उस मनुष्य के प्रथम सहनन को छोडकर दूसरे से लेकर छठे तक पाच सहननो मे से जिसका उदय हो उसका उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।[1]

---

१ यहाँ दूसरे से छठे तक पाच सहननो का उत्कृष्ट प्रदेशोदय देशविरति आदि सम्बन्धी तीन गुणश्रेणि के शीर्षभाग मे वर्तमान मनुप्य को बताया है। परन्तु कर्मस्तव आदि ग्रथो मे दूसरे, तीसरे सहनन का उदय ग्यारहवें गुणस्थान तक बताया है और इन तीन गुणश्रेणियो की अपेक्षा

(क्रमश)

आहारकशरीर मे वर्तमान अप्रमत्त सयत के अप्रमत्तगुणस्थान के पहले समय मे जितने स्थानो मे गुणश्रेणि दलरचना होती है, उन स्थानो मे के अतिम समय मे आहारकसप्तक और उद्योतनाम का अनुभव करते हुए उन प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। तथा—

गुणसेढीए भग्गो पत्तो बेइंदिपुढविकायत्त ।
आयावस्स उ तव्वेइ पढमसमयंमि वट्टंतो ॥११९॥

शब्दार्थ—गुणसेढीए भग्गो—गुणश्रेणि से गिरकर, पत्तो—प्राप्त किया, बेइंदिपुढविकायत्त—द्वीन्द्रियत्व और पृथ्वीकायत्व, आयावस्स—आतप का, उ—और, तव्वेइ—उसका वेदन करने वाले, पढमसमयंमि—प्रथम समय मे, वट्टंतो—वर्तमान।

गाथार्थ—गुणश्रेणि से गिरकर द्वीन्द्रियत्व प्राप्त करके फिर पृथ्वीकायत्व प्राप्त किया और वहाँ शरीरपर्याप्ति पूर्ण करने के बाद प्रथम समय मे वर्तमान आतप का वेदन करने वाले उस पृथ्वीकाय को आतप का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।

विशेषार्थ—गुणितकर्मांश किसी पचेन्द्रिय जीव ने सम्यक्त्व प्राप्त-कर तत्सम्बधी गुणश्रेणि की और उसके पश्चात् वहाँ से गिरकर

उपशातमोह की गुणश्रेणि मे दलिकरचना असख्यात गुणश्रेणि होती है। जिससे इन दो सहननो का उत्कृष्ट प्रदेशोदय उपशातमोहगुणस्थान मे प्रथम समय मे हुई गुणश्रेणि के शिरोभाग पर वर्तमान जीव के सभव है। लेकिन पचसग्रहकार एव कुछ और दूसरे ग्रथकार मानते है कि उप-शमश्रेणि का आरभक प्रथम सहनन वाला है, दूसरा तीसरा सहनन वाला नही है। (पचसग्रह, सप्ततिका गाथा १२९)। जिससे यहाँ पाच सहननो का उत्कृष्ट प्रदेशोदय देशविरति आदि सम्बन्धी तीन गुणश्रेणि के शिरोभाग मे वर्तमान मनुष्य को बताया है।

मिथ्यात्व मे गया और मिथ्यात्व मे जाकर मरण को प्राप्त हो द्वीन्द्रिय मे उत्पन्न हुआ। वहाँ द्वीन्द्रियप्रायोग्य स्थिति की सत्ता को छोडकर शेष समस्त स्थिति की अपवर्तना करे और अपवर्तना करने के वाद वहाँ से मरकर खर वादर पृथ्वीकायत्व प्राप्त किया और वहाँ शीघ्र शरीर-पर्याप्ति से पर्याप्त हो तो पर्याप्त होने के वाद प्रथम समय मे आतप-नामकर्म का वेदन करते हुए उस पृथ्वीकाय को आतपनामकर्म का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।

आतप का उदय खर वादर पृथ्वीकाय के होता है, अत एकेन्द्रिय मे उत्पन्न होना वताया है तथा पचेन्द्रिय मे से सीधे एकेन्द्रिय मे उत्पन्न होना न कहकर द्वीन्द्रिय मे जाकर पृथ्वीकाय मे उत्पन्न होना कहने का कारण यह है कि द्वीन्द्रिय मे से एकेन्द्रिय मे गया जीव उसकी स्थिति को कम करके स्वयोग्य कर सकता है। परन्तु पचेन्द्रिय मे से एकेन्द्रिय मे गया जीव अथवा पचेन्द्रिय मे से त्रीन्द्रियादि मे जाकर एकेन्द्रिय हुआ जीव एकदम उसकी स्थिति को स्वयोग्य नही कर सकता है, मात्र द्वीन्द्रिय की स्थिति को ही शीघ्रता मे स्वयोग्य कर सकता है। यहाँ उत्कृष्ट प्रदेशोदय के अधिकार मे शीघ्रता से करने वाले जीव को ग्रहण किया जाता है, इसलिये पचेन्द्रिय मे से द्वीन्द्रिय मे जाकर एकदम स्थिति की अपवर्तना कर एकेन्द्रिय मे उत्पन्न हो और वहाँ भी शीघ्र शरीरपर्याप्ति मे पर्याप्त हो, ऐसा कहा है।

आतप का उदय शरीरपर्याप्ति पूर्ण करने के वाद ही होता है, इसलिये उसको पूर्ण करने के अनन्तरवर्ती पहले समय मे उसका वेदन करते हुए उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है, यह कहा है।

इस प्रकार से पृथक्-पृथक् प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशोदयस्वामित्व का निर्देश करने के बाद अव जघन्य प्रदेशोदय के स्वामियो को बतलाते है।

जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व

देवो जहन्नयाऊ दीहुव्वट्टित्तु मिच्छ अन्तम्मि ॥
चउनाणदंसणतिगे एगिदिगए जहन्नुदय ॥१२०॥

शब्दार्थ—देवो—देव, जहन्नयाऊ—जघन्यायु, दीहुव्वट्टित्तु—दीर्घस्थिति की उद्वर्तना कर, मिच्छ—मिथ्यात्व, अन्तम्मि—अन्त मे, चउनाण—चार ज्ञानावरण, दसणतिगे—दर्शनत्रिक का, एगिंदिगए—एकेन्द्रिय मे गये हुए के, जहन्नुदय—जघन्य प्रदेशोदय ।

गाथार्थ—जघन्यायु वाला देव उत्पन्न होकर अन्तर्मुहूर्त के बाद अत मे सम्यक्त्व मे मिथ्यात्व मे जाये और वहाँ दीर्घस्थिति बाधकर और सत्तागत स्थिति की उद्वर्तना कर एकेन्द्रिय मे जाये तो उस एकेन्द्रिय के चार ज्ञानावरण और तीन दर्शनावरण का जघन्य प्रदेशोदय होता है

विशेषार्थ—जघन्य प्रदेशोदय के स्वामियो के विचार के प्रसग मे सर्वत्र क्षपितकर्मांश जीव को स्वामित्व का अधिकारी समझना चाहिये ।

इस जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व के विचार को मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, मनपर्यायज्ञानावरण और केवलज्ञानावरणरूप चार ज्ञानावरण और चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण रूप तीन दर्शनावरण कुल सात प्रकृतियो मे प्रारम्भ करते है—

'देवो जहन्नयाऊ' अर्थात् दस हजार वर्ष की आयु वाला क्षपितकर्माश कोई देव उत्पन्न होने के अनन्तर अन्तर्मुहूर्त बीतने पर सम्यक्त्व प्राप्त करे और उस सम्यक्त्व का अन्तर्मुहूर्त न्यून दस हजार वर्ष पर्यन्त पालन कर अन्तिम अन्तमुहूर्त मे मिथ्यात्व को प्राप्त हो और वह मिथ्यात्वी देव अतिसक्लिष्ट परिणाम वाला होकर इन मतिज्ञानावरणादि प्रकृतियो की अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त उत्कृष्ट स्थिति बाधे और उस समय बहुत से दलिको की उद्वर्तना करे यानि सत्तागत दलिको की स्थिति मे वृद्धि करे—नीचे के स्थान के दलिको को ऊपर के स्थान के दलिको के साथ भोगने योग्य करे और उसके बाद सक्लिष्ट परिणाम होते हुये ही काल करके वह देव एकेन्द्रिय मे उत्पन्न हो । तब वह एकेन्द्रिय उत्पत्ति के पहले समय मे मतिज्ञानावरणादि उक्त चार

ज्ञानावरण और चक्षुदर्शनावरण आदि तीन दर्शनावरण रूप कुल सात प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशोदय करता है।

प्रथम समय मे जघन्य प्रदेशोदय होने का कारण यह है कि प्राय प्रभूत दलिको की उद्‌वर्तना की हुई होने मे पहले समय मे अल्प-प्रमाण मे दलिक होते है और उत्कृष्ट सक्लेश युक्त जीव के प्रदेश-उदीरणा अल्प एव अनुभाग-उदीरणा अधिक होती है। क्योकि ऐसा सामान्य नियम है कि अनुभाग की आधक प्रमाण मे उदीरणा होने पर प्रदेशो की अल्प प्रमाण मे और प्रदेशो की अधिक प्रमाण मे उदीरणा होने पर अनुभाग की अल्प प्रमाण मे उदीरणा होती है। इसीलिये प्रस्तुत मे अतिसक्लिष्ट परिणामी एकेन्द्रिय के अधिक प्रमाण मे अनुभाग की उदीरणा होने मे प्रदेशो को उदीरणा अल्पप्रमाण मे होती है, जिससे उदीरणा से भी अधिक दलिक उदय मे प्राप्त नही होते हैं। अतएव मिथ्यात्व को प्राप्त हुए अतिसक्लिष्ट परिणामी एकेन्द्रिय के पहले समय मे जघन्य प्रदेशोदय होना वतलाया है। द्वितीय आदि समय मे न बताने का कारण यह है कि दूसरे समयो मे योग अधिक होने से पहले समय से उनमे कुछ अधिक प्रदेशो की उदीरणा करके भोगता है। जिससे द्वितीय आदि समयो मे जघन्य प्रदेशोदय सम्भव नही है। इसीलिये पहला समय ग्रहण किया है। तथा—

कुव्वइ ओहिदुगस्स उ देवत्त संजमाउ सपत्तो।
मिच्छुक्कोसुक्कट्टिय आवलिगते पएसुदयं ॥१२१॥

शब्दार्थ—कुव्वइ—करता है, ओहिदुगस्स—अवधिद्विक का, उ—और, देवत्त—देवपने, सजमाउ—सयम से, सपत्तो—प्राप्त, मिच्छुक्कोसुक्कट्टिय—मिथ्यात्व मे जाकर उत्कृष्ट स्थिति की उदारणा करके, आवलिगते—आवलिका के अन्त मे, पएसुदय—प्रदेशोदय।

गाथार्थ—सयम से अवधिद्विक को उत्पन्न कर देवपने को प्राप्त हुआ जीव मिथ्यात्व मे जाकर उसकी उत्कृष्ट स्थिति बाधे

और अधिक प्रदेशो की उद्वर्तना करे तब उस देव के अन्त समय मे अवधिद्विक का जघन्य प्रदेशोदय होता है।

विशेषार्थ—क्षपितकर्मांश कोई जीव सयम प्राप्त कर उसके प्रभाव से अवधिज्ञान और अवधिदर्शन उत्पन्न कर उनके साथ ही देव मे जाये और वहाँ अन्तर्मुहूर्त के अनन्तर मिथ्यात्व को प्राप्त हो और मिथ्यात्व के निमित्त से उत्कृष्ट स्थिति बाधे और अधिक दलिको की उद्वर्तना करे तो ऐसा देव बधावलिका के अन्त समय मे अवधिज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरण का जघन्य प्रदेशोदय करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि अवधिज्ञान को उत्पन्न करते हुए जीव सत्ता मे से बहुत से दलिको को दूर करता है, जिससे सत्ता मे अल्प रहते है। इसी लिए अवधिज्ञानी को जघन्य प्रदेशोदय होता है। किन्तु अवधिज्ञानरहित के नही होता है। तथा—

वेयणियउच्चसोयंतराय अरईण होइ ओहिसमो।
निद्दादुगस्स उदओ उक्कोसठिईउ पडियस्स ॥१२३॥

शब्दार्थ—वेयणिय—वेदनीयद्विक, उच्च—उच्चगोत्र, सोयतराय—शोक, अन्तरायपचक, अरईण—अरति का होइ—होता है, ओहिसमो—अवधिद्विक के समान, निद्दादुगस्स—निद्राद्विक का, उदओ—उदय, उक्कोसठिईउ—उत्कृष्ट स्थिति से, पडियस्स—पतित के।

गाथार्थ—वेदनीयद्विक, उच्चगोत्र, शोक, अन्तरायपचक और अरति का अवधिद्विक के समान जघन्य प्रदेशोदय जानना चाहिए तथा निद्राद्विक का उत्कृष्ट स्थिति से पतित निवृत्त हुए उनका उदय होने पर जघन्य प्रदेशोदय होता है।

विशेषार्थ—'वेयणिय' इत्यादि अर्थात् साता-असाता रूप वेदनीयद्विक, उच्चगोत्र, शोकमोहनीय, दानान्तराय आदि अतरायपचक और अरतिमोहनीय इन दस प्रकृतियो के जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व का विचार अवधिद्विक के समान जानना चाहिए। यानी अवधिज्ञानावरण का जहा और जिस प्रकार मे जघन्य प्रदेशोदय पूर्व मे

गाथार्थ—नपुंसकवेद, तिर्यंचगति, स्थावर और नीचगोत्र का जघन्य प्रदेशोदय मतिज्ञानावरण के समान जानना चाहिये और स्त्यानर्द्धित्रिक का इन्द्रियपर्याप्ति से पर्याप्त के प्रथम समय मे होता है।

विशेषार्थ—नपुसकवेद, तिर्यंचगति, स्थावरनाम और नीचगोत्र इन चार प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व मतिज्ञानावरण के जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व के सदृश समझना चाहिये। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिस प्रकार से मतिज्ञानावरण का एकेन्द्रिय के जघन्य प्रदेशोदय वताया है, उसी तरह से इन चार प्रकृतियो का भी उस एकेन्द्रिय के जघन्य प्रदेशोदय जानना चाहिये।

'गिद्धितिगे' अर्थात् निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि रूप स्त्यानर्द्धित्रिक का जघन्य प्रदेशोदय भी मतिज्ञानावरण के समान ही जानना चाहिये। किन्तु इतनी विशेषता है कि मात्र इन्द्रियपर्याप्ति से पर्याप्त के प्रथम समय मे उदय होने पर समझना चाहिये। क्योकि उसके वाद के समय से तो इन तीन निद्राओ की उदीरणा सम्भव होने से जघन्य प्रदेशोदय नही हो सकता है। तथा—

अपुमित्थि सोग पढमिल्ल अरइ रहियाण मोहपगईणं।
अतरकरणाउ गए सुरेसु उदयावली अते ॥१२४॥

शब्दार्थ—**अपुमित्थि**—नपुसकवेद, स्त्रीवेद, **सोग**—शोकमोहनीय, **पढमिल्ल**—प्रथम (अनन्तानुवधि) कषाय, **अरइ**—अरति, **रहियाण**—रहित, **मोहपगईण**—मोहनीय प्रकृतियो का, **अतरकरणाउ**—अन्तरकरण से, **गए**—गये हुए **सुरेसु**—देवो मे, **उदयावली अते**—उदयावलिका के अन्तिम समय मे।

गाथार्थ—नपुसकवेद, स्त्रीवेद, शोकमोहनीय, प्रथम कषाय (अनन्तानुवन्धिकषायचतुष्क) और अरतिमोहनीय से रहित शेष मोहनीय की प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशोदय अन्तरकरण करके देवो मे गए हुए के उदयावलिका के अन्तिम समय मे होता है।

विशेषार्थ—नपु सकवेद, स्त्रीवेद, शोकमोहनीय, अनन्तानुवन्धि-कपायचतुष्क, अरतिमोहनीय इन आठ प्रकृतियो के सिवाय शेप रही दर्शनमोहनीयत्रिक, अप्रत्याख्यानावरणादि वारह कपाय, पुरुपवेद, हास्य, रति, भय और जुगुप्सा रूप मोहनीयकर्म की वीस प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशोदय अन्तरकरण करके देवलोक मे जाने पर वहाँ उद-यावलिका के चरम समय मे होता हे ।

उक्त कथन का तात्पर्य यह हे कि कोई क्षपितकर्मांश उपशम सम्यग्दृष्टि उपशम सम्यक्त्व से गिरकर जव अन्तरकरण का समया-धिक आवलिका काल शेप रहे तव दूसरी स्थिति मे से सम्यक्त्वमोह-नीय के दलिको को खीचकर अन्तरकरण की अन्तिम आवलिका मे गोपुच्छाकार रूप से पहले समय मे अधिक, दूसरे समय मे विशेपहीन, तीसरे समय मे विशेपहीन, इस तरह चरम समय पर्यन्त विशेषहीन-विशेषहीन स्थापित करता है । इस प्रकार की अवस्था मे समयाधिक काल पूर्ण हो और यदि मिथ्यात्वमोहनीय का उदय हो तो उसका, मिश्रमोहनीय का उदय हो तो उसका और सम्यक्त्वमोहनीय का उदय हो तो उसका, उदयावलिका के चरम समय मे जघन्य प्रदेशोदय होता है ।

दर्शनमोहत्रिक के सिवाय शेष सत्रह प्रकृतियो का उपशमश्रेणि मे अन्तरकरण करके श्रेणि मे ही कालधर्म को प्राप्त कर देवलोक मे जाये तो वहाँ पहले समय मे ही दूसरी स्थिति से दलिको को खीचकर उदय समय से लेकर गोपुच्छाकार रूप से इस प्रकार स्थापित करे कि उदय समय मे अधिक, दूसरे समय मे विशेषहीन, तीसरे समय मे विशेषहीन, इस प्रकार विशेषहीन-विशेषहीन आवलिका के चरम समय पर्यन्त स्थापित करे तो आवलिका के चरम समय मे रहते पूर्वोक्त सत्रह प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशोदय होता है ।

अब देवलोक मे नपु सकवेद आदि आठ प्रकृतियो के निषेध के और सत्रह प्रकृतियो के जघन्य प्रदेशोदय होने के कारण को स्पष्ट करते है—

उवसतो कालगओ सव्वट्ठे जाइ भगवई सिद्ध ।
तत्थ न एयाणुदओ असुभुदए होइ मिच्छस्स ॥१२५॥

शब्दार्थ—उवसंतो—उपशात, कालगओ—मरण को प्राप्त हुआ, सव्वट्ठे—सर्वार्थसिद्धि मे, जाइ—जाता है, भगवई—भगवतीसूत्र से, सिद्ध—सिद्ध है, तत्थ—वहाँ, न—नही, एयाणुदओ—इनका उदय, असुभ—अशुभ के, उदए—उदय, होइ—होता है, मिच्छस्स—मिथ्यात्व का ।

गाथार्थ—मरण को प्राप्त हुआ उपशातकषाय जीव सर्वार्थसिद्धि विमान मे जाता है, ऐसा भगवतीसूत्र मे कहा है। वहाँ इन प्रकृतियो का उदय नही होता है तथा अशुभ मरण के द्वारा मरने वाले या न मरने वाले के मिथ्यात्व का जघन्य प्रदेशोदय होता है ।

विशेषार्थ—गाथा मे नपु सकवेदादि आठ प्रकृतियो के उदय का देवो मे निषेध करने के कारण को स्पष्ट करते हुए मिथ्यात्व के जघन्य प्रदेशोदय के स्वामी का निर्देश किया है ।

सर्वप्रथम देवो मे नपु सकवेद आदि आठ प्रकृतियो के उदय न होने के कारण को स्पष्ट करते है—

जिसने मोह का सर्वथा उपशम किया है, वह उपशातमोहगुणस्थानवर्ती जीव अथवा उपशम क्रिया करने वाला उपशमश्रेणि मे वर्तमान कोई जीव मरण को प्राप्त हो तो उसके लिये भगवतीसूत्र मे बताया है कि सर्वार्थसिद्धि महाविमान मे उत्पन्न होता है और इसमे कोई विसवाद नही है तथा सर्वार्थसिद्धि महाविमान मे नपु सकवेद, स्त्रीवेद, अरति, शोक मोहनीय एव अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्क इन आठ प्रकृतियो का उदय नही होता है। इसीलिये वहाँ इन आठ प्रकृतियो के जघन्य प्रदेशोदय का निषेध किया है ।

अव मिथ्यात्व के जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व को वतलाते है कि मिथ्यात्व का जघन्य प्रदेशोदय अशुभ मरण द्वारा मरण को प्राप्त करे अथवा मरण को प्राप्त न करे तो भी पूर्व गाथा मे कहे गये अनुसार उदयावलिका के चरम समय मे जघन्य प्रदेशोदय होता है। इसी प्रकार सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय का भी मरण को प्राप्त करे या प्राप्त न करे, परन्तु उदयावलिका के चरम समय मे रहते जघन्य प्रदेशोदय समझ लेना चाहिये।

यहाँ इतना विशेप है कि अन्तरकरण का समयाधिक आवलिका काल शेप रहे तव तीन पु ज के दलिको को अन्तरकरण की चरम आवलिका मे गोपुच्छाकार रूप से स्थापित करता है उसमे मिथ्यात्व का उदय हो और मरण को प्राप्त करे तो भवान्तर मे और मरण न हो तो उसी भव मे आवलिका के चरम समय मे जघन्य प्रदेशोदय होता है। किन्तु मिश्रमोहनीय का उदय होने से मिश्रगुणस्थान मे आया जीव जब तक वह गुणस्थान हो तव तक मरता नही है, अत उसका जघन्य प्रदेशोदय जिस गति मे उपशम सम्यक्त्व से गिर कर मिश्र मे आये वही होता है। सम्यक्त्वमोहन.य का उस गति मे या देवगति मे भी जघन्य प्रदेशोदय हो सकता है।

इसीलिये दर्शनत्रिक के सिवाय शेष अप्रत्याख्यानावरणादि वारह कपाय, पुरुषवेद, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा इन सत्रह प्रकृतियो का देवो मे जघन्य प्रदेशोदय वताया है। तथा—

उवसामइत्तु चउहा अन्तमुहूबधिऊण बहुकाल।
पालिय सम्म पढमाण आवली अंत मिच्छगए ॥१२६॥

शब्दार्थ—**उवसामइत्तु**—उपशमन करके, **चउहा**—चार वार, **अन्तमुहू**—अन्तर्मुहूर्त, **बधिऊण**—बाध कर, **बहुकाल**—दीर्घकाल पर्यन्त, **पालिय**—पालन कर, **सम्म**—सम्यक्त्व, **पढमाण**—प्रथम अनन्तानुवधि के, **आवली अन्त**—आवलिका के अन्त समय में, **मिच्छगए**—मिथ्यात्व में जाकर।

गाथार्थ—चार बार मोहनीय का उपशमन करके और उसके बाद मिथ्यात्व मे जाकर अन्तर्मुहूर्त पर्यंत अनन्तानुबन्धि को बाधकर बाद मे बहुत काल तक सम्यक्त्व का पालन कर मिथ्यात्व को प्राप्त हो और अनन्तानुबन्धि का वन्ध करे तब बन्धावलिका के चरम समय मे उसका जघन्य प्रदेशोदय होता है।

विशेषार्थ—चार बार मोहनीय का उपशमन करने के बाद कोई जीव अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् मिथ्यात्व को प्राप्त करे और मिथ्यात्व के निमित्त से अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त अनन्तानुवन्धिकपाय बाधे। तत्पश्चात् सम्यक्त्व को प्राप्त करे और एक सौ बत्तीस सागरोपम पर्यन्त सम्यक्त्व का पालन कर ओर सम्यक्त्व के प्रभाव से अनन्तानुबन्धिकषाय के पुद्गलो को प्रदेशसक्रम के द्वारा अधिक मात्रा मे क्षय करके पुन. मिथ्यात्व मे जाये और वहाँ मिथ्यात्व के निमित्त से अनन्तानुबन्धि का वन्ध करे तो बन्धावलिका के चरम समय मे पूर्व मे बन्धी हुई अनन्तानुबन्धिकपाय का जघन्य प्रदेशोदय करता है।

यहाँ वन्धावलिका का चरम समय ग्रहण करने का कारण यह है कि वन्धावलिका पूर्ण होने के अनन्तर समय मे पहले समय के बन्धे हुए दलिको का भी उदीरणा द्वारा उदय होने से जघन्य प्रदेशोदय घटित नही होता हे तथा ससार मे एक जीव के चार बार मोहनीय कर्म का सर्वोपशम होता है, इससे अधिक बार न होने मे चार बार मोहनीय का उपशम करने का निर्देश किया है।

कदाचित् यह कहा जाये कि यहाँ मोहनीय के उपशमन का क्या प्रयोजन हे ? तो इसका उत्तर यह है कि मोहनीय का उपशमन करने वाला जीव प्रत्याख्यानावरणादि कषायो के बहुत से दलिको को अन्य प्रकृतियो मे गुणसक्रम द्वारा सक्रान्त करता है। जिससे क्षीणप्रायः हुए उनके दलिक चार बार मोहनीय का उपशम करके मिथ्यात्व

मे आने के बाद मिथ्यात्व के निमित्त से अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त जो a
न्तानुबन्धि का वन्ध करता है, उसमे अत्यल्प ही सक्रमित होते
इसलिये चार वार मोहनीय के उपशम को ग्रहण किया है।

उक्त कथन का साराश यह हुआ कि अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त वाध
एक सौ बत्तीस सागरोपम पर्यन्त सम्यक्त्व के काल मे अनन्तानुवधि
दलिको को दूर करता है। जिससे मिथ्यात्व मे आने के वाद वध
लिका के चरम समय मे जघन्य प्रदेशोदय सभव है। तथा—

इत्थीए सजमभवे सव्वनिरुद्धंमि गतु मिच्छ तो ।

देवी लहु जिट्ठठिई उव्वट्टिय आवली अते ॥१२

शब्दार्थ—इत्थीए—स्त्री, **सजमभवे**—संयम भव मे, **सव्वनिरुद्ध मि**
सबसे जघन्य अन्तर्मुहूर्त के अत में, अतिम समय मे, **गतु**—जाकर, **मिच्छ**
मिथ्यात्व, **तो**—तब, **देवी**—देवी, **लहु**—शीघ्र, **जिट्ठठिई**—उत्कृष्ट स्थि
उव्वट्टिय—उद्‌वर्तना करके, **आवली अते**—आवलिका के अतिम समय में

गाथार्थ—सयमभव की आयु अन्तर्मुहूर्त शेष रहे तब अ
समय मे कोई स्त्री मिथ्यात्व मे जाकर देवी रूप से उत्पन्न
और वहाँ शीघ्र ही स्त्रीवेद की उत्कृष्ट स्थिति की और सत्ता
स्थिति की उद्‌वर्तना करे तो उसे बधावलिका के अतिम स
मे स्त्रीवेद का जघन्य प्रदेशोदय होता है ।

विशेषार्थ—सयम द्वारा उपलक्षित भव यानि सयम द्वारा जो
पहिचाना जाये, जिस भव मे स्वय ने चारित्र का पालन किया है,
सयमभव कहते है। उस भव के अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर मरण
प्राप्त कर देवी रूप से उत्पन्न हो और उस देवी पर्याय मे शीघ्र
पर्याप्तियो को पूर्ण कर स्त्रीवेद की उत्कृष्ट स्थिति का बध करे अ
सत्तागत रहे हुए प्रभूत दलिको की उद्‌वर्तना करे तो जिस समय

उत्कृष्ट स्थितिबध और बहुत से दलिको की उद्वर्तना हुई उस समय से लेकर बधावलिका के चरम समय मे स्त्रीवेद का जघन्य प्रदेशोदय होता है ।

उक्त कथन का तात्पर्य यह हुआ कि क्षपितकर्माश कोई स्त्री देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त सयम का पालन कर अन्तर्मुहूर्त आयु के शेष रहने पर मिथ्यात्व मे जाकर उत्तरवर्ती भव मे देवी रूप से उत्पन्न हो और वहाँ शीघ्र पर्याप्तियो को पूर्ण करे और उस पर्याप्त अवस्था मे उत्कृष्ट सक्लेश मे वतमान वह स्त्री स्त्रीवेद की उत्कृष्ट स्थिति का बध करे और पूर्ववद्ध की उद्वर्तना करे तो उस उत्कृष्ट स्थितिबध से लेकर आवलिका के चरम समय मे स्त्रीवेद का जघन्य प्रदेशोदय होता है ।

यहाँ देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त आदि कहने का कारण यह है कि देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त चारित्र मे स्त्रीवेद का बध नही करता है, मात्र पुरुष-वेद का ही बध करता है और उसमे स्त्रीवेद सक्रात करता है, जिससे स्त्रीवेद के दलिक कम होते है । इसीलिये देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त सयम पालन करने का विधान किया है । ऊपर के गुणस्थानो मे यदि मरण को प्राप्त हो तो बाद के भव मे पुरुष होता है किन्तु स्त्री नही, इसीलिये अतिम अन्तर्मुहूत मे मिथ्यात्व मे जाना सूचित किया है । अपर्याप्त अवस्था मे उत्कृष्ट स्थिति का बध नही होता है, अत पर्याप्त अवस्था हो, यह बताया है और उत्कृष्ट स्थिति का बध इसलिये कहा कि उस समय उद्वर्तना अधिक प्रमाण मे होती है और अधिक प्रमाण मे उद्वर्तना होने से नीचे के स्थान मे दलिक अत्यल्प प्रमाण मे रहते हैं, जिससे बधावलिका के चरम समय मे जघन्य प्रदेशोदय होता है । आवलिका का चरम समय इसलिये बताया है कि बधावलिका के पूर्ण होने के बाद बधे हुए भी उदीरणा से उदय मे आते है और ऐसा होने मे जघन्य प्रदेशोदय नहीं होता है । इसलिये बधावलिका का चरम समय ग्रहण किया है । तथा—

अप्पद्धाजोगसमज्जियाण आऊण जिट्ठठिइअंते ।
उवरि थोवनिसेगे चिर तिव्वासायवेईण ॥१२८॥

शब्दार्थ—**अप्पद्धाजोगसमज्जियाण**—अल्प अद्धा (वधकाल) और योग से अर्जित-बद्ध, **आऊण**—चारो आयु की, **जिटठठिईअते**—उत्कृष्ट स्थिति के अत में, **उवरिं**—उपर, **थोवनिसेगे**—स्तोक निपक वाले, **चिर**—अधिक समय, **तिव्वासायवेईण**—तीव्र असाता का वेदन करने वाले के ।

गाथार्थ—अल्प काल और योग द्वारा वद्ध चारो आयु की उत्कृष्ट स्थिति के अत मे स्तोक निपेक वाले ऊपर के स्थान मे वर्तमान अधिक समय तक तीव्र असाता का वेदन करने वाले के चारो आयु का जघन्य प्रदेशोदय होता है ।

विशेषार्थ—अल्पातिअल्प जितने समय और योग द्वारा आयु का उत्कृष्ट स्थितिवध हो सकता है, उतने काल और योग द्वारा बद्ध उत्कृष्ट स्थिति वाली चारो आयु की जिस स्थान में कम से कम दलरचना हुई है उस चरम स्थान मे वर्तमान सुदीर्घकाल तक तीव्र असातावेदनीय के द्वारा विह्वल हुए क्षपितकर्माश जीव के जिस आयु का उदय हो, उसका जघन्य प्रदेशोदय होता है ।

अल्प काल द्वारा बहुत बार आयु का बध और अल्प योग द्वारा अधिक दलिक का ग्रहण नही हो सकने के कारण यहाँ अल्प काल और अल्प योग का और तीव्र असातावेदनीय द्वारा विह्वल हुए जीवो के आयु के अधिक प्रमाण मे पुद्गलो का क्षय होने से यहाँ तीव्र असाता का वेदन करने वाले जीव का ग्रहण किया है तथा अतिम स्थान म निषेकरचना अत्यल्प प्रमाण होती है और उदय, उदीरणा द्वारा अधिक दलिको का क्षय होता है, जिससे चरम स्थान मे बहुत ही कम दलिक शेष रहते है । इसीलिये जघन्य प्रदेशोदय के लिये चरम स्थान का ग्रहण किया है । तथा—

संजोयणा विजोजिय जहन्नदेवत्तमंतिममुहुत्ते ।
बंधिय उक्कोस्सठिइं गतूणेगिंदियासन्नी ॥१२६॥

सव्वलहु नरयगए नरयगई तम्मि सव्वपज्जत्ते ।
अणुपुव्विसगइतुल्ला ता पुण नेया भवाइम्मि ॥१३०॥

शब्दार्थ—संजोयणा—संयोजना, अनन्तानुबंधि की, विजोजिय—विसंयोजना करके, जहन्नदेवत्त—जघन्य आयु वाला देवपना, अन्तिममुहुत्ते—अन्तिम-मुहूर्त में, बंधिय—बांधकर, उक्कोस्सठिइ—उत्कृष्ट स्थिति को, गतूण—जाकर, एगिंदियासन्नी—एकेन्द्रिय से असंज्ञी में ।

सव्वलहु—शीघ्र, नरयगए—नरक में जाकर, नरयगई—नरकगति, तम्मि—उसमें, सव्वपज्जत्ते—सम्पूर्ण पर्याप्तियों से पर्याप्त, अणुपुव्वि—आनुपूर्वी का, सगइतुल्ला—अपनी-अपनी गति के तुल्य, ता—वह, पुण—पुन, नेया—जानना चाहिए, भवाइम्मि—भव के आदि समय में ।

गाथार्थ—संयोजना (अनन्तानुबंधि) की विसंयोजना करके जघन्य आयु वाला देवपना प्राप्त कर उसके अन्तिम मुहूर्त में एकेन्द्रिय के योग्य उत्कृष्ट स्थिति बांध कर और उस एकेन्द्रिय से असंज्ञी में जाकर वहाँ से शीघ्र नरक में उत्पन्न हो तब सम्पूर्ण पर्याप्तियों से पर्याप्त उस नारक के नरकगति का जघन्य प्रदेशोदय होता है तथा चारों आनुपूर्वियों का जघन्य प्रदेशोदय अपनी-अपनी गति के तुल्य है किन्तु अपने-अपने भव के पहले समय में समझना चाहिए ।

विशेषार्थ—कोई जीव अनन्तानुबंधि की विसंयोजना करने[1] के

---

१ यहाँ अनन्तानुबंधि की विसंयोजना करना कहने का कारण यह है कि उसकी विसंयोजना करने पर शेष समस्त कर्मों के भी अधिक परिमाण में पुद्गल क्षय होते हैं ।

बाद जघन्य आयु वाला देवत्व प्राप्त करे और वहाँ अन्तिम मुहूर्त मे मिथ्यात्व मे जाकर एकेन्द्रिययोग्य प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति बाध कर सक्लिष्ट परिणाम वाले एकेन्द्रिय मे उत्पन्न हो और वहाँ मात्र अन्तर्मुहूर्त रहकर असज्ञी पचेन्द्रिय मे उत्पन्न हो[1] और उस असज्ञी भव मे अन्य असज्ञी जीवो की अपेक्षा शीघ्र मरकर नरक मे उत्पन्न हो और वहाँ शीघ्र समस्त पर्याप्तियो से पर्याप्त हो तो उस समस्त पर्याप्तियो से पर्याप्त नारक के नरकगति का जघन्य प्रदेशोदय होता है।

इसका कारण यह है कि पर्याप्त जीव के बहुत सी प्रकृतियो का विपाकोदय होता है और विपाकोदय प्राप्त प्रकृतिया स्तिवुकसक्रम द्वारा अन्यत्र सक्रान्त नही होती हैं। इसलिये अन्य प्रकृतियो के दलिक सक्रम द्वारा सक्रमित नही होते है। जिससे उदयप्राप्त नरकगति का जघन्य प्रदेशोदय सम्भव है।[2]

'अणुपुव्विसगइतुल्ला' अर्थात् चारो आनुपूर्वियो का जघन्य प्रदेशोदय अपनी-अपनी गति की तरह जानना चाहिये। यानि जिस रीति से गति के जघन्य प्रदेशोदय की विचारणा की गई है, उसी प्रकार चारो आनुपूर्वियो की भावना भी कर लेना चाहिये। परन्तु इतना

---

१ देव सीधा असज्ञी पचेन्द्रिय में उत्पन्न नही होता है, इसलिए एकेन्द्रिय में उत्पन्न होकर असज्ञी में उत्पन्न होना कहा है।

२ यहाँ प्रश्न होता है कि नारक को अपनी आयु के चरम समय में नरकगति का जघन्य प्रदेशोदय होता है, यह क्यो नही कहा ? क्योकि उदय, उदीरणा द्वारा बहुत से दलिक भोगे जाने के कारण कम होते हैं एव बधती हुई तिर्यंच, मनुष्य गति में सक्रान्त हो जाने से भी कम दलिक हो जाते हैं और ऊपर-ऊपर के स्थानो में निषेकरचना भी अल्प-अल्प होती है, जिससे अपनी-अपनी आयु के चरम समय में जघन्य प्रदेशोदय होना कहना चाहिए। किन्तु ऐसा नही कहने का क्या कारण है ? विद्वज्जन समाधान करने की कृपा करें।

विशेष है कि भव के प्रथम समय मे उनका जघन्य प्रदेशोदय होना समझना चाहिये—"ता पुण नेया भवाइम्मि'। इसका कारण यह है कि आनुपूर्वियो का उदय विग्रहगति मे होता है और विग्रहगति तीन समय तक होती है। उसमे भी तीसरे समय जिसकी बन्धावलिका व्यतीत हो गई है, ऐसी अन्य लता भी उदय मे आती है, जिससे जघन्य प्रदेशोदय नही होता है। इसीलिये भव के प्रथम समय का ग्रहण किया है। तथा—

देवगई ओहिसमा नवर उज्जोयवेयगो जाहे ।
चिरसंजमिणो अते आहारे तस्स उदयम्मि ॥१३१॥

शब्दार्थ—**देवगई**—देवगति का, **ओहिसमा**—अवधिज्ञानावरण के समान, **नवर**—किन्तु, **उज्जोयवेयगो**—उद्योत का वेदक हो, **जाहे**—जब, **चिरसंजमिणो**—चिरसयमी, **अंते**—अत समय में, **आहारे**—आहारक का, **तस्स**—उसका, **उदयम्मि**—उदय होने पर।

गाथार्थ—देवगति का जघन्य प्रदेशोदय अवधिज्ञानावरण के समान समझना चाहिये। किन्तु जब उद्योत का वेदक हो तब जानना चाहिये तथा चिरसयमी के अत समय मे आहारक का उदय होने पर उसका जघन्य प्रदेशोदय होता है।

विशेषार्थ—'देवगई ओहिसमा' अर्थात् देवगति का जघन्य प्रदेशोदय पूर्व मे बताये गये अवधिज्ञानावरण के जघन्य प्रदेशोदय के अनुरूप जानना। किन्तु इतना विशेष है कि उद्योत का उदय हो तब देवगति का जघन्य प्रदेशोदय जानना चाहिये।

उद्योत का उदय हो तब देवगति का जघन्य प्रदेशोदय होने का कारण यह है कि जब तक उद्योत का उदय नही होता है, तब तक स्तिवुकसक्रम के द्वारा देवगति मे उद्योत के दलिक सक्रान्त होने से देवगति का जघन्य प्रदेशोदय सभव नही है। किन्तु जब उद्योत का

उदय होता है, तब उसका स्तिबुकसक्रम नही होता है। इसीलिये उद्योत का जब उदय हो तब देवगति का जघन्य प्रदेशोदय होता है, यह कहा है। उद्योत का उदय पर्याप्त के होता है, अपर्याप्त के नही, इसलिये पर्याप्तावस्था मे देवगति का जघन्य प्रदेशोदय होना जानना चाहिये।

'चिरसजमिणो अते 'इत्यादि अर्थात् देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त जिसने चारित्र का पालन किया ऐसा चौदह पूर्वधारी अतिम काल मे आहारक शरीरी हो तब उसे आहारकसप्तक और उद्योत के विपाकोदय मे रहते आहारकसप्तक का जघन्य प्रदेशोदय होता है। इसका कारण यह है कि दीर्घकाल तक चारित्र का पालन करने से अधिक पुद्गलो का क्षय होता है। इसीलिये चिरकाल सयमी के जघन्य प्रदेशोदय कहा है और उद्योत के उदय के ग्रहण करने का कारण पूर्व कथनानुरूप यहाँ भी समझ लेना चाहिये। तथा—

सेसाण चक्खुसम तमिव अन्नमि वा भवे अचिरा।
तज्जोगा बहुयाओ ता ताओ वेयमाणस्स ॥१३२॥

शब्दार्थ—**सेसाण**—शेप प्रकृतियो का, **चक्खुसम**—चक्षुदर्शनावरण के समान, **तमिव**—उसी के समान, **अन्नमि**—अन्य दूसरे, **वा**—अथवा, **भवे**—भव मे, **अचिरा**—शीघ्र, एकदम, **तज्जोगा**—उस उसके योग्य, **बहुयाओ**—बहुतसी, **ता ताओ**—उन-उन प्रकृतियो का, **वेयमाणस्स**—वेदन करने वाले के।

गाथार्थ—चक्षुदर्शनावरण के समान शेष प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशोदय उसी (एकेन्द्रिय के) भव मे अथवा यदि उस-उस प्रकृति का उस भव मे उदय न होता हो तो उस-उस प्रकृति के उदययोग्य अन्य भव मे उस भव के योग्य बहुत सी प्रकृतियो का वेदन करने वाले के जानना चाहिये।

विशेषार्थ—जघन्य प्रदेशोदय के स्वामित्व का उपसहार करते हुए अत मे पूर्वोक्त से शेष रही प्रकृतियो के स्वामित्व का निर्देश करते हैं—

'मेसाण' अर्थात् पूर्व मे जिन प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व कहा है, उनके सिवाय शेप रही सभी प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशोदय एकेन्द्रिय मे उत्पन्न हो, वहाँ तक चक्षुदर्शनावरण की तरह समझना चाहिये। इसका आशय यह हुआ कि जिन प्रकृतियो का एकेन्द्रिय भव मे उदय हो, उनका तो उसी भव मे दीर्घकाल पर्यन्त वेदन करने वाले क्षपितकर्मांश जीव के जघन्य प्रदेशोदय जानना चाहिये। किन्तु उनसे शेष रही प्रकृतियो का अन्य भव मे जघन्य प्रदेशोदय जानना चाहिये। ऐसी प्रकृतियो के नाम हैं—

मनुष्यगति, द्वीन्द्रियदि जातिचतुष्क, आदि के पाच सस्थान, औदारिक-अगोपाग, वैक्रिय-अगोपाग, छह सहनन, विहायोगतिद्विक, त्रस, सुभग, सुस्वर, दु स्वर और आदेय। इन पच्चीस प्रकृतियो का एकेन्द्रिय के भव मे उदय सभव नही है। अत इन प्रकृतियो का एकेन्द्रिय के भव मे से एकदम निकलकर उन-उन प्रकृतियो के उदययोग्य भवो मे उत्पन्न हुए क्षपितकर्मांश जीव को उस-उस भवयोग्य बहुत-सी प्रकृतियो का वेदन करते हुए जघन्य प्रदेशोदय होता है।

उस-उस भव के योग्य बहुत-सी प्रकृतियो का उदय पर्याप्त के होता है, अपर्याप्त के नही। अत सभी पर्याप्तियो से पर्याप्त के जघन्य प्रदेशोदय होना समझना चाहिए। क्योकि पर्याप्त जीव के बहुत-सी प्रकृतियो का उदय होता है और उदयप्राप्त प्रकृतियो का स्तिवुकसक्रम नही होता है। जिससे उसको विवक्षित प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशोदय घटित होता है।[1]

तीर्थंकरनामकर्म का जघन्य प्रदेशोदय क्षपितकर्मांश तीर्थंकर परमात्मा को उदय के प्रथम समय मे जानना चाहिये। क्योकि उसके

---

१ पर्याप्त को होता है, यह सकेत गाथा में नही है, लेकिन पूर्वापर सम्बन्ध और विवेचन के सामर्थ्य से उसका ग्रहण समझ लेना चाहिये।

बाद के समयो मे गुणश्रेणि द्वारा स्थापित अधिक दलिको व
होने से जघन्य प्रदेशोदय नही होता है ।

इस प्रकार से जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व का विचार कर
उदयाधिकार का विवेचन पूर्ण हुआ ।

सत्ताधिकार

अब क्रमप्राप्त सत्ताधिकार का विवेचन प्रारम्भ करते है ।
सत्कर्म के चार प्रकार हैं—प्रकृतिसत्कर्म, स्थितिसत्कर्म, ३
सत्कर्म और प्रदेशसत्कर्म। इन चारो मे से पहले प्रकृतिसत्
प्ररूपणा करते हैं। प्रकृतिसत्ता के विषय मे दो अनुयोगद्वा
सादि-अनादि प्ररूपणा और स्वामित्व। इनमे से सादि-अनादि
के दो प्रकार है—मूलप्रकृतिविषयक, उत्तरप्रकृतिविषयक
वक्तव्य होने से पहले मूलप्रकृतिसम्बन्धी सादि-अनादि प्ररूपण
है—

मूलप्रकृतियो की सत्ता के अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस
तीन प्रकार है। इसका कारण यह है कि सदैव सद्भाव हो
मूलकर्म की सत्ता अनादि है, अभव्य के ध्रुव और भव
अध्रुव है ।

इस प्रकार से मूल प्रकृतियो सम्बन्धी सादि आदि भगो का वि
जानना चाहिये। अब उत्तरप्रकृतियो के सादि आदि भगो का वि
करते है ।

उत्तरप्रकृतियो की सादि-अनादि प्ररूपणा

पढम कसाया चउहा तिहा धुव साई अद्धुवं सतं ।

शब्दार्थ—पढमकसाया—प्रथमकषाय, चउहा—चार प्रकार
तिहा—तीन प्रकार की, धुव—ध्रुव प्रकृतियो की, साइ—सादि, अद्धुव
अध्रुव, सत—सत्ता ।

गाथार्थ—प्रथमकषाय की सत्ता चार प्रकार की है। शेष ध्रुव प्रकृतियो की सत्ता तीन प्रकार की और अध्रुव प्रकृतियो की सत्ता सादि और अध्रुव है।

विशेषार्थ—सत्ता की अपेक्षा प्रकृतियो के दो प्रकार है—ध्रुवसत्ता वाली और अध्रुवसत्ता वाली। ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतिया एक सौ तीस और अध्रुवसत्ता वाली अट्ठाईस प्रकृतिया है। उनमे से पहले ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियो के सादि आदि भगो को बतलाते है—

'पढमकसाया चउहा' अर्थात् पहली अनन्तानुबधिकषाये सत्ता की अपेक्षा सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार की हैं। जिसका कारण यह है—सम्यग्दृष्टि किसी जीव ने अनन्तानुबधि की विसयोजना की और उसके बाद सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व को प्राप्त हो मिथ्यात्व के निमित्त से पुन अनन्तानुबधि का बध करे तब उसकी सत्ता सादि है। उस स्थान को जिसने प्राप्त नही किया, उसकी अपेक्षा अनादि, ध्रुव और अध्रुव क्रमश अभव्य और भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये।

अनन्तानुबधि के सिवाय एक सौ छब्बीस ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतिया सत्ता की अपेक्षा अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह तीन प्रकार की है। ध्रुवसत्ता वाली होने से ये सभी प्रकृतिया अनादिकाल से सत्ता मे होने के कारण अनादि है। अभव्य के इन प्रकृतियो की सत्ता का कभी भी नाश न होने से ध्रुव और भव्य मोक्ष जाने पर इन सब प्रकृतियो का नाश करेगा, इसलिये अध्रुव है।

इन ध्रुवसत्कर्म प्रकृतियो से शेष रही अध्रुवसत्ता वाली प्रकृतिया सादि और अध्रुव इस तरह दो प्रकार की हैं। इनका सादित्व और अध्रुवत्व इन प्रकृतियो की सत्ता अध्रुव होने से समझ लेना चाहिए। ये अध्रुवसत्ता वाली प्रकृतिया अट्ठाईस हैं। जिनके नाम इस प्रकार है—

सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, मनुष्यद्विक, देवद्विक, नरकद्विक, वैक्रियसप्तक, आहारकसप्तक, तीर्थंकरनाम, उच्चगोत्र और आयुचतुष्क।

इस प्रकार से मूल और उत्तर प्रकृतियो के सादि आदि भगो को जानना चाहिये।

अब इन सत्ता प्रकृतियो के स्वामित्व का विचार करते है कि किस कर्मप्रकृति की सत्ता का कौन स्वामी है। स्वामित्व विचार के दो भग है—एक-एक प्रकृति की सत्ता का स्वामी कौन है ? और अनेक प्रकृतियो के समूह की सत्ता का स्वामी कौन है ? इनमे से पहले एक-एक प्रकृति की सत्ता के स्वामित्व का निरूपण प्रारम्भ करते है।

एक-एक प्रकृतिविषयक सत्तास्वामित्व

दुचरिमखीणभवन्ता निद्दादुग चोद्दसाऊणि ॥१३३॥

शब्दार्थ—दुचरिम—द्विचरम और चरम समय, खीण—क्षीणमोहगुणस्थान, भवन्ता—भव के अत पर्यन्त, निद्दादुग—निद्राद्विक, चोद्दसाऊणि—चौदह प्रकृतियो और आयुचतुष्क की।

गाथार्थ—क्षीणमोहगुणस्थान के द्विचरम और चरम समय एव भव के अत पर्यन्त क्रमश निद्राद्विक, ज्ञानावरणपचक आदि चौदह प्रक्रातयो और आयुचतुष्क की सत्ता है।

विशेषार्थ—सत्तास्वामित्व का विचार करने के सदर्भ मे यह जानना चाहिए कि जिस गुणस्थान तक जिन प्रकृतियो की सत्ता का निर्देश किया जाए, उनकी सत्ता के स्वामी पहले मिथ्यादृष्टिगुणस्थान से लेकर उस गुणस्थान तक के सभी जीवो को समझना चाहिए।

अब इस नियम के अनुसार सत्तास्वामित्व का विचार प्रारम्भ करते है—

गाथागत दुचरिम आदि पदो का सम्बन्ध अनुक्रम से इस प्रकार करना चाहिए कि क्षीणमोहगुणस्थान के द्विचरम-उपान्त्य समयपर्यन्त निद्राद्विक—निद्रा और प्रचला—की सत्ता होती है। इसके बाद उनकी सत्ता नही है। इसका आशय यह हुआ कि मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीण-

मोहगुणस्थान पर्यन्त के सभी जीव निद्राद्विक की सत्ता के स्वामी है। इसी प्रकार क्षीणमोहगुणस्थान के चरम समय पर्यन्त ज्ञानावरणपचक, अतरायपचक और दर्शनावरणचतुष्क इन चौदह प्रकृतियो की सत्ता है, आगे नही होती है।

चारो आयु की अपने-अपने भव के अत समय पर्यन्त सत्ता होती है, अनन्तरवर्ती भव मे नही होती है। तथा—

तिसु मिच्छत्त नियमा अट्ठसु ठाणेसु होई भइयव्व ।
सासायणमि नियमा सम्मं भज्जं दससु सत ॥१३४॥

शब्दार्थ—तिसु—तीन मे मिच्छत्त—मिथ्यात्व, नियमा—अवश्य, नियम से, अट्ठसु—आठ, ठाणेसु—गुणस्थानो मे, होइ—होती है, भइयव्व—भजना से, सासायणमि—सासादन मे, नियमा—अवश्य, सम्म—सम्यक्त्व, भज्ज—भजना से, दससु—दस गुणस्थानो मे, सत—सत्ता।

गाथार्थ—आदि के तीन गुणस्थानो मे मिथ्यात्व की सत्ता अवश्य होती है और उसके बाद के आठ गुणस्थानो मे भजना से तथा सासादन मे सम्यक्त्वमोहनीय की अवश्य सत्ता होती है और दस गुणस्थानो मे भजना से होती है।

विशेषार्थ—गाथा मे मिथ्यात्व और सम्यक्त्व मोहनीय की निश्चित और भजनीय सत्ता का निर्देश किया है। इनमे से पहले मिथ्यात्व की सत्ता का विचार करते है—

'तिसु मिच्छत्त नियमा' आदि के तीन—मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र—गुणस्थानो मे मिथ्यात्वमोहनीय की सत्ता नियम से (अवश्य) होती है और 'अट्ठसु ठाणेसु होइ भइयव्व' अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर उपशातमोह गुणस्थान पर्यन्त आठ गुणस्थानो मे भजना मे होती है। यानि सत्ता होती भी है और नही भी होती है। जो इस प्रकार जानना चाहिए—

अविरतसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानो मे क्षायिक सम्यक्त्व का उपार्जन करते हुए जिन्होने मिथ्यात्व का क्षय किया है, उनके तो

मिथ्यात्व की सत्ता नही होती है, किन्तु उपशमन किया हो तो उप-शम सम्यक्त्वी के सत्ता होती है। क्षीणमोह आदि गुणस्थानो मे मिथ्यात्व की सत्ता का अवश्य अभाव हे।

साराश यह है कि सम्यग्दृष्टि दो प्रकार के है—उपशम सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि। उनमे से उपशम सम्यक्त्वी के तो मिथ्यात्व की सत्ता होती है, लेकिन क्षायिक सम्यग्दृष्टि के सत्ता नही पाई जाती है। इसीलिए चौथे अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान से लेकर उपशात-मोहगुणस्थान पर्यन्त आठ गुणस्थानो मे मिथ्यात्व की सत्ता को भज-नीय बताया है।

'सासायणमि नियमा सम्म' अर्थात् दूसरे सासादनगुणस्थान मे सम्यक्त्वमोहनीय की सत्ता अवश्य होती है। क्योकि सासादनगुण-स्थान मे मोहनीय की अट्ठाईस प्रकृतियो की सत्ता है और सम्यक्त्व मोहनोयकर्म की प्रकृति है। अतएव दूसरे गुणस्थान मे सम्यक्त्वमोहनीय की सत्ता अवश्य होती है और 'भज्ज दससु' यानि सासादन को छोडकर मिथ्यात्न से लेकर उपशातमोहगुणस्थान तक के दस गुणस्थानो मे भजना से होती है। जो इस प्रकार जानना चाहिए—

मिथ्यात्वगुणस्थान मे अभव्य के और अभी तक भी जिसने सम्यक्त्व प्राप्त नही किया ऐसे भव्य के सम्यक्त्वमोहनीय की सत्ता होती ही नही है और उपशम सम्यक्त्व से गिरकर आए हुए भव्य के जब त्क उद्वलना नही करे तब तक सत्ता होती है तथा ऊपर के गुणस्थान से गिरकर मिश्रगुणस्थान प्राप्त करे तो उसके मिश्रगुणस्थान मे सम्य-क्त्वमोहनीय की अवश्य सत्ता होती है, लेकिन पहले गुणस्थान मे सम्यक्त्वमोहनोय की उद्वलना कर मिश्रगुणस्थान प्राप्त करे तो उसे सत्ता नही होती है। चौथे से ग्यारहवे गुणस्थान तक क्षायिक सम्यक्त्वी के सत्ता नही होती है, किन्तु उपशम, क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि वाले के होती है। इसी कारण दस गुणस्थानो मे सम्यक्त्वमोहनीय की सत्ता भजना से कही है। बारहवे आदि गुणस्थानो मे तो सम्यक्त्व-मोहनीय का सत्ता होती ही नही है। तथा—

क्षपक के अनिवृत्तिबादरसपरायगुणस्थान मे जिस स्थान पर आठ कषायो का क्षय हुआ है, उस स्थान से सख्यात स्थितिखडो पर्यन्त यानि अनिवृत्तिबादरसपरायगुणस्थान के जिस समय मे आठ कषायो का क्षय हुआ है, उस समय से लेकर सख्याता स्थितिघात जितने समय हो उतने समय पर्यन्त निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि इस स्त्यानर्द्धित्रिक और स्थावर आदि नामकर्म की तेरह प्रकृतियो की सत्ता होती है। उसके बाद नही होती है। इसका कारण यह है कि उतने काल मे उनका क्षय होता है। किन्तु उपशमश्रेणि की अपेक्षा उपशातमोहगुणस्थान पर्यन्त सत्ता होती है।

स्थावर आदि तेरह प्रकृतियो के नाम इस प्रकार है—

थावरतिरिगइदोदो आयावेगिदिविगलसाहार।
नरयदुगुज्जोयाणि य दसाइमेगततिरिजोग्गा ॥१३७॥

शब्दार्थ—**थावरतिरिगइदोदो**—स्थावरद्विक और तिर्यंचद्विक, **आयाव**—आतप, **एगिंदि**—एकेन्द्रिय, **विगल**—विकलेन्द्रियत्रिक **साहार**—साधारण, **नरयदुग**—नरकद्विक, **उज्जोयाणि**—उद्योत, **य**—और, **दसाइम**—इनमे से आदि की दस **एगततिरिजोग्गा**—एकान्तत तिर्यंचप्रायोग्य।

गाथार्थ—स्थावरद्विक, तिर्यंचद्विक, आतप, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियत्रिक, साधारण, नरकद्विक और उद्योत ये नामकर्म की तेरह प्रकृतिया है। इनमे से आदि की दस एकातत तिर्यंचप्रायोग्य है।

विशेषार्थ—स्थावर और सूक्ष्म रूप स्थावरद्विक, तिर्यंचगति और तिर्यंचानुपूर्वी रूप तिर्यंचद्विक, आतप, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति रूप विकलेन्द्रियत्रिक, साधारण, नरकगति, नरकानुपूर्वी रूप नरकद्विक और उद्योत—ये स्थावर आदि नामकर्म की तेरह प्रकृतिया हैं। इनमे से स्थावर से लेकर चतुरिन्द्रिय जाति पर्यन्त दस प्रकृतियो का उदय मात्र तिर्यंचगति मे ही होने से एकान्त-

'सासायणत नियमा' सासादनगुणस्थान पर्यन्त 'पढमा' प्रथम अनन्तानुवधिकपायो की सत्ता नियम से होती है। इसका कारण यह है कि मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानवर्ती जीव अनन्तानुवधिकषायो का अवश्य वध करते है। जिससे इन दो गुणस्थानो मे अवश्य सत्ता होती है और उसके वाद के मिश्रगुणस्थान से लेकर अप्रमत्तगुणस्थान तक के पाच गुणस्थानो मे इनकी सत्ता भजनीय है—'पचसु भज्जा'। क्योकि यदि उद्वलना की हो तो सत्ता नही होती है, अन्यथा होती है। इसी कारण अनन्तानुवधिकपायो की सत्ता मिश्र आदि गुणस्थानो मे भजनीय कही है। तथा—

मज्झिल्लट्ठकसाया ता जा अणियट्टिखवगसंखेया।
भागा ता संखेया ठिइखडा जाव गिद्धितिग ॥१३६॥

शब्दार्थ—मज्झिल्लट्ठकसाया—मध्यम आठ कषायो, ता—तब तक, जा—जब तक, अणियट्टि—अनिवृत्तिबादरगुणस्थान, खवग—क्षपक के, सखेया—सख्यात, भाग—भाग, ता—तब तक सखेया—सख्यात, ठिइखंडा—स्थितिखड, जाव—तक, गिद्धितिग—स्त्यानर्द्धित्रिक।

गाथार्थ—मध्यम आठ कषायो की सत्ता तब तक जानना चाहिए जब तक क्षपक के अनिवृत्तिबादरगुणस्थान के सख्यात भाग होने है अर्थात् क्षपक के अनिवृत्तिबादरगुणस्थान के सख्यात भाग पर्यन्त मध्यम आठ कषायो की और उसके बाद सख्यात भाग पर्यन्त स्त्यानर्द्धित्रिक की सत्ता होती है।

विशेषार्थ—अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि चतुष्क को मध्यम आठ कषाय कहते है। इन आठ कषायो की क्षपक के अनिवृत्तिबादरसपरायगुणस्थान के सख्याता भाग पर्यन्त सत्ता होती है, उसके बाद उनका क्षय होने से सत्ता नही रहती है। किन्तु उपशमश्रेणि की अपेक्षा तो उपशातमोहगुणस्थान पर्यन्त सत्ता जानना चाहिए। तथा—

क्षपक के अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान मे जिस स्थान पर आठ कषायो का क्षय हुआ है, उस स्थान से संख्यात स्थितिखडो पर्यन्त यानि अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान के जिस समय मे आठ कषायों का क्षय हुआ है, उस समय से लेकर संख्याता स्थितिघात जितने समय हो उतने समय पर्यन्त निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि इस स्त्यानर्द्धित्रिक और स्थावर आदि नामकर्म की तेरह प्रकृतियो की सत्ता होती है। उसके बाद नही होती है। इसका कारण यह है कि उतने काल मे उनका क्षय होता है। किन्तु उपशमश्रेणि की अपेक्षा उपशातमोहगुणस्थान पर्यन्त सत्ता होती है।

स्थावर आदि तेरह प्रकृतियो के नाम इस प्रकार है—

थावरतिरिगइदोदो आयावेगिदिविगलसाहार।
नरयदुगुज्जोयाणि य दसाइमेगततिरिजोग्गा ॥१३७॥

शब्दार्थ—थावरतिरिगइदोदो—स्थावरद्विक और तिर्यंचद्विक, आयाव—आतप, एगिंदि—एकेन्द्रिय, विगल—विकलेन्द्रियत्रिक साहार—साधारण, नरयदुग—नरकद्विक, उज्जोयाणि—उद्योत, य—और, दसाइम—इनमे से आदि की दस एगततिरिजोग्गा—एकान्तत तिर्यंचप्रायोग्य।

गाथार्थ—स्थावरद्विक, तिर्यंचद्विक, आतप, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियत्रिक, साधारण, नरकद्विक और उद्योत ये नामकर्म की तेरह प्रकृतिया है। इनमे से आदि की दस एकातत तिर्यंचप्रायोग्य है।

विशेषार्थ—स्थावर और सूक्ष्म रूप स्थावरद्विक, तिर्यंचगति और तिर्यंचानुपूर्वी रूप तिर्यंचद्विक, आतप, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति रूप विकलेन्द्रियत्रिक, साधारण, नरकगति, नरकानुपूर्वी रूप नरकद्विक और उद्योत—ये स्थावर आदि नामकर्म की तेरह प्रकृतिया है। इनमे से स्थावर से लेकर चतुरिन्द्रिय जाति पर्यन्त दस प्रकृतियो का उदय मात्र तिर्यंचगति मे ही होने से एकान्त-

तिर्यचप्रायोग्य प्रकृतिया है। अत जहाँ कही भी एकान्ततिर्यंच-प्रायोग्य प्रकृतियो का उल्लेख किया जाये वहाँ इन दस प्रकृतियो को समझना चाहिए। तथा—

एव नपु सगित्थी संत छक्क च बायर पुरिसुदए।
समऊणाओ दोन्निउ आवलियाओ तओ पुरिस ॥१३८॥

शब्दार्थ—एव—इसी प्रकार, **नपु सगित्थी**—नपु सक वेद और स्त्रीवेद, **सत**—सत्ता, **छक्क**—हास्यादि षट्क, **च**—और, **बायर**—बादरसपराय-गुणस्थान, **पुरिसदए**—पुरुषवेद के उदय मे, **समऊयाणो**—समय न्यून, **दोन्निउ**—दो, **आवलियाओ**—आवलिका, **तओ**—उसके बाद, **पुरिस**—पुरुषवेद का।

गाथार्थ—इसी प्रकार पुरुषवेद के उदय मे श्रेणि आरम्भ करने वाला बादरसपरायगुणस्थान मे नपु सकवेद, स्त्रीवेद और हास्यादि षट्क का और उसके बाद समय न्यून दो आवलिका मे पुरुषवेद का क्षय करता है।

विशेषार्थ— गाथा मे क्षपकश्रेणि के आरभक की अपेक्षा नपु सक-वेद, स्त्रीवेद हास्यादि षट्क और पुरुषवेद की सत्ता का विचार किया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

इसी प्रकार अर्थात् मध्यम आठ कषायो का क्षय करने के अनन्तर संख्यात स्थितिखण्डो का अतिक्रमण करने के बाद जैसे स्त्यानर्द्धित्रिक और स्थावर आदि नामकर्म की तेरह कुल मिलाकर सोलह प्रकृतियो का क्षय किया, उसी प्रकार सोलह प्रकृतियो का क्षय करने के बाद सख्याता स्थितिखण्डो के व्यतीत होने पर नपु सकवेद का क्षय होता है और जब तक उसका नाश नही होता तब तक उसकी सत्ता होती है।

नपु सकवेद के क्षय के बाद सख्यात स्थितिखण्डो का अतिक्रम होने

पर स्त्रीवेद का नाश होता है। अत उसको भी जब तक क्षय न हो, तब तक सत्ता जानना चाहिए।[1]

स्त्रीवेद के पश्चात् सख्यात स्थितिखण्डो का अतिक्रमण होने के बाद हास्यादि षट्क का क्षय और हास्यादि षट्क का क्षय होने के अनन्तर समयन्यून दो आवलिका काल मे पुरुषवेद की सत्ता का क्षय होता है।[2]

अब स्त्रीवेद और नपु सकवेद के उदय मे क्षपकश्रेणि स्वीकार करने वाले की अपेक्षा सत्ता का निर्देश करते है—

इत्थीउदए नपुस इत्थीवेयं च सत्तग च कमा ।
अपुमोदयमि जुगव नपु सइत्थी पुणो सत्त ॥१३९॥

शब्दार्थ—इत्थीउदए—स्त्रीवेद के उदय में, नपु स—नपु सकवेद को, इत्थीवेयं—स्त्रीवेद को, च—और, सत्तग—सात प्रकृतियो को, च—तथा, कमा—क्रम से, अपुमोदयमि—नपु सकवेद के उदय मे, जुगव—एक साथ, नपु स—नपु सकवेद, इत्थी—स्त्रीवेद, पुणो—फिर, सत्त—सात प्रकृतियो का।

गाथार्थ—स्त्रीवेद के उदय मे क्षपकश्रेणि पर आरूढ होने वाला क्रम से नपु सकवेद, स्त्रीवेद और सात प्रकृतियो का और नपु सकवेद के उदय मे क्षपकश्रेणि पर आरूढ होने वाला

---

1 यह क्रम स्त्रीवेद या पुरुषवेद मे क्षपकश्रेणि पर आरूढ होने वाले की अपेक्षा समझना चाहिए। क्योकि नपु सकवेद से क्षपकश्रेणि पर चढने वाले के तो स्त्रीवेद और नपु सकवेद का एक साथ क्षय होता है। जब तक न हो, तब तक ये दोनो वेद सत्ता मे होते हैं। उपशमश्रेणि की अपेक्षा तो उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त इन दोनो की सत्ता होती है।

२ यह कथन पुरुषवेद के उदय मे क्षपकश्रेणि का आरोहण करने वाले की अपेक्षा समझना चाहिए।

नपु सकवेद और स्त्रीवेद का एक साथ और फिर सात प्रकृतियो का क्षय करता है।

विशेषार्थ—स्त्रीवेद के उदय मे क्षपकश्रेणि पर आरूढ होने वाला पहले नपु सकवेद का क्षय करता है, तत्पश्चात् सख्यात स्थिति-खण्डो को उलाघने के बाद स्त्रीवेद का क्षय करता है और तत्पश्चात् पूर्वोक्त काल जाने के बाद हास्यादि षट्क और पुरुषवेद इन सात प्रकृतियो का एक साथ क्षय करता है। नपु सकवेद के उदय मे क्षपकश्रेणि आरम्भ करने वाला स्त्रीवेद और नपु सकवेद का एक साथ क्षय करता है और उसके बाद पुरुषवेद और हास्यादि षट्क इन सात प्रकृतियो का समकाल मे क्षय करता है। जब तक उन-उन प्रकृतियो का क्षय नही होता है, वहाँ तक उनकी सत्ता जानना चाहिए। उपशमश्रेणि की अपेक्षा ग्यारहवे गुणस्थान तक सत्ता है। तथा उसके बाद—

सखेज्जा ठिइखंडा पुणोवि कोहाइलोभ सुहुमत्ते।
आसज्ज खवगसेढी सव्वा इयराइ जा सन्तो ॥१४०॥

शब्दार्थ—**सखेज्जा**—सख्यात, **ठिइखडा**—स्थितिखडो, **पुणोवि**—पुन, **कोहाइ**—क्रोधादि, **लोभ**—लोभ, **सुहुमत्ते**—सूक्ष्मसपरायत्व मे, **आसज्ज**—अपेक्षा से, **खवगसेढी**—क्षपकश्रेणि, **सव्वा**—सब, **इयराइ**—इतर उपशमश्रेणि मे, **जा**—पर्यन्त तक, **सन्तो**—उपशातमोहगुणस्थान।

गाथार्थ—सख्याता स्थितिखडो को उलाघने के बाद पुन क्रोधादि का क्षय होता है और लोभ का सूक्ष्मसपरायत्व मे क्षय होता है। यह कथन क्षपकश्रेणि की अपेक्षा है। किन्तु इतर—उपशम श्रेणि मे तो सब प्रकृतियो की सत्ता उपशातमोहगुणस्थान पर्यन्त होती है।

विशेषार्थ—पुरुषवेद का क्षय होने के अनन्तर सख्याता स्थिति-खण्डो का अतिक्रमण करने के बाद सज्वलन क्रोध का नाश होता है, उसके बाद सख्याता स्थितिखण्डो के व्यतीत होने पर सज्वलन मान

नामकर्म का वध करके ऊपर के गुणस्थानो मे चढे या गिरकर नीचे के गुणस्थानो मे आये तो सभी गुणस्थानो मे सत्ता सम्भव है, किन्तु वध नही करने वाले के सम्भव नही है।

'सासणमीसेयराण पुण तित्थ' सासादन और मिश्र गुणस्थान के सिवाय शेष गुणस्थानवर्ती जीवो के तीर्थंकरनामकर्म की सत्ता भजना से होती है। जिसने तीर्थंकरनामकर्म का वध किया हो, उसके होती है और यदि न किया हो तो नही होती है। परन्तु सासादन और मिश्र-दृष्टि के तो नियम से (निश्चित रूप से) होती ही नही है। इसका कारण यह है कि तथास्वभाव से ही तीर्थंकरनामकर्म की सत्ता वाला जीव दूसरे और तीसरे गुणस्थान को प्राप्त नही करता है। तथा—

'उभये सन्ति न मिच्छे' अर्थात् आहारकनामकर्म और तीर्थंकर-नामकर्म इन दोनो की युगपत् यदि सत्ता हो तो जीव मिथ्यादृष्टि नही होता है। अर्थात् दोनो की सत्ता वाला जीव मिथ्यात्वगुणस्थान मे नही जाता है किन्तु यदि मात्र तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता हो तो वह मिथ्या-दृष्टि अन्तर्मुहूर्त ही होता है, इससे अधिक काल नही। कारण सहित जिसका विशेप विचार सप्ततिकासग्रह मे किया जा रहा, अत यहाँ नही किया है। तथा—

अन्नयरवेयणीय उच्चं नामस्स चरमउदयाओ।
मणुयाउ अजोगता सेसा उ दुचरिमसमयता ॥१४२॥

शब्दार्थ—**अन्नयरवेयणीय**—अन्यतर कोई एक वेदनीय की, **उच्च**—उच्चगोत्र, **नामस्स**—नामकर्म की, **चरमउदयाओ**—चरमोदया, **मणुयाऊ**—मनुष्यायु, **अजोगता**—अयोगि के चरम समय पर्यन्त, **सेसा**—शेष, **उ**—और, **दुचरिमसमयता**—द्विचरमसमय पर्यन्त।

गाथार्थ—अन्यतर वेदनीय, उच्चगोत्र, नामकर्म की चरमोदया प्रकृतियो और मनुष्यायु की अयोगि के चरम समय पर्यन्त और शेष की द्विचरम समय पर्यन्त सत्ता होती है।

विशेषार्थ—गाथा में अयोगिकेवलीगुणस्थान की सत्तायोग्य प्रकृतियों का निर्देश किया है—

साता-असातावेदनीय में से अन्यतर (कोई एक) वेदनीय, उच्चगोत्र और अयोगिकेवली के चरम समय में उदययोग्य मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, त्रसनाम, बादरनाम, पर्याप्तनाम, सुभगनाम, आदेयनाम, यश कीर्तिनाम और तीर्थंकरनाम रूप नामकर्म की नौ तथा मनुष्यायु इन बारह प्रकृतियों की सत्ता अयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय तक होती है। तथा—

पूर्वोक्त से शेष रही अन्यतर वेदनीय, देवद्विक, औदारिकसप्तक, वैक्रियसप्तक, आहारकसप्तक, तैजस-कार्मणसप्तक, प्रत्येक, संस्थानषट्क, संहननषट्क, वर्णादि बीस, विहायोगतिद्विक अगुरुलघु, पराघात, उपघात, उच्छ्वासनाम, स्थिर अस्थिर, शुभ अशुभ, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, अनादेय, अयश कीर्ति, मनुष्यानुपूर्वी, निर्माण, अपर्याप्त और नीचगोत्र रूप तेरासी प्रकृतियों की सत्ता अयोगिकेवलीगुणस्थान के द्विचरम समय पर्यन्त होती है। अर्थात् द्विचरम समय में इन तेरासी प्रकृतियों की सत्ता का क्षय होता है। जिससे चरम समय में इनकी स्वरूप सत्ता नहीं रहती है।

पूर्वोक्त प्रकार से एक-एक प्रकृति की सत्ता का स्वामित्व जानना चाहिये तथा अनेक प्रकृतियों के समुदाय—प्रकृतिसत्कर्मस्थान के स्वामित्व का विचार आगे सप्ततिका संग्रह में किये जाने से यहाँ कथन

स्थितिसत्कर्म की सादि-अनादि प्ररूपणा

मूलठिई अजहन्ना तिहा चउद्धा उ पढमयाण भवे ।
धुवसतीणंपि तिहा सेसविगप्पाऽधुवा दुविहा ॥१४३॥

शब्दार्थ—**मूलठिई**—मूल प्रकृतियो की स्थिति, **अजहन्ना**—अजघन्य, **तिहा**—तीन प्रकार की, **चउद्धा**—चार प्रकार की, **उ**—और, **पढमयाण**—प्रथम (अनन्तानुबधि) की, **भवे**—होती है, **धुवसतीणपि**—ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियो की भी, **तिहा**—तीन प्रकार की, **सेसविगप्पा**—शेप विकल्प, **अधुवा**—अध्रुव-सत्ता वाली प्रकृतियो के, **दुविहा**—दो प्रकार के हैं ।

गाथार्थ—मूल कर्मो की अजघन्य स्थितिसत्ता तीन प्रकार की है और प्रथम (अनन्तानुबधि) कपायो की चार प्रकार की है तथा शेप ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियो की भी अजघन्य स्थितिसत्ता तीन प्रकार की है तथा उक्त प्रकृतियो के शेप विकल्प और अध्रुव-सत्ता वाली प्रकृतियो के सब विकल्प दो प्रकार के हैं ।

विशेषार्थ—गाथा मे मूल और उत्तर प्रकृतियो की स्थितिसत्ता के जघन्य आदि प्रकारो के विकल्प को बतलाया है। मूल प्रकृतियो के विकल्पो का निर्देश इस प्रकार है—

'मूलठिइ अजहन्ना तिहा' अर्थात् मूल कर्मप्रकृतियो की अजघन्य स्थितिसत्ता अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह तीन प्रकार की है। जो इस प्रकार जानना चाहिये—

मूल कर्मप्रकृतियो की जघन्य स्थिति की सत्ता अपने-अपने क्षय के अन्त मे जब एक समय मात्र शेष रहे, तब होती है। वह जघन्य सत्ता एक समय मात्र होने से सादि है। उसके सिवाय अन्य सब स्थितिसत्ता अजघन्य है। उस अजघन्य स्थिति की सत्ता का सर्वदा सद्भाव होने से अनादि है। अभव्य के ध्रुव और भव्य के अध्रुव है तथा उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट स्थिति की सत्ता क्रमश अनेक बार होने से सादि और अध्रुव है तथा जघन्य स्थिति की सत्ता के सादि और अध्रुव होने का निर्देश ऊपर किया जा चुका है।

इस प्रकार से मूलकर्म सम्बन्धी स्थितिसत्ता के सादि आदि विकल्पो को जानना चाहिये। अब उत्तर प्रकृतियो सम्बन्धी प्ररूपणा करते है—

अनन्तानुबधिकषायो की अजघन्य स्थिति की सत्ता सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव रूप से चार प्रकार की है—'चउद्धा उ पढमयाण भवे'। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उक्त कषायो की जघन्य स्थितिसत्ता अपने क्षय के उपान्त्य समय मे—जिस समय उनकी सत्ता का नाश होता है, उसके पूर्व के समय मे स्वरूप की अपेक्षा एक समय स्थिति रूप, अन्यथा दो समय स्थिति रूप है। उसको एक अथवा दो समय प्रमाण होने से सादि-सात है। उसके सिवाय अन्य सभी सत्ता अजघन्य है। वह अजघन्य सत्ता अनन्तानुबधि कषायो की उद्वलना करने के बाद जब उनका पुन. बध होता है, तब होती है, अत सादि है। उस स्थान को प्राप्त नही करने वाले की अपेक्षा अनादि, अभव्य और भव्य की अपेक्षा क्रमश ध्रुव और अध्रुव जानना चाहिये।

अनन्तानुबधि कषायो के सिवाय शेष रही एक सौ छब्बीस ध्रुव-सत्ता वाली प्रकृतियो की अजघन्य स्थितिसत्ता अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह तीन प्रकार की है—'धुवसतीणपि तिहा'। जो इस प्रकार जानना चाहिये—

उन एक सौ छब्बीस प्रकृतियो की जघन्य स्थितिसत्ता उन-उन प्रकृतियो के क्षय के अन्त समय मे अर्थात् जिस-जिस समय उन-उन प्रकृतियो का सत्ता मे से नाश होता है, उस समय होती है। उदयवती प्रकृतियो की तो मात्र एक समय स्थिति रूप और अनुदयवती प्रकृतियो की स्वरूपापेक्षा एक समय स्थिति रूप, अन्यथा दो समय स्थिति रूप जो सत्ता है, वह जघन्य स्थितिसत्ता है। उसको समय अथवा दो समय प्रमाण होने से सादि है। उसके सिवाय शेष समस्त सत्ता अजघन्य है, वह अनादि है। क्योकि जहाँ तक जघन्य सत्ता न हो, वहाँ तक उसका

सद्भाव है। ध्रुव अभव्य की अपेक्षा और अध्रुव भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये।

यद्यपि अनन्तानुबधि कषाय भी ध्रुवबन्धिनी है, किन्तु विसयोजना होने के बाद पुन बन्ध सम्भव होने से वे सत्ता को प्राप्त कर लेती ह। इसलिये उनकी अजघन्य स्थितिसत्ता मे चार भग घटित होते हैं। परन्तु उनके सिवाय शेष ध्रुवसत्ता वाली कोई भी प्रकृति सत्ता से दूर होने के बाद पुन सत्ता को प्राप्त ही नही करती है। इसलिये उनकी अजघन्य स्थितिसत्ता मे सादि के सिवाय शेप तीन भग ही घट सकते है।

अनन्तानुबन्धि कषायो और शेप सभी ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियो के शेष उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट और जघन्य ये तीनो विकल्प सादि और अध्रुव हैं। इनमे से जघन्य स्थितिसत्ता के सादि और अध्रुव भगो का विचार ऊपर किया जा चुका है और उत्कृष्ट एव अनुत्कृष्ट इन दोनो प्रकार की सत्ता क्रमश अनेक बार होती है, अत वे दोनो सादि और अध्रुव है।

देवद्विक, नरकद्विक, उच्चगोत्र, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्र-मोहनीय, वैक्रियसप्तक, आहारकसप्तक, मनुष्यद्विक, ये उद्वलन-योग्य तेईस प्रकृतिया तथा चार आयु और तीर्थंकरनाम इस प्रकार अट्ठाईस अध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियो की जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट इस तरह चारो प्रकार की स्थितिसत्ता उन प्रकृतियो के अध्रुवसत्ता वाली होने से सादि और अध्रुव है। क्योकि जिनकी सत्ता सर्वदा हो या जो सदा रहने वाली हो उनमे ही अनादि और ध्रुव भग घट सकते है। परन्तु जिनकी सत्ता का ही नियम न हो, कादाचित् सत्ता हो उनमे सादि और अध्रुव के सिवाय अन्य सभी भग सम्भव नही है।

इस प्रकार से मूल और उत्तर प्रकृतियो विपयक सादि आदि भगो का विचार जानना चाहिए।

है—ज्ञानावरणपचक, चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शनावर रूप दर्शनावरणचतुष्क, असातावेदनीय, मिथ्यात्वमोहनीय, सोल कषाय, पचेन्द्रियजाति, तैजससप्तक, हुडकसस्थान, वर्णादि वीस, अगु लघु, पराघात, उपघात, उच्छ्वास, अप्रशस्त विहायोगति, उद्योत, त्रस वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय, अयश कीर्ति, निर्माण, नीचगोत्र, अन्तरायपचक और तिर्यंच, मनुष्य क अपेक्षा वैक्रियसप्तक, इन छियासी बन्धोदयोत्कृष्ट प्रकृतियो की ज उत्कृष्ट स्थिति है, वही उत्कृष्ट स्थिति की सत्ता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इन प्रकृतियो का जो उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है, वह पूर्ण स्थितिबन्ध उनकी उत्कृष्ट स्थितिसत्ता है।

(प्रश्न—जब उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सत्तर कोडाकोडी सागरोपम आदि होता है तब उसका अबाधाकाल सात हजार वर्ष आदि है और अबाधाकाल मे तो दलिक होते नही है। जिससे ७० कोडाकोडी सागरोपम आदि पूर्ण जो उत्कृष्ट स्थितिबन्ध, उसी को उत्कृष्ट स्थितिसत्ता कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर—उत्कृष्ट स्थितिबन्ध जब होता है, तब जिसका अबाधाकाल बीत गया है, वह पूर्वबद्ध दलिक सत्ता मे होता है तथा उसकी पहली स्थिति उदयवती होने से स्तिबुकसक्रम द्वारा अन्य प्रकृति मे सक्रान्त नही होती है। इसलिए जितना उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है, उतनी ही उत्कृष्ट स्थितिसत्ता कह सकते है। इसमे किसी प्रकार का विरोध नही है।

इस प्रकार बन्धोदयोत्कृष्ट प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता का विचार करने के पश्चात् अव अनुदयबन्धोत्कृष्ट प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता वतलाते है—

जिन प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अपना उदयकाल न हो, तब होता है, वे अनुदयबन्धोत्कृष्ट प्रकृतिया कहलाती हैं। ऐसी प्रकृतियो के नाम हैं—निद्रापचक, नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, औदारिकसप्तक,

एकेन्द्रियजाति, सेवार्तसहनन, आतप और स्थावरनामकर्म, इन प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति उस प्रकृति का जब उदय न हो तब बन्धती है।

कदाचित् यह कहा जाये कि इन प्रकृतियो का उदय न हो तब बन्ध के द्वारा उत्कृष्ट स्थिति कैसे प्राप्त हो सकती है ? तो इसका उत्तर यह है—उत्कृष्ट स्थितिबन्ध जव उत्कृष्ट सक्लिष्ट परिणाम हो तब होता है। वैसे सक्लिष्ट परिणाम हो तब पाच निद्राओ मे से किसी भी निद्रा का उदय होता ही नही है तथा नरकद्विक का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तिर्यंच या मनुष्य करता है, किन्तु उनके नरकद्विक का उदय नही होता है और शेष रही तेरह प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध यथायोग्य रीति मे देव या नारक करते है, किन्तु उनके इन तेरह प्रकृतियो मे से एक भी प्रकृति का उदय नही होता है। इसीलिए ये बीस प्रकृतिया अनुदय-बन्धोत्कृष्ट प्रकृति कहलाती है।

इन अनुदयबधोत्कृष्ट बीस प्रकृतियो का जो उत्कृष्ट स्थितिबध, वह एक समय न्यून उनकी उत्कृष्ट स्थितिसत्ता कहलाती है—'त पुण समये णूण अणुदयउक्कोसबधीण'। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

इन प्रकृतियो का जब उत्कृष्ट स्थितिबध होता है, तब यद्यपि अबाधाकाल मे पूर्वबद्ध दलिक कि जिनका अबाधाकाल व्यतीत हो गया है, सत्ता मे होते हुए भी जिस समय उनका उत्कृष्ट स्थितिबध होता है, तो उस उदय प्राप्त प्रथम स्थिति को उदयवती स्वजातीय प्रकृति मे स्तिबुकसक्रम द्वारा सक्रात किया जाता है। इसलिये समय मात्र उस प्रथम स्थिति से न्यून जो सर्वोत्कृष्ट स्थिति है, वह उत्कृष्ट स्थितिसत्ता कहलाती है।

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि उदय होने पर बधोत्कृष्ट प्रकृतियो का जो उत्कृष्ट स्थितिबंध, वही पूर्ण उत्कृष्ट स्थितिसत्ता कहलाती है और अनुदयबधोत्कृष्ट प्रकृतियो की जो एक समय न्यून उत्कृष्ट

गाथार्थ—उदयसक्रमोत्कृष्ट प्रकृतियो की उनमे जितना आगम होता है, उसको आवलिका सहित करने पर जो प्राप्त हो उतनी उत्कृष्ट स्थितिसत्ता है और अनुदयसक्रमोत्कृष्ट प्रकृतियो की उससे एक समय न्यून है ।

विशेषार्थ –यहाँ उदयसक्रमोत्कृष्ट और अनुदयसक्रमोत्कृष्ट प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता का विवेचन किया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जब उदय हो तब सक्रम द्वारा जिनकी उत्कृष्ट स्थितिसत्ता प्राप्त होती है, वे उदयसक्रमोत्कृष्ट प्रकृतिया कहलाती है । उन प्रकृतियो के नाम इस प्रकार है—

मनुष्यगति, सातावेदनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति, नव नोकषाय, प्रशस्त विहायोगति, आदि के पाच सहनन और पाच सस्थान तथा उच्चगोत्र । इन प्रकृतियो का जब उदय हो तभी उनमे स्वजातीय अन्य प्रकृतियो की स्थिति के सक्रम द्वारा दो आवलिका न्यून स्थिति का आगम—सक्रम होता है, उसमे उदयावलिका को मिलाने पर जितनी स्थिति होती है, उतनी उत्कृष्ट स्थितिसत्ता है । जिसका तात्पर्य यह है—

सातावेदनीय का वेदन करते हुए किसी जीव ने असाता की उत्कृष्ट स्थिति का बध किया और उसके बाद सातावेदनीय के बध को प्रारम्भ किया तो उसके वेद्यमान और बध्यमान सातावेदनीय मे उसकी उदयावलिका के ऊपर जिसकी बधावलिका व्यतीत हुई है, वैसी असातावेदनीय की उदयावलिका से ऊपर की कुल दो आवलिका न्यून तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति सक्रमित करता है, जिसमे सातावेदनीय की उदयावलिका से ऊपर सक्रम द्वारा जो दो आवलिका न्यून उत्कृष्ट स्थिति का आगम-सक्रम हुआ है, उस आगम

स्थिति उसे उत्कृष्ट सत्ता जानना चाहिये। उदयवती और अनुदयवती प्रकृतियो की सत्ता मे जो एक समय का अन्तर है, उसका कारण यह है कि उदयवती प्रकृति का उदयप्राप्त दलिक स्तिबुकसक्रम द्वारा अन्यत्र सक्रान्त नही होता है और अनुदयवती का सक्रात होता है।

इसके साथ ही उदयवधोत्कृष्ट, अनुदयबधोत्कृष्ट प्रकृतियो के लिए यह भी समझना चाहिये कि उदयबधोत्कृष्ट प्रकृतियो मे जिन प्रकृतियो का उदय हो तभी उनका उत्कृष्ट स्थितिबध होता है यह नही समझना चाहिये, किन्तु उदय हो तब भी होता है, यह समझना चाहिये। क्योकि उनमे की कितनी ही प्रकृतियो का उदय न हो तब भी उत्कृष्ट स्थितिबध हो सकता है। जसे कि क्रोध का उदय वाला मान का उत्कृष्ट स्थितिबध कर सकता है। वैसे ही प्रशस्त विहायोगति का उदय वाला अप्रशस्त विहायोगति का, कोई अन्य सस्थान का उदय वाला हुडकसस्थान का उत्कृष्ट स्थितिबध कर सकता है। किन्तु अनुदयबधोत्कृष्ट प्रकृतियो मे से उनका उदय न हो तभी उत्कृष्ट स्थितिबध होता है।

इस प्रकार वधदयोत्कृष्ट, अनुदयबधोत्कृष्ट प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता का कथन जानना चाहिए।

अव उदयसक्रमोत्कृष्ट और अनुदयसक्रमोत्कृष्ट प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता का निर्देश करते है—

उदयसकम उक्कोसाण आगमो सालिगो भवे जेट्ठो।
सतं अणुदयसकमउक्कोसाण तु समऊणो ॥१४५॥

शब्दार्थ—**उदयसकम उक्कोसाण**—उदयसक्रमोत्कृष्ट प्रकृतियो की, **आगमो**—आगम, सक्रम, **सालिगो**—आवलिका सहित, **भवे**—होता है, **जेट्ठो**—उत्कृष्ट स्थितिसत्ता, **सत**—सत्ता, **अणुदयसकमउक्कोसाण**—अनुदयसक्रमोत्कृष्ट प्रकृतियो की, **तु**—और, **समऊणो**—एक समय न्यून।

गाथार्थ—उदयसक्रमोत्कृष्ट प्रकृतियो की उनमे जितना आगम होता है, उसको आवलिका सहित करने पर जो प्राप्त हो उतनी उत्कृष्ट स्थितिसत्ता है और अनुदयसक्रमोत्कृष्ट प्रकृतियो की उससे एक समय न्यून है।

विशेषार्थ—यहाँ उदयसक्रमोत्कृष्ट और अनुदयसक्रमोत्कृष्ट प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता का विवेचन किया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जब उदय हो तब सक्रम द्वारा जिनकी उत्कृष्ट स्थितिसत्ता प्राप्त होती है, वे उदयसक्रमोत्कृष्ट प्रकृतिया कहलाती है। उन प्रकृतियो के नाम इस प्रकार है—

मनुष्यगति, सातावेदवीय, सम्यक्त्वमोहनीय, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति, नव नोकषाय, प्रशस्त विहायोगति, आदि के पाच सहनन और पाच सस्थान तथा उच्चगोत्र। इन प्रकृतियो का जब उदय हो तभी उनमे स्वजातीय अन्य प्रकृतियो की स्थिति के सक्रम द्वारा दो आवलिका न्यून स्थिति का आगम—सक्रम होता है, उसमे उदयावलिका को मिलाने पर जितनी स्थिति होती है, उतनी उत्कृष्ट स्थितिसत्ता है। जिसका तात्पर्य यह है—

सातावेदनीय का वेदन करते हुए किसी जीव ने असाता की उत्कृष्ट स्थिति का बध किया और उसके बाद सातावेदनीय के बध को प्रारम्भ किया तो उसके वेद्यमान और बध्यमान सातावेदनीय मे उसकी उदयावलिका के ऊपर जिसकी बधावलिका व्यतीत हुई है, वैसी असातावेदनीय की उदयावलिका से ऊपर की कुल दो आवलिका न्यून तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति सक्रमित करता है, जिसमे सातावेदनीय की उदयावलिका से ऊपर सक्रम द्वारा जो दो आवलिका न्यून उत्कृष्ट स्थिति का आगम-सक्रम हुआ है, उस आगम

को उदयावलिका सहित करने पर जितनी स्थिति हो, उतनी साता-वेदनीय की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता[1] कहलाती है।

इसी प्रकार सम्यक्त्वमोहनीय के सिवाय शेष अट्ठाईस प्रकृतियो की दो आवलिकान्यून स्वजातीय प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति के सक्रम द्वारा जो आगम होता है, उसको उदयावलिका सहित करने पर जितना प्रमाण हो, उतनी उत्कृष्ट स्थितिसत्ता समझना चाहिए। तथा—

---

१ बधावलिका और उदयावलिका मे कोई भी करण लागू नही होने से बधा-वलिका के बीतने पर उदयावलिका के ऊपर की आवलिकाद्विक हीन तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति बध्यमान सातावेदनीय मे सक्रमित होती है, जिससे आवलिकाद्विक न्यून शेष स्थितिस्थान के दलिक साता-वेदनीय रूप हो जाते हैं।

परन्तु असातावेदनीय के साता रूप होने पर भी असातावेदनीय की सत्ता नष्ट नही होती है। किन्तु आवलिकाद्विक न्यून असातावेदनीय के प्रत्येक स्थान मे के दलिक योगानुरूप साता मे बदल जाते है और जिस स्थान मे दलिक रहे हुए हैं, वे उसी स्थान मे रहते है और उनकी निषेक-रचना मे तो नही मात्र स्वरूप मे परिवर्तन होता है। जिससे असाता रूप जो फल मिलने वाला था वह साता रूप हो गया। यानि उदयावलिका के ऊपर के असाता के जो दलिक साता मे सक्रात होते हैं वे साता की उद-यावलिका के ऊपर सक्रात होते है।

इस प्रकार होने से जिस समय असाता की दो आवलिका न्यून उत्कृष्ट स्थिति सातावेदनीय मे सक्रमित हुई, उस समय सातावेदनीय की उदयावलिका के ऊपर दो आवलिका हीन तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति हुई। उसमे उदयावलिका को मिलाने पर कुल एक आव-लिका न्यून तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण सातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता होती है।

सम्यक्त्वमोहनीय की अन्तर्मुहूर्तन्यून उत्कृष्ट स्थिति का जो आगम होता है, उसको उदयावलिका सहित करने पर प्राप्त प्रमाण सम्यक्त्वमोहनीय की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता जानना चाहिये। इसका कारण यह है कि मिथ्यात्वमोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति को बाधकर मिथ्यादृष्टिगुणस्थान मे अन्तर्मुहूर्त अवस्थान करके ही जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है और सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद मिथ्यात्वमोहनीय की उदयावलिका के ऊपर की अन्तर्मुहूर्तन्यून सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति को सम्यक्त्वमोहनीय मे उदयावलिका के ऊपर सक्रमित करता है। जिसमे अन्तर्मुहूर्त न्यून उत्कृष्ट स्थिति का जो आगम होता है उसमे उदयावलिका को मिलाने पर प्राप्त प्रमाण सम्यक्त्वमोहनीय की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता[1] कहलाती है।

इस प्रकार से उदयसक्रमोत्कृष्ट प्रकृतिया की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता का विचार करने के पश्चात् अब अनुदयसक्रमोत्कृष्ट प्रकृतियो की स्थितिसत्ता को बतलाते है—

---

१ उत्कृष्ट स्थितिबध करके मिथ्यात्वगुणस्थान मे अन्तर्मुहूर्त अवश्य रहना पडता है। तत्पश्चात् सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है तथा करण किये बिना कोई जीव सम्यक्त्व प्राप्त करे तो अन्तर्मुहूर्त न्यून उत्कृष्ट स्थिति की सत्ता लेकर ऊपर के गुणस्थान मे जाता है। जिससे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का बध करके अन्तर्मुहूर्त जाने के बाद चौथे गुणस्थान मे जाता है। अतएव अन्तर्मुहूर्तन्यून उत्कृष्ट स्थिति की सत्ता चौथे गुणस्थान मे होती है, उदयावलिका मे ऊपर की उस स्थिति को सम्यक्त्वमोहनीय मे सक्रान्त करता है, जिससे अन्तर्मुहूर्त और उदयावलिका मे शेष रही मिथ्यात्व-मोहनीय की सभी स्थिति सम्यक्त्वमोहनीय रूप होती है। उसमे सम्यक्त्व-मोहनीय की उदयावलिका को मिलाने पर अन्तर्मुहूर्त न्यून सत्तर कोडा-कोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिसत्ता सम्यक्त्वमोहनीय की है।

जब उदय न हो, तब सक्रम द्वारा जिन प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति होती है, वे अनुदयसक्रमोत्कृष्ट प्रकृतिया कहलाती ह। उन प्रकृतियो के नाम इस प्रकार है—

देवगति, देवानुपूर्वी, सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय, आहारकसप्तक, मनुष्यापूर्वी, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त और तीर्थंकरनाम। इन अनुदयसक्रमोत्कृष्ट अठारह प्रकृतियो की दो आवलिका न्यून उत्कृष्ट स्थिति का जो सक्रम होता है उसे समय न्यून उदयावलिका सहित करने पर प्राप्त स्थिति उनकी उत्कृष्ट स्थितिसत्ता कहलाती है। वह इस प्रकार जानना चाहिये—

किसी एक मनुष्य ने उत्कृष्ट सक्लेशवशात् नरकगति का बध करके परिणामो का परावर्तन होने से देवगति का बध करना प्रारम्भ किया। तत्पश्चात् बध्यमान देवगति मे जिसकी बधावलिका व्यतीत हो गई है, उस नरकगति की उदयावलिका से ऊपर की दो आवलिका न्यून बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति को उसकी (देवगति की) उदयावलिका से ऊपर सक्रात करता है। जिस समय देवगति मे नरकगति की स्थिति को सक्रमित करता है, वह समय मात्र प्रथम स्थिति वेद्यमान मनुष्यगति मे स्तिबुकसक्रम द्वारा सक्रात करता है। क्योकि देवगति का अनुभागोदय नही होने से उस समय प्रमाण स्थिति से न्यून आवलिका से अधिक दो आवलिका न्यून जो नरकगति की स्थिति का आगम हुआ है उसे देवगति की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता समझना चाहिए।

इसी प्रकार देवानुपूर्वी आदि प्रकृतियो के विषय मे भी समझना चाहिये। मात्र मिश्रमोहनीय की अन्तर्मुहूर्त न्यून मिथ्यात्वमोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति का जो सक्रम होता है, उसे समयन्यून आवलिका से अधिक करने पर जो प्रमाण होता है उसे उत्कृष्ट स्थिति-सत्ता जानना चाहिये। जिसका विचार पूर्वोक्त सम्यक्त्वमोहनीय के अनुरूप कर लेना चाहिए।

जो जीव जिन प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति का वध करे और जो जीव जिन प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति को सक्रात करे, उस-उस जीव को उन-उन प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थितिसत्ता का स्वामी समझना चाहिये ।

इस प्रकार से उत्कृष्ट स्थितिसत्ता के स्वामियो का निर्देश करने के वाद अव जघन्य स्थितिसत्ता के स्वामित्व को स्पष्ट करते है ।

जघन्य स्थिति व स्वामित्व

उदयवईणेगठिइ अणुदयवइयाण दुसमया एगा ।
होइ जहन्न सत्ता दसण्ह पुण सकमो चरिमो ॥१४६॥

शब्दार्थ—उदयवईणेगठिइ—उदयवती प्रकृतियो की एक समय प्रमाण स्थिति, **अणुदयवइयाण** अनुदयवती प्रकृतियो की, **दुसमया**—दो समय, **एगा**—एक समय, **होइ**—होती है, **जहन्न**—जघन्य, **सत्त**—स्थितिसत्ता, **दसण्हं**—दस प्रकृतियो की, **पुण**—पुन., **सकमो चरिमो**—चरम सक्रम ।

गाथार्थ—उदयवती प्रकृतियो की एक समय प्रमाण और अनुदयवती प्रकृतियो की दो समय अथवा एक समय प्रमाण जघन्य स्थितिसत्ता होती है तथा दस प्रकृतियो का चरम सक्रम उनकी जघन्य स्थितिसत्ता है ।

विशेषार्थ- गाथा मे उदयवती और अनुदयवती प्रकृतियो की जघन्य स्थितिसत्ता के स्वामियो को वतलाया है—

सत्ता के नाश के समय भी जिन प्रकृतियो का रसोदय-अनुभागोदय हो, वे प्रकृतिया उदयवती और इतर अनुदयवती कहलाती है । उदयवती प्रकृतियो के नाम इस प्रकार है—

ज्ञानावरणपचक, अतरायपचक, दर्शनावरणचतुष्क, सम्यक्त्व-मोहनीय, सज्वलन लोभ, आयुचतुष्क, नपु सकवेद, स्त्रीवेद, साता असाता रूप वेदनीयद्विक, उच्चगोत्र, मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, त्रस,

बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यश कीर्ति और तीर्थंकरनाम। कुल मिलाकर इन चौतीस प्रकृतियो की अपने-अपने क्षय के चरम समय मे जो एक समय मात्र स्थिति है, वह उन प्रकृतियो की जघन्य स्थिति-सत्ता है—'उदयवईणंगठिइ'।

अब अनुदयवती प्रकृतियो की जघन्य स्थितिसत्ता का निर्देश करते है कि दस प्रकृतियो को छोडकर शेष एक सौ चौदह अनुदयवती प्रकृतियो का जिस समय नाश होता है, उससे पूर्व के समय मे स्वरूप की अपेक्षा समय मात्र स्थिति अन्यथा स्वरूप और पररूप की अपेक्षा दो समय प्रमाण स्थिति अनुदयवती प्रकृतियो की जघन्य स्थितिसत्ता जानना चाहिये—'अणुदयवइयाण दुसमया एगा होइ जहन्न सत्त'। इसका कारण यह है कि अनुदयवती प्रकृतियो के दलिक चरम समय मे स्तिबुकसक्रम के द्वारा स्वजातीय उदयवती प्रकृतियो मे सक्रात होकर उस रूप मे अनुभव किये जाते हैं। जिससे चरम समय मे अनुदयवती प्रकृतियो के दलिक स्वरूप से सत्ता मे नही होते हैं परन्तु पररूप से होते है। इसलिए स्वरूप की अपेक्षा समय मात्र और स्वपर दोनो की अपेक्षा दो समय प्रमाण स्थिति जघन्य स्थितिसत्ता समझना चाहिए। तथा—

'दसण्ह पुण सकमो चरिमो' अर्थात् दस प्रकृतियो का (जिनका नामोल्लेख आगे की गाथा मे किया गया है) जो चरम सक्रम होता है, वह उनकी जघन्य स्थितिसत्ता है। वे दस प्रकृतिया इस प्रकार है—

हासाइ पुरिसकोहाइ तिन्नि सजलण जेण बधुदए।
वोच्छिन्ने सकमइ तेण इहं सकमो चरिमो ॥१४७॥

शब्दार्थ—हासाइ—हास्यादि षट्क, पुरिस—पुरुषवेद, कोहाइ—क्रोधादि, तिन्नि—तीन, सजलण—सज्वलन, जेण—जिससे, बधुदए—बध और उदय, वोच्छिन्ने—विच्छेद होने के बाद, सकमइ—सक्रान्त होती हैं, तेण—उससे, इह—यहाँ, सकमो चरिमो—चरम सक्रम।

गाथार्थ—हास्यादि षट्क, पुरुषवेद और सज्वलन क्रोधादि तीन इस प्रकार ये दस प्रकृतिया वध और उदय का विच्छेद होने के वाद सक्रात होती हे, जिससे इन दस प्रकृतियो के चरम सक्रम को जघन्य स्थितिसत्ता जानना चाहिये।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा मे जो 'दसण्ह पुण सकमो चरिमो' पद दिया था, उसी का यहाँ स्पष्टीकरण किया हे—

हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा रूप हास्यादि पट्क, पुरुषवेद और सज्वलन क्रोध, मान, माया इन दस प्रकृतियो का जो चरम सक्रम होता हे, वही उनकी जघन्य स्थितिसत्ता जानना चाहिए। इसका कारण है कि इन दस प्रकृतियो के वध और उदय का विच्छेद होने के वाद अन्य प्रकृतियो मे सक्रम होने के द्वारा क्षय होता है। इसीलिए जितनी स्थिति का चरम सक्रम होता है, उतनी स्थिति इन प्रकृतियो की जघन्य स्थितिसत्ता जानना चाहिए।

इस प्रकार एक एक प्रकृति की जघन्य स्थितिसत्ता वतलाने के बाद अव सामान्य से सभी प्रकृतियो की जघन्य स्थितिसत्ता के स्वामियो का निर्देश करते है—

अनन्तानुवधिचतुष्क और दर्शनत्रिक की जघन्य स्थितिसत्ता के स्वामी अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्तसयतगुणस्थान तक के जीव है।

नरक, तिर्यंच और देव आयु की जघन्य स्थितिसत्ता के स्वामी अपने-अपने भव के चरम समय मे वर्तमान नारक, तिर्यंच और देव है।

अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क और प्रत्याख्यानावरणचतुष्क इन आठ कषाय, स्त्यानर्द्धित्रिक, नौवे गुणस्थान मे क्षय होने वाली नामकर्म की तेरह प्रकृति, नव नो कषाय और सज्वलनत्रिक रूप छत्तीस प्रकृतियो की जघन्य स्थितिसत्ता का स्वामी अनिवृत्तिवादरसपरायगुणस्थानवर्ती जीव है।

सज्वलन लोभ की जघन्य स्थितिसत्ता का स्वामी सूक्ष्मसपराय-गुणस्थानवर्ती जीव है।

ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणचतुष्क और अतरायपचक इन चौदह प्रकृतियो की जघन्य स्थितिसत्ता का स्वामी क्षीणकषायगुणस्थानवर्ती जीव है। तथा—

पूर्वोक्त से शेष रही पचानवै (९५) प्रकृतियो की जघन्य स्थिति-सत्ता के स्वामी अयोगिकेवली भगवान है।

इस प्रकार से उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिसत्ता के स्वामियो को जानना चाहिये। अब स्थिति के भेदो का विचार करते हैं।

स्थिति के भेद

जावेगिंदिजहन्ना नियगुक्कोसा हि ताव ठिइठाणा।
नेरतेरण हेट्ठा खवणाइसु सतराइपि ॥१४८॥

शब्दार्थ—जावेगिंदि—एकेन्द्रियप्रायोग्य तक, जहन्ना—जघन्य, **नियगुक्कोसा**—अपनी उत्कृष्ट स्थिति, हि—निश्चय से, ताव—उनके, ठिइठाणा—स्थितिस्थान, नेरतरेण—निरन्तरता से, हेट्ठा— नीचे, खवणा-इसु—क्षपकादि मे, संतराइपि—सातर भी।

गाथार्थ—अपने-अपने उत्कृष्ट स्थितिस्थान से लेकर एके-न्द्रियप्रायोग्य जघन्य स्थिति तक के स्थान नाना जीवो की अपेक्षा निरन्तरता से होते हैं और उनसे नीचे के स्थितिस्थान क्षपकादि के सातर भी होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे स्थितिस्थानो[1] का प्रमाण बतलाते हुए उनके निरन्तर और सातर रूप से पाये जाने का निर्देश किया है।

---

१ एक समय मे एक साथ जितनी स्थिति सत्ता मे हो उसे स्थितिस्थान कहते है। जैसे किसी जीव को उत्कृष्ट स्थिति सत्ता मे हो वह पहला स्थान, इसी प्रकार किसी जीव को समयोन उत्कृष्ट स्थिति सत्ता मे हो वह दूसरा स्थान किसी जीव को दो समयन्यून उत्कृष्ट स्थिति सत्ता मे हो वह तीसरा स्थान, इस प्रकार समय-समय न्यून करते करते वहाँ तक जानना चाहिये यावत् एकेन्द्रिय योग्य जघन्य स्थिति प्राप्त हो जाये।

सभी कर्मो के अपने-अपने उत्कृष्ट स्थितिस्थान से लेकर वहाँ तक नीचे आना चाहिये कि जहाँ एकेन्द्रियप्रायोग्य जघन्य स्थिति प्राप्त हो। उतनी स्थिति मे जितने समय हो उतने स्थितिस्थान नाना जीवो की अपेक्षा सत्ता मे निरन्तर रूप से प्राप्त होते है। यानि उतने स्थितिस्थानो मे का कोई स्थितिस्थान किसी एक जीव को सत्ता में होता है और कोई स्थितिस्थान किसी दूसरे जीव को। इस प्रकार ये सभी स्थितिस्थान पचेन्द्रिय से लेकर एकेन्द्रिय तक के जीवो मे यथा-योग्य रीति से निरन्तर रूपेण सत्ता मे होते हैं।

लेकिन एकेन्द्रियप्रायोग्य जघन्य स्थिति से नीचे के स्थितिस्थान क्षपकादि के अर्थात् क्षपको, उद्वलना करने वालो आदि के सतराइपि' अर्थात् सातर भी होते है और निरन्तर भी होते है। यानि कितने ही स्थान निरन्तर होते है और उसके बाद अंतर पड जाने से सातर स्थान होते हैं। जो इस प्रकार जानना चाहिये—

कोई जीव एकेन्द्रिययोग्य जघन्य स्थिति के उपरितन भाग से पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिखडो का क्षय करना प्रारम्भ करे और जिस समय क्षय करना प्रारम्भ किया, उस समय से लेकर समय-समय नीचे के स्थानो मे से उदयवती प्रकृतियो की समय-समय प्रमाण स्थिति अनुभव करने के द्वारा और अनुदयवती प्रकृतियो की समय-समय प्रमाण स्थिति स्तिबुकसक्रम द्वारा क्षय होती है। इस प्रकार एक-एक स्थितिस्थान सत्ता मे से कम होते जाने से प्रतिसमय भिन्न-भिन्न स्थितिविशेष सत्ता मे घटित होते है। जैसे कि—

एकेन्द्रियप्रायोग्य जघन्य स्थिति नीचे के प्रथम उदय समय भोगे जाने पर समयहीन होती है, दूसरे समय भोगे जाने पर दो समयहीन, तीसरे समय भोगे जाने पर तीन समय हीन होती है। इस प्रकार समय-समयहीन होने से अन्तर्मुहूर्त के समय प्रमाण स्थान निरन्तर प्राप्त होते है। क्योकि पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थिति का घात करने मे अन्तर्मुहूर्त काल बीतता है। अन्तर्मुहूर्त व्यतीत होने

के बाद पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिखडो का समकाल मे ही क्षय होने से अन्तर्मुहूर्त के समय प्रमाण स्थानो से अनन्तरवर्ती स्थान निरन्तर नही होते हैं। क्योकि एकेन्द्रिययोग्य जघन्य स्थिति समय-समय न्यून होने पर अन्तर्मुहूर्त न्यून तक के स्थितिस्थान सत्ता मे निरन्तर हो सकते है किन्तु उसके बाद तो एक साथ पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थिति का क्षय हुआ, जिससे अन्तर्मुहूर्त अधिक पल्योपम के असख्यातवे भाग न्यून एकेन्द्रिययोग्य जघन्य स्थिति की सत्ता संभव है।

तत्पश्चात् पुन दूसरे पल्योपम के असख्यातवे भागप्रमाण स्थिति खड का क्षय करना प्रारम्भ किया। अन्तर्मुहूर्त काल मे उसका नाश किया। यानि जिस समय मे दूसरे खड का क्षय करना प्रारम्भ किया, उस समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त के समय प्रमाण स्थितिस्थान नीचे की समय समय प्रमाण स्थिति के क्षय की अपेक्षा पूर्वोक्त प्रकार से निरन्तर होते है। उसके बाद दूसरे स्थितिखड का नाश हुआ यानि पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थिति एक साथ कम हुई है, जिससे अन्तर्मुहूर्त से आगे पल्योपम के असख्यातवे भाग तक के स्थितिस्थान निरन्तर नही होते हैं, परन्तु उतने स्थानो का अतर पडता है।

इस प्रकार जहाँ तक एक स्थितिखड का घात न हो वहाँ तक के अन्तर्मुहूर्त समय प्रमाण स्थितिस्थान निरन्तर सभव हैं और उसके बाद पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थिति का एक साथ क्षय होने से उतने स्थानो का एक साथ अन्तर पडता है। इस तरह चरम उदयावलिका शेष रहने तक जाना चाहिये और वह जो उदयावलिका शेष रही, यदि वह उदयवती प्रकृति की हो तो समय-समय अनुभव के द्वारा और अनुदयवती प्रकृति की हो तो प्रतिसमय स्तिबुकसक्रम द्वारा क्षय होती है, यावत् उसका अतिम स्थितिस्थान आता है। यह आवलिका के समय प्रमाण स्थितिस्थान निरन्तर होते है।[1]

---

१ अयोगिकेवलीगुणस्थान की सत्तावाली प्रकृतियो के अयोगिकेवलीगुणस्थान के कालप्रमाण अतिम स्थितिस्थानो का अयोगिकेवलीगुणस्थान मे निरन्तर पाया जाना सभव है। इस पर विद्वज्जन विचार करें।

इस प्रकार से स्थितिस्थानो के भेदो का विवेचन करने के साथ स्थितिसत्कर्म का विचार समाप्त होता है। अब अनुभागसत्ता का विचार प्रारम्भ करते है।

अनुभागसत्कर्म

अनुभागसत्ता प्राय अनुभागसक्रम के समान है। अत. पुनरावृत्ति न करके अनुभागसक्रम से अनुभागसत्ता मे जो विशेषता और भिन्नता है उसी को यहाँ स्पष्ट करते है।

अनुभागसत्ता विषयक विशेषता

सकमतुल्ल अणुभागसतयं नवरि देसघाईण।
हासाईरहियाण जहन्नय एगठाण तु ॥१४६॥

शब्दार्थ—**सकमतुल्ल**—अनुभागसक्रम के तुल्य, **अणुभागसतय**—अनुभागसत्कर्म (सत्ता), **नवरि**—किन्तु, **देसघाइण**—देशघाति प्रकृतियो का, **हासाईरहियाणा**—हास्यादि प्रकृतियो से रहित, **जहन्नय**—जघन्य, **एगठाण**—एक स्थान, **तु**—ही।

गाथार्थ—अनुभागसक्रम के तुल्य अनुभागसत्कर्म (सत्ता) जानना चाहिये। किन्तु हास्यादि प्रकृतियो से **रहित शेष देशघाति प्रकृतियो** का जघन्य अनुभाग एक स्थान होता है।

विशेषार्थ—अनुभागसक्रम से अनुभागसत्कर्म (सत्ता) मे प्राप्त होने वाली विशेषताओ को गाथा मे बतलाया है—

'सकमतुल्ल' अर्थात् आगे सक्रमकरण मे जिसका स्वरूप बतलाया जायेगा उस अनुभागसक्रम के समान ही अनुभागसत्ता को भी समझना चाहिए। यानि अनुभागसक्रम के प्रसग मे जिस प्रकार से एकस्थानक आदि स्थान, घातित्व, अघातित्व, सादि आदि भग और जघन्य उत्कृष्ट अनुभागसक्रम के स्वामियो का विवेचन किया जाएगा, तदनुरूप यहाँ 'अनुभागसतय'—अनुभाग की सत्ता के विषय मे भी स्थान, घाति-अघातित्व आदि को समझ लेना चाहिए।

मात्र इतना विशेष है कि 'हासाईरहियाण' हास्यादि पट्क रहित शेष मति, श्रुत, अवधि ज्ञानावरण, चक्षु, अचक्षु, अवधि दर्शनावरण, सज्वलन-चतुष्क, वेदत्रिक और अतरायपचक, इन अठारह देशघाति प्रकृतियो की जघन्य सत्ता स्थानापेक्षा एकस्थानक और घातित्व की अपेक्षा देशघाति समझना चाहिए। अर्थात् इन अठारह प्रकृतियो की देशघाति और एकस्थानक रस की जघन्य सत्ता होती है और इसके सिवाय शेष सब अनुभागसक्रम के सदृश जानना चाहिए।

अब देशघाति होने पर भी मनपर्यायज्ञानावरण आदि प्रकृतियो सम्बन्धी विशेषता को स्पष्ट करते है—

मणनाणे दुट्ठाण देसघाई य सामिणो खवगा।
अतिमसमये सम्मत्तवेयखीणतलोभाण ॥१५०॥

शब्दार्थ—**मणनाणे**—मनपर्यायज्ञानावरण का, **दुट्ठाण**—द्विस्थानक, **देसघाई**—देशघाति, **य**—और, **सामिणो**—स्वामी, **खवगा**—क्षपक, **अतिमसमये**—अतिम समय मे, **सम्मत्त**—सम्यक्त्वमोहनीय, **वेय**—वेदत्रिक, **खीणत**—क्षीणमोहगुणस्थान मे क्षय होने वाली, **लोभाण**—सज्वलन लोभ का।

गाथार्थ—मनपर्यायज्ञानावरण का जघन्य अनुभागसत्कर्म स्थानापेक्षा द्विस्थानक और घातित्वापेक्षा देशघाति जानना चाहिए तथा सम्यक्त्वमोहनीय, वेदत्रिक, क्षीणमोहगुणस्थान मे क्षय होने वाली प्रकृतियो और सज्वलन लोभ का जघन्य अनुभागसत्कर्म अपने-अपने अतिम समय मे जानना चाहिए और स्वामी क्षपक है।

विशेषार्थ—'मणनाणे दुट्ठाण' अर्थात् मनपर्यायज्ञानावरण की स्थानापेक्षा द्विस्थानक रस की और घातित्व की अपेक्षा देशघाति रस की जघन्य सत्ता जानना चाहिए तथा जो उत्कृष्ट अनुभागसक्रम के स्वामी हैं उनको ही उत्कृष्ट अनुभागसत्ता का स्वामी समझना चाहिए और

जो जघन्य अनुभागसक्रम के स्वामी है, उनमे की कुछ एक प्रकृतियो की जघन्य अनुभागसत्ता के स्वामी भी उन्ही को जानना चाहिए। परन्तु कुछ प्रकृतियो के सम्बन्ध मे जो विशेष है वह इस प्रकार जानना चाहिए—

सम्यक्त्वमोहनीय, स्त्री, पुरुष नपु सक रूप तीन वेद तथा क्षीण-मोहगुणस्थान मे क्षय होने वाली ज्ञानावरणपचक, अतरायपचक और दर्शनावरणषट्क और सज्वलन लोभ, कुल मिलाकर इन इक्कीस प्रकृतियो की जघन्य अनुभागसत्ता के स्वामी उन-उन प्रकृतियो के क्षय के समय वर्तमानन क्षपक जीव जानना चाहिए अर्थात् जिस समय वह प्रकृति सत्ता मे से नष्ट हो उस समय उस प्रकृति की जघन्य अनुभागसत्ता जानना चाहिए। जिसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मइसुयचक्खुअचक्खुण सुयसम्मत्तस्स जेट्ठलद्धिस्स ।
परमोहिस्सोहिदुगे मणनाणे विपुलनाणिस्स ॥१५१॥

शब्दार्थ—**मइसुयचक्खुअचक्खुण**—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावर्ण, अचक्षुदर्शनावरण की, **सुयसम्मतस्स**—श्रुतसम्पन्न, **जेट्ठलद्धिस्स**—उत्कृष्ट लब्धि वाले, **परिमोहिस्स**—परमावधिज्ञानी के, **ओहिदुगे**—अवधिद्विक आवरण की, **मणनाणे**—मनपर्यायज्ञानावरण की, **विपुलनाणिस्स**—विपुलमति मनपर्यायज्ञानी के

गाथार्थ—उत्कृष्ट लब्धि वाले श्रुतसम्पन्न के मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, चक्षुदशनावरण और अचक्षुदर्शनावरण की तथा परमावधिज्ञानी के अवधिद्विक आवरण की और विपुलमति मनपर्यायज्ञानी के मनपर्यायज्ञानावरण की जघन्य अनुभागसत्ता होती है।

विशेषार्थ—'मइसुय' इत्यादि अर्थात मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण इन चार प्रकृतियो के जघन्य अनुभाग की सत्ता 'सुयसम्मत्तस्स जेट्ठलद्धिस्स' सम्पूर्ण श्रुत के

पारगामी, उत्कृष्ट लब्धिसम्पन्न यानि श्रुतज्ञान की उत्कृष्ट लब्धि मे वर्तमान चौदह पूर्वधर के होती है। साराश वह हुआ कि इन मति ज्ञानावरण आदि चार प्रकृतियो की जघन्य अनुभागसत्ता के स्वार्म उत्कृष्ट श्रुतलब्धि सम्पन्न चौदह पूर्वधारी हैं। तथा—

'परिमोहिस्सोहिदुगे' परमावधिज्ञान से युक्त जीव के अवधि ज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरण की जघन्य अनुभाग की सत्त होती है। अर्थात् अवधिज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरण की जघन्य अनुभागसत्ता का स्वामी परमावधिलब्धिसम्पन्न जीव है। तथा—

विपुलमतिमनपर्यायज्ञानी मनपर्यायज्ञानावरण की जघन्य अनुभागसत्ता का स्वामी है—'मणनाणे विपुलनाणिस्स'।

उक्त मतिज्ञानावरणादि प्रकृतियो की जघन्य अनुभागसत्ता के स्वामी उत्कृष्ट श्रुतज्ञानादि लब्धिसम्पन्न जीवो के होने का कारण यह है कि इनके उन-उन प्रकृतियो का अधिक अनुभाग (रस) क्षय होता है। जिससे उक्त लब्धिसम्पन्न जीव उन उन प्रकृतियो के जघन्य अनुभाग के स्वामी बताये है।

इस प्रकार से अनुभागसत्ता के स्वामित्व को बतलाने के बाद अब अनुभागसत्ता के भेदो की प्ररूपणा करते है।

अनुभागसत्ता के भेद

अणुभागट्ठाणाइ तिहा कमा ताणऽसखगुणियाणि।
बंधा उव्वट्टोवट्टणाउ अणुभागघायाओ ॥१५२॥

शब्दार्थ—अणुभागट्ठाणाइ—अनुभागस्थान, तिहा—तीन प्रकार, कमा—क्रमश, ताण—वे, असखगुणियाणि—असख्यातगुणे, बधा—बध, उव्वट्टोवट्टणाउ—उद्वर्तना, अपवर्तना करण से, अणुभागघायाओ—अनुभागघात से।

गाथार्थ—बध, उद्वर्तना-अपवर्तना करण और अनुभागघात से उत्पन्न होने के कारण अनुभागस्थान तीन प्रकार के है और वे क्रमश असख्यात-असख्यातगुणे है।

विशेषार्थ—पूर्व मे जैसे स्थितिसत्ता के प्रसग मे स्थिति के भेदो को वतलाया है, उसी प्रकार यहाँ अनुभागसत्ता के भेदो का निर्देश किया है—

सत्तागत अनुभागस्थान तीन प्रकार के है—'अणुभागट्ठाणाइ तिहा'। इसका कारण यह है कि भिन्न-भिन्न रीति—प्रकार से सत्ता मे रस का भेद होता है और इस भेद के हेतु है—वध, उद्वर्तना,-अपवर्तना और अनुभाग (रस) घात।

इन तीनो भेदो मे से वध से जिनकी उत्पत्ति होती है, उनको वधोत्पत्तिक कहते है। प्रत्येक समय प्रत्येक जीव किसी-न-किसी अनुभागस्थान का वध करता ही रहता है। उसमे जव तक उद्वर्तना, अपवर्तना या रसघात द्वारा भेद न हो तव तक वह वधोत्पत्तिक अनुभागस्थान कहलाता है। वह असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण है। क्योकि उसके हेतु असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण है।

उद्वर्तना-अपवर्तना रूप दो करणो से जो उत्पन्न होते है, वे हतोत्पत्तिक कहलाते हैं। क्योकि 'हतात् उत्पत्तिर्येपा तानि हतोत्पत्तिकानि'—घात होने से जिनकी उत्पत्ति है वे हतोत्पत्तिक ऐसा व्युत्पत्त्यर्थ है। इसका तात्पर्य यह है कि—उद्वर्तना-अपवर्तना रूप दो करणो के द्वारा वधावलिका के बीतने के वाद वधे हुए अनुभाग मे जो वृद्धि-हानि होती हे और वृद्धि-हानि होने के द्वारा पूर्वावस्थान का विनाश होने मे जो उत्पन्न हो वे हतोत्पत्तिक अनुभागस्थान कहलाते है।

अनुभागस्थान का वध होने के अनन्तर और वधावलिका के व्यतीत होने के वाद उद्वर्तना-अपवर्तना के द्वारा अनुभाग की असख्य प्रकार से वृद्धि-हानि होती है। इस प्रकार सत्ता मे उद्वर्तना-अपवर्तना द्वारा जो रस के भेद होते ह वे हतोत्पत्तिक अनुभागसत्कर्मस्थान कहलाते हे। वे वधोत्पत्तिक अनुभागसत्कर्मस्थानो से असख्यातगुणे है। इसका कारण यह है कि वध से उत्पन्न हुए—वधे हुए एक-एक

अनुभागस्थान मे अनेक जीवो की अपेक्षा उद्वर्तना-अपवर्तना के द्वारा असख्यात भेद होते है।

अनुभाग का घात होने से अर्थात् रसघात होने के द्वारा सत्तागत अनुभाग के स्वरूप का जो अन्यथाभाव हो और उसके द्वारा जो अनुभागस्थान होते है वे 'हतहतोत्पत्तिक' कहलाते हैं। अर्थात् उद्वर्तना-अपवर्तना द्वारा बद्ध अनुभागस्थान के स्वरूप का अन्यथा-भाव होने के बाद स्थितिघात, रसघात द्वारा जिनके स्वरूप का अन्यथा-भाव होता है, वे हतहतोत्पत्तिक अनुभागस्थान हैं।

यहाँ पहले उद्वर्तना-अपवर्तना द्वारा बद्ध अनुभागस्थान के स्वरूप का घात—अन्यथाभाव हुआ है और उसके वाद पुनः स्थितिघात, रसघात द्वारा हुआ है। इस तरह दो बार घात होने के द्वारा अनुभाग-स्थान हुए है। इसी कारण इनका हतहतोत्पत्तिक यह नामकरण किया गया है। ये अनुभागस्थान उद्वर्तना-अपवर्तना से उत्पन्न हुए स्थानो की अपेक्षा असख्यातगुणे है। क्योकि उद्वर्तना-अपवर्तना से उत्पन्न हुए एक-एक अनुभागसत्कर्मस्थान मे भिन्न-भिन्न अनेक जीवो की अपेक्षा से स्थितिघात और रसघात के द्वारा असख्यात भेद होते हैं।

इस प्रकार से अनुभागसत्कर्म का विवेचन जानना चाहिए।

प्रदेशसत्कर्म

अब क्रमप्राप्त प्रदेशसत्कर्म के स्वरूप का विचार प्रारम्भ करते है। इसके दो अर्थाधिकार हैं—सादि-अनादि प्ररूपणा और स्वामित्व प्ररूपणा। इनमे से सादि अनादि प्ररूपणा मूल प्रकृतिविषयक उत्तर प्रकृतिविपयक के भेद से दो प्रकार की है। इन दोनो मे से पहले मूलप्रकृतिविपयक सादि-अनादि विकल्पो की प्ररूपणा करते हे।

प्रदेशसत्कर्मापेक्षा मूल प्रकृतियो की सादि-अनादि प्ररूपणा

सत्ताण्ह अजहन्न तिविह सेसा दुहा पएसमि।
मूलपगईसु आउस्स साइ अधुवा य सव्वेवि ॥१५३॥

शब्दार्थ—**सत्तण्हं**—सात का, **अजहन्न**—अजघन्य, **तिविह्**—तीन प्रकार का, **सेसा**—शेष, **दुहा**—दो प्रकार के, **पएसंमि**—प्रदेश के विषय मे, **मूलपगईसु**—मूल प्रकृतियो के, **आउस्स**—आयु के, **साइ**—सादि, **अधुवा**—अध्रुव, **य**—और, **सव्वेवि**—सभी।

गाथार्थ—सात मूल प्रकृतियो के प्रदेश के विषय मे अजघन्य प्रदेशसत्कर्म तीन प्रकार का है और शेष विकल्प दो प्रकार के हे तथा आयु के सभी विकल्प सादि, अध्रुव होते है।

विशेषार्थ- गाथा मे ज्ञानावरणादि आठ मूल कर्मो की उत्कृष्ट आदि प्रदेशसत्ता के प्रकारो के सादि आदि भगो का विचार किया हे—

'सत्तण्ह अजहन्न तिविह्'—अर्थात् आयु को छोडकर शेष सात मूल कर्मो की प्रदेश सम्बन्धी अजघन्य सत्ता अनादि, ध्रुव और अध्रुव रूप से तीन प्रकार की है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

आयु के बिना शेष सात कर्मों की अपने-अपने क्षय के समय चरम स्थिति मे वर्तमान क्षपितकर्मांश जीव के जघन्य प्रदेशसत्ता होती है। वह सत्ता मात्र एक समय प्रमाण होने से सादि और अध्रुव है। उसके सिवाय शेप सभी प्रदेशसत्ता अजघन्य है। वह अजघन्य प्रदेशसत्ता सर्वदा होने से अनादि है। अभव्य और भव्य की अपेक्षा क्रमश ध्रुव और अध्रुव जानना चाहिये।

इन्ही सात मूलकर्मो के शेप उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट और जघन्य ये तीनो विकल्प सादि और अध्रुव है। उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता गुणितकर्माशि सप्तम नरकपृथ्वी मे वर्तमान मिथ्यादृष्टि के होती है और उसी को शेपकाल मे अनुत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती हे। जिससे वे दोनो भग सादि, अध्रुव है और जघन्य भग का विचार अजघन्य भग के प्रसग मे किये गये अनुसार जानना चाहिये।

'आउस्स सव्वेवि साइ अधुवा' अर्थात् चारो आयु की अध्रुव-सत्ता होने मे आयुकर्म के उत्कृष्ट,अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य ये सभी चारो विकल्प सादि, अध्रुव जानना चाहिये।

इस प्रकार से मूल कर्मो की सादि-अनादि प्ररूपणा करने के पश्चात् अब उत्तर प्रकृतियो सम्बन्धी सादि आदि भगो का विचार करते है।

प्रदेशसत्कर्मापेक्षा उत्तर प्रकृतियो की सादि-अनादि प्ररूपणा

सुभधुवबधितसाईपणिदि चउरंसरिसभ सायाण ।
सजलणुस्साससुभखगइ पुपराघायणुक्कोसं ॥१५४॥
चउहा धुवसंतीण अणजससंजलणलोभवज्जाण ।
तिविहमजहण्ण चउहा इमाण छण्ह दुहाणुत्ता ॥१५५॥

शब्दार्थ—**सुभधुवबधि**—ध्रुवबधिनी शुभ प्रकृतिया, **तसाइ**—त्रसादि दस, **पणिदि**—पचेन्द्रिय जाति, **चउरस**—समचतुरस्रसस्थान, **रिसभ**—वज्रऋषभनाराचसहनन, **सायाण**—सातावेदनीय की, **सजलण**—सज्वलनचतुष्क, **उस्सास**—उच्छ्वास, **सुभखगइ**—शुभ विहायोगति, **पु**—पुरुषवेद, **पराघाय**—पराघात, **अणुक्कोस**—अनुत्कृष्ट ।

चउहा—चार प्रकार की, **धुवसतीण**—ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियो की, **अण**—अनन्तानुवधि, **जस**—यश कीर्ति, **सजलणलोभवज्जाण**—सज्वलन लोभ वर्जित, **तिविह**—तीन प्रकार की, **अजहण्ण**—अजघन्य, **चउहा**—चार प्रकार की, **इमाण**—इन्ही, **छण्ह**—छह प्रकृतियो की, **दुहाणुत्त**—अनुक्त विकल्प दो प्रकार के हैं।

गाथार्थ—ध्रुवबधिनी शुभ प्रकृतियो, त्रसादि दस, पचेन्द्रिय जाति, समचतुरस्रसस्थान, वज्रऋषभनाराचसहनन, सातावेदनीय, सज्वलनचतुष्क, उच्छ्वास, शुभ विहायोगति, पुरुषवेद और पराघात की अनुत्कृष्ट प्रदेशसत्ता चार प्रकार की है तथा अनन्तानुबधिकषायचतुष्क, यश कीर्ति और सज्वलन लोभ वर्जित ध्रुव-

सत्ता वाली प्रकृतियो की अजघन्य प्रदेशसत्ता तीन प्रकार की और अनन्तानुबंधिकषायचतुष्क आदि छह प्रकृतियो की चार प्रकार की है तथा जिन प्रकृतियो का उल्लेख नही किया उनके अनुक्त विकल्प दो प्रकार के है।

विशेषार्थ—उत्तर प्रकृतियो की प्रदेशसत्ता सम्बन्धी सादि आदि की प्ररूपणा प्रारम्भ करते हुए बताया है—

निर्माण, अगुरुलघु, शुभवर्णादि ग्यारह, तैजसकार्मणसप्तक रूप बीस ध्रुवबन्धिनी शुभ प्रकृतियो तथा त्रस, बादर आदि त्रसदशक, पचेन्द्रियजाति, समचतुरस्रसस्थान, वज्रऋषभनाराचसहनन, साता-वेदनीय, सज्वलनचतुष्क, उच्छ्वास, शुभ विहायोगति, पुरुषवेद और पराघात कुल मिलाकर बयालीस प्रकृतियो की 'अणुक्कोस चउहा'—अनुत्कृष्ट प्रदेशसत्ता सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव, इस तरह चार प्रकार की है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

वज्रऋषभनाराचसहनन को छोड़कर शेष इकतालीस प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता क्षपकश्रेणि मे अपने-अपने बन्ध के अत समय मे वर्तमान गुणितकर्मांश जीव के होती है। वह मात्र एक समय की होने से सादि और अध्रुव है। उसके सिवाय शेष सभी प्रदेशसत्ता अनुत्कृष्ट है। यह अनुत्कृष्ट प्रदेशसत्ता उत्कृष्ट सत्ता के अनन्तर समय मे होने से सादि है। उस स्थान को जिन्होने प्राप्त नही किया उनके अनादि और अभव्य के ध्रुव एव भव्य के अध्रुव है।

वज्रऋषभनाराचसहनन की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता सातवी नरक-पृथ्वी मे वर्तमान मिथ्यात्वगुणस्थान मे जाने के लिये तत्पर गुणित-कर्मांश सम्यग्दृष्टि नारक के होती है। वह उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता सादि, अध्रुव है। उसके सिवाय शेप सब प्रदेशसत्ता अनुत्कृष्ट है। वह अनु-त्कृष्ट प्रदेशसत्ता उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता के अनन्तरवर्ती समय मे होने से सादि है। उस स्थान को प्राप्त नही करने वाले की अपेक्षा अनादि तथा भव्य और अभव्य की अपेक्षा क्रमश अध्रुव और ध्रुव जानना चाहिये।

अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्क, सज्वलन लोभ और यश कीर्तिनाम इन छह प्रकृतियो के सिवाय शेष एक सौ चौबीस ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियो की अजघन्य प्रदेशसत्ता अनादि, ध्रुव और अध्रुव रूप तीन प्रकार की है। जो इस प्रकार जानना चाहिये—

इन प्रकृतियो की जघन्य प्रदेशसत्ता अपने-अपने क्षय के चरम समय मे क्षपितकर्मांश जीव के होती है। वह एक समय मात्र होने से सादि है। उसके सिवाय अन्य समस्त प्रदेशसत्ता अजघन्य है और वह अनादि है। क्योकि उसका सर्वदा सद्भाव पाया जाता है। अभव्य की अपेक्षा वह ध्रुव और भव्य की अपेक्षा अध्रुव है।

ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियो मे से कम की गई पूर्वोक्त अनन्तानुबन्धिचतुष्क, यश कीर्ति और सज्वलन लोभ इन छह प्रकृतियो की अजघन्य प्रदेशसत्ता सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार की है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

अनन्तानुबन्धिचतुष्क के उद्वलक क्षपितकर्मांश किसी जीव के सत्ता मे जब उसकी एक आवलिका शेष रहे तब जघन्य प्रदेशसत्ता होती है। उसका काल मात्र एक समय होने से वह जघन्य प्रदेशसत्ता सादि और अध्रुव है। उसके सिवाय शेष सब सत्ता अजघन्य है। वह अजघन्य प्रदेशसत्ता अनन्तानुबन्धि की उद्वलना करने के बाद मिथ्यात्व के निमित्त से जब पुन बन्ध करे तब होने से सादि है। उस स्थान को जिन्होने प्राप्त नही किया, अर्थात् अभी तक जिन्होने अनन्तानुबन्धि की उद्वलना नही की है, उनके अजघन्य प्रदेशसत्ता अनादि, अभव्य के ध्रुव और भव्य के अध्रुव जानना चाहिये।

सज्वलन लोभ और यश कीर्ति की जघन्य प्रदेशसत्ता क्षपण के लिये उद्यत हुए क्षपितकर्मांश जीव को यथाप्रवृत्तकरण (अप्रमत्तसयतगुणस्थान) के चरम समय मे होती है। वह एक समय मात्र की होने से सादि और अध्रुव है। उसके सिवाय शेष सब प्रदेशसत्ता अजघन्य है। वह अपूर्वकरणगुणस्थान के प्रथम समय मे गुणसक्रम द्वारा

अन्य अशुभ प्रकृतियो के प्रभूत दलिको के प्राप्त होने से सादि है। उस स्थान को प्राप्त नही करने वाले की अपेक्षा अनादि और ध्रुव, अध्रुव क्रमश अभव्य और भव्य की अपेक्षा से जानना चाहिये। तथा—

समस्त कर्मप्रकृतियो के जो विकल्प नही कहे गये है, वे सादि और अध्रुव जानना चाहिये। उनमे से शुभ ध्रुवबन्धिनी और त्रसादि दशक आदि बयालीस प्रकृतियो के अनुक्त जघन्य, अजघन्य और उत्कृष्ट ये तीनो विकल्प सादि और अध्रुव इस तरह दो प्रकार के है। इनमे से उत्कृष्ट के सादि, अध्रुवत्व भग का विचार पूर्व मे किया जा चुका है और जघन्य, अजघन्य इन दो विकल्पो के सादि और अध्रुव भगो का विचार जघन्य प्रदेशसत्ता के स्वामी कौन है ? के प्रसग से अपने आप कर लेना चाहिये।

ध्रुवसत्ता वाली एक सौ चौबीस प्रकृतियो के जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट इन तीन विकल्पो के सादि और अध्रुव इस तरह दो भग है। इनमे से जघन्य के सादि और अध्रुव भग का विचार पहले किया जा चुका है और पूर्वोक्त बयालीस प्रकृतियो के सिवाय शेष सभी कर्म प्रकृतियो के उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट ये दोनो विकल्प गुणितकर्माश मिथ्यादृष्टि के होते है। इसलिये वे दोनो सादि और अध्रुव हैं।

इसी प्रकार अनन्तानुबन्धिचतुष्क, सज्वलन लोभ और यश कीर्ति के उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट ये दोनो विकल्प भी जान लेना चाहिये। जघन्य का विचार तो पहले किया जा चुका है।

ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियो से शेष रही अध्रुवसत्ता वाली होने से अध्रुवसत्ताका प्रकृतियो के उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य ये चारो विकल्प सादि और अध्रुव जानना चाहिये।

पूर्वोक्त प्रकार से प्रदेशसत्ता की अपेक्षा उत्तर प्रकृतियो के सादि आदि भगो का विचार करने के बाद अब स्वामित्व का विचार करते हैं। वह दो प्रकार का है—उत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्मस्वामित्व, जघन्य

प्रदेशसत्कर्मस्वामित्व। इन दोनो मे से पहले उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता के स्वामियो का निर्देश करते है।

उत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्मस्वामित्व

संपुण्णगुणियकम्मो पएसउक्कस्ससत सामीओ ।
तस्सेव सत्तमा निग्गयस्स काण विसेसो वि ॥१५६॥

शब्दार्थ—**सपुण्णगुणियकम्मो**—सम्पूर्ण गुणितकर्मांश, **पएसउक्कस्स-सत**—उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का, **सामीओ**—स्वामी, **तस्सेव**—उसी के, **सत्तमा**—सातवी पृथ्वी, **निग्गयस्स**—निर्गत—निकले हुए के, **काण**—किन्ही प्रकृतियो के विषय मे, **विसेसो वि**—विशेष भी।

गाथार्थ—सम्पूर्ण गुणितकर्मांश जीव प्राय उत्कृष्ट प्रदेश-सत्ता का स्वामी है तथा सातवी पृथ्वी से निर्गत उसी के कितनी ही प्रकृतियो के विषय मे विशेष भी है।

विशेषार्थ—यहाँ उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता के सम्भव स्वामी का सामान्य से निर्देश किया है—

'सपुण्णगुणियकम्मो' अर्थात् सातवी नरकपृथ्वी की अपनी आयु के चरम समय मे वर्तमान सम्पूर्ण गुणितकर्मांश नारकी प्राय समस्त कर्म प्रकृतियो की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का स्वामी जानना चाहिये। किन्तु उसी सातवी नरकपृथ्वी मे से निकले हुए गुणितकर्मांश जीव के कतिपय प्रकृतियो के सम्बन्ध मे विशेष भी है। जिसका वर्णन यथा-क्रम से आगे किया जा रहा है—

मिच्छमीसेहि कमसो संपक्खित्तेहिं मीससम्मेसु ।
परम पएससत कुणई नपुसस्स ईसाणी ॥१५७॥

शब्दार्थ—**मिच्छमीसेहिं**—मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय को, **कमसो**—क्रमश, **सपक्खित्तेहिं**—प्रक्षिप्त करने के द्वारा, **मीससम्मेसु**—मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय मे, **परम**—उत्कृष्ट, **पएससत**—प्रदेशसत्ता, **कुणइ**—करता है, **नपुसस्स**—नपुसकवेद की, **ईसाणी**—ईशानी देव।

गाथार्थ—मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय को प्रक्षिप्त करने के द्वारा क्रमशः मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय की तथा ईशान स्वर्गगत देव के नपु सकवेद की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है।

विशेषार्थ—गाथा मे मिश्र, सम्यक्त्व मोहनीय और नपु सकवेद की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता के स्वामियो को बतलाया है—

पूर्वोक्त गुणितकर्मांश कोई जीव सातवी नरकपृथ्वी से निकलकर तिर्यंच मे उत्पन्न हो और वहाँ अन्तर्मु हूर्त पर्यन्त रहकर सख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य मे उत्पन्न हो और वहाँ सम्यक्त्व प्राप्त कर दर्शन-मोहत्रिक और अनन्तानुबन्धिचतुष्क इन सात प्रकृतियो का क्षय करने वाला वह जीव अनिवृत्तिकरण के जिस समय मे सर्वसक्रम द्वारा मिथ्यात्वमोहनीय को मिश्रमोहनीय मे सक्रात करे उस समय मिश्र-मोहनीय की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है और उसी मिश्रमोहनीय को सर्वसक्रम द्वारा सम्यक्त्वमोहनीय मे सक्रमित करते समय सम्यक्त्व-मोहनीय की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता प्राप्त होती है।[1] तथा—

वही गुणितकर्मांश कोई नारक तिर्यंच होकर ईशान देवलोक मे देव हो और वहाँ अतिसक्लिष्ट परिणाम वाला होकर बारम्बार नपु सकवेद का बन्ध करे तो उस नपु सकवेद की अपने भव के अन्त समय मे वर्तमान उस ईशान देव के उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है।[2] तथा—

---

१ सातवी नरकपृथ्वी का नारक मनुष्य मे उत्पन्न नही होता है और मनुष्य मे उत्पन्न हुए बिना क्षायिक सम्यक्त्व नही हो सकता। इसीलिए तिर्यंच मे जाकर सख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य में उत्पन्न होना कहा है।

२ इसका कारण यह है कि ईशान देवो की उत्कृष्ट आयु दो सागरोपम प्रमाण है तथा अति सक्लिष्ट परिणाम होने पर वे एकेन्द्रिययोग्य कर्मबन्ध करते हैं और उनका बध करते हुये नपु सकवेद बाधते है। जिससे ईशान देव को नपु सकवेद की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का स्वामी बताया है।

ईसाणे पूरित्ता नपु सग तो असंखवासीसु ।
पल्लासखियभागेण पुरए इत्थीवेयस्स ॥१५८॥

शब्दार्थ—**ईसाणे**—ईशान स्वर्ग मे, **पूरित्ता**—पूरकर, **नपु सग**—नपु सकवेद को, **तो**—तत्पश्चात्, **असखवासीसु**—असख्यात वर्ष की आयु वालो मे, **पल्लासखियभागेण**—पल्योपम के असख्यातवें भाग द्वारा, **पुरए**—पूरित करने पर, **इत्थीवेयस्स**—स्त्रीवेद की ।

गाथार्थ—ईशान स्वर्ग मे नपु सकवेद को पूरकर तत्पश्चात् असख्यात वर्ष की आयु वालो मे उत्पन्न हो और वहाँ पल्योपम के असख्यातवे भाग समय द्वारा स्त्रीवेद को पूरित करने पर उसकी उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है ।

विशेषार्थ– कोई गुणितकर्मांश सप्तमपृथ्वी का नारक वहाँ से निकलकर तिर्यंच होकर ईशान स्वर्ग मे देव हो और वहाँ अति सक्लिष्ट परिणामो से बारम्बार नपु सकवेद के बन्ध द्वारा उसका उत्कृष्ट प्रदेश सचय कर पहले सख्यात वर्ष की आयु वालो मे और उसके बाद असख्यात वर्ष की आयु वालो मे उत्पन्न हो और वहाँ सक्लिष्ट परिणाम वाला होकर पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण काल द्वारा बारम्बार बध से और नपु सकवेद के दलिको के सक्रम से स्त्रीवेद को पुष्ट करे और जब वह स्त्रीवेद पूर्णरूपेण पुष्ट हो तब उस युगलिया के स्त्रीवेद की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है ।[1] तथा—

---

१ भोगभूमिज को स्त्रीवेद की उत्कृष्टप्रदेश सत्ता का अधिकारी बताने का कारण यह प्रतीत होता है कि भोगभूमिज देवगतिप्रायोग्य कर्म बध करते हैं और उनका बध करते हुए अतिसक्लिष्ट परिणाम वशात् स्त्रीवेद को बाधते हैं, नपु सकवेद को नही । क्योकि देवगति में नपु सकवेद का उदय नही होता है तथा उनकी आयु अधिक होने से दीर्घकाल तक बाध सकते हैं और जिन क्लिष्ट परिणामो से भोगभूमिज स्त्रीवेद का बध करते हैं, वैसे परिणाम होने पर ईशान देव नपु सकवेद को बाधते हैं । इसीलिये भोगभूमिज को स्त्रीवेद की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का स्वामी बताया है ।

जो सव्वसकमेण इत्थी पुरिसम्मि छुहइ सो सामी ।
पुरिसस्स कमा संजलणयाण सो चेव संछोभे ॥१५६॥

शब्दार्थ—**जो**—जो (गुणितकर्मांश), **सव्वसकमेण**—सर्वसंक्रम के द्वारा, **इत्थी**—स्त्रीवेद को, **पुरिसम्मि**—पुरुषवेद में, **छुहइ**—संक्रांत करता है **सो**—वह **सामी**—स्वामी, **पुरिसस्स**—पुरुषवेद का, **कमा**—अनुक्रम से, **संजलणयाण**—संज्वलन कषायों का, **सो चेव**—वही, **संछोभे**—संक्रांत करने पर ।

गाथार्थ—जो गुणितकर्मांश सर्वसंक्रम द्वारा स्त्रीवेद के दलिक का पुरुषवेद में संक्रांत करे वह पुरुषवेद की और अनुक्रम से पुरुषवेदादि को संज्वलन कषायों में संक्रांत करने पर वही संज्वलन क्रोधादि कषायों की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का स्वामी होता है ।

विशेषार्थ—यहाँ पुरुषवेद और संज्वलनकषायचतुष्क के उत्कृष्ट प्रदेशसत्तास्वामित्व का निर्देश किया है—

जो गुणितकर्मांश क्षपक स्त्रीवेद के दलिकों को सर्वसंक्रम द्वारा पुरुषवेद में संक्रमित करता है वह पुरुषवेद की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का स्वामी है 'सो सामी पुरिसस्स' । तत्पश्चात् वही जीव अनुक्रम से पुरुषवेदादि के दलिकों को संज्वलन क्रोधादि में संक्रांत करे तब वह क्रमशः संज्वलन क्रोध, मान आदि की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का स्वामी जानना चाहिए । तात्पर्य यह हुआ—

जो जीव पुरुषवेद की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का स्वामी है, वही जब पुरुषवेद के दलिकों को सर्वसंक्रम द्वारा संज्वलन क्रोध के दलिकों में संक्रांत करे तब वह संज्वलन क्रोध की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का स्वामी है । इसी प्रकार से जब संज्वलन क्रोध के दलिकों को सर्वसंक्रम द्वारा संज्वलन मान में संक्रांत करे तब संज्वलन मान की और जब संज्वलन मान के दलिकों को सर्वसंक्रम द्वारा संज्वलन माया में संक्रांत करे तब संज्वलन माया की और जब संज्वलन माया के दलिकों को सर्वसंक्रम द्वारा संज्वलन लोभ में संक्रांत करे तब संज्वलन लोभ की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का स्वामी होता है । तथा—

चउरुवसामिय मोहं जसुच्चसायाण सुहुमखवगते ।
ज असुभपगइदलियस्स सकमो होइ एयासु ॥१६०॥

शब्दार्थ—**चउरुवसामिय**—चार बार उपशमन करके, **मोह**—मोह का, **जसुच्चसायाण**—यश कीर्ति, उच्चगोत्र और सातावेदनीय की, **सुहुम**—सूक्ष्म-संपराय, **खवगते**—क्षपक के अन्तिम समय में, **ज**—क्योंकि, **असुभपगइदलियस्स**—अशुभ प्रकृतियो के दलिक का, **सकमो**—सक्रम, **होइ**—होता है, **एयासु**—इनमें ।

गाथार्थ—चार बार मोहनीयकर्म का उपशम करके क्षय के लिए उद्यत सूक्ष्मसपराय क्षपक के अन्तिम समय मे यश-कीर्ति, उच्चगोत्र और सातावेदनीय की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है। क्योकि अशुभ प्रकृतियो के दलिक का इनमे सक्रम होता है।

विशेषार्थ—गाथा मे कारणोल्लेख पूर्वक यश कीर्ति आदि तीन शुभ प्रकृतियो की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का स्वामित्व बतलाया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

'चउरुवसामिय मोह' चार बार मोहनीयकर्म का उपशमन करके शीघ्र कर्मों का क्षय करने के लिए तत्पर हुए उस गुणितकर्माश क्षपक जीव के सूक्ष्मसपरायगुणस्थान के चरम समय मे यश कीर्ति, उच्च-गोत्र और सातावेदनीय की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है। इसका कारण यह है—

'असुभपगइदलियस्स सकमो होइ एयासु' क्षपकश्रेणि पर आरूढ हुआ जीव गुणसक्रम द्वारा अशुभ प्रकृतियो के प्रभूत दलिको को इन प्रकृतियो मे सक्रात करता है। इसीलिए सूक्ष्मसपरायगुणस्थान के चरम समय मे इन प्रकृतिया की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता प्राप्त होती है। तथा—

अद्धाजोगुक्कोसेहिं देवनिरयाउगाण परमाए।
परमं पएससंत जा पढमो उदयसमओ सो ॥१६१॥
सेसाउगाणि नियगेसु चेव आगतु पुव्वकोडीए।
सायबहुलस्स अचिरा बधते जाव नो वट्टे ॥१६२॥

शब्दार्थ—**अद्धाजोगुक्कोसेहिं**—उत्कृष्ट काल और योग द्वारा, **देवनिरयाउगाण**—देवायु और नरकायु की, **परमाए**—उत्कृष्ट स्थितिबंध होने पर, **परमं**—उत्कृष्ट, **पएससतं**—प्रदेशसत्ता, **ज**—यावत्, **पढमो**—प्रथम, **उदयसमओ**—उदय के समय, **सो**—उनकी।

सेसाउगाणि—शेष आयुद्विक की, **नियगेसु**—अपने-अपने भव मे, **चेव**—ही, **आगतु**—आकर, **पुव्वकोडीए**—पूर्वकोटि प्रमाण, **सायबहुलस्स**—सातावहुल के, **अचिरा**—शीघ्र ही, **बधते**—बध के अन्त मे, **जाव**—यावत्, तक, **नो**—नही, **वट्टे**—अपवर्तना।

गाथार्थ—उत्कृष्ट काल और योग द्वारा देवायु और नरकायु की उत्कृष्ट स्थिति का बध होने पर उदय के प्रथम समय तक इन दोनो आयु की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है।

दो आयु की स्थिति को पूर्वकोटि प्रमाण बाधने के बाद अपने-अपने भव मे आकर सातावहुल होकर अनुभव करे और जब तक उनकी अपवर्तना न करे तब तक उस सातावहुल जीव के उन दोनो के बध के अत मे उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओ मे आयुचतुष्क की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता के स्वामियो का निर्देश किया है। उनमे से पहले देवायु और नरकायु के स्वामियो को बतलाते है—

कोई जीव 'अद्धाजोगुक्कोसेहिं'—उत्कृष्ट बन्धकाल और उत्कृष्ट योग द्वारा देवायु एव नरकायु की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध करे और बन्धने के बाद उनकी उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता तब तक सम्भव है जब तक उन दोनो के उदय का पहला समय प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि

बन्ध समय से लेकर उदय के प्रथम समय पर्यन्त उक्त प्रकार
(उत्कृष्ट योग और काल से) बन्धी हुई देवायु और नरकायु की उत्कृ-
प्रदेशसत्ता प्राप्त होती है। क्योकि उदय होने के बाद तो दलिक भो-
करने के द्वारा निर्जीण होते जाते है। इसीलिये उदय के प्रथम सम
पर्यन्त उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता सभव है। इस प्रकार देवायु और नरका
की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता के स्वामियो को बतलाने के बाद अब शे
रही मनुष्यायु और तिर्यंचायु की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता के स्वामियो को
बतलाते है—

कोई जीव तिर्यंचायु और मनुष्यायु को उत्कृष्ट बन्धकाल और उत्कृष्ट योग द्वारा पूर्वकोटि प्रमाण बाधे और बाधकर अपने-अपने योग्य भव मे अर्थात् मनुष्यायु का बन्धक मनुष्य मे और तिर्यंचायु का बन्धक तिर्यंच मे उत्पन्न हो बहुत ही सुखपूर्वक अपनी-अपनी आयु को यथायोग्य रीति से अनुभव करे और उसके बाद अर्थात् मनुष्य, तिर्यंच मे उत्पन्न होने के बाद मात्र अन्तर्मुहूर्त काल रहकर मरण सन्मुख होने पर उत्कृष्ट बन्धकाल और उत्कृष्ट योग द्वारा परभव की स्वजातीय यानी मनुष्य मनुष्यायु और तिर्यच तिर्यंचायु का बन्ध करे। उस आयु के बन्ध के अन्त समय मे भुज्यमान आयु की अपवर्तना होने से पहले सुख-पूर्वक अपनी आयु को भोगने वाले मनुष्य के मनुष्यायु की और तिर्यंच के तिर्यंचायु की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है। सुखी जीव के आयुकर्म के अधिक प्रदेशो का क्षय नही होने का सकेत करने के लिये यहाँ साता-बहुल विशेषण दिया है।

उक्त कथन का तात्पर्य यह हुआ कि कोई जीव पूर्वकोटि प्रमाण मनुष्य या तिर्यच आयु को बाधकर अनुक्रम से मनुष्य या तिर्यंच मे उत्पन्न हो, वहाँ अपनी आयु को मात्र अन्तर्मुहूर्त सुखपूर्वक अनुभव कर मरण के सन्मुख हो। मरण-सन्मुख होने वाला वह जीव भुज्यमान आयु की अपवर्तना करता ही है, किन्तु अपवर्तना करने से पहले उत्कृष्ट बन्ध-काल और उत्कृष्ट योग द्वारा परभव की स्वजातीय आयु बाधे तो

अध्यवसायो के द्वारा वैक्रियद्विक और देवद्विक को बन्ध द्वारा पुष्ट करके देवगति मे जाने के सन्मुख हुआ जीव वैक्रियद्विक और देवद्विक के बन्ध के अत समय मे उन प्रकृतियो की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का स्वामी जानना चाहिये ।[1] तथा—

तमतमगो अइखिप्पं सम्मत्ता लभिय तमि बहुगद्ध ।
मणुयदुगस्सुक्कोस सवज्जरिसभस्स बधते ॥१६४॥

शब्दार्थ—**तमतमगो**—तमस्तमापृथ्वी का नारक, **अइखिप्प**—अति शीघ्र, **सम्मत्त**—सम्यक्त्व को, **लभिय**—प्राप्त कर, **तमि**—उसमे, **बहुगद्ध**—बहुत समय तक, **मणुयदुगस्सुक्कोस**—मनुष्यद्विक का उत्कृष्ट बध, **सवज्जरिसभस्स**—वज्रऋषभनाराचसहननसहित, **बधते**—बध के अत समय में ।

गाथार्थ—तमस्तमापृथ्वी का नारक अतिशीघ्र सम्यक्त्व प्राप्त करके और उसमे बहुत समय तक रहकर मनुष्यद्विक और वज्रऋषभनाराचसहनन का बन्ध करे तो बन्ध के अत मे वह नारक जीव इन तीन प्रकृतियो की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का स्वामी है ।

विशेषार्थ—तमस्तमा नामक सातवी नरकपृथ्वी का कोई नारक अतिशीघ्र वहाँ उत्पन्न होने के बाद अन्तर्मुहूर्त बीतने पर पर्याप्त हो सम्यक्त्व प्राप्त करके सम्यक्त्व मे दीर्घकाल अर्थात् अन्तर्मुहूर्त न्यून

---

१ इसका कारण यह है कि सख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य या तिर्यंच के एक के बाद एक निरन्तर सात भव हो सकते हैं और उनमे क्लिष्ट परिणामो से अधिकतर नरकद्विक का वध कर सकते हैं, जिससे वैसे जीव उसकी उत्कृष्ट सत्ता के अधिकारी हैं । वैक्रियद्विक और देवद्विक के वध का युगलिया के भव मे अधिक समय मिलता है । क्योकि आठवा भव युगलिया का होता है और देवप्रायोग्य कर्मबन्ध करते हैं। इसलिए देवद्विक, वैक्रियद्विक इन चार प्रकृतियो की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का अधिकारी उनको माना है ।

तेतीस सागरोपम पर्यन्त रहे यानी उतने काल सम्यक्त्व का पालन करे और उतने काल तक मनुष्यद्विक—मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी और वज्रऋषभनाराचसंहनन को बन्ध द्वारा पुष्ट करे और उसके बाद वह सातवी पृथ्वी का नारक जीव यदि अनन्तर समय मे मिथ्यात्व को प्राप्त करेगा तो उस बन्धकाल के चरम रूप उस समय मे यानि चतुर्थ गुणस्थान के चरम समय मे उस नारक के मनुष्यद्विक और वज्रऋषभनाराचसंहनन की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है।[1] तथा—

> वेछावट्ठिचियाण मोहस्सुवसामगस्स चउक्खुत्तो ।
> सम्मधुवबारसण्ह खवगमि सबंध अन्तम्मि ॥१६५॥

शब्दार्थ—वेछावट्ठिचियाण—दो छियासठ सागरोपम पर्यन्त, मोहस्सुवसामगस्स—मोहनीयकर्म की उपशमना करने वाले के, चउक्खुत्तो—चार वार, सम्म—सम्यक्त्व, ध्रुवबारसण्ह—ध्रुवबंधिनी बारह प्रकृतियो की, खवगमि—क्षपक के, सबध अन्तम्मि—अपने बंध के अंत समय मे ।

---

१ सप्तम नरकपृथ्वी मे जाने वाला जीव सम्यक्त्व का वमन करके ही जाता है और नया सम्यक्त्व पर्याप्त-अवस्था मे उत्पन्न होता है । इसीलिए जन्म के अनन्तर अन्तर्मुहूर्त जाने के बाद सम्यक्त्व उत्पन्न होने का कहा है । अन्तर्मुहूर्त न्यून तेतीस सागरोपम पर्यन्त उसको सम्यक्त्व रह सकता है और उस स्थिति मे निरंतर उक्त तीन प्रकृतियो का बंध कर सकता है, जिससे उस जीव को उक्त तीन प्रकृतियो की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का अधिकारी बताया है ।

कदाचित् यह कहा जाये कि अनुत्तर देव पूर्ण तेतीस सागरोपम पर्यन्त उक्त प्रकृतियो का निरन्तर बंध करते है, तो फिर उनको उत्कृष्ट सत्ता का अधिकारी क्यो नही बताया है ? तो इसका उत्तर यह है कि अनुत्तर देवो की अपेक्षा नारक मे योग बहुत अधिक होता है और योगानुसार प्रदेशबंध होता है, जिससे वह अधिक पुद्गलो को ग्रहण कर सकता है । इसीलिए सप्तम पृथ्वी के नारक का ग्रहण किया है ।

गाथार्थ— चार बार मोहनीय का उपशम करके क्षय करने वाले के सम्यक्त्व के होने पर भी दो छियासठ सागरोपम पर्यन्त पुष्ट की गई ध्रुवबन्धिनी बारह प्रकृतियो की अपने-अपने बन्ध के अत समय मे उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है।

विशेषार्थ—गाथा मे सम्यक्त्व-सापेक्ष बारह शुभ ध्रुवबधिनी प्रकृतियो की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता के स्वामित्व को वतलाया है—

मिश्रगुणस्थान के अन्तर्मुहूर्त काल अधिक दो छियासठ—एक सौ बत्तीस—सागरोपम पर्यन्त बध द्वारा और अन्य प्रकृतियो के सक्रम द्वारा पुष्टि की गई तथा सम्यक्त्व होने पर जिनका अवश्य बध होता है ऐसी पचेन्द्रियजाति, समचतुरस्रसस्थान, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, सुस्वर, सुभग और आदेय रूप वारह प्रकृतियो की चार बार मोहनीय का उपशमन करने के वाद मोहनीय का क्षय करने के लिये उद्यत जीव के अपने-अपने बध के अत समय मे उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है। क्योकि मोहनीय का उपशमन करने वाला जीव अशुभ प्रकृतियो के प्रभूत दलिको को गुणसक्रम द्वारा पूर्वोक्त वारह प्रकृतियो मे सक्रात करता है। इसीलिये चार बार उपशमन करने के वाद क्षय करने वाले जीव को उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का स्वामी वताया हे। तथा—

सुभथिरसुभधुवियाण एव चिय होइ सतमुक्कोस।
तित्थयराहाराण नियनियगुक्कोसबधते ॥१६६॥

शब्दार्थ—शुभ—शुभनाम, थिर—स्थिरनाम, सुभधुवियाण—शुभ ध्रुव बधिनी प्रकृतियो की, एव चिय—इसी प्रकार, होइ—होती है, सतमुक्कोस—उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता, तित्थयराहाराण—तीर्थंकर और आहारक नामकर्म की, नियनियग—अपने-अपने, उक्कोसबधते—उत्कृष्ट बध काल के अत समय मे।

गाथार्थ—शुभनाम, स्थिरनाम और शुभ ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियो की इसी प्रकार उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है तथा तीर्थं-

कर और आहारक नामकर्म की अपने-अपने उत्कृष्ट बन्धकाल के अत समय मे उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है ।

विशेषार्थ--शुभनाम, स्थिरनाम तथा तैजसकार्मणसप्तक, शुभवर्णादि ग्यारह, अगुरुलघु और निर्माण रूप ध्रुवबन्धिनी शुभ बीस प्रकृतियो की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता भी पूर्वोक्त प्रकार से ही यानि पूर्व मे जिस प्रकार से पचेन्द्रियजाति आदि बारह प्रकृतियो की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता बताई है उसी प्रकार समझना चाहिये, किन्तु यहाँ इतना विशेष है कि इन पूर्वोक्त बाईस प्रकृतियो की चार बार मोहनीय का उपशम करने के बाद अतिशीघ्र मोहनीय का क्षय करने के लिये उद्यत हुए जीव के उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है ।

तीर्थंकरनाम और आहारकसप्तक की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता अपने-अपने उत्कृष्ट बन्धकाल के अत समय मे होती है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि कोई गुणितकर्मांश जीव जब देशोन दो पूर्वकोटि वर्ष अधिक तेतीस सागरोपम पर्यन्त तीर्थंकरनाम को बन्ध के द्वारा पुष्ट करे तब उस तीर्थंकरनाम के बन्ध के अत समय मे तीर्थंकरनाम की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है[1] और जिसने आहारकसप्तक को भी देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त बारबार बन्ध द्वारा पुष्ट किया हो, उसको

---

१ तीर्थंकरनामकर्म का निकाचित बध होने के बाद प्रतिसमय उसका बध होना रहता है । तीर्थंकरनाम का तीसरे भव मे निकाचित बध होता है । पूर्वकोटि की आयु वाला कोई जीव अपनी कम मे कम जितनी आयु जाने के बाद निकाचित कर सकता है तब तेतीस सागरोपम आयु के साथ अनुत्तर विमान मे उत्पन्न हो और वहाँ से च्यवकर चौरासी लाख पूर्व की आयु से तीर्थंकर हो और उस भव मे जब तक आठवा गुणस्थान प्राप्त न करे तब तक उसका बध होता रहता है इसीलिये उतना काल बताया है। तीर्थंकर की उत्कृष्ट आयु चौरासी लाख पूर्व की होती है, इसीलिये चौरासी लाख पूर्व की आयु से तीर्थंकर होने का सकेत किया है ।

आहारकसप्तक की उसके बन्धविच्छेद के समय उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है ।[1] तथा—

तुल्ला नपु सगेण एगिंदिय थावरायवुज्जोया ।
सुहुमतिग विगलावि य तिरिमणुयचिरच्चिया नवरिं ॥१६७॥

शब्दार्थ—तुल्ला—तुल्य, नपु सगेण—नपु सकवेद के, एगिंदिय-थावरायवुज्जोया—एकेन्द्रियजाति, स्थावरनाम, आतपनाम और उद्योत-नाम की, सुहुमतिग—सूक्ष्मत्रिक, विगलावि—विकलत्रिक भी, य—और, तिरि-मणुय—तियच और मनुष्य के, चिरच्चिया—दीर्घकाल तक पुन पुन बध द्वारा सचित, नवरिं—किन्तु ।

गाथार्थ—एकेन्द्रिय जाति, स्थावर, आतप और उद्योत नाम-कर्म की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता नपु सकवेद के तुल्य समझना चाहिये तथा सूक्ष्मत्रिक और विकलत्रिक की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता दीर्घकाल तक पुन पुन बन्ध द्वारा सचित करने वाले मनुष्यो और तिर्यंचो के जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—गाथा मे मुख्यरूप से तिर्यंचप्रायोग्य प्रकृतियो की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता के स्वामित्व का निर्देश किया है कि एकेन्द्रियजाति, स्थावर, आतप और उद्योत इन चार प्रकृतियो की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता 'तुल्ला नपु सगेण'—नपु सकवेद के समान जानना चाहिये । अर्थात् पूर्व मे जैसे ईशान देवो के अपने भव के चरम समय मे नपु सकवेद की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता का निरूपण किया है, उसी प्रकार से उपर्युक्त चार प्रकृतियो की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता भी ईशान देवो के अपने भव के चरम समय मे समझना चाहिये । इसका कारण यह है कि नपु सकवेद का वन्ध क्लिप्ट परिणामो से होता हे और वैसे क्लिष्ट

---

१ आहारकसप्तक का वध होने के बाद अपनी वधयोग्य भूमिका मे उसका वध होता रहता है । परन्तु उसका वध सातवें गुणस्थान मे होता है और वह गुणस्थान मनुष्यगति मे पाया जाता है । अतएव देशोन पूर्वकोटि में से जितना अधिक काल हो सकता है, उतना जानना चाहिये ।

परिणाम जब होते हैं, तब ये देव एकेन्द्रिययोग्य प्रकृतियो का बंध करते हुए उपर्युक्त चार प्रकृतियो का भी बन्ध करते है। क्योकि ये चारो प्रकृतिया एकेन्द्रिययोग्य हैं।

सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण नाम रूप सूक्ष्मत्रिक तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति रूप विकलत्रिक इन छह प्रकृतियो की उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता बन्ध के अत समय मे उन मनुष्यों और तिर्यचो के पाई जाती है जो पृथक्त्वपूर्वकोटि वर्षपर्यन्त बारबार बन्ध द्वारा इन प्रकृतियो को पुष्ट करते है। क्योकि सूक्ष्मत्रिक आदि छह प्रकृतियो का बन्ध मनुष्यो और तिर्यचो के ही होता है। जिससे वे ही बारबार बन्ध द्वारा इन प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशसचय कर सकते है।

इस प्रकार उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता के स्वामियो को जानना चाहिये। अब जघन्य प्रदेशसत्ता के स्वामियो का निरूपण करते है।

जघन्य प्रदेशसत्तास्वामित्व

ओहेण खवियकम्मे पएससतं जहन्नयं होइ।
नियसंकमस्स विरमे तस्सेव विसेसिय मुणसु ॥१६८॥

शब्दार्थ—**ओहेण**—सामान्य से, **खवियकम्मे**—क्षपितकर्मांश के, **पएससत**—प्रदेशसत्ता, **जहन्नया**—जघन्य, **होइ**—होती है, **नियसकमस्स**—अपने-अपने सक्रम के, **विरमे**—अत मे, **तस्सेव**—उसके विषय मे, **विसेसिया**—विशेष, **मुणसु**—जानना चाहिये।

गाथार्थ—सामान्य से क्षपितकर्मांश जीव के अपने-अपने सक्रम के अत मे जघन्य प्रदेशसत्ता होती है। परन्तु कुछ प्रकृतियो के बारे मे विशेष जानना चाहिये।

विशेषार्थ—सामान्य से क्षपितकर्मांश जीव को सभी कर्म प्रकृतियो की जघन्य प्रदेशसत्ता का स्वामी जानना चाहिए। क्योकि अधिक-से-अधिक कर्मप्रदेशो का क्षय होने से क्षपितकर्मांश जीव के सब से कम—

जघन्यतम प्रदेशो की सत्ता पाई जाती है। फिर भी कुछ प्रकृतियो की जघन्य प्रदेशसत्ता के स्वामित्व के सम्बन्ध मे जो विशेष वक्तव्य है, उसका विचार आगे किया जायेगा।

इस प्रकार सामान्यरूपेण जघन्य प्रदेशसत्ता के स्वामी का निर्देश करने के वाद अब जिन प्रकृतियो की जघन्य सत्ता के बारे मे विशेपता है, उसका विचार करते है—

उव्वलमाणीणेगठिई उव्वलए जया दुसामइगा।
थोवद्धमज्जियाण चिरकाल पालिया अंते ॥१६६॥
अतिमलोभजसाण असेढिगाहापवत्त अतंमि।
मिच्छत्तगए आहारगस्स सेसाणि नियगते ॥१७०॥

शब्दार्थ—**उव्वलमाणीणेगठिई**—उद्वलनयोग्य प्रकृतियो की एक स्थिति, **उव्वलए**—उद्वलना होने पर, **जया**—जब, **दुसामइगा**—द्विसामयिक, दो समय प्रमाण, **थोवद्धमज्जियाण**—स्तोक वधाद्धा द्वारा अर्जित पुष्ट हुई, **चिरकालं**—चिरकाल, **पालिया**—परिपालन करने के, **अते**—अत मे।

अतिमलोभजसाण—सज्वलन लोभ और यश कीर्ति की, **असेढिग**—उपशम-श्रेणि को किये विना, **अहापवत्त अतमि**—यथाप्रवृत्तकरण के अत मे, **मिच्छत्तगए**—मिथ्यात्व मे गए हुए के, **आहारगस्स**—आहारकसप्तक की, **सेसाणि**—शेप की, **नियगते**—अपने-अपने अन्त मे।

गाथार्थ—स्तोक वधाद्धा द्वारा अर्जित-पुष्ट हुई उद्वलन योग्य प्रकृतियो की उद्वलना होने पर जो दो समय प्रमाण एक स्थिति होती है वह उनकी जघन्य प्रदेशसत्ता है और वह चिरकाल पर्यन्त सम्यक्त्व का परिपालन करने के वाद अत मे प्राप्त होती है।

उपशमश्रेणि को किये विना क्षपकश्रेणि करने पर यथाप्रवृत्त-करण के अत समय मे सज्वलन लोभ और यशःकीर्ति की जघन्य प्रदेशसत्ता होती है। आहारकसप्तक की मिथ्यात्व मे गये हुए के

करके अत मे उसका क्षय करने के लिये प्रयत्नशील हो[1] और उस अनतानुबधिचतुष्क का क्षय करते-करते जब समस्त खडो का क्षय हो और उदयावलिका को स्तिबुकसक्रम द्वारा सक्रात करे तब स्वरूप की अपेक्षा समय मात्र स्थिति और सामान्यत कर्मरूपता की अपेक्षा दो समय प्रमाण स्थिति शेष रहे[2] तब अनन्तानुबधिचतुष्क की जघन्य प्रदेशसत्ता होती है।

कोई क्षपितकर्माश जीव एक सौ बत्तीस सागरोपम पर्यन्त सम्यक्त्व का पालन कर वहाँ से गिरकर मिथ्यात्वगुणस्थान मे जाये और वहाँ पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण काल द्वारा होने वाली मद उद्वलना से सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय की उद्वलना प्रारम्भ करे और उद्वलना करने वाला वह जीव उन दोनो के दलिको को मिथ्यात्वमोहनीय मे सक्रात करे तो इस प्रकार सक्रात करते-करते उदयावलिका के ऊपर के अन्तिम खण्ड के समस्त दलिको को अन्तिम समय मे सर्वसक्रम द्वारा सक्रमित कर डालता है और उदयावलिका के दलिक को स्तिबुकसक्रम द्वारा सक्रमित करता है।

---

१ यहाँ जघन्य प्रदेशसत्ता का कथन किया जा रहा है, अतएव मिथ्यात्व-गुणस्थान मे जाकर अनन्तानुबधि का मात्र अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त बध कर सम्यक्त्व प्राप्त करने और उसका एक सौ बत्तीस सागरोपम पालन करने का निर्देश किया है। जिससे उतने काल मे सक्रमकरण और स्तिबुकसक्रम द्वारा बहुत सी सत्ता के कम होते जाने और अत मे उद्वलना करने से जघन्य प्रदेशसत्ता घटित होती है।

२ यहाँ जो दो समय प्रमाण स्थिति कही है, वह उदयावलिका का स्वरूप सत्ता की अपेक्षा रहा हुआ चरमसमय जो स्तिबुकसक्रम द्वारा अन्य रूप हो जाता है, उसे गिनते हुए कहा है। क्योकि स्तिबुकसक्रम द्वारा सक्रात स्थिति सक्रमकरण द्वारा सक्रमित स्थिति की तरह सर्वथा पररूप को प्राप्त नही करती है कुछ स्वरूप से रहती है। जिससे वह समय भी सक्रम्यमाण प्रकृति का गिना जाता है। इसलिये दो समय की स्थिति कही है।

इस प्रकार से सक्रात करते हुए जब स्वरूप की अपेक्षा समय प्रमाण स्थिति और सामान्यत कर्मरूपता की अपेक्षा दो समय प्रमाण स्थिति शेष रहे तब उन दोनो की (सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय की) जघन्य प्रदेशसत्ता होती है।[1]

नरकद्विक, देवद्विक और वैक्रियसप्तक रूप ग्यारह प्रकृतियो की किसी एकेन्द्रिय जीव ने क्षपितकर्माश होने से उद्वलना की और उसके बाद सज्ञी तिर्यंच मे आकर अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त बध किया और बधकर सातवी पृथ्वी के अप्रतिष्ठान नरकावास मे तेतीस सागरोपम की आयु सहित उत्पन्न हो वहाँ विपाकोदय एव सक्रम द्वारा यथायोग्य रीति से अनुभव करे और उसके बाद उस नरक से निकलकर सज्ञी तिर्यंच मे उत्पन्न हो और वहाँ तथाप्रकार के अध्यवसाय के अभाव मे इन ग्यारह प्रकृतियो का बध किये बिना एकेन्द्रिय मे उत्पन्न हो और वह एकेन्द्रिय जीव पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण काल द्वारा होने वाली उद्वलना द्वारा उद्वलना करना प्रारम्भ करे और उद्वलना करते करते जब स्वरूप की अपेक्षा समयमात्र स्थिति और कर्मत्वसामान्य की अपेक्षा दो समय प्रमाण स्थिति शेष रहे तब इन ग्यारह प्रकृतियो की जघन्य प्रदेशसत्ता होती है। तथा—

क्षपितकर्माश कोई सूक्ष्मत्रस–तेजस्कायिक और वायुकायिक जीव— मनुष्यद्विक और उच्चगोत्र की उद्वलना करके वहाँ से सूक्ष्म एकेन्द्रिय पृथ्वीकायादि मे उत्पन्न हो और वहाँ अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त पुन इन तीन

---

१ इन दोनो की जघन्य प्रदेशसत्ता इसी प्रकार से घटित हो सकती है। यद्यपि क्षायिक सम्यक्त्व का उपार्जन करते हुए भी उन दोनो का क्षय होता है, परन्तु वहाँ अन्तर्मुहूर्त मे ही क्षय होता है एव गुणश्रेणि होने से समयमात्र स्थिति शेप रहे तव जघन्य प्रदेशसत्ता नही हो सकती है। इसलिये मिथ्यात्वगुणस्थान मे ही उद्वलना होने से जघन्य प्रदेशसत्ता सम्भव है।

प्रकृतियो को बाध कर तेज और वायुकाय मे उत्पन्न हो और वहाँ चिरोद्वलना प्रारम्भ की। तब उद्वलना करते करते स्वरूप की अपेक्षा समयमात्र स्थिति और कर्मत्वसामान्य की अपेक्षा दो समय स्थिति शेष रहे, उस समय इन तीन प्रकृतियो की जघन्य प्रदेशसत्ता होती है। तथा—

जो क्षपितकर्मांश जीव पूर्व मे उपशमश्रेणि को न करके क्षपकश्रेणि पर आरूढ हो तो उस क्षपितकर्मांश जीव के यथाप्रवृत्तकरण—अप्रमत्तगुणस्थान के चरम समय मे सज्वलन लोभ और यश कीर्तिनाम की जघन्य प्रदेशसत्ता होती है।

यदि मोह का सर्वथा उपशम करे तो गुणसक्रम द्वारा अबध्यमान अशुभ प्रकृतियो का उक्त प्रकृतियो मे सक्रम होने से इनको सत्ता मे अधिक दलिक प्राप्त होता है और वैसा होने से जघन्य प्रदेशसत्ता घटित नही हो सकती है। जघन्य प्रदेशसत्ता के विषय मे उसका कुछ प्रयोजन नही होने से उपशमश्रेणि किये बिना क्षपकश्रेणि पर आरूढ होने का कहा है तथा अप्रमत्तसयतगुणस्थान के चरम समय मे जघन्य प्रदेशसत्ता होती है। क्योकि अपूर्वकरण मे गुणसक्रम प्रारम्भ होने से जघन्य प्रदेशसत्ता घटित नही हो सकती है। तथा

'मिच्छत्तगए आहारगस्स' अर्थात् मिथ्यात्व मे गये हुए जीव के आहारकसप्तक की जघन्य प्रदेशसत्ता होती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कोई अप्रमत्त जीव अल्पकाल पर्यन्त आहारकसप्तक का बध करके मिथ्यात्व मे जाये और वहाँ पल्योपम के असख्यातवें भाग प्रमाण काल मे उसकी उद्वलना करे और उद्वलना करते हुए चरम समय मे स्वरूप की अपेक्षा समयमात्र स्थिति और कर्मत्वसामान्य की अपेक्षा दो समय प्रमाण स्थिति शेप रहे, तब आहारकसप्तक की जघन्य प्रदेशसत्ता होती है। तथा—

'सेसाणि नियगते' अर्थात् शेप प्रकृतियो की उस-उस प्रकृति के क्षय के समय मे क्षपितकर्मांश जीव के जघन्य प्रदेशसत्ता होती है।

इस प्रकार से जघन्य प्रदेशसत्ता के स्वामित्व का निर्देश करने के साथ प्रदेशसत्कर्मस्वामित्व का विचार पूर्ण होता है। अब प्रदेश-सत्कर्मस्थानो की प्ररूपणा करने के लिए स्पर्धक की प्ररूपणा करते है।

स्पर्धक प्ररूपणा

चरमावलिप्पविट्ठा गुणसेढी जासि अत्थि न य उदओ ।
आवलिगा समयसमा तासिं खलु फड्डगाइ तु ॥१७१॥

शब्दार्थ—चरमावलिप्पविट्ठा—अन्तिम आवलिका मे प्रविष्ट, **गुणसेढी**—गुणश्रेणि, **जासि**—जिन (कर्मप्रकृतियो की), **अत्थि**—है, **न**—नही, **य**—किन्तु, **उदयो**—उदय, **आवलिगा**—आवलिका के, **समयसमा**—समय प्रमाण, **तासिं**—उनके, **खलु**—अवश्य, **फड्डगाइ**—स्पर्धक, **तु**—ही।

गाथार्थ—जिन कर्म प्रकृतियो की गुणश्रेणि अन्तिम आवलिका मे प्रविष्ट हो गई है, किन्तु उदय होता नही है उन प्रकृतियो के आवलिका के समयप्रमाण स्पर्धक होते है।

विशेषार्थ—अन्तिम आवलिका मे प्रविष्ट गुणश्रेणि वाली प्रकृतियो के स्पर्धको के प्रमाण को गाथा मे स्पष्ट किया है—

क्षयकाल मे जिन कर्मप्रकृतियो की गुणश्रेणि चरमावलिका मे प्रविष्ट हो चुकी है किन्तु उदय होता नही है, ऐसी स्त्यानर्द्धित्रिक, मिथ्यात्वमोहनीय, अनन्तानुबधिचतुष्क आदि बारह कषाय, नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, पचेन्द्रियजाति के सिवाय शेष जातिचतुष्क, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण रूप उनतीस प्रकृतियो के आवलिका मे जितने समय हो, उतने उनके स्पर्धक होते है। अर्थात् इन प्रकृतियो के आवलिका के समय प्रमाण स्पर्धक होते है। विशेषता के साथ जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

अभव्यप्रायोग्य जघन्य प्रदेशसत्ता वाला कोई जीव त्रसो मे उत्पन्न हुआ और वहाँ अनेक बार सर्वविरति और देशविरति को प्राप्त करके

एव चार वार मोहनीय का उपशम करके पुन एकेन्द्रिय मे उत्पन्न हो और वहाँ मात्र पल्योपम के असख्यातवे भाग जितने काल रहकर मनुष्य मे उत्पन्न हो और इस मनुष्यभव मे शीघ्र मोह का क्षय करने के लिए उद्यत हो। तब वहाँ उक्त प्रकृतियो का यथायोग्य रीति से क्षय करते करते प्रत्येक के अतिम खड का भी क्षय हो और मात्र उदयावलिका शेप रहे तथा उस चरम समय का भी स्तिबुकसक्रम द्वारा क्षय होते-होते जव स्वरूप की अपेक्षा एक समय प्रमाण स्थिति और कर्मत्व-सामान्य की अपेक्षा दो समय प्रमाण स्थिति रहे[1] तब जो जघन्यतम प्रदेशसत्ता हो, वह पहला प्रदेशसत्कर्मस्थान कहलाता है। इस पहले प्रदेशसत्कर्मस्थान मे एक परमाणु का प्रक्षेप करने पर दूसरा प्रदेश-सत्कर्मस्थान होता है। अर्थात् जिस जीव के एक अधिक परमाणु की सत्ता हो उसका दूसरा प्रदेशसत्कर्मस्थान होता है, दो परमाणुओ का प्रक्षेप करने पर तीसरा और तीन परमाणुओ का प्रक्षेप करने पर चौथा प्रदेशसत्कर्मस्थान होता है। इस प्रकार एक-एक परमाणु का प्रक्षेप करते-करते[2] भिन्न-भिन्न जीवो की अपेक्षा अनन्त प्रदेशसत्कर्मस्थान वहाँ तक कहना चाहिए यावत् जो चरम स्थितिविशेप मे गुणितकर्मांश जीव के सर्वोत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्मस्थान हो।

इसके वाद एक भी अधिक परमाणु वाला अन्य प्रदेशसत्कर्मस्थान नही होता है। इन प्रदेशसत्कर्मस्थानो के समूह को स्पर्धक कहते है।

---

१ इसका तात्पर्य यह है कि उदयावलिका के चरम समय मे अनुदयावलिका की चरम स्थिति स्वरूपसत्ता से नही किन्तु पररूप से होती है और उपान्त्य समय मे स्वरूपसत्ता से होती है। अतएव उपान्त्य समय स्वरूपसत्ता का और चरम समय पररूपसत्ता का, इस तरह दो समय का सकेत किया है।

२ कर्मप्रकृति के सत्ताधिकार की चूर्णि में एक-एक परमाणु के प्रक्षेप के बदले एक-एक कर्मस्कन्ध की वृद्धि करने का सकेत किया है।

यह पहला स्पर्धक अतिम समय प्रमाण स्थिति की अपेक्षा से कहा है। इसी प्रकार से दो समय प्रमाण स्थिति का दूसरा, तीन समय प्रमाण स्थिति का तीसरा स्पर्धक जानना चाहिए। इस प्रकार से समयन्यून आवलिका के समयप्रमाण स्पर्धक होने तक कहना चाहिए। इस प्रकार से चरमावलिका के स्पर्धक हुए तथा चरमस्थितिघात का परप्रकृति मे जो अतिमप्रक्षेप हो, वहाँ से प्रारम्भ कर पश्चानुपूर्वी के क्रम से वृद्धि करते हुए प्रदेशसत्कर्मस्थान वहाँ तक कहना चाहिए यावत् अपना-अपना उत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्मस्थान हो। इतने प्रमाण वाला अनत सत्कर्मस्थानो का समूह रूप यह भी सम्पूर्ण स्थिति सम्बन्धी यथासभव एक स्पर्धक ही विवक्षित किया जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि चरम स्थिति के अतिम प्रक्षेप से आरम्भ कर अनुक्रम से बढते हुए सर्वोत्कृष्ट प्रदेशसत्ता पर्यन्त जो अनत प्रदेशसत्कर्मस्थान होते है, उनके समूह को एक ही स्पर्धक माना है। पूर्वोक्त स्पर्धको मे इस एक स्पर्धक को मिलाने पर स्त्यानर्द्धित्रिक आदि अनुदयवती प्रकृतियो के कुल आवलिका के समय प्रमाण स्पर्धक होते हैं।

ये स्थान स्पर्धकरूप होते है। अत अब स्पर्धक का लक्षण बतलाते है।

स्पर्धक का लक्षण

सव्वजहन्नपएसे पएसवुड्ढीए णंतया भेया।
ठिइठाणे ठिइठाणे विन्नेया खवियकम्माओ ॥१७२॥

एगट्ठिइयं एगाए फड्डगं दोसु होइ दोट्ठिइगं।
तिगमाईसुवि एवं नेय जावति जासि तु ॥१७३॥

शब्दार्थ—सव्वजहन्नपएसे—सर्व जघन्य प्रदेशसत्कर्मस्थान से, **पएसवुड्ढीए**—एक-एक प्रदेश की वृद्धि से, **णतया भेया**—अनन्त भेद, **ठिइठाणे ठिइठाणे**—स्थितिस्थान स्थितिस्थान मे अर्थात् प्रत्येक स्थितिस्थान मे, **विन्नेया**—जानना चाहिए, **खवियकम्माओ**—क्षपितकर्मांश जीव की

परमाणु वाला तीसरा प्रदेशसत्कर्मस्थान, इस प्रकार एक-एक परमाणु की वृद्धि करते-करते गुणितकर्मांश जीव के जो सर्वोत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्मस्थान होता है, वह अतिम प्रदेशसत्कर्मस्थान है। इस प्रकार एक स्थितिस्थान मे अनन्त प्रदेशसत्कर्मस्थान होते है। उनके समूह को स्पर्धक कहते है।

इसी प्रकार दो समय प्रमाण स्थिति शेष रहे तब सर्वजघन्य जो प्रदेशसत्ता होती है, वह पहला सत्कर्मस्थान, एक अधिक परमाणु वाला दूसरा, इस तरह गुणितकर्माश जीव का सर्वोत्कृष्ट जो प्रदेशसत्कर्मस्थान, वह अतिम सत्कर्मस्थान है। इन अनत सत्कर्मस्थानो के समूह का द्विसामयिक स्थिति का दूसरा स्पर्धक कहलाता है। इसी प्रकार से तीन समय स्थिति का तीसरा, चार समय स्थिति का चौथा, इस तरह जितने एक समय प्रमाणादि स्थितिस्थान हो, उतने स्पर्धक होते है।

अब इसी पूर्वोक्त को कुछ विशेषता के साथ स्पष्ट करते है—

क्षय होते-होते जब एक स्थिति शेष रहे तब उस एक स्थिति मे अनेक जीवो की अपेक्षा पूर्व मे कहे गये अनुसार जो अनन्त प्रदेशसत्कर्मस्थान होते हैं उनका समूह रूप वह एक स्थिति का स्पर्धक होता है। जब दो समय स्थिति शेष रहे तब उस दो समय स्थिति मे जघन्य प्रदेशसत्ता से प्रारम्भ कर उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता पर्यन्त जो अनत सत्कर्मस्थान होते है, उनका समूहरूप दो स्थिति का दूसरा स्पर्धक होता है। इस तरह तीन समय स्थिति शेप रहे तव उस तीन समय स्थिति मे भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा जो अनन्त प्रदेशसत्कर्मस्थान होते है, उनका समूहरूप तीन समय स्थिति का तीसरा स्पर्धक होता है। इसी प्रकार से चार आदि समय स्थिति शेष रहे तव स्पर्धक कहना चाहिये। इस तरह जिन प्रकृतियो के जितने स्पर्धक सभव हो उनके उक्त प्रकार से तीन आदि स्थिति सम्बन्धी उतने स्पर्धक कहना चाहिये।

इस प्रकार से स्पर्धको का लक्षण जानना चाहिये । अब पहले जो यह कहा था कि आवलिका के समय प्रमाण उन प्रकृतियो के स्पर्धक होते है तो वे किन प्रकृतियो के होते है ? नामनिर्देश पूर्वक उन-उन प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्पर्धक बतलाते है ।

प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्पर्धक-निरूपण

आवलिमेत्तुक्कोस फड्डग मोहस्स सव्वघाईण ।
तेरसनामतिनिद्दाण जाव नो आवली गलइ ॥१७४॥

शब्दार्थ—आवलिमेत्तुक्कोस—आवलिका प्रमाण उत्कृष्ट, फड्डग—स्पर्धक, मोहस्स—मोहनीय की, सव्वघाईण—सर्वघातिनी प्रकृतियो की, तेरसनाम—नामकर्म की तेरह प्रकृतियो की, तिनिद्दाण—तीन निद्राओ की, जाव—यावत्, जब तक, नो—नही, आवली—आवलिका, गलइ—क्षय होती है ।

गाथार्थ—मोहनीय की सर्वघातिनी प्रकृतियो की, नामकर्म की तेरह प्रकृतियो की और तीन निद्राओ की जब तक चरमावलिका क्षय नही होती है तब तक उनके समयन्यून आवलिका प्रमाण उत्कृष्ट स्पर्धक होते है ।

विशेषार्थ—गाथा मे मोहनीय की सर्वघातिनी, नामकर्म की तेरह प्रकृति एव निद्रात्रिक के स्पर्धको का निर्देश किया है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मोहनीयकर्म की मिथ्यात्व और आदि की बारह कषाय ये तेरह सर्वघातिनी तथा नरकद्विक, तिर्यचद्विक, एकेन्द्रिय आदि चतुरिन्द्रिय पर्यन्त जातिचतुष्क, स्थावर, आतप, उद्योत, सूक्ष्म और साधारण नामकर्म की ये तेरह एव 'तिनिद्दाण' स्त्यानर्द्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला रूप निद्रात्रिक, इस तरह कुल मिलाकर उनतीस प्रकृतियो की सत्ता मे विद्यमान अन्तिम आवलिका जब तक अन्य प्रकृतियो मे स्तिबुकसक्रम द्वारा सक्रमित होने से क्षय न हो जाये—

'नो आवली गलइ'—तब तक उनका समयन्यून आवलिका प्रमाण उत्कृष्ट स्पर्धक प्राप्त होता—'आवलिमेत्तुक्कोस फड्डग'।

उस आवलिका मे का एक समय स्तिबुकसक्रम द्वारा सक्रात हो जाने से दूर हो तब दो समयन्यून आवलिका प्रमाण स्पर्धक होता है। इस प्रकार जैसे-जैसे समय-समय स्तिबुकसक्रम द्वारा दूर हो, वैसे-वैसे समयन्यून आवलिका प्रमाण मध्यम स्पर्धक होते है। इसी तरह यावत् स्वरूपसत्ता से एक समय स्थिति शेष रहे, वह एक समय प्रमाण जघन्य स्पर्धक होता है।

इस प्रकार से अनुदयवती उपर्युक्त मिथ्यात्वादि उनतीस प्रकृतियो के चरमावलिका के समयन्यून आवलिका प्रमाण स्पर्धको और शेष समस्त स्थिति के एक स्पर्धक को मिलाने से समग्ररूपेण आवलिका के समय प्रमाण स्पर्धक होते है।[1]

अब क्षीणमोहगुणस्थान मे जिन प्रकृतियो का क्षय होता है, उन उदयवती प्रकृतियो के स्पर्धक बतलाते है—

> खीणद्धासखस खीणताण तु फड्डगुक्कोसं।
> उदयवईणेगहियं निद्दाण एगहीण तं ॥१७५॥

---

१ उदयवती प्रकृतियो की क्षय होते-होते जब सत्ता मे मात्र एक आवलिका प्रमाण स्थिति रहती है, तब अनुदयवती-प्रदेशोदयवती प्रकृतियो की स्वरूपसत्ता समयन्यून आवलिका शेप रहती है, जिससे उदयवती प्रकृतियो के चरम समय मे अनुदयवती प्रकृतियो की स्वरूपसत्ता नही होती है। इसी कारण उदयवती प्रकृतियो की उदयावलिका और अनुदयवती प्रकृतियो की स्वरूपसत्ता की अपेक्षा समयन्यून आवलिका शेप रहती है और उनमे का एक भी समय अन्यत्र सक्रम द्वारा क्षय न हो, वहाँ तक समयन्यून आवलिका प्रमाण उत्कृष्ट स्पर्धक पूर्वोक्त प्रकृतियो का होता है और शेप समस्त स्थिति का एक स्पर्धक होता है। इसी कारण उपर्युक्त प्रकृतियो के कुल मिलाकर आवलिका प्रमाण स्पर्धक होते हैं।

शब्दार्थ—खीणद्धासखस—क्षीणकषायगुणस्थान के असख्यातवें भाग के समय प्रमाण, खीणताण—क्षीणकषायगुणस्थान मे जिनका अन्त—नाश होता है, तु—और, फड्डगुक्कोस—स्पर्धकोत्कर्ष, उदयवईणेगहिय—उदयवती प्रकृतियो का एक अधिक, निद्दाण—निद्राओ का, एगहीण—एक हीन, त—वह स्पर्धक।

गाथार्थ—क्षीणकषायगुणस्थान मे जिनका अन्त—नाश होता है उन उदयवती प्रकृतियो का एक अधिक क्षीणकषायगुणस्थान के सख्यातवे भाग के समय प्रमाण स्पर्धकोत्कर्ष होता है और निद्राओ (निद्रा और प्रचला) का एक हीन स्पर्धक होता है।

विशेषार्थ—गाथा मे बारहवे गुणस्थान की प्रकृतियो के स्पर्धको का प्रमाण बतलाया है—

'खीणताण' अर्थात् क्षीणकषायगुणस्थान मे जिनकी सत्ता का अन्त—नाश होता है, ऐसी ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणचतुष्क और अतरायपचक इन चौदह प्रकृतियो का स्पर्धकोत्कर्ष—समस्त स्पर्धको की सख्या क्षीणकषायगुणस्थान के सख्यातवे भाग के समय प्रमाण होती है—'खीणद्धासखस' और इसके साथ यह विशेष जानना चाहिये कि वह सख्या मात्र एक स्पर्धक से अधिक है।

इन स्पर्धको के प्रमाण मे कौन-सा एक स्पर्धक अधिक होता है ? तो इसका स्पष्टीकरण यह है—

चरम स्थितिघात के चरम प्रक्षेप से लेकर अपनी-अपनी उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता पर्यन्त सम्पूर्ण स्थिति का जो पहले एक स्पर्धक बताया है—कहा है उस एक स्पर्धक से अधिक क्षीणकषायगुणस्थान के सख्यातवें भाग के समय प्रमाण स्पर्धक होते हैं।

निद्रा और प्रचला इन दोनो निद्राओ का भी बारहवे क्षीणकषाय गुणस्थान के उपान्त्य समय मे अन्त होता है। अत इस विशेषता की अपेक्षा उनके स्पर्धक बतलाते है कि 'निद्दाण एगहीण त' निद्रा और

प्रचला का एक हीन स्पर्धक होता है। अर्थात् निद्रा और प्रचला की क्षीणकषायगुणस्थान के चरम समय मे स्वरूपसत्ता नही होने से उस चरम समय सम्बन्धी एक स्पर्धकहीन इन दोनो के स्पर्धक होते है। यानि ज्ञानावरणपचक आदि चौदह प्रकृतियो के जितने स्पर्धक कहे है, उनसे एक हीन निद्राद्विक के स्पर्धक होते है।

अब इस सक्षिप्त कथन को सरलता से समझने के लिये विस्तार से स्पष्ट करते है—

जैसे मोहनीय की सर्वघाति तेरह, नामकर्म की तेरह और स्त्यानर्द्धित्रिक, कुल मिलाकर इन उनतीस प्रकृतियो के आवलिका के समय प्रमाण स्पर्धक होते है, उसी प्रकार क्षीणमोहगुणस्थान मे जिनका क्षय होता है, उन उदयवती प्रकृतियो के क्षीणमोहगुणस्थान का जितना काल है, उससे अधिक सख्यातवे भाग के समय प्रमाण स्पर्धक होते है और निद्रा तथा प्रचला का एक न्यून स्पर्धक होता है। इसका कारण यह है कि निद्रा, प्रचला अनुदयवती प्रकृति है। उदयवती प्रकृतियो की स्वरूपसत्ता से जितनी स्थिति शेष रहे, उसकी अपेक्षा अनुदयवती प्रकृतियो की समयन्यून स्थिति शेष रहती है। इसी से उदयवती प्रकृतियो की अपेक्षा अनुदयवती प्रकृतियो का एक स्पर्धक कम होता है।

अब यह स्पष्ट करते हैं कि क्षोणकषायगुणस्थान मे जिनकी सत्ता का नाश होता है, उनके उस गुणस्थान के सख्यातवे भाग के काल प्रमाण स्पर्धक कैसे और किस रीति से होते है ?

क्षीणकषायगुणस्थान मे वर्तमान कोई क्षपितकर्माश जीव उस गुणस्थान का जितना काल है, उसका सख्यातवा भाग जाये और अन्तर्मुहूर्त प्रमाण सख्यातवा एक भाग शेष रहे, तब ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणचतुष्क और अतरायपचक, इन चौदह प्रकृतियो की उस समय सत्ता मे जितनी स्थिति हो, उसे सर्वापवर्तना द्वारा अपवर्तित

कर—घटाकर क्षीणकषायगुणस्थान का जितना काल शेष है, उतनी करता है और निद्रा, प्रचला की एक समय हीन करता है। क्योकि ये दोनो प्रकृतिया अनुदयवती है अत चरमसमय मे स्वरूप से उनके दलिक सत्ता मे नही होते हैं परन्तु पररूप मे होते है। इसलिये उन दोनो की स्थितिसत्ता स्वरूप की अपेक्षा एक समय न्यून करता है।

जब सर्वापवर्तना द्वारा अपवर्तित कर क्षीणकषायगुणस्थान के सख्यातवे भाग प्रमाण स्थिति शेष रहती है तब उसके बाद उन प्रकृतियो मे स्थितिघात, रसघात और गुणश्रेणि प्रवर्तित नही होती है।[1]

जिन प्रकृतियो मे जब तक स्थितिघात और गुणश्रेणि प्रवर्तित होती है, तब तक उन प्रकृतियो की समस्त स्थिति का एक स्पर्धक होता है और स्थितिघात तथा गुणश्रेणि रुकने के बाद जितनी स्थिति सत्ता मे शेष रहे उस समस्त स्थिति का एक स्पर्धक, एक समय न्यून हो और जितनी स्थिति रहे उसका एक स्पर्धक तथा पुन एक समय कम हो और जितनी स्थिति रहे उसका एक स्पर्धक, इस प्रकार जैसे-जैसे समय कम होता जाता है, वैसे वैसे जितनी-जितनी स्थिति शेप रहे, उस उस का एक-एक स्पर्धक होता है, यावत् चरम समय शेप रहे तब उसका एक स्पर्धक होता है। इस प्रकार स्पर्धक उत्पन्न होने की व्यवस्था है।

---

१ क्षीणकपायगुणस्थान का सख्यातवा भाग जाने और एक भाग शेप रहने पर जीव का ऐसा विशिष्ट परिणाम होता है कि जिसके द्वारा एकदम स्थिति को घटाकर उस गुणस्थान के कालप्रमाण मे भोगी जा सके उतनी स्थिति शेप रखता है। जिस विशिष्ट परिणाम द्वारा यह क्रिया होती है, उसका नाम सर्वापवर्तना है। सर्वापवर्तना होने के बाद स्थितिघात, रस-घात या गुणश्रेणि नही होती है।

इस प्रकार सर्वापवर्तना द्वारा क्षीणकषायगुणस्थान के काल के समान की गई सत्तागत स्थिति के जितने स्थितिविशेष—समय होते हैं उतने स्पर्धक जानना चाहिये तथा चरम स्थितिघात के चरमप्रक्षप से आरम्भ कर पश्चानुपूर्वी के अनुक्रम से वृद्धि करते हुए वहाँ तक कहना चाहिये यावत् अपनी-अपनी सर्वोत्कृष्ट प्रदेशसत्ता हो, इस सम्पूर्ण स्थिति का एक स्पर्धक होता है। यह एक स्पर्धक अधिक होने से ज्ञानावरणपचक आदि उदयवती प्रकृतियो के एक स्पर्धक से अधिक क्षीणकषायगुणस्थान के सख्यातवे भाग के चरम समय प्रमाण स्पर्धक होते है तथा निद्रा और प्रचला की क्षीणकषायगुणस्थान के चरम समय मे सत्ता नही होने से द्विचरम स्थिति-आश्रित स्पर्धक होते है। जिससे उस चरम स्थिति सम्बन्धी स्पर्धक से हीन उन दोनो के स्पर्धक होते है। अर्थात् उन दोनो के कुल स्पर्धक क्षीणकषायगुणस्थान के सख्यातवें भाग के समयप्रमाण ही होते है।

इस प्रकार से अनुदयवती और क्षीणकषायगुणस्थान मे उदयवती प्रकृतियो के स्पर्धको को बतलाने के बाद अब अयोगिकेवलीगुणस्थान मे अत होने वाली प्रकृतियो के स्पर्धको को बतलाते है—

अज्जोगिसतिगाण उदयवईण तु तस्स कालेण।
एगाहिगेण तुल्ल इयराण एगहीण त ॥१७६॥

शब्दार्थ—अज्जोगिसतिगाण—अयोगिगुणस्थान मे सत्ता वाली प्रकृतियो का, उदयवईण—उदयवती, तु—और, तस्स—उसके, कालेण—काल से, एगाहिगेण—एक अधिक तुल्ल—तुल्य, इयराण—इतर—अनुदयवती प्रकृतियो का, एगहीण—एक हीन त—वह (स्पर्धक)।

गाथार्थ—अयोगिगुणस्थान मे सत्ता वाली उदयवती प्रकृतियो के एक स्पर्धक से अधिक उसके (अयोगिगुणस्थान के) काल के तुल्य स्पर्धक होते है और इतर अनुदयवती प्रकृतियो का एक स्पर्धक न्यून होता है।

विशेषार्थ—गाथा मे अयोगिकेवलीगुणस्थानवर्ती उदयवती और अनुदयवती प्रकृतियो के स्पर्धको को बतलाया है। पहले उदयवती प्रकृतियो के स्पर्धको को बतलाते है—

अयोगिकेवलीगुणस्थान मे जिनकी सत्ता होती है ऐसी मनुष्यगति, मनुष्यायु, पचेन्द्रियजाति, त्रस, सुभग, आदेय, पर्याप्त, बादर, तीर्थंकर, यश कीर्ति, साता-असातावेदनीय मे से एक वेदनीय और उच्चगोत्र रूप बारह उदयवती प्रकृतियो का स्पर्धकोत्कर्ष—कुल स्पर्धको की सख्या—अयोगिकेवलीगुणस्थान के काल के तुल्य है, किन्तु एक स्पर्धक से अधिक जानना चाहिये। यानि अयोगिकेवलीगुणस्थान के काल के जितने समय है, उनसे एक स्पर्धक अधिक स्पर्धक होते है। जिसका विशद् अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—

क्षपितकर्मांश किसी जीव के अयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय मे जो सर्वजघन्य प्रदेशसत्ता होती है, वह प्रथम प्रदेशसत्कर्मस्थान है, एक परमाणु को मिलाने पर दूसरा प्रदेशसत्कर्मस्थान, दो परमाणुओ को मिलाने पर तीसरा प्रदेशसत्कर्मस्थान, इस प्रकार अयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय मे वर्तमान अनेक जीवो की अपेक्षा एक-एक परमाणु को मिलाते हुए निरन्तर प्रदेशसत्कर्मस्थान वहाँ तक जानना चाहिये कि उसी समय मे वर्तमान गुणितकर्माश जीव का सर्वोत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्मस्थान हो। इस प्रकार चरम स्थिति-सम्बन्धी एक स्पर्धक होता है।

इसी प्रकार दो स्थिति शेप रहे तब उस दो स्थिति का दूसरा स्पर्धक होता है, तीन स्थिति शेप रहे तब तीन स्थिति का तीसरा स्पर्धक होता है।

इस तरह निरन्तर अयोगिगुणस्थान के पहले समय पर्यन्त समझना चाहिये तथा सयोगिकेवली के चरम समय मे होने वाले चरम स्थिति-घात के चरम प्रक्षेप से आरम्भ कर पश्चानुपूर्वी के क्रम से बढते हुए निरन्तर प्रदेशसत्कर्मस्थान वहाँ तक कहना चाहिये यावत् अपनी-अपनी उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है। इस सम्पूर्ण स्थितिसम्बन्धी यथासभव

विशेषार्थ—गाथा मे अयोगिकेवलीगुणस्थानवर्ती उदयवती और अनुदयवती प्रकृतियो के स्पर्धको को बतलाया है। पहले उदयवती प्रकृतियो के स्पर्धको को बतलाते है—

अयोगिकेवलीगुणस्थान मे जिनकी सत्ता होती है ऐसी मनुष्यगति, मनुष्यायु, पचेन्द्रियजाति, त्रस, सुभग, आदेय, पर्याप्त, बादर, तीर्थंकर, यश कीर्ति, साता-असातावेदनीय मे से एक वेदनीय और उच्चगोत्र रूप बारह उदयवती प्रकृतियो का स्पर्धकोत्कर्ष—कुल स्पर्धको की सख्या—अयोगिकेवलीगुणस्थान के काल के तुल्य है, किन्तु एक स्पर्धक से अधिक जानना चाहिये। यानि अयोगिकेवलीगुणस्थान के काल के जितने समय है, उनसे एक स्पर्धक अधिक स्पर्धक होते है। जिसका विशद् अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—

क्षपितकर्मांश किसी जीव के अयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय मे जो सर्वजघन्य प्रदेशसत्ता होती है, वह प्रथम प्रदेशसत्कर्मस्थान है, एक परमाणु को मिलाने पर दूसरा प्रदेशसत्कर्मस्थान, दो परमाणुओ को मिलाने पर तीसरा प्रदेशसत्कर्मस्थान, इस प्रकार अयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय मे वर्तमान अनेक जीवो की अपेक्षा एक-एक परमाणु को मिलाते हुए निरन्तर प्रदेशसत्कर्मस्थान वहाँ तक जानना चाहिये कि उसी समय मे वर्तमान गुणितकर्मांश जीव का सर्वोत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्मस्थान हो। इस प्रकार चरम स्थिति-सम्बन्धी एक स्पर्धक होता है।

इसी प्रकार दो स्थिति शेष रहे तब उस दो स्थिति का दूसरा स्पर्धक होता है, तीन स्थिति शेष रहे तब तीन स्थिति का तीसरा स्पर्धक होता है।

इस तरह निरन्तर अयोगिगुणस्थान के पहले समय पर्यन्त समझना चाहिये तथा सयोगिकेवली के चरम समय मे होने वाले चरम स्थिति-घात के चरम प्रक्षेप से आरम्भ कर पश्चानुपूर्वी के क्रम से बढते हुए निरन्तर प्रदेशसत्कर्मस्थान वहाँ तक कहना चाहिये यावत् अपनी-अपनी उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता होती है। इस सम्पूर्ण स्थितिसम्बन्धी यथाक्रम

एक स्पर्धक होता है। जिससे उस एक स्पर्धक से अधिक अयोगिगुण-स्थान के समयप्रमाण उदयवती प्रकृतियो के स्पर्धक होते है।

'इयराण एगहीण त' अर्थात् इतर—अयोगिकेवलीगुणस्थान मे जिनकी सत्ता होती है, उन अनुदयवती प्रकृतियो का उदयवती प्रकृतियो मे एक न्यून स्पर्धक होता है। इसका कारण यह है कि अयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय मे उन अनुदयवती प्रकृतियो की स्वरूपसत्ता प्राप्त नही होती है, जिससे वे चरम स्थिति-सम्बन्धी स्पर्धक से हीन है।

इस प्रकार से अयोगिकेवलीगुणस्थान मे क्षय होने वाली उदयवती और अनुदयवती प्रकृतियो के स्पर्धको को बतलाने के बाद पूर्व मे जो क्षीणमोहगुणस्थान मे जिनका अत होता है एव अयोगिकेवलीगुण-स्थान मे जिनकी सत्ता होती है, उन उदयवती प्रकृतियो के यथोक्त प्रमाण युक्त जो स्पर्धक एक स्पर्धक से अधिक तथा अनुदयवती प्रकृ-तियो के स्पर्धक उदयवती प्रकृतियो से एक न्यून कहे है, अब कारण सहित दो गाथाओ मे उसका विचार करते है—

ठिइखंडाणइखुड्ड खीणसजोगीण होइ जं चरिम ।
त उदयवईणहिय अन्नगए तूणमियराण ॥१७७॥
ज समय उदयवई खिज्जइ दुच्चरिमय तु ठिइठाण ।
अणुदयवइए तम्मी चरिम चरिमंमि ज कमइ ॥१७८॥

शब्दार्थ—ठिइखंडाणइखुड्ड—स्थितिखडो का अत्यन्त क्षुल्लक, सबसे छोटा अश, खीणसजोगीण—क्षीणमोह और सयोगिकेवलीगुणस्थान मे, होइ—होता है, ज—जो, चरिमं—चरम, तं—वह, उदयवईणहिय—उदयवती प्रकृतियो का अधिक, अन्नगए—अन्यगत, उदयवतीप्रकृतियोगत, तूणमियराण—और इतरो का, अनुदयवतीप्रकृतियो का न्यून।

ज—जिस, समय—समय, उदयवई—उदयवती प्रकृतियो का, खिज्जइ—क्षय होता है, दुच्चरिमय—द्विचरम, तु—और, ठिइठाण—स्थितिस्थान का,

गुणस्थान मे जिनका अत होता है, उन प्रकृतियो मे तथा अयोगिकेवली के जिनकी सत्ता होती है उन उदयवर्ती प्रकृतियो मे अधिक होता है।

इस प्रकार से उदयवर्ती प्रकृतियो मे एक स्पर्धक अधिक होने के कारण को स्पष्ट करने के बाद अब अनुदयवती प्रकृतियो के स्पर्धक उदयवर्ती प्रकृतियो के स्पर्धको मे एक कम होने के कारण को स्पष्ट करते हैं ।

जिस समय उदयवती प्रकृतियो का द्विचरम उपान्त्य—अतिम से पूर्व के स्थितिस्थान का स्व-स्वरूप मे अनुभव करते हुए क्षय होता है, उस समय अनुदयवती प्रकृतियो के चरम स्थितिस्थान का क्षय होता है। क्योकि उदयवती प्रकृतियो के चरम समय मे अनुदयवती प्रकृतिया के दलिक स्तिवुकसक्रम द्वारा सक्रमित हो जाते हैं, जिससे उदयवती प्रकृतियो के द्विचरम समय मे ही अनुदयवती प्रकृतियो का क्षय होता है। इसलिये चरम समय मे अनुदयवती प्रकृतियो का दलिक स्वरूपसत्ता से नही होता है। जिससे उस चरम समय सम्बन्धी एक स्पर्धक से न्यून उन अनुदयवती प्रकृतियो के स्पर्धक होते हैं। इस कथन का साराश यह है—

चरमस्थितिघात के चरम प्रक्षेप से आरम्भ कर सम्पूर्ण स्थिति का जो स्पर्धक उदयवती प्रकृतियो मे होता है, वह अनुदयवती मे भी होता है, लेकिन उदयवती मे अनुदयवती मे एक स्पर्धक कम होता है। क्योकि उदयवती प्रकृतियो का चरम समय मे स्वस्वरूप मे दलिक अनुभव होता है, जिसमे उनका चरम समयाश्रित स्पर्धक होता है परन्तु अनुदयवती प्रकृतियो का उदयवर्ती प्रकृतियो मे स्तिवुकसक्रम द्वारा सक्रमण हो जाने से चरम समय मे उनके दलिक स्वस्वरूप से अनुभव नही होते है, जिसमे चरमसमयाश्रित एक स्पर्धक उनका नही होता है। इसी कारण उस एक स्पर्धक से हीन अनुदयवती प्रकृतियो के स्पर्धक होते हैं।

इस प्रकार से क्षीणमोह और अयोगिकेवली गुणस्थानसम्बन्धी उदयवती और अनुदयवती प्रकृतियो के स्पर्धको विषयक स्पष्टीकरण

करने के बाद अब यह स्पष्ट करते है कि सज्वलन लोभ और यश कीर्ति का दूसरे प्रकार से भी एक स्पर्धक होता है—

जावइया उ ठिईओ जसतलोभाणहापवत्ताते ।
त इगिफड्डं संते जहन्नयं अकयसेढिस्स ॥१७६॥

शब्दार्थ –जावइया—जितनी, उ—और, ठिईओ स्थितिया, जसंतलोभाणहापवत्त ते—यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय मे यश कीर्ति और अतिम लोभ—सज्वलन लोभ की, तं—उसका, इगिफड्ड—एक स्पर्धक, सते—सत्ता मे, जहन्नय—जघन्य, अकयसेढिस्स—जिसने श्रेणि नही की है।

गाथार्थ—जिसने श्रेणि नही की है, ऐसे जीव के यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय मे यश कीर्ति और सज्वलन लोभ की जितनी स्थितिया सत्ता मे हो, उनका एक जघन्य स्पर्धक होता है।

विशेषार्थ—गाथा मे यश कीर्ति और सज्वलन लोभ का दूसरे प्रकार से भी एक स्पर्धक होने के कारण को स्पष्ट किया है—

कोई एक अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति की सत्ता वाला जीव त्रस मे उत्पन्न हो और वहाँ चार बार मोहनीयकर्म की सर्वोपशमना किये बिना ही शेष कर्मपुद्गलो की सत्ता को कम करने के लिये होने वाली क्षपितकर्मांश क्रिया के द्वारा प्रभूत कर्मपुद्गलो का क्षय करके और दीर्घकाल पर्यन्त सयम का पालन करके मोहनीय का क्षय करने के लिये क्षपकश्रेणि पर आरूढ हो तो उस क्षपितकर्मांश जीव के यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय मे जितनी स्थितिया – स्थितिस्थान सत्ता मे हो और उन समस्त स्थानो मे जो सबसे कम प्रदेशो की सत्ता हो, उसके समूह का पहला जघन्य प्रदेशसत्कर्मस्थान होता है। उसके बाद वहाँ से आरम्भ कर भिन्न-भिन्न जीवो की अपेक्षा एक-एक परमाणु की वृद्धि होने पर इसी यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय मे निरन्तर प्रदेशसत्कर्मस्थान वहाँ तक कहना चाहिये यावत् गुणितकर्मांश जीव का सर्वोत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्मस्थान होता है। इन समस्त प्रदेशसत्कर्म

स्थानो का समूह रूप एक स्पर्धक सज्वलन लोभ और यश कीर्ति इन दो प्रकृतियो मे उपशमश्रेणि नही करने वाले को होना है।

पूर्व मे यश कीर्ति के अयोगिकेवलीगुणस्थान मे जो एक अधिक समय प्रमाण स्पर्धक कहे है, उनमे इस रीति से एक स्पर्धक अधिक होता है।

यहाँ त्रस के भवो मे श्रेणि करने के सिवाय ऐसा जो कहा है, उसका कारण यह है कि यदि उपशमश्रेणि करे तो अन्य प्रकृतियो के प्रभूत दलिक गुणसक्रम द्वारा उक्त दो प्रकृतियो मे सक्रमित हो और उसमे जघन्य प्रदेशसत्कर्म घटित नही हो सकता है। इसलिये श्रेणि नही करने वाले के होता है, यह कहा है।

अब उद्वलनयोग्य एव हास्यषट्क प्रकृतियो के स्पर्धको को बतलाते है—

अणुदयतुल्ल उव्वलणिगाण जाणिज्ज दीहउव्वलणे।
हासाईण एग सछोभे फड्डग चरम ॥१८०॥

शब्दार्थ—अणुदयतुल्ल—अनुदयवती प्रकृतियो के तुल्य, उव्वलणिगाण—उद्वलन योग्य प्रकृतियो के, जाणिज्ज—जानो, दीहउव्वलणे—चिरोद्वलना करने पर, हासाईण—हास्यादि प्रकृतियो का, एग—एक, सछोभे—सक्षोभ-प्रक्षेप, सक्रमण मे, फड्डग—स्पर्धक, चरम—चरम, अन्तिम।

गाथार्थ—उद्वलनयोग्य प्रकृतियो के स्पर्धक उनकी चिरो-द्वलना करने पर अनुदयवती प्रकृतियो के तुल्य जानो और हास्यादि प्रकृतियो का चरम प्रक्षेप से आरम्भ कर एक स्पर्धक होता है।

विशेषार्थ—गाथा मे पहले उद्वलनयोग्य प्रकृतियो के स्पर्धको का निर्देश करते हुए बताया है कि 'अणुदयतुल्ल जाणिज्ज' अर्थात् अनु-

दयवती प्रकृतियो के स्पर्धको के तुल्य जानना चाहिये। विशदता के साथ जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उद्वलनयोग्य तेईस प्रकृतियो की पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाणकाल द्वारा उद्वलना करने पर उनके स्पर्धक अनुदयवती प्रकृतियो के तुल्य जानना चाहिये। अर्थात् पहले जो अनुदयवती प्रकृतियो के आवलिका के समयप्रमाण स्पर्धक बताये है, उसी प्रकार उद्वलनयोग्य प्रकृतियो के भी समझना चाहिये।

अब उक्त कथन को नामोल्लेखपूर्वक पृथक्-पृथक् उद्वलनयोग्य प्रकृति पर घटित करते है। उसमे भी पहले सम्यक्त्वमोहनीय के स्पर्धको को बतलाते है—

अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति की सत्ता वाला कोई जीव त्रस मे उत्पन्न हो और वहाँ सम्यक्त्व तथा देशविरति-देशचारित्र को अनेक बार प्राप्त करके एव चार बार मोहनीय का सर्वोपशम करके तथा एक सौ बत्तीस सागरोपम पर्यन्त सम्यक्त्व का पालन करके मिथ्यात्व मे जाये और वहाँ चिरोद्वलना के द्वारा पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण काल से सम्यक्त्वमोहनीय की उद्वलना करने पर जब अन्तिम स्थितिखड सक्रात हो जाये और एक आवलिका शेष रहे तब उसे भी स्तिबुकसक्रम के द्वारा मिथ्यात्वमोहनीय मे सक्रात करते दो समयमात्र जिसका अवस्थान है, ऐसी एक स्थिति शेष रहे तब कम से कम जो प्रदेशसत्ता होती है वह सम्यक्त्वमोहनीय का जघन्य प्रदेश सत्कर्मस्थान कहलाता है।

वहाँ से प्रारम्भ कर अनेक जीवो की अपेक्षा एक-एक परमाणु की वृद्धि होने पर निरन्तर प्रदेशसत्कर्मस्थान वहाँ तक कहना चाहिये यावत् उसी चरम स्थितिस्थान मे गुणितकर्माश जीव का सर्वोत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्मस्थान हो जाये। इन अनन्त प्रदेशसत्कर्मस्थानो का पहला एक स्पर्धक होता है। स्वरूपसत्ता मे दो समयस्थिति शेष रहे तब पूर्वोक्त कम मे दूसरा स्पर्धक होता है। इस प्रकार वहाँ तक कहना

चाहिये यावत् समयोन आवलिका प्रमाण स्पर्धक होते हैं तथा चरम स्थितिघात के चरमप्रक्षेप से लेकर पूर्व मे जैसा कहा गया है उस रीति से एक स्पर्धक होता है। इस प्रकार सम्यक्त्वमोहनीय के आवलिका के समयप्रमाण कुल स्पर्धक होते हैं।

इसी प्रकार से मिश्रमोहनीय के स्पर्धको का भी विचार करना चाहिये।

इसी तरह शेष वैक्रियएकादश, आहारकसप्तक, उच्चगोत्र और मनुष्यद्विक रूप उद्वलनयोग्य इक्कीस प्रकृतियो के भी स्पर्धक समझना चाहिये परन्तु इतना विशेष है कि एक सौ बत्तीस सागरोपम प्रमाणकाल मूल से नही कहना चाहिये अर्थात् पहले जो एक सौ बत्तीस सागरोपम पर्यन्त सम्यक्त्व का पालन करना कहा गया है, वह नही कहना चाहिये।[1]

इस प्रकार से उद्वलनयोग्य प्रकृतियो के स्पर्धको को बतलाने के बाद अब हास्यादि षट्क प्रकृतियो के स्पर्धको का निर्देश करते है—

हास्यादि छह प्रकृतियो का जब चरमप्रक्षेप, सक्रमण होता है, तब वहाँ से आरम्भ कर एक स्पर्धक होता है। जो इस प्रकार जानना चाहिये कि अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति की सत्ता वाला कोई जीव त्रस मे उत्पन्न हो और वहाँ सम्यक्त्व एव देशविरति अनेक बार प्राप्त करके और चार बार मोहनीय का उपशमन करके तथा स्त्रीवेद और नपु सकवेद को बारबार बध द्वारा तथा हास्यादि के दलिको को सक्रमण द्वारा अच्छी तरह से पुष्ट करके मनुष्य हो और मनुष्य मे चिरकाल तक सयम का पालन करके उन प्रकृतियो का क्षय करने के

---

१ कर्मप्रकृति सत्ताधिकार गाथा ४७ मे उद्वलन प्रकृतियो का जो एक स्पर्धक कहा है, वह उपलक्षक जानना चाहिये, किन्तु शेष स्पर्धको का निषेध करने वाला नही समझना चाहिये। जिससे यहाँ के वर्णन से विरोध नही है।

लिये प्रयत्नशील हो तब क्षपकश्रेणि मे क्षय करते-करते चरम समय मे जो अन्तिम क्षेपण होता है, उस समय मे इन हास्यादि प्रकृतियो की जो सर्वजघन्य प्रदेशसत्ता होती है, वह पहला सर्वजघन्य प्रदेश-सत्कर्मस्थान है। तत्पश्चात् वहाँ से आरभ कर नाना जीवो की अपेक्षा से एक एक परमाणु की वृद्धि करते हुए निरन्तर प्रदेशसत्कर्मस्थान तब तक कहना चाहिये, यावत् गुणितकर्माश जीव का सर्वोत्कृष्ट प्रदेश-सत्कर्मस्थान होता है। उन अनन्ते प्रदेशसत्कर्मस्थानो का समूह स्पर्धक कहलाता है।

इस प्रकार मे हास्यादि षट्क प्रकृतियो मे से प्रत्येक का एक-एक स्पर्धक होता है। अब सज्वलनत्रिक—सज्वलन क्रोध, मान, माया तथा पुरुप, स्त्री, नपु सक वेद के स्पर्धको का प्रतिपादन करते है—

बंधावलियाईयं आवलिकालेण बीइठिइहितो।
लयठाण लयठाणं नासेई संकमेण तु ॥१८१॥

सजलणनिगे दुसमयहीणा दो आवलीण उक्कोस।
फड्डं बिईय ठिइए पढमाए अणुदयावलिया ॥१८२॥

आवलियदुसमऊणामेत्ता फड्डं तु पढमठिइविरमे।
वेयाण वि बे फड्डा ठिइदुग जेण तिण्हंपि ॥१८३॥

शब्दार्थ—बधावलियाईय—बधावलिका व्यतीत हो गई है, आवलिकालेण—आवलिका काल द्वारा, बीइठिइहितो—दूसरी स्थिति मे से, लयठाण—लता-स्थान, लयठाण—लतास्थान, नासेई—नाश होता है, सकमेण—सक्रान्त करने के द्वारा, तु—और।

सजलणतिगे—सज्वलनत्रिक की, दुसमयहीणा—दो समय न्यून, दो—दो आवलीण—आवलिका का, उक्कोस—उत्कृष्ट, फड्ड—स्पर्धक, बिईय—द्वितीय, ठिइए—स्थिति मे, पढमाए—प्रथम स्थिति मे, अणुदया—अनुदयावलिका।

स्पर्धको के निर्देशानुसार यहाँ भी कर लेना चाहिये। परन्तु दो समय न्यून आवलिका काल मे बधा हुआ जो दलिक सत्ता मे है उसके स्पर्धक का विचार दूसरे प्रकार मे किया जाता है। क्योकि पूर्वोक्त प्रकार से स्पर्धक घटित नही हो सकते है।

प्रश्न—यह कैसे जाना जा सकता है कि स्थितिघात, रसघात, बध, उदय और उदीरणा का जिस समय विच्छेद होता है, उसके बाद के समय मे दो समयन्यून दो आवलिका काल मे बधा हुआ दलिक शेष रहता है, किन्तु अधिक समय का बधा हुआ दलिक नही रहता है ?

उत्तर—किसी भी विवक्षित एक समय मे बधे हुए कर्मदलिक की निषेकरचना लतास्थान कहलाती है। अब उस प्रत्येक लतास्थान की अर्थात् समय-समय मे बधे हुए, उस कर्मदलिक की जब बधावलिका व्यतीत हो तब उसे दूसरी स्थिति मे से आवलिका मात्र काल मे सक्रान्त करने के द्वारा—अन्य प्रकृति रूप मे करने के द्वारा—नाश कर ता है।

उक्त कथन का तात्पर्य यह हुआ कि जिस समय कर्मबन्ध होता है, उस समय मे एक आवलिका व्यतीत होने के बाद उसे एक आवलिका काल द्वारा अन्य प्रकृति मे सक्रात करके दूर करता है। किसी भी एक समय के बधे हुए दलिक को दूर करने मे एक आवलिका काल लगता है। अर्थात् जिस समय कर्मबन्ध हुआ वह कर्म उस समय से दूसरी आवलिका के चरम समय मे दूर होता है और उससे किसी भी समय बधी हुई कर्म की सत्ता दो आवलिका रहती है।

किसी भी समय बन्धे हुए कर्मदलिक की सत्ता दो आवलिका शेष रहने का कारण यह है—

क्रोधादि का अनुभव करते हुए चरम समय मे बधविच्छेद के समय मे जो कर्मदलिक बाधा है, उस बधावलिका के जाने के बाद आवलिका मात्र काल मे अन्य प्रकृति रूप मे करते-करते सक्रमावलिका के चरम समय मे स्वरूप सत्ता की अपेक्षा उस कर्मदलिक का नाश करता है, द्विचरम समय मे क्रोधादि का वेदन करते हुए जिस कर्म

होता है। यहाँ आवलिका के चार समय माने जाने से छह समय अर्थात् दो आवलिका मे दो समयन्यून काल होता है। इसीलिए यह कहा गया है कि बधादि का विच्छेद होने के बाद अनन्तर समय मे दो समयन्यून दो आवलिका काल मे बधा हुआ कर्म ही सत्ता मे होता है, उससे अधिक समय का बधा हुआ कर्म सत्ता मे नही होता है।

बधादि के विच्छेद के समय जघन्य योग से जो कर्म बाधा, उस कर्म को उसकी बधावलिका के जाने के बाद अन्य आवलिका द्वारा अन्यत्र सक्रात करते हुए सक्रमावलिका के चरम समय मे अभी भी पर मे सक्रात नही किया है, परन्तु जितना कर्मदल पर मे सक्रमित करेगा, उतना सज्वलन क्रोध का जघन्य प्रदेशसत्कर्मस्थान कहलाता है तथा बधादि के विच्छेद के समय यथासम्भव जघन्य योग से बाद योग-स्थान मे रहते जो कर्म बाधा उसकी बधावलिका के जाने के बाद सक्रात करते-करते सक्रमावलिका के चरम समय मे जितना सत्ता मे होता है, उसको दूसरा प्रदेशसत्कर्मस्थान कहते है। इस रीति से वहाँ तक कहना चाहिये यावत् उत्कृष्ट योगस्थान मे रहते बधादि के विच्छेद के समय जो कर्म बाधा उसको सक्रात करते-करते सक्रमावलिका के चरम समय मे जितना कर्मदल सत्ता मे हो, उसे सज्वलन क्रोध का सर्वोत्कृष्ट चरमप्रदेशसत्कर्मस्थान कहते है।

इस प्रकार नौवे गुणस्थान मे जो जघन्य योगस्थान सम्भव हो उस योगस्थान मे लेकर सम्भव उत्कृष्ट योगस्थान पर्यन्त जितने योग-स्थान घटित हो सकते है, उतने प्रदेशसत्कर्मस्थान चरम समय मे होते है। उन समस्त प्रदेशसत्कर्मस्थान के समूह का पहला स्पर्धक होता है। इस तरह जिस समय बधादि का विच्छेद होता है, उसमे पूर्व के समय मे जघन्य योग आदि के द्वारा जो कर्म बधता है, उस कर्मदल का उस समय मे लेकर दूसरी आवलिका के चरम समय मे पहले जघन्य प्रदेशसत्कर्मस्थान से प्रारम्भ कर उत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्म-

स्थान पर्यन्त चरम समय मे बधे हुए दलिक का जिस रीति से और जितने प्रदेशसत्कर्मस्थानो का विचार किया गया है, उसी रीति से आगे उतने प्रदेशसत्कर्मस्थान यहाँ भी जानना चाहिये। परन्तु यह समझना चाहिये कि मात्र दो स्थितिस्थान के हुए है। इसका कारण यह है कि बधविच्छेद रूप चरम समय मे बधे हुए दलिक की भी उस समय सत्ता है। इस प्रकार असख्य सत्कर्मस्थानो के समूह का दूसरा स्पर्धक होता है।

असत्कल्पना से चार समय प्रमाण आवलिका मानने पर बध-विच्छेद होने के बाद के समय मे अर्थात् अबध के पहले समय मे छह समय के बधे हुए दलिक की सत्ता होती है। अबध के दूसरे समय मे पाच समय के बधे हुए, अबध के तीसरे समय मे चार समय के बधे हुए, अबध के चौथे समय मे तीन समय के बधे हुए, अबध के पाचवे समय मे दो समय के बधे हुए और अबध के छठे समय मे मात्र बंध-विच्छेद के समय मे बधे हुए दलिक की ही सत्ता होती है। इस प्रकार होने से तीन समय स्थिति का उपर्युक्त रीति से तीसरा स्पर्धक, चार समय स्थिति का चौथा स्पर्धक, पाच समय स्थिति का पाचवा स्पर्धक और छह समय स्थिति का छठा स्पर्धक होता है। अब इसी कल्पना को यथार्थ रूप मे स्पष्ट करते है—

बधादि विच्छेद के त्रिचरम समय मे अर्थात् चरम समय से तीसरे समय मे जघन्य योगादि के द्वारा जो दलिक बधता है, उसके उस बधसमय से लेकर दूसरी आवलिका के चरम समय मे पूर्व की तरह उतने ही प्रदेशसत्कर्मस्थान होते है, मात्र वे तीन स्थिति के होते है। क्योंकि उस समय बधादि के विच्छेद के समय मे बधे हुए तीन समय की स्थिति वाले दलिक की सत्ता होती है एव द्विचरम समय मे बधे हुए दो समय की स्थिति वाले दलिक की भी सत्ता होती है। इस तरह असख्य प्रदेशसत्कर्मस्थानो के समूह का तीसरा स्पर्धक होता है।

लेकर अपने-अपने उत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्मस्थान पर्यन्त दूसरा स्पर्धक होता है। इस प्रकार प्रत्येक वेद के दो-दो स्पर्धक होते है—'दो फड्डावेयाण।

वेदत्रिक के दो-दो स्पर्धक होने के स्पष्टीकरण का यह पहला प्रकार है। अब दूसरे प्रकार से उनके दो-दो स्पर्धक होने के विचार को स्पष्ट करते है—

अभव्यप्रायोग्य जघन्य प्रदेश की सत्तावाला कोई जीव त्रस मे उत्पन्न हो, वहाँ पर अनेक बार देशविरति एव सर्वविरति को प्राप्त कर एव चार बार मोहनीय की उपशमना कर और एक सौ बत्तीस सागरोपमपर्यन्त सम्यक्त्व का पालन कर और सम्यक्त्व से च्युत न होते हुए नपुसकवेद के उदय से क्षपकश्रेणि पर आरूढ हो, वहाँ नपु सकवेद की प्रथम स्थिति के द्विचरम समय मे वर्तमान दूसरी स्थिति मे का चरमस्थितिखड अन्यत्र सक्रमित हो जाता है और वैसा होने से उपरितन दूसरी स्थिति सम्पूर्ण रूप से निर्लेप हो जाती है, मात्र प्रथमस्थिति के चरम समय की ही सत्ता रहती है। उस समय जो सर्वजघन्य प्रदेश सत्ता होती है, वह पहला जघन्य प्रदेशसत्कर्मस्थान कहलाता है, एक परमाणु के मिलाने पर दूसरा, दो परमाणु के मिलाने पर तीसरा प्रदेश सत्कर्मस्थान होता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न जीवो की अपेक्षा एक-एक परमाणु की वृद्धि से होने वाले प्रदेशसत्कर्मस्थान वहाँ तक कहना चाहिये यावत् गुणितकर्मांश जीव का सर्वोत्कृष्ट प्रदेश-सत्कमस्थान होता है। इन अनन्त प्रदेशसत्कर्मस्थानो के समूह का एक स्पर्धक होता है तथा—

दूसरी स्थिति के चरम खड को सक्रात करते हुए चरमसमय मे पूर्वोक्त प्रकार से जो सर्व जघन्य प्रदेशसत्कर्मस्थान होता है, वहाँ से आरम्भ कर भिन्न-भिन्न जीवो की अपेक्षा उत्तरोत्तर वृद्धि से होने वाले निरतर प्रदेशसत्कर्मस्थान वहाँ तक कहना चाहिये, यावत्

गुणितकर्मांश जीव का सर्वोत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्मस्थान होता है। इन सभी प्रदेशसत्कर्मस्थानो के समूह का दूसरा स्पर्धक होता है।

इस प्रकार से नपुसकवेद के दो स्पर्धक होते हैं। स्त्रीवेद के भी इसी प्रकार दो स्पर्धक समझ लेना चाहिये और पुरुपवेद के दो स्पर्धक इस प्रकार जानना चाहिये—

उदय के चरम समय मे जो सर्वजघन्यप्रदेश की सत्ता होती है, वहाँ से लेकर भिन्न-भिन्न जीवो की अपेक्षा एक-एक परमाणु की वृद्धि स होने वाले निरन्तर प्रदेशसत्कर्मस्थान वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् गुणितकर्माश जीव का उत्कृष्ट प्रदेशसत्कमस्थान होता है। इन अनन्त प्रदेशसत्कर्मस्थानो का पहला स्पर्धक है तथा दूसरी स्थिति सम्बन्धी चरमखड को सक्रात करने पर उदय के चरम समय मे जो सर्वजघन्य प्रदेश की सत्ता होती है, वहाँ से लेकर पहले स्पर्धक के समान दूसरा स्पर्धक होता है।

अथवा प्रकारान्तर से दो स्पर्धक की प्ररूपणा इस तरह से जानना चाहिये—

जव तक किसी भी वेद की पहली स्थिति और दूसरी स्थिति सत्ता मे हो वहाँ तक जघन्य प्रदेशसत्कर्मस्थान से आरम्भ कर उत्कृष्ट प्रदेशसत्ता तक का एक स्पर्धक होता है और दोनो मे से किसी भी एक स्थिति का क्षय होने पर पहली स्थिति अथवा दूसरी स्थिति जव शेप रहे तव उससे सम्वन्धी दूसरा स्पर्धक होता है— दो इगि सत हवा एए।'

इस प्रकार पहली और दूसरी दोनो स्थितियो का एक स्पर्धक और दोनो मे से एक स्थिति शेप रहे उसका एक, इस तरह वेद के दो दो स्पर्धक होते है।

इस प्रकार से प्रत्येक वेद के दो-दो स्पर्धक होने के कारण को स्पष्ट करने के वाद अव यह स्पष्ट करते है कि प्रत्येक वेद को प्रथम-स्थिति के अन्त मे कितना-कितना समय शेप रहता है—

स्त्रीवेद और नपु सकवेद की दूसरी स्थिति के चरम स्थितिघात के चरम सछोभ—सक्रम के समय प्रथम स्थिति का एक समय मात्र शेष रहता है, और पुरुषवेद की प्रथम स्थिति का अनुभव करते हुए जब क्षय होता है तब दूसरी स्थिति का दो समयन्यून दो आवलिका काल मे बधा हुआ दलिक सत्ता मे शेष रहता है। दो समयन्यून दो आवलिका काल मे बधा हुआ दलिक जब शेष रहता है तब उस अवेदी जीव के सज्वलनत्रिक मे किये गये कथन के अनुरूप दो समयन्यून दो आवलिका प्रमाण स्पर्धक समझना चाहिये।

इस प्रकार समग्ररूपेण अधिकृत विवेचनीय विषयो का विवेचन हो जाने से बधविधि नामक अधिकार की प्ररूपणा पूर्ण होती है और इसके साथ ही कर्मसिद्धान्त का निरूपण करने वाले पचसग्रह नामक ग्रन्थ का योगोपयोगमार्गणा आदि पाच विषयो का सग्राहक पचम भाग भी समाप्त होता है।

□□

पचसग्रह

वधविधि प्ररूपणा अधिकार

परिशिष्ट

बधविधि-प्ररूपणा अधिकार की मूल गाथाएँ

गाथा

वद्धस्सुदओ उदए उदीरणा तदवसेसय सत ।
तम्हा बन्धविहाणे भन्नन्ते इइ भणियव्व ॥१॥

जा अपमत्तो सत्तट्ठबधगा सुहुमछण्हमेगस्स ।
उवमतखीणजोगी सत्तण्ह नियट्टिमीमअनियट्टी ॥२॥

जा सुहुमसपराओ उइन्न सताइ ताव सव्वाइ ।
सत्तट्ठुवसने खीणे सत्त सेसेसु चत्तारि ॥३॥

वधति सत्त अट्ठ व उइन्न सत्तट्ठगा उ सव्वे वि ।
सत्तट्ठछेगवंधगभगा पज्जत्तसन्निमि ॥४॥

जाव पमत्तो अट्ठण्हुदीरगो वेयआउवज्जाण ।
सुहुमो मोहेण य जा खीणो तप्परओ नामगोयाण ॥५॥

जावुदओ ताव उदीरणा वि वेयणीय आउवज्जाण ।
अद्धावलिया सेसे उदए उ उदीरणा नत्थि ॥६॥

सायासायाऊण जाव पमत्तो अजोगि सेसुदओ ।
जा जोगि उईरिज्जइ सेसुदया सोदय जाव ॥७॥

निद्दाउदयवईण समिच्छपुरिसाण एगचत्ताण ।
एयाण चिय भज्जा उदीरणा उदए नन्नासि ॥८॥

होइ अणाइअणतो अणाइसतो य साईसतो य ।
वधो अभव्व भव्वोवसतजीवेसु इइ तिविहो ॥९॥

पयडीठिईपएसाणुभागभेया चउव्विहेक्केक्को ।
उक्कोसाणुक्कोस जहन्न अजहन्नया तेसिं ॥१०॥

तेवि हु साइ-अणाई-धुव-अधुवभेयओ पुणो चउहा ।
ते दुविहा पुण नेया मूलुत्तरपयइभेएण ॥११॥

भूओगारप्पयरग अव्वत्त अवट्ठिओ य विन्नेया।
मूलुत्तरपगइबधणासिया ते इमे सुणसु ॥१२॥
इगछाइ मूलियाण वधट्ठाणा हवति चत्तारि।
अबधगो न बधइ इइ अव्वत्तो अओ नत्थि ॥१३॥
भूओगारप्पयरगअव्वत्त अवट्ठिया जहा बधे।
उदओदीरणसतेसु वात्रि जहसभव नेया ॥१४॥

बधट्ठाणा तिदसट्ठ दसणावरणमोहनामाण।
सेसाणेगमवट्ठियबधो सव्वत्थ ठाणसमो ॥१५॥

भूओगारा दोनवछयप्पतरा दुगट्ठसत्तकमा।
मिच्छाओ सासणत्त न एक्कतीसेक्क गुरु जम्हा ॥१६॥

चउ छ दुइए नाममि एग गुणतीस तीस अव्वत्ता।
इग सत्तरस य मोहे एक्केक्को तइयवज्जाण ॥१७॥

इगसयरेगुत्तर जा दुवीस छव्वीस तह तिपन्नाइ।
जा चोवत्तरि बावट्ठिरहिय बधाओ गुणतीस ॥१८॥

एक्कार बार तिचउक्कवीस गुणतीसओ य चउतीसा।
चउआला गुणसट्ठी उदयट्ठाणाइ छव्वीस ॥१९॥
भूयप्पयरा इगिचउवीस जन्नेड केवली छउम।
अजओ य केवलित्त तित्थयरियरा व अन्नोन ॥२०॥

एक्कारबारसासी इगिचउपचाहिया य चउणउई।
एत्तो चोद्दसहिय सय पणवीसाओ य छायाल ॥२१॥

बत्तीस नत्थि सय एव अडयाल सत ठाणाणि।
जोगि अघाइचउक्के भण खिविउ घाइसताणि ॥२२॥
साइ अधुवो नियमा जीवविसेसे अणाइ अधुवधुवो।
नियमा धुवो अणाई अधुवो अधुवो व साई ॥२३॥

उक्कोसा परिवडिए साइ अणुक्कोसओ जहन्नाओ।
अव्वधाओ वियरो तदभावे दो वि अविसेसा ॥२४॥

ते णाइ ओहेण उक्कोसजहन्नगो पुणो साई ।
अधुवाण माइ सव्वे धुवाणणाई वि संभविणो ।।२५।।

मूलुत्तरपगईण जहण्णओ पगइबंध उवसंते ।
तब्भट्ठा अजहन्नो उक्कोसो सन्निमिच्छंमि ।।२६।।

आउस्स साइ अधुवो बंधो तइयस्स साइअवसेमो ।
सेसाण साइयाई भव्वाभव्वेसु अधुवधुवो ।।२७।।

साइ अधुवो सव्वाण होइ धुवबंधियाण णाइधुवो ।
नियय अबंधचुयाण साइ अणाई अपत्ताण ।।२८।।

नरयतिग देवतिग इगिविगलाणं विउव्वि नो बंधे ।
मणुयतिगुच्चं च गईतसंमि तिरि तित्थ आहारं ।।२९।।
वेउव्वाहारदुगं नारयसुरसुहुमविगलजाइतिगं ।
बंधहि न सुरा सायवथावरएगिंदि नेरइया ।।३०।।

मोहे सयरी कोडाकोडीओ वीस नामगोयाणं ।
तीसियराण चउण्हं तेत्तीसयराइ आउस्स ।।३१।।

मोत्तुमकसाइ तणुया ठिइ वेयणियस्स बारस मुहुत्ता ।
अट्ठट्ठ नामगोयाण सेसयाणं मुहुत्तंतो ।।३२।।
सुक्किलसुरभिमहुराण दस उ तह सुभचउण्हफासाणं ।
अड्ढाइज्ज पवुड्ढी अंबिलहालिद्द पुव्वाणं ।।३३।।

तीसं कोडाकोडी असाय - आवरण - अंतरायाणं ।
मिच्छे सयरी इत्थी मणुदुगसायाण पन्नरस ।।३४।।
संघयणे संठाणे पढमे दस उवरिमेसु दुगुवुड्ढी ।
सुहुमतिवामणविगले ठारस चत्ता कसायाणं ।।३५।।

पुंहासरईउच्चे सुभखगतिथिराइछक्कदेवदुगे ।
दस सेसाणं वीसा एवइयाबाह वाससया ।।३६।।

सुरनारयाउयाणं अयरा तेत्तीस तिन्नि पलियाइं ।
इयराणं चउसु वि पुव्वकोडि तंसो अबाहाओ ।।३७।।

वोलीणेसु दोसु भागेसु आउयस्स जो बधो।
भणियो असभवाओ न घडइ सो गइचउक्केवि ॥३८॥
पलियासखेज्जसे बधति न साहिए नरतिरिच्छा।
छम्मासे पुण इयरा तदाउ तसो बहु होइ ॥३९॥

पुव्वाकोडी जेसिं आऊ अहिकिच्च ते इम भणिय।
भणियपि नियअबाह आउ बधति अमुयता ॥४०॥

निरुवक्कमाण छमासा इगिविगलाण भवट्ठिईतसो।
पलियासखेज्जस जुगधम्मीण वयतन्ने ॥४१॥
अन्तोकोडीकोडी तित्थयराहार तीए सखाओ।
तेत्तीस पलियसख निकाइयाण तु उक्कोसा ॥४२॥
अतोकोडाकोडी ठिईए वि कह न होइ ? तित्थयरे।
सते कित्तियकाल तिरिओ अह होइ उ विरोहो ॥४३॥

जमिह निकाइयतित्थ तिरियभवे त निसेहिय सत।
इयरमि नत्थि दोसो उवट्टणवट्टणासज्झे ॥४४॥
पुव्वकोडीपरओ इगिविगलो वा न बधए आउ।
अतोकोडाकोडीए आरउ अभवसन्नी उ ॥४५॥

सुरनारयाउयाण दसवाससहस्स लघु सतित्थाण।
इयरे अतमुहुत्त अतमुहुत्त अबाहाओ ॥४६॥
पुवेए अट्ठवासा अट्ठमुहुत्ता जसुच्चगोयाण।
साए बारसहारगविग्घावरणाण किंचूण ॥४७॥

दोमास एग अद्ध अतमुहुत्त च कोहपुव्वाण।
सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तठिईए ज लद्ध ॥४८॥
वेउव्विछक्कि त सहसताडिय ज असन्निणो तेसिं।
पलियासखसूण ठिई अबाहूणि य निसेगो ॥४९॥
मोत्तुमबाहासमए बहुग तयणतरे रयइ दलिय।
तत्तो विसेसहीण कमसो नेय ठिई जाव ॥५०॥

आउस्स पढमसमया परभविया जेण तस्स उ अबाहा ।
पल्लासंखियभागं गंतु अद्धद्धयं दलियं ॥५१॥

पलिओवमस्स मूला असंखभागम्मि जत्तिया समया ।
तावइया हाणीओ ठिइबंधुक्कोसए नियमा ॥५२॥

उक्कोसठिईबंधा पल्लासंखेज्जभागमित्तेहिं ।
हसिएहिं समएहिं हसइ अबाहाए इगसमओ ॥५३॥

जा एगिंदि जहन्ना पल्लासंखंसमजुया सा उ ।
तेसिं जेट्ठा सेसाणसंखभागहिय जासन्नी ॥५४॥

पणवीसा पन्नासा सय दससय ताडिया इगिंदि ठिई ।
विगलासन्नीण कमा जायइ जेट्ठा व इयरा वा ॥५५॥

ठिइठाणाइ एगिंदियाण थोवाइ होंति सव्वाण ।
बेंदीण असंखेज्जाणि संखगुणियाणि जह उप्पिं ॥५६॥

सव्वजहन्ना वि ठिई असंखलोगप्पएसतुल्लेहिं ।
अज्झवसाएहिं भवे विसेसअहिएहिं उवरुवरिं ॥५७॥

असंख लोगखपएसतुल्लया हीणमज्झिमुक्कोसा ।
ठिईबंधज्झवसाया तीए विसेसा असंखेज्जा ॥५८॥

सत्तण्ह अजहन्नो चउहा ठिइबंधु मूलपगईणं ।
सेसा उ साइअधुवा चत्तारि वि आउए एवं ॥५९॥

नाणंतरायदंसणचउक्कसंजलणठिई अजहन्ना ।
चउहा साई अधुवा सेसा इयराण सव्वाओ ॥६०॥

अट्ठारसण्ह खवगो बायरएगिंदि सेसधुवियाणं ।
पज्जो कुणइ जहन्नं साई अधुवो अओ एसो ॥६१॥

अट्ठाराणऽजहन्नो उवसमसेढीए परिवडंतस्स ।
साई सेसविगप्पा सुगमा अधुवा धुवाणंपि ॥६२॥

सव्वाणवि पगईणं उक्कोसं सन्निणो कुणंति ठिइं ।
एगिंदिया जहन्नं असन्निखवगा य काणंपि ॥६३॥

सव्वाण ठिई असुभा उक्कोसुक्कोससकिलेसेण।
इयरा उ विसोहीए सुरनरतिरिआउए मोत्तु ॥६४॥

अणुभागोणुक्कोसो नामतइज्जाण घाइ अजहन्नो।
गोयस्स दोवि एए चउव्विहा सेसया दुविहा ॥६५॥

सुभधुवियाणणुक्कोसो चउहा अजहन्न असुभधुवियाण।
साई अधुवा सेसा चत्तारिवि अधुवबधीण ॥६६॥

असुभधुवाण जहण्ण बधगचरमा कुणति सुविसुद्धा।
समय परिवडमाणा अजहण्ण साइया दोवि ॥६७॥

सयलसुभाणुक्कोस एवमणुक्कोसग च नायव्व।
वन्नाई सुभ असुभा तेण तेयाल धुव असुभा ॥६८॥

सयलासुभायवाण उज्जोयतिरिक्खमणुयआऊण।
सन्नी करेइ मिच्छो समय उक्कोसअणुभाग ॥६९॥

आहार अप्पमत्तो कुणइ जहन्न पमत्तयाभिमुहो।
नरतिरिय चोद्दसण्ह देवाजोगाण साऊण ॥७०॥

ओरालियनिरियदुगे नीउज्जोयाण तमतमा छण्ह।
मिच्छ - नरयाणभिमुहो सम्मद्दिट्ठि उ तित्थस्स ॥७१॥

सुभधुव तसाइ चउरो परघाय पणिदिसास चउगइया।
उक्कडमिच्छा ते च्चिय थीअपुमाण विसुज्झता ॥७२॥
थिरसुभजससायण सपडिवक्खाण मिच्छ सम्मो वा।
मज्झिमपरिणामो कुणइ थावरेगिदिय मिच्छो ॥७३॥

सुसुराइतिन्नि दुगुणा सठिइमघयण मणुयविहगजुयले।
उच्चे चउगइ मिच्छा अरईसोगाण उ पमत्तो ॥७४॥

सेढिअसखेज्जसो जोगट्ठाणा तओ असखेज्जा।
पयडीभेआ त्तत्तो ठिइभेया होनि तत्तोवि ॥७५॥

ठिइबधज्झवसाया नत्तो अणुभागबधठाणाणि।
तत्तो कम्मपएमाणतगुणा तो रसच्छेया ॥७६॥

साई अधुवोऽधुवबंधियाणऽधुवबंधणा चेव।
जाणं जहिं बंधंतो उक्कोसो ताण तत्थेव ॥९०॥
अप्पतरपगइबंधे उक्कडजोगी उ सन्निपज्जत्तो।
कुणइ पएसुक्कोसं जहन्नयं तस्स वच्चासे ॥९१॥
सत्तविहबंधमिच्छे परमो अणमिच्छथीणगिद्धीणं।
उक्कोससंकिलिट्ठे जहन्नओ नामधुवियाणं ॥९२॥
समयादसंखकालं तिरिदुगनीयाणि जाव बज्झंति।
वेउव्वियदेवदुगं पल्लतिगं आउ अंतमुहू ॥९३॥
देसूणपुव्वकोडी सायं तह असंखपोग्गला उरलं।
परघाउस्सासतसचउपणिंदि पणसीय अयरसयं ॥९४॥
चउरंस उच्च सुभखगइपुरिस सुस्सरतिगाण छावट्ठी।
बिउणा मणुदुगउरलगरिसहतित्थाण तेत्तीसा ॥९५॥
सेसाणंतमुहुत्तं समया तित्थाउगाण अंतमुहू।
बंधो जहन्नओवि हु भंगतिगं निच्चबंधीणं ॥९६॥
होइ अणाइअणंतो अणाइसंतो धुवोदयाणुदओ।
साइसपज्जवसाणो अधुवाणं तह य मिच्छस्स ॥९७॥
पयडीठिइमाईया भेया पुव्वुत्तया इहं नेया।
उद्दीरणउदगाणं जन्नाणत्तं तयं वोच्छं ॥९८॥
चरिमोदयमुच्चाणं अजोगिकालं उदीरणाविरहे।
देसूणपुव्वकोडी मणुयाउयसायसायाणं ॥९९॥
तइयच्चिय पज्जत्ती जा ता निद्दाण होइ पंचण्हं।
उदओ आवलिअंते तेवीसाए उ सेसाणं ॥१००॥
मोहे चउहा तिविहोवसेस सत्तण्ह मूलपगईणं।
मिच्छत्तुदओ चउहा अधुवधुवाणं दुविहतिविहा ॥१०१॥
उदओ ठिइक्खएणं संपत्तीए सभावतो पढमो।
सति तम्मि भवे बीओ पओगओ दीरणा उदओ ॥१०२॥

उद्दीरणजोग्गाण अब्भहियठिईए उदयजोग्गाओ।
हस्सुदओ एगठिईण निद्दुणा एगियालाए ॥१०३॥

अणुभागुदओवि उदीरणाए तुल्लो जहन्नय नवरं।
आवलिगंते सम्मत्तवेयखीणंतलोभाणं ॥१०४॥

अजहन्नोऽणुक्कोसो चउह तिहा छण्ह चउविहो मोहे।
आउस्स साइअधुवा सेसविगप्पा य सव्वेसिं ॥१०५॥

अजहन्नोऽणुक्कोसो धुवोदयाण चउह् तिहा चउहा।
मिच्छत्ते सेसासिं दुविहा सव्वे य सेसाणं ॥१०६॥

समत्तदेससपुन्नविरइउप्पत्तिअणविसंजोगे।
दसणखवगे मोहस्स समणे उवसंतखवगे य ॥१०७॥

खीणाइतिगे असंखगुणिय गुणसेढिदलिय जहक्कमसो।
सम्मत्ताईणेक्कारसण्ह कालो उ संखसो ॥१०८॥

झत्ति गुणाओ पडिए मिच्छत्तगयम्मि आइमा तिन्नि।
लब्भंति न सेसाओ जं झीणासु असुभमरणं ॥१०९॥

उक्कोसपएसुदयं गुणसेढीसीसगे गुणियकम्मो।
सव्वासु कुणइ ओहेण खवियकम्मो पुण जहन्नं ॥११०॥

समत्तवेयसंजलणयाण खीणंत दुजिणअंताण।
लहु खवणाए अंते अवहिस्स अणोहिणुक्कोसो ॥१११॥

पढमगुणसेढिसीसे निद्दापयलाण कुणइ उवसंतो।
देवत्तं झत्ति गओ वेउव्वियसुरदुगं स एव ॥११२॥

तिरिएगंतुदयाण मिच्छत्तणमीसथीणगिद्धीण।
अपज्जत्तस्स य जोगे दुतिगुणसेढीण सीसाणं ॥११३॥

से कालेंतरकरणं होही अमरो य अंतमुहु परओ।
उक्कोसपएसुदओ हासाईसु मज्झिमडण्ह ॥११४॥

हस्सठिइं बंधित्ता अद्धाजोगाइठिइनिसेगाणं।
उक्कोसपए पढमोदयम्मि सुरनारगाऊणं ॥११५॥

अद्धा जोगुक्कोसे बधित्ता भोगभूमिगेसु लहु ।
सव्वप्पजीविय वज्जइत्तु ओवट्टिया दोण्ह ॥११६॥

नारयतिरियदुगदुभगाइनीयमणुयाणुपुव्विगाण तु ।
दसणमोहखवगो तइयगसेढी उ पडिभग्गो ॥११७॥

सघयणपचगस्स उ बिइयादितिगुणसेढिसीसम्मि ।
आहारुज्जोयाण अपमत्तो आइगुणसीसे ॥११८॥

गुणसेढीए भग्गो पत्तो वेइंदिपुढविकायत्त ।
आयावस्स उ तव्वेइ पढमसमयमि वट्टतो ॥११९॥

देवो जहन्नयाऊ दीहुव्वट्टित्तु मिच्छअन्तम्मि ।
चउनाणदसणतिगे एगिंदिगए जहन्नुदय ॥१२०॥

कुव्वइ ओहिदुगस्स उ देवत्त सजमाउ सपत्तो ।
मिच्छुक्कोमुक्कट्टिय आवलिगते पएसुदय ॥१२१॥

वेयणिय उच्चसोयतगाय अरईण होइ ओहिसमो ।
निद्दादुगस्स उदओ उक्कोसठिईउ पडियस्स ॥१२२॥

मइसरिस वरिसवर निरिगई थावर च नीय च ।
इदियपज्जत्तीए पढमे समयमि गिद्धतिगे ॥१२३॥

अपुमित्थिसोगपढमिल्लअरइरहियाण मोहपगईण ।
अतरकरणाउ गए सुरेसु उदयावलीअते ॥१२४॥

उवसतो कालगओ सव्वट्ठे जाइ भगवई सिद्ध ।
तत्थ न एयाणुदओ असुभुदए होइ मिच्छस्स ॥१२५॥

उवसामइत्तु चउहा अतमुहू बधिऊण बहुकाल ।
पालिय सम्म पढमाण आवलिअत मिच्छगए ॥१२६॥

इत्थीए सजमभवे सव्वनिरुद्धमि गतु मिच्छत्तो ।
देवी लहु जिट्ठठिई उव्वट्टिय आवलीअते ॥१२७॥

अप्पद्धाजोगसमज्जियाण आऊण जिट्ठठिइअते ।
उवरि थोवनिसेगे चिर तिव्वासायवेईण ॥१२८॥

मजोयणा त्रिजोजिय जहन्नदेवत्तमतिममुहुत्ते ।
वधिय उक्कोसठिइ गतूणेगिंदियासन्नी ॥१२६॥

सव्वलहु नरय गए नरयगई तम्मि सव्वपज्जत्ते ।
अणुपुव्वि सगइतुल्ला ता पुण नेया भवाइम्मि ॥१३०॥

देवगई ओहिसमा नवर उज्जोअवेयगो जाहे ।
चिरसजमिणो अते आहारे तस्स उदयम्मि ॥१३१॥

सेसाण चक्खुसम तमिव अन्नमि वा भवे अचिरा ।
तज्जोगा बहुयाओ ता ताओ वेयमाणस्स ॥१३२॥

पढमकसाया चउहा तिहा धुव साइअद्धुव सत ।
दुचरिमखीणभवन्ता निद्दादुगचोद्दसाऊणि ॥१३३॥

तिसु मिच्छत्त नियमा अट्ठसु ठाणेसु होइ भइयव्व ।
सासायणमि नियमा सम्म भज्ज दससु सत ॥१३४॥

सासणमीसे मीम सन्त नियमेण नवसु भइयव्व ।
सासायणत नियमा पचसु भज्जा अओ पढमा ॥१३५॥

मज्झिल्लट्ठकसाया ता जा अणियट्टिखवगसखेया ।
भागा ता सखेया ठिइखडा जाव गिद्धितिग ॥१३६॥

थावरतिरिगइदोदो आयवेगिदिविगलसाहार ।
नरयदुगुज्जोयाणि य दसाइमेगततिरिजोग्गा ॥१३७॥

एव नपुसगित्थी सत छक्क च बायर पुरिसुदए ।
समऊणाओ दोन्निउ आवलियाओ तओ पुरिस ॥१३८॥

इत्थीउदए नपुस इत्थीवेय च सत्तग च कमा ।
अपुमोदयमि जुगव नपुसइत्थी पुणो सत्त ॥१३९॥

सखेज्जा ठिइखडा पुणोवि कोहाइ लोभ सुहुमत्ते ।
आसज्ज खवगसेढी सव्वा इयराइ जा सतो ॥१४०॥

सव्वाणवि आहार सासणमीसेयराण पुण तित्थ ।
उभये सति न मिच्छे तित्थगरे अतरमुहुत्त ॥१४१॥

अन्नयरवेयणीय उच्च नामस्स चरमउदयाओ ।
मणुयाउ अजोगता सेसा उ दुचरिमसमयता ॥१४२॥

मूलठिई अजहन्ना तिहा चउद्धा उ पढमयाण भवे ।
धुवसतीणपि तिहा सेसविगप्पाऽधुवा दुविहा ॥१४३॥
बधुदउक्कोसाण उक्कोसठिई उ सतमुक्कोस ।
त पुण समयेणूण अणुदयउक्कोसबधीण ॥१४४॥

उदयसकम उक्कोसाण आगमो सालिगो भवे जेट्ठो ।
सत अणुदयसकमउक्कोसाण तु समऊणो ॥१४५॥
उदयवईणेगठिइ अणुदयवइयाण दुसमया एगा ।
होइ जहन्न सत्त दसण्ह पुण सकमो चरिमो ॥१४६॥

हासाइ पुरिस कोहाइ तिन्नि सजलण जेण वधदए ।
वोछिन्ने सकामइ तेण इह सकमो चरिमो ॥१४७॥
जावेगिंदि जहन्ना नियगुक्कोसा हि ताव ठिइठाणा ।
नेरतरेण हेट्ठा खवणाइसु सतराइपि ॥१४८॥

सकमतुल्ल अणुभागसतय नवरि देसघाईण ।
हासाईरहियाण जहन्नय एगठाण तु ॥१४९॥

मणनाणे दुट्ठाण देसघाई य सामिणो खवगा ।
अतिमसमये समत्तवेयखीणतलोभाण ॥१५०॥

मइसुयचक्खुअचक्खुण सुयसम्मत्तस्स जेट्ठलद्धिस्स ।
परमोहिस्सोहिदुगे मणनाणे विपुलनाणिस्स ॥१५१॥
अणभागट्ठाणाइ तिहा कमा ताणऽसखगुणियाणि ।
वधा उव्वट्टोवट्टाणाउ अणभागघायाओ ॥१५२॥

सत्तण्ह अजहन्न तिविह सेसा दुहा पएसमि ।
मूलपगईसु आउस्स साइ अधुवा य सव्वेवि ॥१५३॥

सुभधुवबधितसाई पणिंदिचउरससरिसभसायाण ।
सजलणुस्सासमुभखगइ पुमराघायणुक्कोस ॥१५४॥

चउहा धुवमनीण अणजससंजलणलोभवज्जाण ।
तिविहमजहन्न चउहा इमाण छण्ह दुहाणुत्त ॥१५५॥
सपुण्णगुणि कम्मो पएसउक्कसमतसामीओ ।
तस्सेव सत्तमानिग्गयस्स काण विसेसोवि ॥१५६॥
मिच्छमीसेहिं कमसो सपक्खित्तेहि मीससम्मेसु ।
वरस पूरेसन कुणइ नपुंसस्स ईसाणी ॥१५७॥
ईसाणे पूरित्ता नपुंसग तो असंखवासीसु ।
पल्लासंखियभागेण पुरए इत्थीवेयस्स ॥१५८॥
जो सव्वसंकमेण इत्थी पुरिसम्मि छुहइ सो सामी ।
पुरिसस्स कमा संजलणयाण सो चेव संछोभे ॥१५९॥
चउरुवसामिय मोहं जसुच्चसायाण सुहुमखवगंते ।
जं असुभपगइदलियस्स संकमो होइ एयासु ॥१६०॥
अद्धाजोगुक्कोसेहिं देवनिरयाउगाण परमाए ।
परम पूरमसन जा पढमो उदयसमओ सो ॥१६१॥
सेसाउगाणि नियगेसु चेव आगंतु पुव्वकोडीए ।
सायबहुलस्स अचिरा बंधंते जाव नो वट्टे ॥१६२॥
पूरित्त पुव्वकोडीपुहुत्त नारयदुगस्स बंधंते ।
एवं पल्लियतिगंते सुरदुगवेउव्वियदुगाण ॥१६३॥
तमतमगो अइखिप्प सम्मत्तं लभिय तंमि बहुगद्धं ।
मणुयदुगस्सुक्कोसं सवज्जरिसभस्स बंधंते ॥१६४॥
वेछावट्ठिचियाण मोहस्सुवसामगस्स चउखुत्तो ।
सम्मधुवबारसण्ह खवगंमि सबंधअंतम्मि ॥१६५॥
सुभथिरसुभधुवियाण एव चिय होइ संतमुक्कोसं ।
तित्थयराहाराणं नियनियगुक्कोसबंधंते ॥१६६॥
तुल्ला नपुंसगेणं एगिंदियथावरायवुज्जोया ।
सुहुमतिगं विगलावि य तिरिमणुय चिरच्चिया नवरिं ॥१६७॥

ओहेण खवियकम्मे पएससत जहन्नय होइ ।
नियसकमस्स विरमे तस्सेव विसेसिय मुणसु ॥१६८॥

उव्वलमाणीणेगठिई उव्वलए जया दुसामइगा ।
थोवद्धमज्जियाण चिरकाल पालिया अते ॥१६९॥

अतिमलोभजसाण असेढिगाहापवत्त अन्तमि ।
मिच्छत्तगए आहारगस्स सेसाणि नियगते ॥१७०॥

चरमावलिप्पविट्ठा गुणसेढी जासि अत्थि न य उदओ ।
आवलिगासमयसमा तासि खलु फड्डगाइ तु ॥१७१॥

सव्वजहन्नपएसे पएसवड्ढीए णतया भेया ।
ठिइठाणे ठिइठाणे विन्नेया खवियकम्माओ ॥१७२॥

एगट्ठिइय एगाए फड्डग दोसु होइ दोट्ठिइग ।
तिगमाईसुवि एव नेय जावति जासि तु ॥१७३॥

आवलिमेत्तुक्कोस फड्डग मोहस्स सव्वघाईण ।
तेरसनामतिनिद्दाण जाव नो आवली गलइ ॥१७४॥

खीणद्धासखस खीणताण तु फड्डगुक्कोस ।
उदयवईणेगहिय निद्दाण एगहीण त ॥१७५॥

अज्जोगिसतिगाण उदयवईण तु तस्स कालेण ।
एगाहिगेण तुल्ल इयराण एगहीण त ॥१७६॥

ठिइखडाणइखुड्ड खीणसजोगीण होइ ज चरिम ।
त उदयवईणहिय अन्नगए तूणमियराण ॥१७७॥

ज समय उदयवई खिज्जइ दुच्चरिमयन्तु ठिइठाण ।
अणुदयवइए तम्मी चरिम चरिममि ज कमइ ॥१७८॥

जावइयाउ ठिईओ जसतलोभाणहापवत्त ते ।
त इगिफड्ड सते जहन्नय अकयसेढिस्स ॥१७९॥

अणुदयतुल्ल उव्वलणिगाण जाणिज्ज दीहउव्वलणे ।
हासाईण एग सछोभे फड्डग चरमे ॥१८०॥

परिशिष्ट २

उदीरणा विषयक स्पष्टीकरण

यथाकालप्राप्त कर्म-परमाणुओ के अनुभव करने को उदय और अकाल-प्राप्त अर्थात् उदयावलिका से बाहर स्थित कर्म-परमाणुओ को सकषाय या अकषाय योग परिणतिविशेष से आकृष्ट करके उदयावलिका मे लाकर उदय-प्राप्त कर्म-परमाणुओ के साथ अनुभव करने को उदीरणा कहते है। जो कर्मस्कन्ध अपकर्षण आदि प्रयोग के बिना स्थितिक्षय को प्राप्त होकर अपना-अपना फल देते हैं उन कर्मस्कन्धो की 'उदय' और जो महान स्थिति और अनुभागो मे अवस्थित कर्मस्कन्ध अपकर्षण करके फल देने वाले किये जाते है, उन कर्मस्कन्धो की 'उदीरणा' सज्ञा है।

फलानुभव की दृष्टि से स्वामित्व की अपेक्षा उदय और उदीरणा मे कोई विशेषता नही है। लेकिन इन दोनो मे विशेषता है तो केवल कालप्राप्त और अकालप्राप्त परमाणुओ की। उदय मे तो कालप्राप्त कर्म-परमाणुओ का और उदीरणा मे अकालप्राप्त कर्म-परमाणुओ का अनुभव किया जाता है। ऐसी व्यवस्था होने पर भी सामान्य नियम यह है कि उदयप्राप्त कर्म-परमाणुओं/प्रकृतियो की उदीरणा होती है और साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उदयावलिका मे प्रवेश किये हुए निषेको की उदीरणा नही होती है।

कर्मदलिको की उदीरणा होने का परिणाम यह होता है कि दीर्घकाल के बाद उदय आने योग्य निषेको का अपकर्षण करके अल्प स्थिति वाले अधस्तन निषेको मे या उदयावलिका मे देकर उदयमुख रूप से अनुभव कर लेने पर वे कर्मस्कन्ध कर्मरूपता को छोडकर अन्य पुद्गल रूप से परिणमित हो जाते हैं।

कर्मविचार के प्रसग मे सामान्य से १२२ प्रकृतिया उदय और उदीरणा योग्य मानी जाती है। लेकिन इसका आशय यह नही है कि विस्तार से १४८

अथवा १५८ प्रकृतियो का जो उल्लेख किया जाता है, उनमे से सिर्फ एक सौ वाईस पकृतिया ही उदय और उदीरणा योग्य हैं, शेष नही। लेकिन यह समझना चाहिए कि जैसे बधयोग्य १२० प्रकृतियो की सख्या बतलाने के प्रसग मे शरीरनामकर्म के भेदो के साथ उन-उनके बधन एव सघातन नामकर्म के पाच-पाच भेद गर्भित कर लिये जाते हे, उसी प्रकार उदय, उदीरणा मे भी उनका शरीरनामकर्म के भेदो मे समावेश किया गया है। क्योकि शरीर-नामो के साथ उन-उनके बधन और सघातन ये दोनो अविनाभावी है। इस कारण ये दस प्रकृतिया अभेद-विवक्षा से शरीरनामकर्म से अलग नही गिनी जाती है, शरीरनामकर्म की प्रकृतियो मे गर्भित मानी जाती हे तथा बध की तरह ही वर्णचतुष्क मे इनके उत्तर बीस भेदो के शामिल हो जाने से उदय-अवस्था मे अभेद से चार भेद ग्रहण किये जाते हैं। इस प्रकार से अभी तक तो बधयोग्य और उदययोग्य प्रकृतियो की एकरूपता होने से सख्या १२० ही होती है। लेकिन वधयोग्य मे माहनीयकर्म की अट्ठाईस मे से छब्बीस प्रकृतियो का ग्रहण होता है लेकिन उदय मे सम्यग्मिथ्यात्व एव सम्यक्त्व, मोहनीयकम के इन दो भेदो को मिलाने से १२२ प्रकृतिया अभेद-विवक्षा से उदययोग्य हैं। किन्तु भेद-विवक्षा से १४८ प्रकृतिया उदययोग्य है। इतनी ही प्रकृतिया अभेद एव भेद-विवक्षा से उदीरणायोग्य समझना चाहिए।

गुणस्थानो और मार्गणास्थानो की अपेक्षा जहाँ जितनी प्रकृतियो का उदय है वहाँ उतनी प्रकृतियो की उदीरणा भी होती ह।

परिशिष्ट ३

३ दिगम्बरसाहित्यगत मोहनीयकर्म के भूयस्कार आदि बधप्रकारों का वर्णन

यद्यपि ससारी जीवो का प्रति समय कर्मबन्ध होता रहता है, लेकिन कारणापेक्षा उस बध मे अल्पाधिकता आदि होती है। इसी दृष्टि से बध के चार प्रकार हो जाते है - भूयस्कार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य। इन चारो प्रकारो की लाक्षणिक व्याख्या पूर्व मे की जा चुकी है कि क्रमश अधिक-अधिक प्रकृतियो को बाधने को भूयस्कारबध, क्रमश हीन-हीन प्रकृतियो को बाधने को अल्पतर, पूर्व और उत्तर समय मे सम-सख्या मे कर्म प्रकृतियो के बध होने को अवस्थित एव किसी भी प्रकृति का बध न करके पुन उसके बध करने को अवक्तव्य कहते है।

ये चारो बधप्रकार काल्पनिक नही है किन्तु जीवपरिणति पर आधारित हैं। इसीलिए कार्मग्रन्थिक आचार्यों ने एतद्विषयक विशद विवेचन किया है और यह करना इसलिए आवश्यक है कि जीव की परिणति की तरतमता से ही कर्मबध मे अल्पाधिकता होती है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो कार्मग्रन्थिक आचार्यों ने इनकी अत्यधिक स्पष्टता के साथ व्याख्या की है। इस व्याख्या मे अपेक्षादृष्टि से कुछ भिन्नता भी है और समानता भी है। जैसे कि दोनो परम्पराये दर्शनावरण, मोहनीय और नाम इन कर्मों की उत्तरप्रकृतियो मे भूयस्कार आदि बध प्रकारो को समान रूप मे मानती है तथा दर्शनावरणकर्म की उत्तरप्रकृतियो के बधस्थानो एव उनके बधप्रकारो मे समानतन्त्रीय हैं, किन्तु मोहनीय और नाम कर्म की प्रकृतियो के बधप्रकारो के विषय मे अन्तर है। शेष रहे ज्ञानावरण, अन्तराय, वदनीय, आयु और गोत्र इन पाच कर्मों की उत्तरप्रकृतियो के बधस्थानो एव उनमे सम्भव बधप्रकारो के वर्णन मे एकरूपता है।

इस प्रकार से सामान्य भूमिका का दिग्दर्शन कराने के पश्चात् अब

मोहनीयकर्म की उत्तरप्रकृतियो मे सम्भव भूयस्कार आदि वधप्रकारो के विषय मे दिगम्बर कार्मग्रन्थिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते है ।

श्वेताम्बर कर्मसाहित्य की तरह दिगम्बर साहित्य मे भी मोहनीयकर्म की उत्तरप्रकृतियो के बाईस, इक्कीस, सत्रह, तेरह, नौ, पाच, चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक इस प्रकार दस वधस्थान वतलाये हैं। लेकिन इनमे सम्भव भूयस्कर आदि बधप्रकारो के विषय मे अन्तर है। श्वेताम्बर कर्मसाहित्य मे नौ भूयस्कर, आठ अल्पतर, दस अवस्थित और दो अवक्तव्य बधप्रकार बताये है। जबकि दिगम्बर आचार्यो ने इन्ही दस बधस्थानो मे बीस भूयस्कार, ग्यारह अल्पतर, तेतीस अवस्थित और दो अवक्तव्य वधप्रकार बताये है। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है--

श्वेताम्बर कर्मसाहित्य मे मोहनीयकर्म के दस बधस्थानो मे जो नौ भूयस्कार आदि बधप्रकार बताये हैं, वे केवल गुणस्थानक्रम मे आरोहण और अवरोहण की अपेक्षा है। किन्तु दिगम्बर साहित्य मे उक्त दृष्टि के साथ इसका भी ध्यान रखा है कि आरोहण के समय जीव किस गुणस्थान से किस-किस गुणस्थान मे जा सकता है और अवरोहण के समय किस गुणस्थान से किस-किस गुणस्थान मे आ सकता है। इसके अतिरिक्त मरण की अपेक्षा भी सम्भव भूयस्कार आदि बधप्रकारो को ग्रहण किया है।

श्वेताम्बर कर्मसाहित्य मे एक से दो, दो से तीन, तीन से चार आदि का बध वतलाकर दस बधस्थानो मे जो नौ भूयस्कारवध वतलाये है, उनको ग्रहण करते हुए दिगम्बर कर्मसाहित्य मे जो ग्यारह अधिक भूयस्कारबध बताये हैं, उनमे पाच की अधिकता तो मरण की अपेक्षा और छह की अधिकता ऊपर के गुणस्थान से पतन कर किस-किस गुणस्थान मे आगमन सम्भव होने की अपेक्षा है।

मरण की अपेक्षा सम्भव पाच भूयस्कारवध इस प्रकार है—(१) एक को बाधकर सत्रह का, (२) दो को बाधकर सत्रह का, (३) तीन को वाधकर सत्रह का, (४) चार को वाधकर सत्रह का और (५) पाच को वाधकर सत्रह का जीव बध करता है। उसका कारण यह है कि एक से लेकर पाच प्रकृतिक तक के पाच बधस्थान नौवे अनिवृत्तिवादरसपरायगुणस्थान के पाचवें, चौथे

तीसरे, दूसरे और पहले भाग मे होते है और उन बधस्थानो मे रहते यदि कोई जीव मरण को प्राप्त हो तो उत्तर समय मे वह जीव वैमानिक देव होता है और वहाँ चौथा अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान होता है। जिससे उस गुणस्थान मे बधने वाले सत्रह प्रकृतिक बधस्थान का बध करता है। इसी कारण ये पाच भूयस्कार बध मरण की अपेक्षा बताये है।

पतनोन्मुखी उपशमश्रेणि वाला कोई जीव छठे गुणस्थान मे नौ प्रकृतियो का बध करके पाचवे गुणस्थान मे आकर तेरह का, चौथे गुणस्थान मे आकर सत्रह का, दूसरे गुणस्थान मे आकर इक्कीस का और पहले गुणस्थान मे आकर बाईस का बध करता है। क्योकि छठे प्रमत्तसयतगुणस्थान से च्युत होकर जीव नीचे के सभी गुणस्थानो मे जा सकता है। अत नौ के चार भूयस्कारबध होते है तथा इसी प्रकार पाचवे गुणस्थान मे तेरह का बध करके सत्रह, इक्कीस और बाईस का बध कर सकता है। अत तेरह के तीन भूयस्कार होते है और सत्रह को बाधकर इक्कीस और बाईस का बध कर सकता है जिसमे सत्रह के दो भूयस्कारबध होते है। इस प्रकार नौ के चार, तेरह के तीन और सत्रह के दो भूयस्कारबध होते है। जो श्वेताम्बर साहित्य मे प्रत्येक बधस्थान के एक-एक, इस प्रकार तीन बताये गये भूयस्कारबध-प्रकार से छह अधिक हैं। अत ये छह और मरण की अपेक्षा ऊपर बताये गये पाच भूयस्कारबधो को मिलाने से दिगम्बर साहित्य मे ग्यारह भूयस्कार-बध अधिक कहे हैं। किन्तु सामान्य मे गुणस्थान-अवरोहण की अपेक्षा विचार किया जाये तो दोनो परम्पराओ के विचार मे अन्तर नही है।

दिगम्बर साहित्य मे जो अल्पतरबधप्रकार की सख्या श्वेताम्बर साहित्य की तरह आठ न बताकर ग्यारह बताई है, उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

श्वेताम्बर साहित्य मे बाईस को बाधकर सत्रह का बधरूप केवल एक ही अल्पतर बध बताया है। किन्तु दिगम्बर साहित्य का मतव्य है कि पहले गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक जीव दूसरे और छठे गुणस्थान के सिवाय शेष सभी गुणस्थानो मे जा सकता है। अत बाईस को बाधकर सत्रह, तेरह और नौ का बध कर सकने के कारण बाईस प्रकृतिक बधस्थान के तीन

अल्पतरबंध होते हैं तथा सत्रह का बंध करके तेरह और नौ का बंध कर सकने के कारण सत्रह के बंधस्थान के दो अल्पतरबंध होते है। इस प्रकार बाईस प्रकृतिक स्थान सम्बन्धी दो और सत्रह प्रकृतिक स्थान सम्बन्धी एक की अधिकता से कुछ ग्यारह अल्पतर बंध हो जाते है।

अवक्तव्यबंध की सख्या के बारे मे दोनो परम्परायें समानतन्त्रीय हैं, कोई मतभिन्नता नही है। दिगम्बर साहित्य मे भी एक प्रकृतिक और सत्रह प्रकृतिक ये दो अवक्तव्यबंध माने हैं।

दिगम्बर साहित्य मे अवस्थितबंध तेतीस बताये है। ये तेतीस अवस्थितबंधप्रकार पूर्व मे बताये गये बीस भूयस्कार, ग्यारह अल्पतर और दो अवक्तव्य बंध इनकी अपेक्षा से है। क्योकि जितनी प्रकृतियो का बंध पहले समय मे हुआ है, उतनी ही प्रकृतियों का बंध दूसरे समय मे हो, उसे अवस्थितबंध कहते हैं। लेकिन यथार्थ दृष्टि से देखा जाये तो मूल अवस्थित बंध उतने ही है जितने कि बंधस्थान होते है। इसीलिए श्वेताम्बर कर्म-साहित्य मे मोहनीयकर्म के दस बंधस्थान होने से दस अवस्थितबंध बताये हैं।

इस प्रकार सामान्य से दिगम्बर साहित्य के अनुसार मोहनीयकर्म के बंधस्थानो के चारो बंधप्रकारो की सख्या जानना चाहिए। अब विशेष रूप से भी जिन भूयस्कारो आदि को गिनाया है, उनकी सख्या बतलाते है—

एक सौ सत्ताईस भूयस्कार, पैतालीस अल्पतर और एक सौ पचहत्तर अवस्थित बंध होते है। ये बंध भगो की अपेक्षा मे बनते है। अत इनकी सख्या को जानने के लिए पहले भगो का विचार करते हैं।

एक ही बंधस्थान मे प्रकृतियो के परिवर्तन से जो विकल्प होते है, उन्हे भग कहते है। जैसे बाईस प्रकृतिक बंधस्थान मे तीन वेदो मे से एक वेद का और हास्य-रति तथा शोक-अरति के दो युगलो मे से एक युगल का बंध होता है। अत उसके ३ × २ = ६ भग होते है। अर्थात् बाईस प्रकृतिक बंधस्थान को कोई जीव हास्य-रति और पुरुषवेद के साथ बाधता है, कोई और पुरुषवेद के साथ बाधता है। कोई हास्य-रति और स्त्रीवेद

पाचवे गुणस्थान में तेरह का वध करके सातवें गुणस्थान में जाने पर . का वध करता है। अत वहा २×१=२ अल्पतर होते है।

छठे गुणस्थान मे भी दो अल्पतर होते है। क्योकि छठे से नीचे के गु स्थानो मे जाने पर भूयस्कारवध ही होता है। किन्तु ऊपर सातवें गुणस्था में जाने पर दो अल्पतर वध होते है।

यद्यपि छठे और सातवे गुणस्थान मे नौ-नौ प्रकृतियो का ही वध हो है। किन्तु छठे के नौ प्रकृतिक स्थान के दो भग होते है, क्योकि वहाँ दोन युगल का बध सम्भव है जबकि सातवें के नौ प्रकृतिक वधस्थान का एक भग होता है। क्योकि वहा एक ही युगल का वध होता है। अत प्रकृति की सख्या बराबर होने पर भी भगो की हीनाधिकता के कारण २×१= अल्पतरवध माने गये है।

सातवें गुणस्थान मे एक भी अल्पतर नही होता। क्योकि जब जीव सात मे आठवे गुणस्थान मे जाता है तो वहाँ भी नौ ही प्रकृतियो का वध करता अत अल्पतर सम्भव नही।

आठवें गुणस्थान मे नौ का वध करके नौवें गुणस्थान मे पाच का व करने पर १×१=१ ही अल्पतर होता है।

नौवे गुणस्थान मे पाच का वध करके चार का बध करने पर एक, चा का बन्ध करके तीन का बन्ध करने पर एक, तीन का बन्ध करके दो का ब करने पर एक और दो का बन्ध करके एक का बन्ध करने पर एक, इस प्रका चार अल्पतरबन्ध होते है।

उपर्युक्त सभी अल्पतरो की सख्या का कुल योग (३०+६+२+२+ १+४=४५) होने से पैतालीस अल्पतर होते है।

भगो की अपेक्षा तीन अवक्तव्यबन्ध इस प्रकार है—

दसवें गुणस्थान मे उतर कर जीव जब नौवें गुणस्थान में आता है तब प्रथम समय मे सज्वलन लोभ का बन्ध करता है। इस अपेक्षा से एक तथा उसी गुणस्थान में मर कर देव असयत हुआ तब दो अवक्तव्यबन्ध करता है।

क्योकि देव होकर सत्रह प्रकृतियो को दो प्रकार से बाधता है। अत दो अवक्तव्यबन्ध हुए। इस प्रकार कुल तीन अवक्तव्यबन्ध जानना चाहिए।

एक सौ सत्ताईस भूयस्कार, पैंतालीस अल्पतर और तीन अवक्तव्य बन्ध मिलकर एक सौ पचहत्तर होते हैं। अत इतने ही अवस्थितबन्ध अर्थात् एक सौ पचहत्तर अवस्थितबन्ध होते हैं।

इस प्रकार विशेष रूप से मोहनीयकर्म के भूयस्कार आदि बन्धप्रकारो को जानना चाहिए।[1]

परिशिष्ट ५

५. पल्यापम, सागरोपम की स्वरूप व्याख्या

जैन कर्मसाहित्य मे कर्मों की स्थितिमर्यादा प्राय इतनी सुदीर्घ काल की बतलाई है कि जिसका वर्णन उपमाकाल के द्वारा किया जाना सम्भव है। इसके लिए पल्योपम और सागरोपम इन दो शब्दो का प्रयोग किया है।

जिस समयमर्यादा का पल्य की उपमा द्वारा और सागर की उपमा द्वारा निर्देश किया जाये, ऐसे दो भेदो को क्रमश पल्योपम और सागरोपम काल कहते हैं। प्रकृत मे इन दोनो के स्वरूप को जानना अभीष्ट होने से सक्षेप मे इनका वर्णन करते है।

गणनीय काल की आद्य इकाई समय है और अन्तिम सीमा शीर्ष-प्रहेलिका है। समय से लेकर शीर्ष-प्रहेलिका पर्यन्त काल का प्रमाण क्या है, इसका सकेत आगे किया जा रहा है। गणनीय काल की चरम सीमा के पश्चात् काल का जो कुछ भी वर्णन किया जाता है, वह सब उपमा काल मे गर्भित है। इसका कारण यह है कि जैसे लोक मे जो वस्तुये सरलता से गिनी जा सकती हैं, उनकी तो गणना कर ली जाती है और उनके लिए सज्ञाये निश्चित हैं, लेकिन जो वस्तुये जैसे तिल, सरसो, गेहूँ आदि गिनी नही जा सकती है, उन्हे तोल या माप वगैरह से तोल-माप लेते है। ऐसी ही स्थिति समय की अवधि को जानने के लिए पल्योपम, सागरोपम की है कि समय की जो अवधि दिन-रात्रि, पक्ष, मास, वर्ष आदि के रूप मे गिनी जा सकती है, उसकी तो गणना कर ली जाती है, किन्तु जहाँ समय की अवधि इतनी लम्बी हो कि जिसकी गणना वर्षो मे नही की जा सके तो उसको उपमाप्रमाण के द्वारा ही कहा जाता है।

उपमाप्रमाण के क्रम मे पल्योपम पहला और सागरोपम दूसरा है। पल्योपम का स्वरूप ज्ञात हो जाने के अनन्तर सागरोपम का स्वरूप सुगमता से जाना जा सकता है। अत अनुक्रम से इनका वर्णन करते हे।

पल्योपम—अनाज आदि भरने के गोलाकार स्थान को पल्य कहते हैं। समय की जिस लम्बी अवधि को उस पल्य की उपमा द्वारा प्रगट किया जाय, उसे पल्योपम काल कहते हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सुतीक्ष्ण शस्त्रो द्वारा भी जो छेदा-भेदा न जा सके ऐसा परम अणु (परमाणु) सब प्रमाणो का आदिभूत प्रमाण है। ऐसे अनन्त परमाणुओ के समुदाय की समिति के समागम से एक उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिका और आठ उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिका[1] को मिलाने से एक श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका होती है। आठ श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका का एक ऊर्ध्वरेणु, आठ ऊर्ध्वरेणु का एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणु का एक रथरेणु[2] और आठ रथरेणु का देवकुरु-उत्तरकुरु के मनुष्यो का एक बालाग्र होता है। देवकुरु-उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्यो के आठ बालाग्रो का हरिवर्ष-रम्यकवर्ष क्षेत्र के मनुष्यो का एक बालाग्र तथा उन क्षेत्रो के मनुष्यो के आठ बालाग्रो का हैमवत-ऐरावत क्षेत्र के मनुष्यो का एक बालाग्र होता है। हैमवत-ऐरावत क्षेत्र के मनुष्यो के आठ बालाग्रो का पूर्व विदेह के मनुष्यो का एक बालाग्र होता है। पूर्व विदेह के मनुष्यो के आठ बालाग्रो की एक लिक्षा (लीख), आठ लीख की एक यूका (जू), आठ यूका का एक यवमध्य और आठ यवमध्य का एक अगुल[3] होता है।

---

१ जीवसमाससूत्र मे अनन्त उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका की एक श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका बताई है। किन्तु आगमो मे अनेक स्थानो पर उसे आठ गुनी ही बताया है, इसीलिए यही क्रम रखा है।

२ कही कही परमाणु, रथरेणु और त्रसरेणु ऐसा क्रम पाया जाता है। देखो ज्योतिष्करण्डक गाथा ७४। किन्तु प्रवचनसारोद्धार के व्याख्याकार इसे असगत मानते है, पृ. ४०६ उ०।

३ अगुल के तीन भेद हैं—आत्मागुल, उत्सेधागुल और प्रमाणागुल।

आत्मागुल—जिस समय मे जिन पुरुषो के शरीर की ऊँचाई अपने अगुल से १०८ अगुल प्रमाण होती है, उन पुरुषो का अगुल आत्मागुल कहलाता है। इस अगुल का प्रमाण सर्वदा एक-सा नही रहता है, क्योकि कालभेद से मनुष्यो के शरीर की ऊँचाई घटती-बढती रहती है। (क्रमश)

इस प्रकार के छह अगुल का एक पाद (पैर), बारह अगुल की एक वितस्ति (बालिश्त), चौवीस अगुल का एक हाथ, अडतालीस अगुल की एक कुक्षी, छियानवै अगुल का एक दड[2] धनुष, युग, नालिका, अक्ष अथवा मूसल

उत्सेधागुल—परमाणु दो प्रकार का है—निश्चय परमाणु और व्यवहार परमाणु। अनन्त निश्चय परमाणुओ का एक व्यवहार परमाणु होता है। यद्यपि यह व्यवहार परमाणु एक स्कन्ध ही है, परन्तु व्यवहार से इसे परमाणु कहने का कारण यह है कि यह इतना सूक्ष्म है कि सुतीक्ष्ण शस्त्र भी इसका छेदन-भेदन नही कर सकता है। यही उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका आदि आगे की सभी सज्ञाओ का मूल कारण है। इन अनन्त व्यवहार परमाणुओ की एक उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका होती है। इन आठ उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका की एक श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका होती है। इसके वाद का क्रम ऊपर वताया आ चुका है जो अगुल पर्यन्त जानना चाहिए।

प्रमाणागुल—उत्सेधागुल से अढाइगुणा विस्तार वाला और चार सौ गुणा लम्बा होता है। युग के आदि मे भरत चक्रवर्ती का जो आत्मागुल है, वही प्रमाणागुल जानना चाहिए।

—अनुयोगद्वारसूत्र, प्रवचनसारोद्धार
द्रव्यलोकप्रकाश

दिगम्बर साहित्य मे अगुलो का प्रमाण इस प्रकार वताया है—

अनन्तानन्त सूक्ष्म परमाणुओ की एक उत्सज्ञा-सज्ञा, आठ उत्सज्ञा-सज्ञा की एक सज्ञा-सज्ञा, आठ सज्ञा सज्ञा का एक त्रुटिरेणु, आठ त्रुटिरेणु का एक त्रसरेणु आठ त्रसरेणु का एक रथरेणु, आठ रथरेणु का उत्तरकुरु-देवकुरु के मनुष्य का एक वालाग्र, उन आठ वालाग्रो का रम्यक् और हरि-वर्प के मनुष्य का एक वालाग्र, उन आठ वालाग्रो का हैमवत और हैरण्यवत मनुष्य का एक वालाग्र और इसके वाद का कथन पूर्वोक्तवत् है।

उत्सेधागुल से पाच सौ गुणा प्रमाणागुल है। यही भरत चक्रवर्ती का आत्मागुल है। —तत्त्वार्थराजवार्तिक के आधार से

[2] दोनो हाथ पसारने पर प्राप्त प्रमाण।

होता है। दो हजार धनुष की एक गव्यूति (गाऊ) होती है, चार गव्यूति का एक योजन होता है।

पूर्वोक्त योजन के परिमाण से एक योजन लम्बा, एक योजन चौडा और एक योजन गहरा, तिगुनी से अधिक परिधि वाला[1] एक पल्य-गड्ढा हो। उस पल्य मे देवकुरु-उत्तरकुरु के मनुष्यो के एक दिन के उगे हुए, दो दिन के उगे हुए, तीन दिन के उगे हुए और अधिक से अधिक सात दिन के उगे हुए[2]

---

१ इसकी परिधि कुछ कम ३ $\frac{१}{६}$ योजन होती है।

२ इन बालाग्रखण्डो के लिए शास्त्रो मे विभिन्न मतव्य है।

यथा—

अनुयोगद्वारसूत्र मे 'एगाहिअ वेआहिअ तेआहिअ जाव उक्कोसेण सत्तरत्तरूढाण वालग्ग कोडीण' लिखा है।

प्रवचनसारोद्धार मे भी इसी से मिलता-जुलता पाठ है। दोनो की टीका मे इस प्रकार अर्थ किया है—सिर के मुडा देने पर एक दिन मे जितने बाल निकलते है, वे एकाह्निक कहलाते है आदि, इसी तरह सात दिन तक के उगे हुए बाल लेना चाहिए।

द्रव्यलोकप्रकाश मे 'उत्तरकुरु के मनुष्य का सिर मुडा देने पर एक से सात दिन के अन्दर उत्पन्न केशराशि लेने का सकेत किया है। उसके आगे लिखा है—क्षेत्रसमास की बृहद्वृत्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की वृत्ति का यह अभिप्राय है। अर्थात् उनमे उत्तरकुरु के मनुष्य के केशाग्र लेना बताया है। प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति और सग्रहणी की बृहद्वृत्ति मे सामान्य से सिर मुडा देने पर एक से लेकर सात दिन तक के उगे हुए बालो का उल्लेख है, उत्तरकुरु के मनुष्यो के बालाग्रो को ग्रहण नही किया है।

क्षेत्रविचार की स्वोपज्ञवृत्ति मे लिखा है—देवकुरु-उत्तरकुरु मे जन्मे सात दिन के मेष (भेड) के उत्सेधागुल प्रमाण रोम लेकर उनके

(क्रमश.)

करोडो बालाग्र ठूस ठूंस कर इस प्रकार भरे जाये कि उन बालाग्रो को न अग्नि जला सके, न हवा उडा सके एव वे बालाग्र दुर्गन्धित न हो और न सडा सके। इस तरह से पल्य भर दिया जाये।

इसके पश्चात् इस प्रकार के बालाग्रो से ठसाठस भरे हुए उस पल्य मे से प्रतिसमय एक-एक बालाग्र को निकाला जाये। इस क्रम से जितने काल मे वह पल्य क्षीण हो अर्थात् उन भरे हुए बालाग्रो मे से एक भी शेष न रहे, नीरज हो, निर्मल हो, निष्ठित हो, निर्लेप हो, अपहरित हो और विशुद्ध हो, उतने काल को एक पल्योपम काल कहते है।

सागरोपम पल्योपम का ऊपर जो प्रमाण बताया है, वैसे दस कोटा-कोटि पल्योपम का एक सागरोपम होता है।

———————— (क्रमश)

सात बार आठ-आठ खण्ड करना चाहिए। अर्थात् उस रोम के आठ खण्ड करके पुन एक-एक खण्ड के आठ आठ खण्ड करना चाहिए। उन खण्डो मे से भी प्रत्येक खण्ड के आठ-आठ खण्ड करना चाहिए। ऐसा करते-करते उस रोम के बीस लाख सत्तानवै हजार एक सौ बावन (२०,९७,१५२) खण्ड होते है। इस प्रकार के खण्डो से उस पल्य को भरना चाहिए।

दिगम्बर साहित्य मे 'एकादिसप्ताहोरात्रिजाता वि बालाग्राणि' लिखकर एक दिन से सात दिन तक के जन्मे हुए मेष के बालाग्र ही लिये है।

१—द्रव्यलोकप्रकाश (सर्ग १) मे इसके बारे मे इतना और विशेष लिखा है—

तथा च चक्रिसैन्येन तमाक्रम्य प्रसर्प्पता।
न मनाक् क्रियते नीचैरेव निविडता गतात्॥

अर्थात् वे केशाग्र इतने सघन भरे हो कि चक्रवर्ती की सेना उन पर से निकल जाये तब भी वे जरा भी नीचे न हो सके, इधर-उधर बिखरें नही।

इन सूक्ष्म उद्धार पल्योपम और सागरोपम से द्वीप एव समुद्रों की गणना की जाती है। अढाई सूक्ष्म उद्धार सागरोपम अथवा पच्चीस कोटाकोटि सूक्ष्म उद्धार पल्योपम के जितने समय होते है, उतने ही द्वीप और समुद्र जानना चाहिए।[1]

(३) बादर अद्धा पल्योपम-सागरोपम—पूर्वोक्त बादर उद्धार पल्य से सौ-सौ वर्ष के बाद एक-एक बालाग्र निकालने पर जितने समय मे वह पल्य खाली होता है, उतने समय को बादर अद्धा पल्योपम काल कहते हैं। दस कोटाकोटि बादर अद्धा पल्योपम काल का एक बादर अद्धा सागरोपम काल होता है।

(४) सूक्ष्म अद्धा पल्योपम-सागरोपम—यदि वही पल्य उपर्युक्त सूक्ष्म बालाग्र खडो से भरा हो और उनमे से प्रत्येक बालाग्र खड सौ-सौ वर्ष मे निकाला जाये तो इस प्रकार निकालते-निकालते वह पल्य जितने काल मे नि शेष रूप से खाली हो जाये, वह सूक्ष्म अद्धा पल्योपम है। अथवा पूर्वोक्त सूक्ष्म उद्धार पल्य मे से सौ-सौ वर्ष के बाद केशाग्र का एक-एक खड निकालने पर जितने समय मे वह पल्य खाली हो, उतने समय को सूक्ष्म अद्धा पल्योपम काल कहते हैं। इसमे असख्यात वर्ष कोटि परिमाण काल लगता है।

दस कोटाकोटि सूक्ष्म अद्धा पल्योपम का एक सूक्ष्म अद्धा सागरोपम काल होता है। दस कोटाकोटि सूक्ष्म अद्धा सागरोपम की एक अवसर्पिणी और उतने ही काल की एक उत्सर्पिणी होती है।

इन सूक्ष्म अद्धा पल्योपम और सूक्ष्म अद्धा सागरोपम के द्वारा देव, नारक, मनुष्य, तिर्यंच जीवो की आयु, कर्मो की स्थिति आदि जानी जाती है।

(५) बादर क्षेत्र पल्योपम-सागरोपम पूर्वोक्त एक योजन लम्बे, चौडे और गहरे गड्ढे मे एक दिन से लेकर सात दिन तक के उगे हुए बालो के अग्रभाग को पहले बताई गई प्रक्रिया के अनुसार अच्छी तरह ठसाठस भर दो। वे अग्रभाग आकाश के जिन प्रदेशो को स्पर्श करे उनमे से प्रतिसमय

---

१ अनुयोगद्वारसूत्र।

सक्षेप मे दिगम्बर साहित्यगत-पल्योपम आदि का वर्णन इस प्रकार है—

पल्य तीन प्रकार का है (१) व्यवहार पल्य, (२) उद्धार पल्य और (३) अद्धा पल्य। इनमे से व्यवहार पल्य का केवल इतना ही उपयोग है कि उसके द्वारा उद्धार पल्य और अद्धा पल्य की सृष्टि होती है परन्तु मापा कुछ नही जाता है। उद्धार पल्य से उद्धृत रोमो के द्वारा द्वीप और समुद्रो की सख्या और अद्धा पल्य के द्वारा जीवो की आयु आदि जानी जाती है। इनकी निष्पत्ति का मूल कारण व्यवहार पल्य है, इसी कारण वह व्यवहार पल्य कहलाता है।

विशेषता के साथ उक्त सक्षिप्त कथन का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

प्रमाणागुल से निष्पन्न एक योजन लम्बे एक योजन चौडे और एक योजन गहरे तीन पल्य (गड्ढे) बनाओ। उसमे से पहले पल्य को एक दिन से लेकर सात दिन तक के मेष के रोमो के अग्रभागो को कैंची से काट-काट कर इतने छोटे-छोटे ऐसे खड करो कि जो पुन काटे न जा सकें, फिर उन खडो से उस पल्य को खूब ठसाठस भर दो। उस पल्य को व्यवहार पल्य कहते है।

उस व्यवहार पल्य से सौ-सौ वर्ष के बाद एक-एक रोम खड निकालते-निकालते जितने काल मे वह पल्य खाली हो उसे व्यवहार पल्योपम काल कहते है।

व्यवहार पल्य के एक एक रोम खड के कल्पना से उतने खड करो, जितने असख्यात कोटि वर्ष के समय होते है और वे सब रोमखड दूसरे पल्य मे भर दो, उसे उद्धार पल्य कहते है। फिर उस पल्य मे से प्रतिसमय एक-एक खड निकालते-निकालते जितने समय मे वह पल्य खाली हो, उसे उद्धार पल्योपम काल कहते है।

दस कोटाकोटि उद्धार पल्योपम का एक उद्धार सागरोपम होता है और अढाई उद्धार सागर मे जितने रोम खड होते है, उतनी ही द्वीप और समुद्रो की सख्या जानना चाहिए।

उद्धार पल्य के रोम खडो मे से प्रत्येक रोम खड के पुन कल्पना के द्वारा उतने खड करो कि जितने सौ वर्ष के समय होते है और उन खडो को तीसरे

काल कहते है। सात श्वासोच्छ्वास काल का एक स्तोक और सात स्तोक का एक लव होता है। साढे अडतीस लव की एक नाली या घटिका होती है और दो घटिका का एक मुहूर्त होता है।[1]

इसके बाद दिन-रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, अयन वर्ष आदि से प्रारम्भ हुई गणना शीर्षप्रहेलिका मे पूर्ण होती है। अर्थात् शीर्षप्रहेलिका पर्यन्त की राशि गणित का विषय है। गणित के क्रमानुसार दिन रात्रि आदि का प्रमाण इस प्रकार है—

तीस मुहूर्त की एक दिन-रात्रि होती है। पन्द्रह दिन-रात्रि का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु तीन ऋतु का एक अयन, दो अयन का एक वर्ष, पाच वर्ष का एक युग, बीस युग का एक वर्ष शत (सौ वर्ष), दस वर्ष शत का एक वर्ष सहस्र (एक हजार वर्ष) और सौ वर्ष सहस्रो का एक वर्ष शतसहस्र (एक लाख वर्ष) होता है।

इसके बाद वर्षों की अमुक-अमुक सख्या को लेकर शास्त्रो मे इस प्रकार से सज्ञाओ का उल्लेख किया गया है। अनुयोगद्वारसूत्र के अनुसार नाम और क्रम इस प्रकार है—

८४ लाख वर्ष का एक पूर्वांग, चौरासी लाख पूर्वांग का एक पूर्व, चौरासी लाख पूर्व का एक त्रुटितांग, चौरासी लाख त्रुटितांग का एक त्रुटित, चौरासी लाख त्रुटित का एक अडडांग, चौरासी लाख अडडांग का एक अडड होता है। इसी प्रकार पहले की राशि को ८४ लाख से गुणा करने पर उत्तरोत्तर इनने

---

१ ज्योतिष्करडक गाथा ८, ९, १०। भगवतीसूत्र श ६ उद्देश ७ मे भी इसी प्रकार का उल्लेख है। एक मुहूर्त मे कितने श्वासोच्छ्वास होते है, उसके लिए सकेत है —

तिण्णि सहस्सा सत्त सयाइ तेवत्तरिय ऊसासा।
एस मुहुत्तो दिट्ठो सव्वेहि अणतणाणीहि ॥

अर्थात् ३७७३ उच्छ्वास का एक मुहूर्त होता है, ऐसा अनन्त ज्ञानियो ने कहा है।

परिशिष्ट ६

६ अपवर्तनीय अनपवर्तनीय आयु विषयक दृष्टिकोण

आयुकर्म के पुद्गल द्रव्यायु और देवगति आदि उस उस गति मे स्थिति कालायु वाच्य है।

कालायु के अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय यह दो भेद है। विष, शस्त्र आदि बाह्य निमित्तो और रागादि आन्तरिक निमित्तो से जो आयु घटे, उसे अपवर्तनीय आयु तथा वैसे निमित्तो के प्राप्त होने पर भी जो आयु कम न हो, बद्ध समयप्रमाण जिसका भोग किया जाये, प्राप्त भव आदि की निर्धारित आयु पर्यन्त जीवित रहना पडे, उसे अनपवर्तनीय आयु कहते है। इन दोनो प्रकार की स्थितिया होने का कारण है आयुबध की शिथिलता अथवा निगडता। यदि आयुबध काल मे शिथिलबध किया हो तो उसका अपवर्तन होता है किन्तु सुदृढ बध होने पर अपवर्तन नही होता है।

अपवर्तनीय आयु तो सोपक्रम ही होती है। उपक्रम अर्थात् आयु घटने के निमित्त और उन सहित आयु को सोपक्रम आयु कहते हैं। जब भी अपवर्तनीय आयु होती है तब उसे विष, शस्त्रादि निमित्त अवश्य ही प्राप्त होते है।

अनपवर्तनीय आयु निरुपक्रम तो है ही किन्तु सोपक्रम भी है। जिससे अनपवर्तनीय आयु के सोपक्रम और निरुपक्रम ये दो भेद हैं। यहाँ सोपक्रम का अर्थ होगा कि विष-शस्त्रादि निमित्तो के मिलने पर भी जो आयु घटे नही, किन्तु आयु पूर्ण हो गई हो तो उन निमित्तो से मरण हुआ ज्ञात हो। ऐसी आयु सोपक्रम अनपवर्तनीय आयु है और मरण के समय आयु घटने के विष, शस्त्रादि निमित्त प्राप्त ही न हो, वह निरुपक्रम आयु कहलाती है।

प्रश्न—यदि आयु का अपवर्तन होता है तो फल दिये बिना उस आयु के क्षय होने से कृतनाश का तथा आयुकर्म शेष रहते भी मरण हो जाने से अकृत-अनिमित्त मरण का अभ्यागम-प्राप्ति होने से अकृताभ्यागम दोष प्राप्त

होगा। साथ ही आयु के रहते मरण होता है तो आयुकर्म की निष्फलता भी सिद्ध होती है।

उत्तर—आयुकर्म के लिए उक्त कृतनाश आदि दोषत्रय सम्भव नही है। ऐसी दोषापत्ति करना व्यर्थ है। क्योकि जब विष, शस्त्रादि उपक्रमो का सयोग मिलता है तब उस भवस्थ जीव का समस्त आयुकर्म एक साथ उदय मे आ जाने से शीघ्र भोग लिया जाता है। जिससे बद्ध आयुकर्म का फल दिये बिना नाश नही होता है और समस्त आयुकर्म का क्षय होने के पश्चात् ही मरण होता है। जिससे अकृत (अनिमित्त) मरण की प्राप्ति नही होती है। इसलिए अकृताभ्यागम दोष भी सम्भव नही तथा आयुकर्म का शीघ्रता से उपभोग होने और समस्त आयु भोगने के पश्चात् ही मरण होने से वह निष्फल भी नही है। जैसे सभी चारो ओर से दृढता से बाधी गई घास की गजी को एक बाजू से सिलगाने पर वह धीरे-धीरे जलेगी, परन्तु उसका बधन तोडकर अलग-अलग बिखेर दिया जाये और चारो ओर से हवा चलती हो तो वह चारो ओर से सिलग पडती है और जल कर भस्म हो जाती है। इसी प्रकार बध के समय शिथिल बाधी आयु उपक्रम का सयोग मिलने पर एक साथ उदय मे आती है और एक साथ भोग कर लेने के द्वारा क्षय हो जाती है।

औपपातिक जन्म वालो (देव, नारक) असख्य वर्षायुष्क (भोगभूमिज मनुष्य तिर्यंच), चरमशरीरी (उसी वर्तमान भव के शरीर मे रहते मोक्ष प्राप्त करने वाले) और उत्तम पुरुष (तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि) की अनपवर्तनीय आयु ही होती है। शेष जीव अपवर्तनीय, अनपवर्तनीय दोनो प्रकार की आयु वाले है।

देव, नारक तथा असख्य वर्ष की आयु वाले तिर्यंच, मनुष्य अपनी भुज्यमान आयु के छह मास शेष रहने पर परभव की आयु का बध करते हैं और सोपक्रम अपवर्तनीय आयु वाले अपनी-अपनी आयु के तीसरे, नौवें या सत्ताईसवे इस प्रकार से त्रिगुण करते करते आयुबध कर लेते है और यदि उन त्रिगुणो मे से भी किसी समय आयु का बध न हो तो अन्त मे भुज्यमान आयु का अन्तर्मुहूर्त शेष रहते अवश्य ही परभव की आयु बाधते है। क्योकि परभव की आयु बध हुए बिना मरण नही होता है।

अपनी उत्कृष्ट स्थिति को सत्तर कोडाकोडी सागर से भाग देने पर जो आये वह निद्रा आदि प्रकृतियो की जघन्य स्थिति है और पल्योपम के असख्यातवें भाग अधिक उत्कृष्ट स्थिति है । यह व्याख्यान पचसग्रह के अभिप्रायानुसार समझना चाहिए ।

इस सम्बन्ध मे उपाध्याय यशोविजय जी ने कर्मप्रकृति पृ ७७ मे इस प्रकार सकेत किया है—

'पचसग्रह मे वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति भाजित करना नही माना है, परन्तु अपनी अपनी उत्कृष्ट स्थिति को मिथ्यात्व की स्थिति से भाग देने पर जो आये वही जघन्य स्थिति का प्रमाण कहा है । वह इस प्रकार—निद्रापचक और असातावेदनीय की उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी सागरोपम स्थिति को सत्तर कोडा-कोडी से भाग देने पर ३/७ लब्ध आता है, उतनी उनकी जघन्य स्थिति है ।'[1]

यहाँ पल्योपम का असख्यातवा भाग न्यून करने का नही कहा है, परन्तु उक्त जघन्य पल्योपम का असख्यातवा भाग बढाने पर जो आये वह उत्कृष्ट है, जो द्वीन्द्रियादि के जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबध को बताने के प्रसंग पर स्पष्ट हो जाता है । द्वीन्द्रियादि की जघन्य, उत्कृष्ट स्थिति बताने के लिए लिखा है—

'पचसग्रह मे ३/७ भाग आदि एकेन्द्रिय की जो जघन्य स्थिति कही है, उसमे पल्योपम का असख्यातवा भाग मिलाकर और उसे पच्चीस आदि से गुणा करने पर जो आये वह द्वीन्द्रियादि की उत्कृष्ट स्थिति है और एकेन्द्रिय

---

१ पचसग्रहे तु वर्गोत्कृष्ट स्थितिर्विभजनीयतया नाभिप्रेता किन्तु 'सेसाणुक्को-साओ मिच्छत्तठिइए ज लद्ध' इति ग्रन्थेन स्वस्वोत्कृष्टस्थितेर्मिथ्यात्व-स्थित्या भागे हृते यल्लभ्यते तदेव जघन्यस्थिति परिमाणमुक्तम् । तत्र निद्रापचकस्यासातावेदनीयस्य च प्रत्येकमुत्कृष्टा स्थितिस्त्रिशत् सागरोपम कोटाकोटीरिति, तस्या मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थित्या भागे ह्रियमाणे शून्य शून्येन पातयेदिति वचनाल्लब्धास्त्रयसागरोपमस्य सप्तभागा इयती निद्रापच-कासातवेदनीययोर्जघन्या स्थिति ।

की जितनी जघन्य स्थिति है उसे ही पच्चीस आदि से गुणा करने पर जो आये उतनी द्वीन्द्रियादि की जघन्य स्थिति है। तत्त्व केवलीगम्य है।[1]

जीवाभिगमसूत्र मे इस विषय मे यह लिखा है—

पचसग्रह के मत से यही जघन्य स्थिति का प्रमाण पल्योपम का असख्यातवा भाग नही कहना चाहिए। क्योकि उसके मत से—'शेष प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति को मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर जो आये वह जघन्य स्थिति है। जघन्य स्थिति लाने का कारण वहाँ विद्यमान है।

इस प्रकार विचार करने पर निद्रा अदि की अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति को सत्तर कोडाकोडी से भाजित करने पर जो लब्ध आये वह जघन्य है और उतनी जघन्य स्थिति एकेन्द्रिय बाधते है। उसमे पल्योपम का असख्यातवा भाग अधिक करने पर उत्कृष्ट स्थिति होती है। एकेन्द्रिय की जघन्य और उत्कृष्ट को पच्चीस आदि से गुणा करने पर द्वीन्द्रियादि की अनुक्रम से जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति होती है। इस प्रकार पचसग्रहकार का अभिप्राय ज्ञात होता है।

जीवाभिगमसूत्र मे जघन्य स्थिति का सकेत इस प्रकार किया है—

निद्रा आदि की अपनी उत्कृष्ट स्थिति को सत्तर कोडाकोडी से भाग देने पर जो लब्ध हो उसमे से पल्योपम का असख्यातवा भाग न्यून उनकी जघन्य स्थिति है और कम की गई को मिलाने पर जो प्राप्त हो उतनी उत्कृष्ट स्थिति है।

प्रज्ञापनासूत्र के तेईसवें पद मे उक्त प्रकार से जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति कही है। वहाँ वर्णादि की प्रत्येक प्रकृति की एव वैक्रियषट्क मे से प्रत्येक

---

१ पचसग्रहे तु या जघन्य स्थितिरेकेन्द्रियाणा सा पल्योपमासख्येयभागाभ्यधिकीकृता पचविंशत्यादिना च गुणिता द्वीन्द्रियादिनामुत्कृष्टा, यथास्थितैव चैकेन्द्रिय जघन्यस्थिति पचविंशत्यादिना गुणिता द्वीन्द्रियादीना जघन्येत्युक्तमस्ति तत्त्व तु केवलिनो विदन्ति।

—कर्मप्रकृति यशोविजय टीका पृ. ७७

प्रकृति की भी अपनी जो उत्कृष्ट स्थिति है, उसे सत्तर कोडाकोडी से भाग देने का सकेत किया है। जिसमे पहले जो वर्णादि प्रत्येक की २/७ भाग पल्योपम का असख्यातवा भाग न्यून जघन्य स्थिति कही है, वह न आकर १/७ भाग आदि आयेगी। देवगति की भी १/७ भाग को हजार से गुणा करके पल्योपम का असख्यातवा भाग कम करने पर जो शेष रहे वह जघन्य स्थिति होगी तथा एकेन्द्रिय की उत्कृष्ट स्थिति को पच्चीस, पचास, सौ और हजार गुणी करने पर जो आयेगी उतनी द्वीन्द्रियादि की उत्कृष्ट स्थिति है और उसमे से पल्योपम का असख्यातवा भाग न्यून करने पर जो रहे वह जघन्य स्थिति है।

कर्मग्रन्थ मे द्वीन्द्रियादि की उत्कृष्ट स्थिति से जघन्य स्थिति पल्योपम के सख्यातवें भाग न्यून बताई है, जबकि यहाँ (पचसगह मे) असख्यातवे भाग न्यून कहा है।

इस प्रकार स्थितिबध के विषय मे तीन मत है।

निद्रा आदि पचासी प्रकृतियो की एकेन्द्रियादि की अपेक्षा तो जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबध सम्बन्धी उक्त मतव्य हैं तथा इनसे शेष रही प्रकृतियो के लिए यह समझना चाहिए कि आयुचतुष्क, वैक्रियषट्क, आहारकद्विक और तीर्थंकरनाम के सिवाय शेष बाईस प्रकृतियो की अपने-अपने वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति मे सत्तर कोडाकोडी का भाग देकर पल्योपम के असख्यातवें भाग से न्यून करने पर प्राप्त लब्ध प्रमाण जघन्य स्थिति एकेन्द्रिय बाधते है और परिपूर्ण वह स्थिति उत्कृष्ट से बाधते है। एकेन्द्रिय की उत्कृष्ट स्थिति को पच्चीस आदि से गुणा कर पल्योपम का सख्यातवा भाग न्यून करने पर जो रहे उतनी द्वीन्द्रियादि जघन्य स्थिति बाधते है और उत्कृष्ट से परिपूर्ण वह स्थिति बाधते है। यह कर्मप्रकृतिकार के मतानुसार समझना चाहिए।

उक्त समग्र कथन का साराश यह है—

पचसग्रह के मतानुसार प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति को मिथ्यात्व की स्थिति से भाग देने पर जो आये वह एकेन्द्रियो की जघन्य और पल्योपम का असख्यातवा भाग मिलाने पर प्राप्त प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति को पच्चीस आदि से गुणा करने पर प्राप्त प्रमाण अनुक्रम से द्वीन्द्रियादि की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति होती है।]

प्रज्ञापना और जीवाभिगम सूत्र के अभिप्रायानुसार बाईस प्रकृतियों की अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति को मिथ्यात्व की स्थिति से भाग देने पर जो आये उसमें से पल्योपम का असख्यातवा भाग न्यून करने पर जो शेष रहे उतनी एकेन्द्रिय जघन्य स्थिति बाधते है और उत्कृष्ट से परिपूर्ण वह स्थिति बाधते हैं तथा एकेन्द्रिय की उत्कृष्ट स्थिति को पच्चीस आदि से गुणा करने पर प्राप्त प्रमाण द्वीन्द्रियादि उत्कृष्ट स्थिति बाधते हैं और पल्योपम के असख्यातवें भाग न्यून जघन्य स्थिति बाधते है ।

आयुचतुष्क, आहारकद्विक और तीर्थंकरनाम की जघन्य, उत्कृष्ट स्थितिबध के विषय मे कुछ भी मतभेद नही है ।

वैक्रियषट्क की स्थिति के बारे मे पचसग्रह और कर्मप्रकृति मे मतभेद नही है । परन्तु प्रज्ञापनासूत्र मे देवद्विक की १/७ भाग स्थिति को हजार से गुणा कर पल्योपम के असख्यातवें भाग न्यून जघन्य स्थिति बताई है ।

इस प्रकार से एकेन्द्रियादि की अपेक्षा जघन्य, उत्कृष्ट स्थितिबध विषयक दृष्टिकोण है ।

परिशिष्ट ६

आयु और मोहनीय कर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबध स्वामित्व विषयक विशेष वक्तव्य

पचसग्रहकार एव शिवशर्मसूरि ने शतक अधिकार मे आयु एव मोहनीय कर्म के उत्कृष्ट प्रदेशवध के स्वामित्व के लिये कहा है कि आयुकर्म के उत्कृष्ट प्रदेशवध के स्वामी पाच गुणस्थान वाले और मोहनीयकर्म के सात गुण स्थान वाले जीव है—

आउक्कस्स पदेसस्स पच मोहस्ससत्त ठाणाणि ।

—शतक प्रकरण गा ९३

लेकिन दिगम्बर पचसग्रह शतक प्रकरण गाथा ५०२ मे उक्त कथन के वदले यह कहा है —

आउक्कस पदेसस्स छच्चमोहस्स नव दु ठाणाणि ।

यही गाथा गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे गाथा २११ के रूप मे पाई जाती है। लेकिन इन दोनो की सस्कृत टीकाओ के अर्थ मे भिन्नता है।

दि पचसग्रह की टीका मे जो अर्थ किया गया है, उसका साराश इस प्रकार है—

आयुकर्म का उत्कृष्ट प्रदेशवध मिश्रगुणस्थान को छोडकर प्रारम्भ के छह गुणस्थानो मे होता है तथा मोहकर्म का उत्कृष्ट प्रदेशवध प्रारम्भ के नौ गुणस्थानो मे होता है।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे इस गाथा की जो २११वी सख्या के रूप मे पाई जाती है, सस्कृत टीका का अश इस प्रकार है—

'आयुप उत्कृष्टप्रदेश पड्गुणस्थानान्यतीत्य अप्रमत्तो भूत्वा वध्नाति। मोहस्स तु पुन नवम गुणस्थान प्राप्य अनिवृत्तिकरणो वध्नाति।

मूल प्रकृतियो के बंधादि स्थान : भूयस्कार आदि प्रकार

स्थान	मूल प्रकृति	स्वामी	भूयस्कार	अल्पतर	अवस्थित	अवक्तव्य
बंध ८ प्रकृ	सब	मिश्र बिना अप्रमत्त गुणस्थान	३	३	४	×
,, ७ ,,	आयु के विना	आदि के नौ गुणस्थान				
,, ६ ,,	मोह आयु विना	सूक्ष्मसपराय गुणस्थान				
,, १ ,,	वेदनीय	११ से १३ गुणस्थान				
उदय ८ प्रकृ	सब	आदि के दस गुणस्थान	१	२	३	×
,, ७ ,,	मोह के विना	११वा, १२वा गुणस्थान				
,, ४ ,,	चार अघाति	१३वा, १४वा गुणस्थान				
उदी ८ प्रकृ	सब	आदि के छह गुणस्थान	३	४	५	×
,, ७ ,,	आयु विना	आदि के छह गुणस्थान (मिश्रगुण विना) आयु की अन्तिम आवलिका मे				
,, ६ ,,	वेदनीय आयु विना	७वें से १०वें गुणस्थान				
,, ५ ,,	मोह वेद आयु विना	११वा, १२वा गुणस्थान				
,, २ ,,	नाम और गोत्र	१३वा गुणस्थान				

स्थान	मूल प्रकृति	स्वामी	भूयस्कार	अल्पतर	अवस्थित	अवक्तव्य
सत्ता ८ प्रकृ	सब	आदि के ११ गुणस्थान	×	२	३	×
,, ७ ,,	मोह, विना	क्षीणमोह गुणस्थान				
,, ४ ,,	चार अघाति	१३वा, १४वा गुणस्थान				

विशेष—

(१) तीसरे, आठवें, नौवे गुणस्थान को छोडकर शेप पहले से सातवें गुणस्थान तक आयुवध होने पर सात प्रकृतिक वधस्थान नही समझना चाहिए । किन्तु आठ प्रकृतिक वधस्थान होता है ।

(२) चारो वधस्थान पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय मे ही प्राप्त होते है । शेप तेरह जीवस्थानो मे आठ और सात प्रकृतिक वधस्थान होते है ।

(३) पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय मे ही तीनो उदयस्थान एव तीनो सत्तास्थान होते है । शेप तेरह जीवस्थानो मे आठ प्रकृतिक उदय व सत्ता स्थान होते है ।

(४) क्षपक को भी सूक्ष्मसपरायगुणस्थान की अन्तिम आवलिका मे एव उपशातमोह और क्षीणमोह गुणस्थान की एक आवलिका पूर्व तक मोहनीय, वेदनीय, आयु के विना पाच मूल कर्मों की उदीरणा होती है ।

(५) क्षीणमोहगुणस्थान की अन्तिम आवलिका मे नाम और गोत्र इन दो कर्मों की उदीरणा होती है ।

(६) सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त मे पाचो उदीरणास्थान एव शेप तेरह जीव-भेदो मे सात अथवा आठ प्रकृतिक उदीरणास्थान होते है ।

मूल प्रकृतियो के बधादि स्थान : भूयस्कार आदि प्रकार

स्थान	मूल प्रकृति	स्वामी	भूयस्कार	अल्पतर	अवस्थित	अवक्तव्य
बध ८ प्रकृ	सब	मिश्र विना अप्रमत्त गुणस्थान	३	३	४	×
,, ७ ,,	आयु के विना	आदि के नौ गुणस्थान				
,, ६ ,,	मोह आयु विना	सूक्ष्मसपराय गुणस्थान				
,, १ ,,	वेदनीय	११ से १३ गुणस्थान				
उदय ८ प्रकृ	सब	आदि के दस गुणस्थान	१	२	३	×
,, ७ ,,	मोह के विना	११वा, १२वा गुणस्थान				
,, ४ ,,	चार अघाति	१३वा, १४वा गुणस्थान				
उदी ८ प्रकृ	सब	आदि के छह गुणस्थान	३	४	५	×
,, ७ ,,	आयु विना	आदि के छह गुणस्थान (मिश्रगुण विना) आयु की अन्तिम आवलिका मे				
,, ६ ,,	वेदनीय आयु विना	७वें से १०वें गुणस्थान				
,, ५ ,,	मोह वेद आयु विना	११वा, १२वा गुणस्थान				
,, २ ,,	नाम और गोत्र	१३वा गुणस्थान				

स्थान	मूल प्रकृति	स्वामी	भूयस्कार	अल्पतर	अवस्थित	अवक्तव्य
सत्ता ८ प्रकृ	सव	आदि के ११ गुणस्थान	×	२	३	×
,, ७ ,,	मोह, बिना	क्षीणमोह गुणस्थान				
,, ४ ,,	चार अघाति	१३वा, १४वा गुणस्थान				

विशेष—

(१) तीसरे, आठवें, नौवें गुणस्थान को छोडकर शेष पहले से सातवें गुणस्थान तक आयुबंध होने पर सात प्रकृतिक बंधस्थान नहीं समझना चाहिए। किन्तु आठ प्रकृतिक बंधस्थान होता है।

(२) चारो बंधस्थान पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय मे ही प्राप्त होते है। शेष तेरह जीवस्थानो मे आठ और सात प्रकृतिक बंधस्थान होते हैं।

(३) पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय मे ही तीनो उदयस्थान एव तीनो सत्तास्थान होते हैं। शेष तेरह जीवस्थानो मे आठ प्रकृतिक उदय व सत्ता स्थान होते है।

(४) क्षपक को भी सूक्ष्मसपरायगुणस्थान की अन्तिम आवलिका मे एवं उपशातमोह और क्षीणमोह गुणस्थान की एक आवलिका पूर्व तक मोहनीय, वेदनीय, आयु के बिना पाच मूल कर्मो की उदीरणा होती है।

(५) क्षीणमोहगुणस्थान की अन्तिम आवलिका मे नाम और गोत्र इन दो कर्मो की उदीरणा होती है।

(६) सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त मे पाचो उदीरणास्थान एव शेष तेरह जीव-भेदो मे सात अथवा आठ प्रकृतिक उदीरणास्थान होते हैं।

❀✲❀

प्रत्येक कर्म की उत्तर प्रकृतियों के बंधादि स्थान : भूयस्कार आदि प्रकार

कर्म का नाम	स्थान व संख्या	प्रकृतिक	भूयस्कार	अल्पतर	अवस्थित	अवक्तव्य
ज्ञानावरण	बंधस्थान १	५ प्रकृतिक	×	×	१	१
	उदयस्थान १	५ प्रकृतिक	×	×	१	×
	सत्तास्थान १	५ प्रकृतिक	×	×	१	×
दर्शनावरण	बंधस्थान ३	९, ६, ४ प्रकृतिक	२	२	३	२
	उदयस्थान २	४, ५ प्रकृतिक	१	१	२	×
	सत्तास्थान ३	९, ६, ४ प्रकृतिक	×	२	२	×
वेदनीय	बंधस्थान १	१ प्रकृतिक	×	×	१	×
	उदयस्थान १	१ प्रकृतिक	×	×	१	×
	सत्तास्थान २	२, १ प्रकृतिक	×	१	१	×
मोहनीय	बंधस्थान १०	२२, २१, १७, १३, ९, ५, ४, ३ २, १, प्रकृतिक	९	८	१०	२
	उदयस्थान ९	१, २, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १० प्रकृतिक	८	८	९	५
	सत्तास्थान १५	२८, २७, २६, २४, २३, २२, २१, १३, १२, ११, ५, ४, ३, २, १ प्रकृतिक	१	१४	१५	×
आयु	बंधस्थान १	१ प्रकृतिक	×	×	१	×
	उदयस्थान १	१ प्रकृतिक	×	×	१	
	सत्तास्थान २	२, १ प्रकृतिक	१	१	२	×

समस्त उत्तार प्रकृतियो के बधादि स्थान .
भूयस्कार आदि प्रकार

स्थान व सख्या	प्रकृतिक	भूयस्कार	अल्पतर	अवस्थित	अवक्तव्य
बधस्थान २६	१, १७, १८, १६, २०, २१, २२, २६, ५३, ५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ५६, ६०, ६१, ६३, ६४, ६५, ६६, ६७, ६८, ६६, ७०, ७१, ७२, ७३, ७४ प्रकृतिक	२८	२८	२६	×
उदयस्थान २६	११, १२, २३, २४, २६, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४६, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ५६ प्रकृतिक	२१	२४	२६	×
सत्तास्थान ४८	११, १२, ८०, ८१, ८४, ८५, ६४, ६५, ६६, ६७, ६८, ६६, १००, १०१, १०२, १०३, १०४, १०५, १०६, १०७, १०८, १०६, ११०, १११, ११२, ११३, ११४, १२५, १२६, १२७, १२८, १२६, १३०, १३१, १३३, १३४, १३५, १३६, १३७, १३८, १३६, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, प्रकृतिक	१७	४७	४४	×

गाथाओं की अकाराद्यनुक्रमणिका